

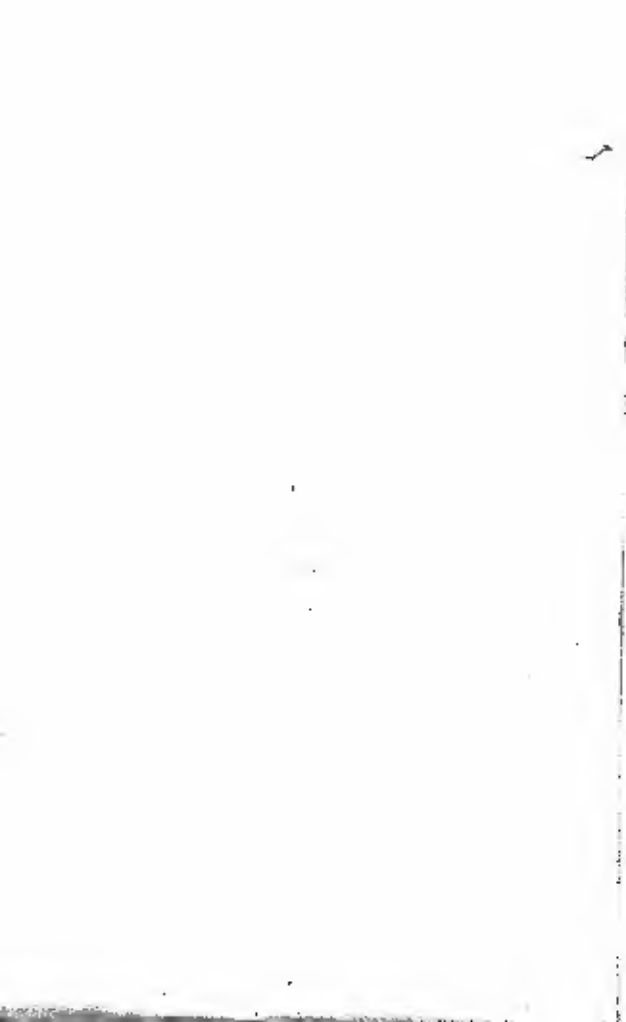
GOVERNMENT OF INDIA
DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY
CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

CLASS 4466
CALL No. Sa8N Jay-Sha

MUNSHI RAM MANOHAR LAL

PRINTED & BOUND BY THE

NEW PRESS, DELHI.



॥ श्री R :

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

२०

Prasannarāghava

महाकविभीजपदेनविरचितं Jayadewa

प्रसन्नराघवम्

‘चन्द्रकला’ संस्कृत-हिन्दीन्यायोपेतम्

व्याख्याकारः

4456

साहित्यशुभाकर-साम्प्रतीर्ष-प्राध्यापक—

पण्डितश्रीशेषराजशर्मा शास्त्री

Sharma

Shesharaj

Sa8N
Jay/Shr



चौखम्बा विद्याभवन, बनारस-१

सं० २०१२]

MUNSHI RAM MANOHAR LAL

5, N. 4, 101, 102, 103, 104, 105, 106, 107, 108, 109, 110, 111, 112, 113, 114, 115, 116, 117, 118, 119, 120, 121, 122, 123, 124, 125, 126, 127, 128, 129, 130, 131, 132, 133, 134, 135, 136, 137, 138, 139, 140, 141, 142, 143, 144, 145, 146, 147, 148, 149, 150, 151, 152, 153, 154, 155, 156, 157, 158, 159, 160, 161, 162, 163, 164, 165, 166, 167, 168, 169, 170, 171, 172, 173, 174, 175, 176, 177, 178, 179, 180, 181, 182, 183, 184, 185, 186, 187, 188, 189, 190, 191, 192, 193, 194, 195, 196, 197, 198, 199, 200, 201, 202, 203, 204, 205, 206, 207, 208, 209, 210, 211, 212, 213, 214, 215, 216, 217, 218, 219, 220, 221, 222, 223, 224, 225, 226, 227, 228, 229, 230, 231, 232, 233, 234, 235, 236, 237, 238, 239, 240, 241, 242, 243, 244, 245, 246, 247, 248, 249, 250, 251, 252, 253, 254, 255, 256, 257, 258, 259, 260, 261, 262, 263, 264, 265, 266, 267, 268, 269, 270, 271, 272, 273, 274, 275, 276, 277, 278, 279, 280, 281, 282, 283, 284, 285, 286, 287, 288, 289, 290, 291, 292, 293, 294, 295, 296, 297, 298, 299, 300, 301, 302, 303, 304, 305, 306, 307, 308, 309, 310, 311, 312, 313, 314, 315, 316, 317, 318, 319, 320, 321, 322, 323, 324, 325, 326, 327, 328, 329, 330, 331, 332, 333, 334, 335, 336, 337, 338, 339, 340, 341, 342, 343, 344, 345, 346, 347, 348, 349, 350, 351, 352, 353, 354, 355, 356, 357, 358, 359, 360, 361, 362, 363, 364, 365, 366, 367, 368, 369, 370, 371, 372, 373, 374, 375, 376, 377, 378, 379, 380, 381, 382, 383, 384, 385, 386, 387, 388, 389, 390, 391, 392, 393, 394, 395, 396, 397, 398, 399, 400, 401, 402, 403, 404, 405, 406, 407, 408, 409, 410, 411, 412, 413, 414, 415, 416, 417, 418, 419, 420, 421, 422, 423, 424, 425, 426, 427, 428, 429, 430, 431, 432, 433, 434, 435, 436, 437, 438, 439, 440, 441, 442, 443, 444, 445, 446, 447, 448, 449, 450, 451, 452, 453, 454, 455, 456, 457, 458, 459, 460, 461, 462, 463, 464, 465, 466, 467, 468, 469, 470, 471, 472, 473, 474, 475, 476, 477, 478, 479, 480, 481, 482, 483, 484, 485, 486, 487, 488, 489, 490, 491, 492, 493, 494, 495, 496, 497, 498, 499, 500, 501, 502, 503, 504, 505, 506, 507, 508, 509, 510, 511, 512, 513, 514, 515, 516, 517, 518, 519, 520, 521, 522, 523, 524, 525, 526, 527, 528, 529, 530, 531, 532, 533, 534, 535, 536, 537, 538, 539, 540, 541, 542, 543, 544, 545, 546, 547, 548, 549, 550, 551, 552, 553, 554, 555, 556, 557, 558, 559, 560, 561, 562, 563, 564, 565, 566, 567, 568, 569, 570, 571, 572, 573, 574, 575, 576, 577, 578, 579, 580, 581, 582, 583, 584, 585, 586, 587, 588, 589, 590, 591, 592, 593, 594, 595, 596, 597, 598, 599, 600, 601, 602, 603, 604, 605, 606, 607, 608, 609, 610, 611, 612, 613, 614, 615, 616, 617, 618, 619, 620, 621, 622, 623, 624, 625, 626, 627, 628, 629, 630, 631, 632, 633, 634, 635, 636, 637, 638, 639, 640, 641, 642, 643, 644, 645, 646, 647, 648, 649, 650, 651, 652, 653, 654, 655, 656, 657, 658, 659, 660, 661, 662, 663, 664, 665, 666, 667, 668, 669, 670, 671, 672, 673, 674, 675, 676, 677, 678, 679, 680, 681, 682, 683, 684, 685, 686, 687, 688, 689, 690, 691, 692, 693, 694, 695, 696, 697, 698, 699, 700, 701, 702, 703, 704, 705, 706, 707, 708, 709, 710, 711, 712, 713, 714, 715, 716, 717, 718, 719, 720, 721, 722, 723, 724, 725, 726, 727, 728, 729, 730, 731, 732, 733, 734, 735, 736, 737, 738, 739, 740, 741, 742, 743, 744, 745, 746, 747, 748, 749, 750, 751, 752, 753, 754, 755, 756, 757, 758, 759, 760, 761, 762, 763, 764, 765, 766, 767, 768, 769, 770, 771, 772, 773, 774, 775, 776, 777, 778, 779, 780, 781, 782, 783, 784, 785, 786, 787, 788, 789, 790, 791, 792, 793, 794, 795, 796, 797, 798, 799, 800, 801, 802, 803, 804, 805, 806, 807, 808, 809, 810, 811, 812, 813, 814, 815, 816, 817, 818, 819, 820, 821, 822, 823, 824, 825, 826, 827, 828, 829, 830, 831, 832, 833, 834, 835, 836, 837, 838, 839, 840, 841, 842, 843, 844, 845, 846, 847, 848, 849, 850, 851, 852, 853, 854, 855, 856, 857, 858, 859, 860, 861, 862, 863, 864, 865, 866, 867, 868, 869, 870, 871, 872, 873, 874, 875, 876, 877, 878, 879, 880, 881, 882, 883, 884, 885, 886, 887, 888, 889, 890, 891, 892, 893, 894, 895, 896, 897, 898, 899, 900, 901, 902, 903, 904, 905, 906, 907, 908, 909, 910, 911, 912, 913, 914, 915, 916, 917, 918, 919, 920, 921, 922, 923, 924, 925, 926, 927, 928, 929, 930, 931, 932, 933, 934, 935, 936, 937, 938, 939, 940, 941, 942, 943, 944, 945, 946, 947, 948, 949, 950, 951, 952, 953, 954, 955, 956, 957, 958, 959, 960, 961, 962, 963, 964, 965, 966, 967, 968, 969, 970, 971, 972, 973, 974, 975, 976, 977, 978, 979, 980, 981, 982, 983, 984, 985, 986, 987, 988, 989, 990, 991, 992, 993, 994, 995, 996, 997, 998, 999, 1000

प्रकाशक
चौखम्बा विद्या भवन
पौक, बनारस-१

(पुनर्मुद्रणादिका सर्वेडविभक्तः प्रकाशकः)
The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Banaras.
(INDIA)
1958

NATIONAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Call No. 5a B N 1 Jan 5h

विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

उदाहारः

अभि गीर्वाणवासीपरिवारपरगणः। सत्साहित्यपरिशीलनवापितमना वैभक्त्य-
वन्ना निम्नजन्मभावाऽपराधनपूतविषया महाशुभावाः ? तत्रममतां जन्मतां जन्मिताम-
तिरेकित एवोऽर्थो यद्वाग्मये नाटकस्य कीदृशं स्थानमिति ।

नाटकं नाम काव्यविशेषः । काव्यं कस्य कविकर्म । कविराज्यस्य कोऽर्थ इति
विचिन्वितायां प्रकाशितायां कथते चेति कुवते=राज्यमय इति कविरिति वैयाकरणो
निश्चितः । 'कुम् राज्ये' इति भौवादिकार्योदाहिरात् 'कुलम्' इत्यादिकार्योदाहोः 'कव-
र' इति कुलेण इत्यस्ये कुले कविपदसिद्धिः । अत्र राज्यकर्तारि वर्णनकर्तारि वा वत्र
कुलापि कविभ्यश्चैरास्मादिति प्रसक्तौ भोगकदा कदा पूर्णदौर्भाग्यकम्प्य वाः राज्यमती
वर्णयति वा स कविरिति सन्नयनं कर्तुं पार्यते । उपविषदि च परमात्मनः कृते 'कविर्मनीषी
परिभूः स्वयम्भू' इति वर्णनं हरयते । पुनः चैतज्ज्ञोऽक्षोत्तरप्रतिभाऽन्वितस्य वैदस्मत्स्य
राजद्वारादौः सत्साहित्यकवेन जगदीश्वर एवाऽस्मिन्मनादी संसारे पुरातनतमोऽनुपमः कविः ।

तत्र कविकर्मकर्म काव्यं द्विविधं हरयं अर्थं चेति । तस्य चाऽस्मिन्नीवमानस्य
हृदयकाव्यस्य पुनः कपकोपकरकभेदेन द्विविधं विभेज्यते । तत्र कपकं नाटकविभेदेन
व्यतिथिमुपकर्णं च भादिकविभेदेनाऽऽपराविभम् ।

असौकिकधारस्वतन्त्रभारते सत्सत्कृत्यकृत्यव्यवस्थते पुरातनभारते स्मरना-
ऽऽतीतकालदेव नाटकं सम्प्रसारितमर्थं चेऽपि पुनरा इपरपरा न मयिष्यन्ती-
रमाराष्ट्रम् ।

अत्राह पाञ्चभुरवेदस्तस्मात्सो गीतमेव च । अत्रवेदाश्चमित्राश्च रत्नानामर्चनादिति ॥

इत्थं नाट्यशास्त्रे भरतमुनिर्वैद्यबुद्ध्यान्नाट्यकोपकरणनिर्माणं सृज्योपकार ।
तत्रैव—शिवस्तत्तत्प्रवृत्त्यं भवती तस्यं विष्णुश्च नाट्यरीतिं प्रवर्षी, भरतमुनिश्च
नाट्यशास्त्रं प्रणीतं नरलोकेऽस्य प्रचारमधीकरोदिति वर्णितं वर्तते । इत्यमरान्य-
प्रमाणविकरणपर्यालोचनयाऽपि नाटके भरतस्याऽप्यमर्णत्वं यवनदेशस्य श्रोतव्यमर्थं
वस्तिषावनिधितं तद्वहानविजृम्भितमिति पक्षपातरहितानां तत्त्वमहणप्रवणानां विचक-
णानां पुरतो भावमानमेव । अतोऽद्याऽप्ये नाऽस्माभिर्विशु प्रवत्यते ।

अकारवचनमित्येव नाम्ने नाटक एवाभिनीयमानत्वेन पद्यपद्यमन्त्रत्वेन संगीत-
 क्षममित्येव च शब्दावयवत्वेनाऽऽस्वाद्योऽनुभूयते । तत्राऽप्यभिनीयाऽर्थस्य लोचन-
 योचनत्वेन केवलमन्वाऽर्थमयाऽऽश्रयकमन्वाचाटकत्वेन प्रमाद्यो प्रत्यक्षत्वेन प्रमत्त-
 विरोधोत्पादकत्वम् । एतद्वैपरीत्येन शब्दकाम्ये तु कृतिमानविकल्पत्वेनाऽनुमानत्वेन च
 तत्काम्यप्रमत्ताऽतिशयव्यञ्जकमाख्यायते । अत एवोक्तं लोकमिहोत्तरमित्युक्तैः—
 'काम्ये तु नाटकं रम्य'मिति ।

संस्कृतवाङ्मये मर्यादापुस्तोत्तमस्याऽधुपयस्य समन्तादकल्प ममपत्ता श्रीराम-
 चन्द्रस्य लोकोत्तरं पवित्रं चरित्रमवलम्ब्य सन्निभ भूयस्त्रि नाटकानि । तानि यथा—
 महावीरचरितमुत्तररामचरितं, कुम्भमाज्जऽनर्घराचरं, बाजुरामायणं चोत्पादयन्ति ।
 तेनैवाऽस्य प्रसन्नराष्ट्रवाऽभिधानस्य नाटकस्याऽन्वयतमं स्थाप्यम् । अथ कमनीयं
 कव्यगङ्गासम्पत्तमार्थं रसविवेक्षणं च कल्पेन सहस्यस्य हृदयं नाऽऽनवर्णयति । यथो-
 त्तररामचरितं विप्रदर्शनद्वारा रामचन्द्राद्यचरितं प्रदर्शितं तथैवाऽन्येऽपि वाङ्मयीन-
 कथा गङ्गायमुनाद्वारपूर्ववाद्यतो निवृत्ता, रामचन्द्रकृत्यं हिरेण्यहुरिनाऽनुसरणं हृद्यवर्ण-
 यतो विदर्शितम् । एवं च गोदावरीवापरसंज्ञापप्रसन्नतो जगन्महर्षेण कदाचिद्वचन-
 वृत्तभूक्यवर्ते मैत्रिलीहृतं भूयस्योचनं च सूचितम् ।

अस्य नाटकस्य भावकलाऽभिव्यक्त्योत्तमयोरपि पक्षयोः परमरमणीयत्वेनोत्तर-
 काकोद्भूतैः कमन्दरेतन्महुरिणेनाऽऽकरोन्मोदरनकरवैः स्वस्वकृतया समस्तकृता-
 श्रवणं विधत्वा दार्ष्टिक्यपरिशीलनविमलप्रतिभावात् पवित्रतमसिरोद्धिता । तत्राऽपि
 द्विजेशाहरणैरस्याऽन्तर्भावनत्वाऽत्र स्फुटीभियते ।

लोकोत्तरप्रतिभाप्रकाशेन रामचरितमावस्यकारेण तुलसीदासेन बहूनु स्वकोण-
 स्याऽनुकरणं स्वभावि । तद्यथा—पुष्पवाटिकायां सीतारामयोर्मियः चाक्षरव्यरो
 मर्गमलरमनमोदविप्रलुप्तका । एवमेव पक्षेऽपि हृद्योर्मन्मयोत्तपनीभ्योपनीकमन्वा-
 न्नविद्वद्वरयते ।

यथा प्रसन्नराचने—

'चन्द्रहास । इह मे परिशर्यं, रामचन्द्रमिरवाऽनन्वयात् ।

सं हि कान्तिवितवीथिकचूर्णं, भारथा वहसि शीतलमम्बः ॥ १-२१ ॥

रामचरितमानसे—

'चन्द्रहास । इह मम तापं, खुपतिविरह प्रसक्त संजातम् ।

शीत निहाः तव अखिवरघारा, कद् सीता ॥१॥ मम दुःखमारा ॥

प्रसन्नरागवै—

‘कर्मभूतिभिः कृद्भिः सद्भिः कष्टं न दहयते ।

बहुधाचिन्तयेत्तत्र परकीयान्तरादि’ ॥ ७-१ ।

समन्वितमानसै—

‘सौ परमादि किमर गोसाई, तानु नीच पाया की मार्ग ।’

एतच्च दिग्दर्शनमार्गं, बहुधा कल्पेणैव प्रभाषो व्यापकत्वेन विवृतः परं समुचितोऽनकाराभावेनाऽन बाहुल्येन न प्रवृत्तयेत । साहित्यवर्णनकारेण विचित्रा-
कविशैलीनाऽर्थान्तरसंनमित्वाद्यस्य अनेकसाहस्यत्वेन प्रसन्नरागवत्स्य—

‘कर्म की कर्म की करमः करमः करिराजकरा करिराजकर ।

सुखमनितवेऽपि विभक्तिं सुखमिदमुत्पुनं न चमुदरता ॥ १-१७ ।

सौख्येऽयमुदाहृतः । स्वमेव शार्ङ्गधरपद्धती रसाङ्गबहुषाकरे वाऽस्य बहुभि
पद्यामुदाहरति । अत एतदसाहस्यैरस्य महाकवेरसौक्यविकृती संरामकरोऽपि नाऽऽप्ता-
यते । तदस्य प्रविततमस्य प्रतिमानमौद्भासितस्य नाटकस्य प्रयोजता किमभिवाना
कस्मिन्मन्त्रमै आहुराधुनकतमं न वतपरं स्वबहुषा समकल्पकरेति संशयि संशयेन
नवीयकल्पं कवित्तमाविराजयते ।

प्रसन्नरागस्य प्रयोक्ता सुप्रहीतमानस्यो जगदेवकविः । सुरमणीसुपापक-
नामन्येषां बहुधा विदुषामिवाऽस्वाऽपि सविस्तारः संस्तवोऽनन्ययोगाद्विरामयति
एव संकल्पयते । तत्र संस्कृतसाहित्ये जगदेवनामनेवमात्रो बहवो विपश्चिताः संजाताः ।
तत्रैकस्तामहीतगोविन्दकारो जगदेवः, स योत्कर्मदेवीन आसीत् । अयं कल्पनकार
सौक्येनाऽऽधुनकस्य कल्पनस्य अन्तस्तार आसीदित्ययं विषयो निम्नलघुपद्या-
वलीयते—

‘सौवर्द्धनस्य शरणी जगदेव कमायतिः ।

कविराजस्य, रत्नाणि संमिती लक्षणमस्य न ॥ इति ।

कहूना कल्पवर्णनां संरसत्वेन विभुतीऽयं कल्पनस्यैवो ब्रह्माऽपि आसीत् ।
अयं विकल्पस्य आधरासतकैऽभूदिति अतस्तत्त्वविचक्षणानां परामर्शः । एतेन योतयो-
विन्दकारस्य जगदेवस्वाऽप्यमेव काल व्यापयति । अस्य मत्ता रमावेची-विता न
शेषदेवाऽभिधेय आसीदित्यस्य निम्नपद्याद्वस्तुयते—

‘भीमोवदेवप्रभवस्य रामावेवीमुतभीमयदेवकस्य ।

पराशरादिप्रियवर्गकण्डे भीमीतयोदिभ्यश्चमित्यमस्तु ॥’ इति ।

द्वितीयो जयदेवः शृङ्गारमायवीर्यवम्पूप्रयौताऽऽज्ञातितुल्यमङ्गः शुक्लदासीतुल्य-
रविभूषितः । तृतीयो जयदेवश्चन्द्राभोजकर्ता । चतुर्थश्च प्रसूतनाभकस्य प्रसन्नराज-
कस्य सारकः । तत्र च चन्द्राभोजकर्ता जयदेवो महादेवसुत्रः शुमित्रागर्भेन व्याधीदित्यर्थं
विषमव्यञ्जनात्कस्याऽनस्तनपद्याद्वयान्वये—

‘महादेवः सत्रप्रसूतनाभविदौकथपुरः

शुमित्रा तद्वृत्तिप्रणिहितमतिर्वैत्य पितरौ ।

अनैवाऽऽज्ञातः शुक्रविजयदेवेन रक्षिते

चिरं चन्द्राभोजे शुक्रपदु मयूका शुमनया ॥ १-१९ ॥

इत्यथैव प्रसन्नराजकस्यापि कर्तुः पिता महादेवो माता च शुमित्राऽऽसीदिति
पूर्वं निम्नविधत्ताप्यक्षरितमाश्वसीयते—

‘विष्णो ब्रह्मायममरसतिभ्यश्चन्द्रः

कुप्राक्षीविष्माऽवरमधुरमार्त्तं गमयति ।

कर्मज्ञः कौण्डिन्यः स तत्र जयदेवः भवनयो-

रवासीदातिर्ष्व न विमिह महादेवतनया ॥ १-१४ ॥

‘कृष्णगरदैव मस्याऽस्मै शुमित्राऽऽक्षितजन्ममः ।

रामचन्द्रपदाऽऽसीमे भ्रमद्वृत्तायते ममः ॥ १-१५ ॥

पञ्चाक्षितमपीदं प्रस्तावनायां प्रसन्नराजकविधिवत्के कथाऽङ्कुरीने सुत्रधार-
पठितमस्ति । एतेन कथेमातापितृपरिवारो रामचन्द्रमहत्वं कौण्डिन्यगोत्रप्रसूतत्वं
चाऽनन्यते । इत्यत्र च चन्द्राभोजकर्तस्य प्रसन्नराजकनिर्मातृवीर्यदीरगि कविवर-
वोर्वातापिगोर्नामधेय-साहरयेवैक्यं प्रतीयते । यत्र च ह्यमोर्नन्यकारयोः पञ्चरौस्याः
सरस्वत्यमपीदं विषयं निर्दिष्टायं प्रतिपादयति । एवं च प्रसन्नराजकस्य कविताक्षि-
ककथाऽन्यस्तमेव परोनाऽनन्यते । उच्यते—

‘किं कौण्डिन्यमप्यौराक्यमासीत्तवती भारती’—‘कथावि (५, २६)

इत्यनेन चन्द्राभोजकर्तरेणाऽप्यप्रतीतयोपक्रमोदाहरणाऽन्यथे—

‘स्यात्प्रतीतौ शाकैकगन्धं पीताऽमुनाऽऽदित्य’ ।

इत्यप्रतीतयोदाहरणे तर्कशास्त्रमानप्रयुक्तं पीताऽमुनाजाविपदं निरस्तितम् ।

एतेनाऽस्य चन्द्राकोकप्रवृत्त्याऽपि सार्धित्वं नतिपथोपायं भवतीत्येतान्निः प्रमा-
नैरङ्गहारनाटकप्रवृत्त्योर्भवेदेवोस्तादात्म्ये नो संशयलोकाऽपि प्रवेशः । अथाऽती
कविचरस्य समये चन्द्रेणः समुपदिष्टो ।

अमेन कविचरेण चन्द्राकोके काव्यप्रवृत्त्यप्रस्तावे—

‘अङ्गीकरोति एः काम्यं राव्याऽर्थाऽनन्यकृतौ ।

असी न सम्मते कस्याश्चिदुक्तमनर्थं कृतौ’ ॥ १-४ ।

इत्येतेन सोऽसुष्ठुर्न काव्यप्रवृत्त्यप्रवृत्तौ सम्मतेभ्यश्च भर्तुं शक्यम् । न च
सम्मतेभ्यः उदात्तमङ्गीकारश्चे—

‘सुजाः कैमिविसूत्रहारगिताः संमर्षनीमिदंताः

प्राधः प्राज्ञप्रीतिं नन्दरचकृतस्तऽङ्गीकृताऽऽत्मनः ।

दूरप्राप्तिमयीराहित्यिः कर्त्तुं कैमिसूत्राः

पश्चिदङ्गवैषु भोजनपतेस्तत्प्राग्वैकमितम् ॥’

पयोऽस्मिन्प्राग्वैकमयी भोजनपतेस्तत्प्राग्वैकमितम् । भोजनस्य च प्रातुर्भाष्ययो वैक्य-
हाररातकम् । एवं च सम्मतेभ्यश्च वैक्यहाररातककर्मनन्तरवर्तित्वं अतीवते ।
अथैवस्य च सम्मतेभ्यश्चान्तरात्प्राग्वैकमित्वं निश्चीयते ।

साहित्यदर्पणप्रवृत्त्यः च पूर्वोदात्तमङ्गीकारात्प्राग्वैकमित्वं अतीवते ।
विलम्बयसीयते । साहित्यदर्पणप्रवृत्त्यः सम्मतेभ्यः विष्णुपञ्चरातककर्मितः परिग-
मिताः । अतो विष्णुपञ्चरातकपूर्ववर्तित्वं अवश्यस्य समर्थितं भवति ।

साहित्यदर्पणप्रवृत्त्यः प्रवृत्त्यप्रवृत्त्यः ननु निःपद्यमानाऽस्ति । न च सम्मते विष्णु-
मस्य विराट्प्राग्वैकमित्वं अतीवते ।

एवं च अवश्येतिताऽङ्गीकारात्प्राग्वैकमित्वं अतीवते । अन्तरेण कर्मितस्य विष्णुपञ्चरातकस्य
चन्द्राकोके राव्याऽर्थाऽङ्गीकृतो वैक्यमस्यरातकऽङ्गीकारात्प्राग्वैकमित्वं अतीवते ।

एकमेव वैक्यं सप्ताशीत्यधिकनवोदरातके विद्यमानेन सिद्धमृतात्मेन स्वकीये
रसाऽङ्गीकारात्प्राग्वैकमित्वं अतीवते ।

एतादृशता प्रमाणानुसारेण विष्णुपञ्चरातकस्य त्रयोदशस्य त्रयोदशस्य च रातकस्य
सम्मेऽर्थं कविचरः शक्तिर्भवेत्सुचीयते ।

अथं जगदेषो मैथिलमाहात्म्यं आसीदिति ननु नैवैकविपश्चितां वरामर्ताः । परे
त्यर्थं विद्वत्स्य सुविनयुरे वासुदेवोदिति श्रुयति । तस्य चाऽस्य जगदेवस्य वक्ष-
क्यैः ‘पीयूषार्थं’ इत्यपराऽङ्गीकारात्प्राग्वैकमित्वं अतीवते ।

‘चन्द्रलोचनं लघं निरुद्धं पीयूषार्कः कृती ।’

एवमीदं लघुप्रसङ्गम् । केचित्तन्मेव वन्देवः ‘पञ्चरत्नं’ इति नामनिष्पत्तिं
दधारेति कर्त्तव्यम् । परं तस्मिन्मन्त्रः न पञ्चपरस्तु बह्वीर्यविभुसो राहुदेवसर्वभौमस्य
गुह्यतमो निष्कमस्य रोचतस्तत्क कर्त्तव्यमित्यत इत्येवः पीयूषवर्षपञ्चरत्नोदेवपूषस्य
सोमप्रसादो प्राप्तिप्रसङ्ग एवैवेतिहासिकतां वदितव्यम् ।

साम्प्रदायस्य नास्तीत्यस्य यदुक्तमेव किमपि वेतिह्यं संक्षेपतः प्रवरणी । अस्य
महाकवीविजयस्येति कृतिरुक्तवीर्येति प्रसङ्गादस्य सतपात्पञ्चादवगम्यते । किम्-
निरुद्धपद्ये इति तु पुनस्तुष्टौ चैतन्मसापारत्वं कल्पनादौहर्त्यादिभिराम्—

‘वीर्यं यस्य निरुद्धं सुचरितं, अत्र नवीजोद्भूतः’ इत्यादि (दृ. ११)

कवीनां सुप्रसादितं चैतन्मसापारत्वं प्रकल्पेन वर्णितम्—

‘यसि सुप्रसङ्गात्तो, पवित्राः शरीरैः’ इत्यादि (दृ. १०)

कवितायां कविनीत्यादौ चैतन्मसापारत्वं कल्पनादौहर्त्यादिभिराम्—

‘वसन्तोऽपि विरुद्धमिन्द्र, कर्त्तुं न शक्नुः’ इत्यादि (दृ. ११)

एवमेव प्रसङ्गादेः स्वस्वरस्य स्वयं वदितव्यतयाः संक्षेपतः सावसावस्ये
समस्तस्यैव अस्य वपेत्तन्मेववदितव्यमिति नो विदधाति ।

किम्पुनरपि चैतन्मसापारत्वं कल्पनादौहर्त्यादिभिराम्—

‘यमे वन्देति विरुद्धमिन्द्रमिन्द्रमेव दे’ इत्यादि (दृ. १०)

कवीनां सप्तमोऽपि विरुद्धमिन्द्रमिन्द्रमेव दे मन्त्रोक्तस्य वन्दितो विरुद्धमिन्द्रमेव
चैतन्मसापारत्वं वदितव्यमित्यत्र न कल्पनादौहर्त्यादिभिराम्—

‘यस्याः स्वयं कृत्तुः किं न शक्नुवन्’ इत्यादि (दृ. १०)

कवीनाम्पुनरपि चैतन्मसापारत्वं कल्पनादौहर्त्यादिभिराम्—

‘वीर्यं यस्य निरुद्धं सुचरितं, अत्र नवीजोद्भूतः’ इत्यादि (दृ. ११)

कवीनाम्पुनरपि चैतन्मसापारत्वं कल्पनादौहर्त्यादिभिराम्—

‘वन्देति विरुद्धमिन्द्रमिन्द्रमेव दे’ इत्यादि (दृ. १०)

सूर्यास्तमनस्सर्पेण कीदृशं धर्मं जनयति । तत्रापि—

‘कुला मृदुलकमलमखिलैः त्रिलोकीम्’ इत्यादि (पृ. १२४)

अत्र बाह्ये महाकविना अयदेवेनोत्तररामचरितेभ्योऽप्युक्तस्यैव कवित्वस्यैव-
कव्यस्य लोकमी प्रबोधितेति सूक्ष्मेक्षिका पर्यालोचनेन स्फुटं प्रतीयते । परेणपि
बहुद्वयस्योत्तररामचरितस्यैव चतुस्वरूपप्रकारः प्रदर्शिताः । अथा तत्र निरूपयन्ते-
भूतार्थं न तथैवाऽवाऽपि । यथा तत्र यक्षियाऽश्वस्य वर्णनप्रसङ्गेन हास्वरस्योप्येव-
स्यैवाऽत्राऽपि सुतीक्ष्णोक्तं कामनकुम्भकर्तृप्रपन्नस्य हास्वरस्यः स्फुटीकृत इत्यपि
कर्त्तव्यो विषयः । एते जनकमनोरमं कीदृशया रमणीयया विषया कविशैलस्यापि-
‘यथाऽहं निस्सीनोत्तमप्रभमनोये भवकथा’ इत्यादि (पृ. ११०)

अतुर्पादो हरपदार्थक्ये परशुरामजनः, परशुरामककनयोऽपिप्रसुतः कस्तो-
त्तरं मानसमुत्कृष्टिकाऽऽकुले निवसति । रात्रमतिपादितं कुलमागतं मन्त्राद्यैश्च-
कीदृशेन वाग्विजातेन प्रसाधितं—

‘हारः कण्ठे विशुद्धः, वधि वा लीकनधारः कुक्षरा’ इत्यादि (पृ. ११४)

परशुरामस्य रामस्याभावात्तं रामस्यैतद्वचनं कीदृशं वाक्पटितार्थं प्रयच्छति—

‘न परशुरामस्योक्तं गोत्रं विनिम्’ इत्यादि (पृ. ११४)

यथमाहो कनोप्युत्तमि इत्यादि शब्दाश्चतुर्णाम् परव्याप्तिरूपेण मन्त्रितानि ।
सर्वमुत्कृष्टमन्त्रविशेषरूपेण पुरपतेरितिचित् कथमिथेन सुन्दरप्रकारेण वर्णयति—
‘नरेन्द्रः केकेबीजवनपरिपात्रीविगणितः’ इत्यादि (पृ. ११९)

विष्णुलोकितपद्ये सरयुमुक्ताभ्यामुत्कृष्टमगतस्य भरतस्य मात्राः सह संवादे तत्र-
भातुमिष्यमस्तुयोगः कीदृशया अयस्वरकारिण्या रीत्या समुपवर्णितः—

‘मातस्तातः क मातः ? पुरपतिमनं, हा । कुतः ? पुनरोक्तः

कोऽसौ पुत्रबहुर्वा ? त्वममरमत्वा यस्य वातः, किमस्य ?

प्रातोऽसौ वानमाऽन्दं, किमिति ? नृपगिरा, किं तथाऽसौ वसति ?

सहाम्यन्तः, फले ते किमिह ? तत्र वराऽभीशता, हा । इतोऽस्मि ॥ १-१८ ॥

कीदृशीं वानकीकल्याणपरमपता वर्णितः—

‘मीतं विलोक्य हृदिर्णं कल्याणवित्त’ इत्यादि (पृ. १२८)

मन्त्रमुक्तेन कविद्वयेन पमिक्रमपानरिप्तिः कीदृशेन वचनकीदृशेन प्रतिपादितः—

‘सावस्वर्णं रूपति तपनस्तानवेन प्रमाणम्’ इत्यादि (पृ. १३०)

‘विक्रमकुम्भस्तोमादीर्णे परागविभूषितः’ इत्यादि (दृ. ४०८)

अन्ते च रामकृष्णमुप्रापविभीषणकृतानि चन्द्रोदयादिर्णनानि परममङ्ग-
रणा निरवा चेतः समाकर्षन्ति ।

नाटकप्रस्तावस्य तत्तत्संक्षेपे हिक्कना नैतिहचाना नर्तनमिदमादातते
पराभिनेय बोद्धवम् । अतोऽन नर्तने संक्षेपस्य समाभरणमवगन्तव्यम् ।

महाकवेर्णयदेवस्य कानी प्रसादगम्भीरतापरिपूर्तिता वर्तते । अस्य नाटकर-
स्यऽनगद्गेन इत्यस्य जगत्स्य चोभयोरपि काव्ययो रसः समासाद्यते । समुचि-
ताऽनकाशस्याऽनवाहर्णनविस्तरभीहत्याच साप्रत्ययेतावतैन विरभ्यते ।

अस्य नाटकस्य व्याख्यायामहमामिः पुस्तकप्रबन्धेवोपसृष्टं, तत्रैवं ओदभित-
रामकृष्णविभक्तप्रकाराभ्यासोपेतम्, अपरं च दुराहीतानासवेवपश्चितमज्ञात-
व्याख्याकर्तृ मूलरहितम् । भूमिकाशेकने च दिवंगतयोः पश्चितमदृक्प्रवोपाप्या-
नभक्तिहोरोपोविमग्नायात्ताहाप्यमासादितम् । अस्याऽन्यप्रयेद्वध यत्र तत्राऽ
स्माभिः स्मृततालुपयोगो विद्यः । अतस्तीर्ण समेशमपि विपश्चिता हृत्कृताप्रमेय
निरमामि वहुनिस्तरादिनि यम् ।

एकमेव क्षेत्रमकर्मणि साहाय्यमापरस्याननुमानं नोदिनैवचन्द्रदर्शनं दृभा-
शीरादिभिः सन्नकडरीभिः ।

‘विद्वद्विद्वत्कामदेवकवेः कृतिः कः, वैद्वन्मयोधरादिता विवृतिः क चेवम् ।

मिषावित्तातकनिष्पन्नकृष्णवासभेतिप्रकृष्टमनयैव मय प्रयत्नाः’ ॥

अर्वान्तराऽऽपतनकृष्णमहान्तरायात् प्रारब्धकर्ममनयव सहाऽनतानम् ।

एवं समस्तवमितः समयोऽपि माता वैवाग्म्यद्वन्द्वुपगतः समयो न कालः ॥

अन्तेऽप्यन्यमवगुर्नयमापतन्तां वृत्तं मयाऽऽचरितमत्र ॥ समग्रमात्मम् ।

दोषो मनेषधि, तमाद्य निरस्य विहीनोपमेर्गुणवन्महान् निषेधम् ॥ (सुमम्)

पाण्डुपत्रवेवम् (वेपात्रम्)

सं० २०१२ वीप कृ. ९

विद्विजेनः—

शोपराजशर्मा

उपोद्धात

कविने मतिरचने अधिष्ठातृ चमत्कारपूर्व साधको 'काव्य' कहते हैं। यह भाव दो प्रकारका होता है—सामान्य और परमसम्यक्। सत्तः काव्यके भी दो भेद होते हैं—अधीकान्य और पराधीकान्य। संतोषी साधारण पोएट्री (Poetry) सत्तर केवळ परमसाधारण है—गद्यका नहीं। ईसावाक्योपनिषद्में 'हरितेन्दोरी हरिः स्वर्गम्' इस सम्प्रति कविपद परमात्माके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। भाष्यकार भगवत्पद-सङ्गराचार्यने कविपदका विवरण 'अमररही' पदके किया है। इसका सारार्थ हुआ—अतीत दुःखका दुर्लभ अर्थात् सर्वत्र। 'गता बभूवुर्दयस्तरुण' अर्थात् परमात्माने दुर्लभके लिये अनुसार इस विषयी रचना की, इस वेदवार्त्ता के अनुसार यह बात सुकिसंगत प्रतीत होती है।

संसारमें सर्वसाधारण सम्म वेद ही हिन्दुधर्मके विचारके अनुसार परमात्मा की रचना आदि काव्य है। वेदोंको अतीतके व मानकर विष्णु विष्णु कविधर्मके विषय विषय कर्ममें सङ्कलित साधारण सम्म अमरवेद की उक्तों आदिवाक्य कहनेमें भी कुछ पाया प्रतीत नहीं होती है। वेदोंमें एक एकका समीप कविपद-कीप्रत्येक साध सरसता, प्रसाद गुण, स्वभावोक्ति, उक्तों और कर्मक मन्त्रादि कर्मके विषयोंका सन्निवेश रचना जाता है, जो परमात्माके आचरणके लक्ष्य माने गये हैं।

भारतीयवृत्त (मृ० म० १० सू० १९९) आदि कतिपय वेदसम्प्रदाय की आधुनिक समकालीन व्यवस्था (Militarism) के लक्ष्यके अन्तर्गत लेते हैं। एकदा वेदोंको आधिकारिक और मान्यत्वके अनुसार उनके रचयिताको भाषि कवि माननेमें कुछ भी अक्षय नहीं पड़ती है। इस स्थितिमें पहले की गई काव्यपद्धती परिभाषाके अनुसार कविपदकी अनुपपत्ति प्रसिद्ध अनेकी मान्यता प्रतीत होती है। 'अनेके धर्मि गुणवते = अन्धकारावति धर्मि' इस अनुपपत्तिके अनुसार भी स्पष्ट करता है अर्थात् वर्णन करता है यह कवि है यह अनुपपत्तिकर्म कार्य हुआ। इस कार्यमें प्रत्येक का वर्णन करने वाले कवि विषयों की कविपदकी अधिष्ठातृकी भावना होती है अतः सत्तः मितरचने किन्तु एकपूर्ण केवळीय अक्षयवचन अक्षय चमत्कारजनक प्रकाशके लक्ष्य या वर्णन करता है यह कवि कहता है। यह आधुनिक प्रकाशके कविपदका अर्थ हुआ। इस कार्यमें कविपद योग्यता साधना का संकल्प है।

संसारके सर्वविध वेदवार्त्ता पाणिनिके मतमें साधारण दो भेद हैं—वेदवाक्य और अवेदवाक्य। कवि संस्कृतभाषा के अतिरिक्त वेदवाक्य और अवेदवाक्यकी प्रकृति

असा नहीं है, तथापि कतिपय सम्बंधोंके प्रयोगमें विशेष भेद होनेसे व्यवहार-
सीकरीके लिए उन्होंने ऐसा भेदमूलक परिपक्व किया है। वेदके अन्तर्गतभीक-
भावा अर्थात् व्यावहारिक संस्कृत भावामें आधिकारिक रूपमें वात्सीकिराभाषण
और उसके कर्ता वात्सीकि मुनि आधिकारिक माने गये हैं। संस्कृतके प्राचीन
साहित्यसम्बंधोंमें वात्सीकिराभाषण और महाभारत अपने अस्वाभाविक और कठोर
कारण ऐतिहासिक सहाकाय्य और उनके रचयिता वात्सीकि और कुण्डलपारम
(वेदव्यास) महर्षि, महाकवि माने गये हैं। इसी बातको संस्कृतके एक कविने
कविराज दण्डीकी भाषासे प्रकरणमें इस प्रकारसे उल्लिखित किया है :-

‘आदि भगति वात्सीकी कविराजविभाषमपर ।

कवी दण्डी उक्तो व्यासे कवपत्तयि दण्डिनि ॥’

अतएव वात्सीकिकी कल्पितके अन्तर कवकी ‘कवि’ ऐसा संज्ञा हुई। वीरे
व्यासके उत्पन्न होनेपर कवका भी ‘कवि’ ऐसा नाम पड़ा। अन्तर्गत है दण्डि ।
कवका प्रादुर्भाव हुआ और ‘कवि’ संज्ञासे परिगणित कुछ लोग सुप्रसन्न
हो गये हैं ।

‘कतिपय दुर्लभकी धारणा है कि कवकी वात्सीकि वापि नच्युगमें ही
हुई है, पूर्ववाक्यकी एक ही रचना ‘काव्य’ परसे व्यवहार करनेके योग्य नहीं है ।
भारतमें यह धारणा अतिप्रसिद्ध है। इस समय कवका नामकपदे देवनेपर
सीकरीके एक ही पूर्वकपरी काव्य सके ही न कही जा सके पर उसे ‘यह काव्य
ही नहीं है’ ऐसा कहना चाहता ही मानी जायगी ।

अनादि कालसे प्रचलित विद्वत्प्रवाहमें वेदा, काल और अथर्वनाके भेदसे अनुभवी-
की दृष्टिमें भी भेद होना स्वाभाविक ही मनीत होता है। इसी कारणसे मध्ययुगके
विद्वानोंके इतिहास, पुराण आदि विषयोंसे काव्यको निर्दिष्ट करनेकी आवश्यकता
पसीत हुई। जसः किञ्चनकी पञ्चमी अतापरीके विरचनाय कविभाषने अपने
सुप्रसिद्ध कवकप्रमाण साहित्यधर्ममें काव्यके कवप्रमाणमें—‘न हि वेदोतिष्ठ-
मानकविः शिष्यात्मपरकाय इतिहासादिदेव उक्तिभेः’ अर्थात् इतिहासकाव्यके वर्तमानमें
‘कवि’ पदकी उपकल्पित नहीं होती है, इतिहासका वर्णन तो इतिहास, पुराण
आदिसे भी उपकल्प हो जाता है।—ऐसा किया है। भारतवर्ष अर्धवर्षात राक्ष
होनेसे रामायण और महाभारतमें ग्रन्थकारोंका कव्य काव्यकाव्यधर्मकी
अपेक्षा ऐतिहासिक, धार्मिक और मार्मिक उपकल्पनमें अधिक होनेसे दोनों
ग्रन्थ इतिहास एक पक्ष वेदके रूपमें माने गये हैं। वेदार्थका स्वरण
कर रहे जानेके कारण अथर्वनाक सङ्ग्राहार्थके अतों वे स्मृतिके रूपमें माने गये
हैं। तो भी उपकल्पनमें अस्वाभाविक अनेक रचना होनेसे इनमें माकल्पसे

कर्मयोगका व्यवहार किया जा सकता है। यही बात यथार्थ पुराणों में भी कहीं-कहीं मिलती है परन्तु उन्हीं कहीं भी कर्मयोगका व्यवहार नहीं देखा जाता है।

कालमें पूर्णकाले मौलिकता हो ही नहीं सकती। किसी रचनामें पूर्णकाल की कुछ न कुछ बाप पड़ी ही रहती है। आदिकवि कालकाली रचनामें भी "माता कथापूर्वमकालमत्" इस अधिके अनुसार पूर्वरचनाकी आवेकता होती है जो सर्वोच्च कालिकीकी रचनाओंकी क्या बात है? इसीसे वेदके कई मन्त्रोंमें मौलिक आदि कवि वाक्यीति सुनिमे स्वकीय शास्त्रकालमें आवाग्महरण किया है। इसी प्रकार कुणाद्वैपाकालने अपने महाभारतमें रामायणक, भक्तिकालमें रामायण और महाभारतक और महाभारतक और महाभारतक कालिकीमें आवाग्महरण किया है। इसी प्रकार कालिकीकी रचनामें कविने भवभूति, सर्वज्ञके दार्शनिक कवि में और कालिके आवाग्महरण किया है। इसी बातको महाकवि वेदमेंने इस प्रकार व्यक्त किया है:—

‘आदीशमीची वस्त्रोपजीवीं नादीशमीची सज्जोपजीवी ।

ਜਥੇਦਾਰ ਧਾਤਕ ਬਿਲਵਜੀਧੀ ਸ਼੍ਰੋਮਣੀਏਤਲੋਂ ਜਾਂ ਫੁਲਜੀਧੀਆਂ ॥

इस बातका संक्षिप्त रूपसे यहाँ विवरण करना आवश्यक नहीं होता।
संक्षेपशः यहाँ एक रकम इस प्रकारका है:—

‘इन्द्रावाऽनमो इन्द्रो इन्द्रावाऽनमो सुखम् । यथावाचिर्भर्तुः प्रशान्तिं च प्रशान्तिं नमः ॥’

मुक्तले भगभार दुःख और दुःखले भगभार मुक्त, इस प्रकार पाठके समापन
द्वारा और मुक्त परिचित हो रहे हैं ।

बात साधारण सी है, पर इसी बातके कविविहीरमणि भगवन् अपने 'स्वप्न-
वातावरण' नामके कवकीय चौकाले वर्णित किया है :—

¹ 'काण्वस्यैव वसतः शरिर्लभामास कञ्जस्यद्विरेव वञ्जति भाष्यमणिः ।'

बाळोळें वळतले वळतले गरीबवर्गित होमी दुई धातूयपडि रहिचेले जावोनी पळिल्ले समान मीचे भोर उतर वाटो राखी हे ।

इसी बातको ध्यानपूर्वक ध्यानपूर्वक विचार करनेपर हमें अंग्रेजी में यह बातें स्पष्ट हो जाती हैं :-

*अस्माकं सर्वभूतं कृत्स्नमपि नृणां कृतिरिति वा । १ श्रीवेङ्कटेश्वरि नमः इत्यादि वाक्येभिरुक्तम् । ११

किसी कच्चाकार शुद्ध लकड़ा चुना प्राप्त होता रहता है। लकड़ा कच्चापी मेमिरे कच्चापी कसी जीने और कसी कम जाती रहती है।

हस प्रकर पूर्ववर्ती भूमि के माफका उच्चवर्ती कवि अग्रहण करते रहते हैं, पर उद्यम में कुछ निरोधकारण बाधाएं आती हैं, यही तो विरा निरुपेयन करने में सहाय ही होता ।

साधारणहरणसे ही नहीं, अपितु असीसीम कवियोंने कथानकमें भी प्राचीन कृतिवृत्तोंका अनुसरण किया है। अधिकधामें भारतीय रचनाओंके कथानक रामायण, महाभारत, पुराण और कथासरित्सागरसे किये गये हैं। कि बहुधा पाश्चात्य देशमें भी कविहर होमर और वायव्यकापुराणपर रोमन्सीयर आदि कवियोंने भी दृढ़तासे ऐतिहासिक प्रयोगोंके आधारपर अपनी अपनी रचनाओंका कथानक मसुदा किया है। इस स्थितिमें मेरी रचना पूर्णतया मौलिक है ऐसा कहना सरासर साहस और आत्मप्रत्याशनाभावी प्रदर्शित करना है। वास्तविक बात तो यह है कि दूसरी कृतिसे ज्ञान का कथानक लेकर भी कवि बड़ी चालाकाईपूर्ण कौशल प्रदर्शित कर सके तो उसकी कृति मौलिक ही समझी जायगी। साम्य का पाठ्यमें गङ्गा, दाम्ब, कङ्गा, लोहा, बीर, अधानक, बीजस, अद्भुत, शान्त और वास्तव इन रसोंको सम्याख्यान सम्मिश्रित करना चाहिये, परन्तु अभी (प्रभाव) के कर्णमें गङ्गा, बीर का साम्य रसको रचना चाहिये, इसी बातको निम्नलिखित श्लोकमें उपलब्धकर्णके लीर पर निर्दिष्ट किया है:—

‘अपारे काव्यसंसारं कविरेक प्रजापतिः । यदेवं टीवटे विभं तदेवं धरिवरति ॥

गङ्गाती वैभवः साम्यं जातं रसमयं गङ्गा । स वैभवविश्वीश्रवाणो बीरसं गङ्गायैव तद्वत् ॥

अपार काव्यसंसारमें कवि ही एक मात्र प्रजापति (सृष्टिकर्ता) माने गये हैं। कविकी दृष्टिके अनुसार संसारका परिवर्तन होता रहता है। कवि गङ्गा ही तो संसार ही रसमय ■ जाता है, यही कवि निर्बेदपूर्ण कर्ण, साम्यरसका ही तो कारा संसार ही नीरस ही जाता है।

जयमलकविने जैसे देवदेव जमिनीकुमारोंको धर्मकादिस्तेदार बनाया का उसी तरह महाकवि भवभूतिने अपने अनुपम नाटक उच्चरामचरितमें कदमरसकी भी गङ्गा और साम्य रसके समान अङ्गिके कर्णमें स्थापित किया है। यही रस कि गङ्गारमें जो स्थान महाकवि काकिवासका है कदममें यही स्थान महाकवि भवभूतिकी माना गया है। दूसरीकि ‘अतरे रामचरिते भवभूतिविभिन्ने ।’ इस पंक्तिकी मिश्रता ही सार्थकता देवी जाती है। भवभूतिने कदमरसकी प्रथमतापर इस प्रकारसे समर्थन किया है:—

‘श्री रसः कथं यत् किमिष्टमेवाङ्गिरः एवमुच्यते भवति निर्यात् ॥

भावार्थकुलरुतरसमयान्तिकारानन्दो यथा सकिमेव हि तत्समस्तम् ॥’ (१-४७)

एक कथनरस ही काव्यमय आदि निमित्तके भेदसे भिन्न होता हुआ पुनः पूरक गङ्गा आदि परिणामोंको आश्रय करता है। ऐसा माध्यम रहता है—जैसे एक जग ही और, सुदृढ़ और तरङ्गस्थ विकारोंका आश्रय करता है, यह सब वास्तवमें एक ही है।

परन्तु सामाजिक पुनर्रचनाओंके इरादोंके सिद्ध प्रत्यक्षमें व्यवहारके रूपमें हास्य-रसकी भी प्रधानरूपसे स्थिति आवश्यक है। अधिकांशमातृसुप्तक, रसायनी और प्राकृत्योपाय आदिमें मन्दार, जेलीफ्रुटारमें बीर, मृदाभासमें क्षत्त और टाक-मेकक, हास्यार्थ आदिमें हास्यरस प्रधानरूपसे रूपमें माने गये हैं।

साधारणता कविके ही भेद होते हैं—प्रतिनिधित्व और विषयत्व। किसी देश, काल और अवस्थाको कथनकर परिचित्रण करनेवाके कविको प्रतिनिधि कवि कहते हैं। जिस कविकी रचना देश, काल और अवस्थाकी सीमाओं परकर संचरित होती है, उसे विषयकवि कहते हैं। पूर्वजनोंके कवि अश्वमेध आदि करने का सकते हैं और दूसरी जेलीके कवियोंमें कविदास, भक्तसुति और एकात्म देशके लेखनीपर आदि कवि परिगणित हो सकते हैं। परन्तु विषयकवि भी किसी देशमें एकात्मका प्रतिनिधित्व भी अवश्य करते हैं। क्योंकि अपने समयके राजाजनकी व्याप मिस किसी भी व्यक्तिमें अवश्य ही पड़ती है। मनुष्यकवि कविदासने अपने महाकाव्य रघुवंशमें कनिष्कका जो चरित्र-चित्रण किया है वह कविके सामाजिक मनामनके शाब्दिक है ऐसा भी कोई विद्वान् मानते हैं।

विज्ञानकी दृष्टिसे विचार करनेपर कविके और भी दो भेद माने जा सकते हैं—प्रार्थनावादी (Realistic) और आदर्शवादी (Idealistic)। अपनी अनुसृष्टि या किसी विषयको प्रार्थनारूपसे चित्रण करनेवाके कविको प्रार्थनावादी और किसी आदर्शके कथनमें रचना करनेवाके कविको आदर्शवादी कहते हैं।

मैंने यहाँ सा आदर्शवादीके विभिन्न प्रार्थनावादीके आदर्शवादी और आदर्शवादी केरेका न बचकर केवल प्रार्थनावादीका विषय करनेवाके कविको प्रार्थनावादी माना है। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि वास्तवमें ये दोनों कवि ककारे पुनरी हैं। परन्तु प्रार्थनावादीकी दृष्टिमें 'कहा ककारे निमित्त है' इसके विपरीत एक आदर्शवादीकी दृष्टिमें कहा जीवनके और जीवन आदर्शके निमित्त है।

विषयकवी दृष्टिमें मिस प्रकार केवल प्रार्थनावादीका राग मकरपनेसे कान्धर्मी अवस्थितता और अनैतिकता प्रकृति आपत्तिकी संशयना भा सकती है, वसी प्रकार केवल आदर्शवादीकी प्रकाशन प्रकाशसे भी रचना शुभक प्रगतिता का नीतिशास्त्र काय धारण कर सकती है। इसी तरह कवि केवल कल्पनाशक्तिमें ही (Utopian) चित्रण करनेवाका समझा जायगा। इसलिये प्रगतिशील विचारवाके कविका कल्प दोनो बातोंमें सुखरूपसे रहना आवश्यक है।

प्रार्थनावादी और आदर्शवादी ये दोनों कवित्वकाभके सिद्ध साध्य नहीं हैं अप्रकृत अवयव हैं। जसा इन दोनोंका प्रार्थनावादी और प्रार्थनावादी पूर्वोक्त प्रकारसे अपयोग कला विचारशील कविकका कर्तव्य है।

ऐसके अनुसार भारतीय लेखक अधिकांशमें आदर्शवादी और यूरोपके लेखक वर्धार्थवादी पाये जाते हैं। प्राच्य और पाश्चात्य लेखकोंमें इस अन्तरका हेतु अपनी अपनी संस्कृतिकी विभिन्नता ही मानी जाती है।

भारतीय-लेखक वर्धार्थवादी और यूरोपीय लेखक आदर्शवादी हैं ही नहीं यह मेरा मत नहीं है। भारतमें भी पौरपञ्चाशिकाके रचयिता के सदृश वर्धार्थवादी और यूरोपमें सिकन्दर, सिकन्दर इत्यादि और डाइस्टावके समान आदर्शवादी भी देखे गये हैं, इसी लिए मैंने 'अधिकांश' शब्दका उल्लेख किया है।

अतिप्राचीन समयसे ही भारतवर्षके एक धर्मप्राण राष्ट्र होनेके कारण यहाँके विद्वद्गण 'सत्यं तिमं धुन्वन्' में ही कटाका पूर्ण स्वारस्य पेशते हैं। इसीसे यहाँके कवि भी अधिकांशमें आदर्शवादी ही होते हैं। नाटकके क्षेत्रमें भी प्राच्य और पाश्चात्य साहित्यमें मतभेद परिलक्षित होता है। संस्कृतके मद्रक संयोगान्त और यूरोपीय नाटक अधिकांशमें वियोगान्त देखे जाते हैं। आदर्शवादिताने अनुसार ही सांस्कृतिक भारतीय कवि संयोगान्त रचना करते हैं।

यहाँ धर्मकी प्रधानता होनेके कारण स्थिति प्रन्धीमें सत्त्वगुणमें बहुत जोर दिया गया है। यहाँ तक कि काव्यधर्मके प्रकरणमें पादकर-पुष्पसूत्रमें—

‘गर्मिणी विजयैति मृगम् । संकल धति मङ्गलम् ।

भगाकमिति कपाकम् । मन्थिभुरितोत्पन्नम् ॥

ऐसा किया गया है। जहाँ-गर्मिणीको 'विजयन्ता', मङ्गल (मृगीके) को 'मङ्गल', कपाक (कपाक) को भगाक और मन्थिभुरितोत्पन्न 'मन्थिभु' कहना चाहिए। इस स्थितिमें भारतीय नाटककार अमङ्गलपरिहारके लिए अपनी रचनाको भी मङ्गलपूर्ण संयोगान्त बनाते हैं, इसमें आश्चर्य माननेकी क्या बात है।

आत्मक कतिपय विद्वान् कहते हैं कि वियोगान्त नाटकका अधिक प्रभाव पड़ता है। जहाँ-कविकी रचनाका जो अन्त है उसमें वियोगान्त होनेसे गहरा असर पड़ जाता है। कुछ अंशमें यह ठीक हो भी लाय पर ऐकान्तिक रूपसे यह बात नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि संयोगान्त रचनामें भी वियोग जाति कम्पा बीचमें आ पड़ती ही है उससे भी सामाजिक दुष्टमें प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है।

संस्कृति (Culture) की विभिन्नतासे ही प्राच्य और पाश्चात्य साहित्यमें स्थान स्थानपर मतभेद दिखाई देता है। जहाँ भारतमें हरिश्चन्द्र आदि पात्र सत्यव्रतके पाठ्य करनेके लिए उद्यत होकर पापपाप पर छोड़ जाकर चूकान्त विपत्तिमें प्रसूत होकर भी आत्महत्यासे विरत होकर धैर्यसे विचरित नहीं होते हैं वहीं पाश्चात्य देशोंमें आदर्श और नायिका अपने मरणमें साकल्यधर्ममें प्रतिबन्ध देखकर एक ही दोनों प्रमदी आत्महत्या कर अपने जीवनको तिरोहित कर देते हैं। इस विषयमें

बहुत कुछ कहना था पर स्थान और समयके अभावके कारण दो बार बाठे निकलकर मैं अपना वक्तव्य सप्ताह करता हूँ ।

साहित्यमें नाटकका बहुत ही उच्चस्थान है । पद्यमि काव्यके दो मेंमें इसकी उत्पत्तिकाम्य कहते हैं परन्तु प्राचीनके वरत्न संभावके प्रथम किसे जानेके कारण यह एक प्रकारसे अल्पकाव्य भी माना जा सकता है । चार प्रकारके अभिनयोंके द्वारा चरित्रका प्रदर्शन किसे जानेसे अल्पकाव्यकी अपेक्षा इसका अत्यधिक प्रभाव दर्शकोंपर पड़ सकता है । इसी प्रकारसे गद्य और पद्य दोनोंका समावेश हो जानेसे यह अपूर्वकी तरह अत्यधिक मनोहर पद्य स्वरूपितेमें संगीतका भी समावेश होनेपर यह क्या बिहार और क्या मूर्त्ति, क्या दृश्य और क्या वाक्क, क्या स्त्री और क्या पुरुष सभी लोगोंको अत्यधिक कपसे आकर्षक बन जाता है । अतएव अपने यहां कहा भी जाता है कि 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' अर्थात् काव्योंमें नाटक रमणीय होता है ।

अतएव संसारके बहुतेरे साहित्यकार नाटकके द्वारा ही निम्नलिखित हो गये हैं । भारतके आदिदास, भगवृत्ति, भीष्म, जयदेव आदि और यूरोपके रोमलपीयर काल गावसबर्दी, इप्सन और वर्नाहोरा प्रवृत्ति कलाकार अपने अपने भावोंके द्वारा ही विपुल कीर्तिके भजन हुए हैं । इस कारण नाटक क्या पूर्व और क्या पश्चिम सर्वत्र आदरणीय माना जा रहा है । भारतीय नाट्यशास्त्रके कर्ता भरतमुनिने इसी कारण कहा है —

✓ 'न तत्त्वार्थं न तद्विज्ञानं न तत् विद्या न तत् कला ।
न तत् योगी न तत्तर्कं नास्ति यत्नं दृश्यते न'

अर्थात् वह ज्ञान नहीं है, वह विज्ञान (विद्याकीकृत) नहीं है, वह विद्या नहीं है, वह कला नहीं है, वह योग नहीं है और वह कर्म नहीं है जो नाटकमें नहीं देखा जाता । वास्तव्य यह है कि नाटकमें ज्ञान, विज्ञान, विद्या, कला, योग और कर्म सबका व्यवस्थान समानेक किया जाता है । कि बहुत नाटक अपने बहुत ब्रह्म मेव के रूपमें माना गया है, इससे बढ़कर इसका अधिक और क्या उत्कर्ष हो सकता है ।

महत् नाटक प्रसन्नराजका संस्कृतसाहित्यमें बहुतसा स्थान है । पद्यमि सर्वादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पवित्र चरित्रका आत्म्य कर रहे गये महावीर-चरित, उत्तररामचरित, कुम्भमाका, वाकरामायण प्रवृत्ति जैसे नाटक हैं, पर इसकी उम्र सभीमें विरहवन्ता है । इसमें पहलेके चार अङ्कोंमें सीता-स्वयंवर और परशुराम-माघसर्वन आदि कथाएँ विरहवन्त प्रकारसे वर्णित हैं, रावणके साथ राजाशुरका भी बहुतही कर्म किया गया है । पञ्चम अङ्कमें बाकी और सुग्रीवकी

कथा गङ्गा, यमुना और सरयू के संवाहक रूपपर बतलाई गई है। रामचन्द्रजी का जन्मसूक्तकी मारीचका अनुसरण इसके द्वारा प्रकाशित किया गया है। गोदावरी और सागरकी वाचनीयता सीताहरण, जहायुकी मृत्यु और आत्मसूक्त पर्वतमें सीताजीका भक्तिकारण्य बतकाया गया है। यह जङ्गलमें रामचन्द्रजी प्रकाशित किया गया है। सप्तम अङ्कमें युद्धकालकी कथा और रामचन्द्रजीका अयोध्याप्रत्यावर्तन वर्णित है। इस नाटककी भाषा अतिशय प्राकृत, मल्लू, अकल्कल और सरस है। संस्कृतभाषापर इसके रचयिताका असाधारण अधिकार या यह बात पाठकमहोदयको निमित्त रूपसे प्रतीत होता है। इसके अर्थात् महाकवि जयदेव हैं इनकी भाताका नाम भुविष्ठा और पिताका नाम महादेव था। यह बात उनके प्रसूत नाटकके द्वारा ही जानी जाती है। जयदेवकी दूसरी कृति चन्द्रालोकनामक सुप्रसिद्ध भक्तिकारण्य है। महाकवि जयदेव नाटककार, भक्तिकारण्यमैता एवम् लक्ष्मणके पुरन्दर विद्वान् थे यह बात भी उनके नाटक द्वारा ही जानी गई है। उनकी उपाधि या दूसरा नाम श्रीगुरुवर्य या यह बात चन्द्रालोकके द्वारा अवगत होती है। उनका आधिपत्यकाळ विजय की तैराकी और चौदहवीं सदीका मध्यभाग माना गया है।

गीतगोविन्दकर्ता जयदेव इनसे सिद्ध है एवम् उनके आधिपत्यकाल विजयकी बारहवीं सदी है।

विजयकी सोलहवीं सदीमें 'रघुवर' द्वितीय नामवाले मैथिल जयदेव भी इससे सिद्ध है। मल्लराजकार जयदेव कहाने रहनेवाले थे इसका अभी तक निश्चय नहीं हो पाया है। महाभारतवाच्य मैथिल पण्डित परमेश्वर झा जीने अपने 'मिमिकातचक्रिमर्मा' नामक पुस्तकमें मल्लराजकार जयदेवको जनेकादेश शब्दोंसे मैथिल सिद्ध किया है, परन्तु कुछ लोग इन्हें मिर्जके कुण्डलपुर निवासी वाणिज्य नाकान कहते हैं।

विशेष बातें संस्कृतके अन्तर्गतमें वर्णित हैं, विद्वेषको मने यह भी अवगत करता है।

—टीकाकार

कथासार

प्रथम भाग

मानवीके अन्तर्में सुखकार इन्द्रियमें अपने सहकारी रक्षकको लाभ प्राप्त होकरता हुआ मलकरावच नाशकी प्रशंसा करता है । उसी प्रसङ्गमें यह प्रसङ्गीक-
का वर्णन कर बहुतेरे कवियोंका रामचन्द्रका वर्णन करनेमें हेतु दिखाता है । मद्युत-
नाटककार 'वीरचम्पू' पद्यकी भांसे अष्टवैषकीके कविता किंकशकः रक्षक दिखताकर
वर्णन कर सुखकार मलकरावचका मलानुगुणानुसिक्तक भीरु अष्टवैषकीकावचका
भी प्रकाशन करता है । इसी प्रकारसे यह महर्षि आश्वलायनके शिष्य आश्वलायनके
भागवतकी रचना करता है ।

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

राजभ्याम्यनने राजर्षि जनकजी सीताके विवाहके लिए आहुतिकाके कारण अष्टा-
विधार्थ और पुण्यकामगत राजकन्यामें भी सिधिकाका प्रयोजन किया। सब से
आकाशमें अचलाम्बन करनेवाले श्री अरुणके सान्निध्य से स्तुतिपाठकी संकायके
मन्त्रसे—“शङ्करजीसे प्रदत्त और कैलास पर्वतसे भी अग्रेष्ठ सारवाका जिह्वावाक्य
भक्त्युक्त मनके पास है, यह जानकर उसे देखनेके लिए आत्मसुर सिधिकाको चला,
उसी प्रकार राजकनी सिधपूजा करनेके पहले ही गन्धर्वजनका समस्त पुष्पसमूह
कैसे लोका गया, राजकने अनुचरोंसे ऐसा पूजे जानेपर उपवनरजकोंने “बसा करें ?”
आज सीताका अष्टम्वर देखनेके लिए आहुतिका समस्त देवजनोंके विमानोंकी श्रुति
करनेके लिए ही समूचे फूलोंका उपयोग हुआ है” ऐसा उक्त दिया। ऐसे वचनोंकी
श्रुतकर सीतास्वयंवरमें आत्मसुर और राजकने आत्ममनकी सम्भावना और अग्रेष्ठ
की आकाश कर यह समाचार सुनके सुनानेके लिए चले गये।

इति विष्णुसूक्तम् ।

मज्झीम और मनुष्यक नामके दो स्तुतिपाठकोंमें सीताके स्वर्णवस्त्रमें धनिक बैलोंसे धाये [] राज्याधीनके वेष्टा, भूषा और आचरण आदिका तथा विविधस्तुतियोंके धारोपणमें अवलम्बिका भी वर्णन किया । तब मनुष्यका देव धारणकर रामने वहाँ प्रवेश किया और उसके साथ मज्झीमकी बहोकिर्णवत् बातचीत चलायी । रामने दूरसे महककी लट्ठारीमें अवस्थित सीताको देखकर उनके छोटीयत्र सौम्यदर्पकी प्रशंसा की । जब राक्षस चतुष्कोट उद्यानमें अक्षमर्ष हुआ तब उसने पराक्रमपूर्ण सीताको अपने दासकामेकी [] लट्ठाई, परमज्झीमके लक्षकी बहुत ही मर्जना की । जिससे

बद कुपित होकर ब्राह्मणों और वीरों बाहुओंसे युक्त अपने स्वकपसे माहुवृत हुआ। उसको देखकर भूदुरकके विस्मित होनेपर मलीरकने उसे 'यह राजसराज राक्षस है' ऐसा कहकर समझाया। उसके बाद उम दोनोंके साथ राजकी कठोरसमय कावलीत होने लगी। राक्षसने उसके बीचमें विद्वत् बचनके आक्रमणसे लोकोपर अपने पातकमको स्फुट किया। इसी समय बाणासुरने चढ़ा प्रवेश किया और उसके साथ राक्षसकी कावलीत भी होने लगी। सुरमिशोधी ने दोनों, परस्पर अपना अकर्ष और दूसरेका अधकर्ष निकटाने कये। बाणासुर भी शिवधनुष उठातेमें विफलप्रयास हुआ। जब राक्षसने उसके मुकुटभारकी निम्ना की, तब बाणासुरने भी उसकी भर्त्सना की। तदनन्तर दोनोंका बान्धिकाद होने लगा और अन्तमें भयवचनका उन्मूलन करनेके लिए बाणासुर चढ़ते चक पड़ा तथा राक्षस भी जब सीताहरणके लिए तत्पर हुआ तब मारीचके रोदनकाव्यका भयान कर उसे आवासान देनेके लिए निकल पड़ा। दोनों भूतिपाटक की महाराज जगजकी पद हानि चुमानेके लिए चले गये।

द्वितीय भाग

बधिरकणके लिए अवीज्वायति दूसरयने जब कीर्तिकमुनिके पास अपने पुत्र राम और कश्मणको लीपा, तब मसज होकर उन्होंने भी वीरमाताके कर्णभूषण तादृक्प्रभुम कीशक्त्याके लिए उनकी समर्पित किया। 'यह भूषण राक्षसकी माता निकबाके लिए योग्य है' ऐसा विचार कर भुक्तिमान् तापवचान् जानके राक्षसके सम्भीने उसे कानेके लिए तादृकाके पास भिदुरकपवाके एक राक्षसको पड़ने भेजा। कुछ समयके अनन्तर 'अभीतक तादृका उस भूषणको ली चुकी होगी' ऐसा विचार कर उसने तापसका रूप बनाकर दूसरे राक्षसको भी भेजा। जब दोनों राक्षसीका मिथिका के उपचयमें निकल हुआ, तब संकापसे प्रसन्नमें दोनोंमें एक ने दूसरेको पड़वाना। तब तापसने कहा—'लक्ष्मणवर मिथिकामें पचारे हैं' ऐसा सुनकर मैं चढ़ा आया हूँ' और इस समय तादृकाका वृत्तान्त जानना चाहता हूँ, यह सुनकर भिदुरने 'तादृका रामके बापसे तावित होकर पमकोष्ठ पहुँच गई, उसका एक पुत्र सुबाहु भी वैसी ही गति को प्राप्त हुआ और दूसरा पुत्र मारीच रामके नाराचसे दूर फेंका गया। पर इस दुःखद वृत्तान्तको रोकर मारीचके निवेदन करनेपर भी सीतामें आसक्त रामने चित्तमें कोपका परिताप आकृष्ट नहीं हुआ' ऐसा कहा। इसी बीचमें सामने आते हुए राम और कश्मणको देखकर दोनों राक्षस करसे दूर हट गये।

इति चिक्कमक ।

राम और कश्मण मिथिकामें बगीचेका सौन्दर्य और वीरमाताकी मनोहरताका परस्पर वर्णन करने कये वहींपर बन्धिकामन्दिर देखकर रामने बन्धिकाको

प्रणाम किया। इसी बीचमें सीताने भी सखीके साथ वहाँ प्रवेश कर चण्डिकाकी अभिवादन किया। उस समय राम सीताका अत्यधिक सौन्दर्य देखकर विस्मित हो गये। रामको देखकर अम्बयमनस होकर सीताने लक्ष्मणमें वात्सल्यपरस्पर अनुभव किया। सखीने सीताके मनमें रामकी भासतिरकी जीप किया। उसके बाद किसी बेटीने आकर सीताजीसे निवेदन किया 'माताजीने आठहूरानके छिपे आपको बुलाया है' निवेदन सुनने के अनन्तर ही सीताजी चली गई। और राम-लक्ष्मण दोनों भाई भी विद्यामित्रके समीप चले गये।

चतुर्थ भाग

महाराज जनकके अन्धपुर (रनिवाला) में बामनक (बीना) और कुम्भक (कुम्हा) ने हाथपरसोपाएक बातचीत की। बामनकने 'शिवधनुषको देखनेके छिपे हो चण्डिकुमारोंके साथ महर्षि विद्यामित्र जायेंगे' ऐसा कहा। इस बीचमें 'राजकाको मारनेवाके राम और जनके भाई लक्ष्मणको साथमें लेकर महर्षि विद्यामित्र आ रहे हैं' ऐसा वाक्य नेपथ्यसे सुनकर वे दोनों राममें शिवधनुष पढ़ानेकी कठिनी संभाषणा कर इस वृत्तान्तको महाराजिचोंकी निवेदन करनेके छिपे चले गये।

इति प्रवेशक।

विद्यामित्र, राम और लक्ष्मणके साथ मिथिलामें प्रवेश कर सीताके साथ रामके विवाहमें उपलब्धतासे आकृष्ट हुए। उन्होंने रामके प्रसन्न करनेपर बोलीचर बाबा-भक्त्यके शिष्य मिथिलेचर जनकके उत्कृष्ट प्रमाणोंका प्रतिपादन किया। इसी बीचमें आकर रातामन्दने विद्यामित्रको अभिवादन किया और जनकने विद्यामित्रको प्रणाम किया। अनन्तर विद्यामित्रने जाशीर्वाह देकर जनकबंधुमें उत्पन्न राजाओंके कोकोचरवैभवका और जनकने अतिशय विनयका प्रदर्शन कर विद्यामित्रके उत्कृष्ट सामर्थ्यका वर्णन किया। सपत्नीय विद्यामित्रने सतातमन्द और जनकको राम और लक्ष्मणका परिचय दिया। राजा जनकको इन दोनोंके रूप पर अपनी लज्जितबनीय प्रीतिका प्रतिपादन करते देव विद्यामित्रने जनकसे अनुरोध किया ■ 'शिवधनुष छानेके छिपे आप रामको आज्ञा दें'। यह सुनकर जनकने उस कर्ममें रामके असाधारणकी संभाषणा कर उस धनुषकी असाधारणताका वर्णन किया। विद्यामित्रने भी रामके पराक्रमवर्णनका उपक्रम कर फिर भी धनुष छानेके छिपे रामको आज्ञा दी। इस बीचमें परछरामने परछका सन्देश सुनानेके छिपे किसी सुनिने प्रवेश कर जनकसे कहा—'राजाजीको भक्त्य शिवपरिचारक यह परछ (भर्ता) ऐसा

सम्बन्ध देता है—'सहाराज ! किसी राजकुमारको कन्यादान कर सिवचन्द्र उठानेके पाससे बिरत हो जायें, नहीं तो मैं आपको दण्ड दूँगा' । ऐसा सुनकर जनकने भी—'हे परमेश ! प्रतिभाके अनुसार मैं कन्यादान करेगा हूँ । तुम मेरे दास्यके सामने शरावकका त्याग करो' ऐसा मलिसम्बन्ध दिया । 'देख ही हो' कहकर भुवि भी विकट पड़े । तदनन्तर सिवचन्द्र उठानेमें विकट मनोरथपौरों द्वारा राजाजीको विरहामित्रने देखा । अन्तमें रामने प्रपञ्चाको चहानेके प्रसङ्गमें आश्विनके दिन ही भवुचक्रों ही तोष दिया । तब प्रसन्न होकर विरहामित्रने आश्वनीसे भरतकी, कर्मिणसे कचमणकी और सुतकीर्तिसे सद्युक्तकी भी विवाह करनेके निश्चय दण्ड प्रसन्न की । जनकने भी सहर्ष जस प्रस्तावको स्वीकार किया ।

अनुर्थ काट

जैवधर्मसे भुवारी सिखा प्रादुर्भाव हुआ । कुछ होकर नार्तावने प्रवेश किया । वे परमेश्वर प्रतिस्मरणमें जनकका अतिशय अविनय विचार कर जगत्को जनकरहित करनेके किष्ट तत्पर हो गये । तब राजाज्यके विषय ताज्जवा-पत्रने प्रवेश कर उन्हें अभिवादन किया और कथाप्रसङ्गमें सिवचन्द्रके दूतनेकी सूचना की । 'इस भवुचक्रों किसने तोषा ?' भार्गवके इस प्रश्नके उत्तरमें प्राणकपायनके 'औसिकके पक्षको विप्लव करनेवाले सुसाहू और मारीच भादि राजस जिसके बलसे थे' दूतने ही कण्ठवाक्यमें भर्त्सना 'राजने बहुत रोड़ा है' ऐसी संभावना कर उसे दण्ड देनेके किष्ट पक्ष पड़े और कुछ बचने अनन्तर अपनी संभावनाको गलत समझकर फिर लौट आये तब उन्होंने प्रतारणात्मक आरोप कर ताज्जवायनको पकाहना दिया । उन्होंने भी 'मेरा इसमें अपराध नहीं है' कहकर 'जैसे राजस भी' जिसके बाणके अग्रभागमें राजेकाके प्रतापके शेषके बलवर्ती होकर पराभवको प्राप्त हो गये' इस प्रकार वाक्यसेवको पूर्ण किया । 'मारीचको दण्ड देनेवाला पाद कौन है ?' ऐसा भार्गवके फिर प्रश्न करनेपर उन्होंने भी 'जीरामचन्द्रजी हैं' ऐसी सूचना दी । तब राम और कचमणको देखकर भार्गवने रामके अतिशय उत्कर्षसे 'कथा ये मूर्तिमाप् स्वप्नर' वीर और अकृत रससे बनाये गये हैं ?' ऐसी उम्रेका की । तब दोनों भाइयोंने साथ आमवाक्यकी पञ्चोक्ति और श्लेषसे संयुक्त बातचीत होने लगी । आमवाक्य उसके बीचमें अपने उत्कृष्ट प्रभावको प्रकाशित करने लगे । कचमणने भी संभाषणमें उपहासके प्रसङ्गसे कुछ भीक्षु भी दिवकाथा । सर्ववापुष्कोत्तम रामने उसका निरोध किया । इस बीचमें जैवधर्मसे 'अरे आमवाक्य ! क्यों बिठाई कर रहे हैं ? इस समय आपको कामना करनेके किष्ट भय छाया जाता है' ऐसी जवककी बानी सुनाई पड़ी । आमवाक्यने भी योगाग्दासी होनेके कारण जनकमें वीरता न होनेकी

संभावना कर उपहास किया। फिर नेपथ्यसे 'करे आसवृन्मय ! सान्निध्य बनसे समुद्र जमदग्निके पुत्र होकर भी ■■■ सान्निध्यमें वरिष्ठ हो गये हो।' इस मकारका सत्तामन्दका वाक्य सुनाई पड़ा। कामवृन्मयने अहत्याका पुत्र होनेसे सत्तामन्दका अतिशय उपहास किया। रामने दोनों महर्षियोंकी कुलीनताका प्रतिपादन कर सत्तामन्दका प्रयोग किया। कामवृन्मयने क्रुपित होनेसे अपने उत्कर्षकी दिशानेके मलय में भगवान् औसिकका भी अनादर किया। रामने पुत्रके अनादरसे क्रुप सुन्न होकर पराक्रमघोरक वाक्य कहनेका उपक्रम किया। तब कामवृन्मयके 'विष्णुके कर्कशस्थित इस अनुपमके के श्री वा सुद्ध करो' वेषा कहनेपर और रामचन्द्रके भी स्वीकार करनेपर क्रुद्ध होकर वे दोनों युद्धके लिये उपयुक्त भूमिमें उतर पड़े। तब क्रुपमणने रामचन्द्रके विष्णुप्रभु उदामेकी सूचना दी और आसवृन्मयने अतिशय मर्कतासे अचानक होकर राममें ईश्वरत्वकी उत्प्रेक्षा की। तब रामने विवेक होकर भी स्वाभाविक मर्कताके कारण आसवृन्मयके चरणोंमें प्रणाम किया और वे भी राजा भगतीर्षाहोसे उन्हें अकस्मत्त कर जानेके लिए आह। मंगलकर निकल पड़े। तब भाग्यके भाँजोंसे ओढ़ होनेपर सम्प्रभुओंको देखनेके लिए दोनों भाई बहलिके गये।

पञ्चम अङ्क

अनन्तर गङ्गा और यमुनाने प्रवेश किया और दोनोंमें बाल होने लगी। राजाके कहा 'तुम कहीं इन दिनों किछ हो रही हो।' इसके उत्तरमें यमुनाने कहा 'मेरे भाई सुयीक अपने बड़े भाई बासीके दीर्घत्वसे इस समय पीड़ित हो रहे हैं। वे बासीका मध्य कारण यह है और दूसरा यह भी है कि 'मिस्री दिन तब सप्तमाका प्राहुन करनेकासे कमईव और कलन्तके समान जटाधारी हो तब पुत्र और एक सुम्बरीने मुझे पार कर दक्षिण दिशाकी ओर चलनेका उपक्रम किया, उस समय सुम्बरीने कहा, 'देखि यमुने ! फिर भी अपने कुटुम्बको धर्मान्नेका अनुग्रह कीजिये' और हाथ जोड़कर मुझसे प्रार्थना की।' यह सुनकर गङ्गा यमुनाको साममें लेकर समूह बढ़ानेके लिए सरयूके पास चली गई। तब धातवील होनेपर सरयूने अधोधाध्वान्तिधोके अतिशय शोकपूर्ण होनेका प्रतिपादन किया। गङ्गा भी ह्नुमतीमन्दन प्रख्यात भूपाठ पारम्भको उद्देश्य कर बहुत विक्रम कर सुर्बिभूत हो गई। सरयूने श्री गङ्गाके अनुग्रीधसे इस कृतान्तको सविस्तर कहनेके लिए उपक्रम किया—'कैकेयीने महाराज दत्तरूपसे पूर्वप्रतिभूत हो योंकी साधना की। उनमें एक बरसे चौबह पर्वतक रामका पचवास और दूसरे बरसे भरतका वीरराजाधमिरेक प्रार्थित था। कैकेयीका वाक्य सुननेके अनन्तर ही रामचन्द्रजी विताचीका अभिवादन कर कमलके चले गये।' तब गङ्गाने यमुनासे पूर्वप्रति वाक्यका ससर्पक किया। तत्पश्चात् सीता और लक्ष्मणके विषयमें

मरण करनेपर सरयूने कहा—जब रामने 'सीते'। मेरे वनवासके समयमें तुम भयोभ्यासे रहो' ऐसा कहा, तब सीता सूर्यस्त हो गई और अनेक क्षीणोपचारसे भी नहीं लड़ी। जब रामने उनके वनवासका अनुसोदन किया तब होसमें जाकर उन्होंने वनका अनुसरण किया। इसी प्रकारसे रामके 'माई कछमन'। तुम भयोभ्यासे ही रहो' ऐसा समझाने पर कछमनके—'आप'। आपके साथ मुझे चार पुत्र भी चार माहोंके समान और आपके विरोगमें चौदह वर्ष भी चौदह मन्थनोंके बराबर मसीत होते हैं' ऐसा कहनेपर सीता और कछमन दोनोंने रामका ही अनुगमन किया। इसी तरह सरयूने कथाप्रसङ्गमें दशरथका स्वीकार और नविहालसे छीटे हुए भरतजी पिताकी विपत्ति और रामजीकी वसति अलक्ष्य स्थापकके मातृ कर नम्रिमासमें ही मुक्तभोगसे पशुभुज होकर रामकी प्रतीक्षा करते हुए प्रजापातन कर रहे हैं। ऐसा वतकाया। बाल्यकी समाप्तिमें उन्होंने—'इसके बाद जो कुछ वसे जाननेके लिए मैंने एक ककहंसके भेजा है' ऐसा कहा। तब उस ककहंसने बड़ी उपस्थित होकर कछमन और सीताजी दोनों सेवापूर्वक रामचन्द्रजीका निज प्रकार अनुसरण कर रहे हैं वह वतकाया। इसी प्रकार उसने उनकी कन्याका भी पक्षि और तीन चार दिनोंमें ही भयोभ्यासक अतिक्रमण कर त्रिप्रदी यमुनाको भी पार कर गोदावरीके पास जाना तथा बहिरंग कछमनका सूर्यनकाक। नासाकर्त्तन और उसके सहायक राक्षसोंको मुझमें रामजीका मारवा यह सब कहा। फिर उसने बहिरंग मुनहले मुनका आश्रम रामका वसता अनुसरण करना इसी बीचमें कछमनका भी रामके पास जाना और किसी भिक्षुकका सीताके समीप आना, इत्यादि वतकाकर यह हुए हो गया।

इसके बाद वे सभी 'तब क्या हुआ'। यह जाननेके लिए जाह्नव होकर उस समाचारको वतकानेके लिए समुद्रके पास चली गई। उसी चरित्रको गोदावरी समुद्रको कह रही थी। उसे कि—रामने बाणोंसे लाहित यह मुनहला पुत्र, मासीच नामक राक्षसके रूपमें परिणत होकर दमलोकको पहुँच गया। वह भिक्षुक भी सीताके समीपमें राक्षसके रूपमें परिणत होकर सीताका हरण कर मार्गमें मिलके रूपमें व पस्थित और मुझके लिए तत्पर जरायुके साथ कुछ समय तक कबूतर सीता का हृदयके प्रहारसे उर्ध्व आहत कर कट्टाके जला गया। अतिक्रमण इस दुरात्मको मुनकर दयालु समुद्र सूर्यस्त हो गये। तब गङ्गाजी वसन्तसे पक्षा सक्तकर उर्ध्व होकरने के आई। तब मुञ्जहवा नामकी नन्हीने 'रामके बाणोंके महारथे बाधिरमन, सुग्रीवका चक्रवर्तिपदकाभ और सीताका अम्बेण करनेके लिए यत्र तत्र सुग्रीवका और जानकोंके सेवका इत्यादि बुद्धान्तका कर्त्तव्य किया। समुद्र ने भी रामचन्द्रजीमें लक्ष्मीका बिना कारणके पक्षपातक प्रतिपादन किया।

‘सत्ता चाहिपु और उसका प्रतिकार करना उचित है’ ऐसा प्रबोधन किया।
 राजाने ‘मानरोका कोकाहल मन्दोदरीके भूषणसम्पत्के समान मेरे मनमें दुर्ब ही
 उत्पन्न कर रहा है’ ऐसा कहा। उसी अवसरपर भाकर मन्दोदरी ज्योत्स्नी होकर
 राजाके ससीप बैठ गई। राजाने उसके विषादका कारण पूछा और प्रहस्तने
 पानरसेनाके कोकाहलसे उत्पन्न विन्ताको कारण बतलाया। तब राजाने
 ‘पानरसेना मेरे सामने सुवतीके समान कामको ही जहील करनेमें समर्थ होती
 है।’ ऐसा कहा। मन्दोदरीने दूसरे कारणसे भी लज्जे उत्पन्न भवको बतलाया।
 प्रहस्तने भी उसका समर्थन किया। इसी बीच नेफथसे जमसे राजसी और मानरोकी
 सेनाओंका उत्कर्ष सुनाई पड़ा। तब राजाने कुम्भकर्णको लगाकर रामसे और
 मेघनादको कचमनसे कबनेकी आज्ञा दी। कुम्भ जमपथे नाव कुम्भकर्ण और
 मेघनादके बचतुलान्तको सुनकर मन्दोदरी और रावण दोनों हर्षित हो गए।
 हीलमें भाकर राजा प्रहस्तको कैकर रामके पास गया और मन्दोदरीने कुम्भकर्ण-
 की पूजाके लिए प्रदधान किया। तबुत्तर विद्याधरव्यपति राम और राजाकी
 पुत्रवर्त्ता करने लगे। विद्याधरने कहा जब ‘राजाने छोड़े गए वाफिबाध लगनेसे
 कचमन बेहोश होगये और राम बिकाप करते लगे’ तब ‘हनुमान् भीषणोंके
 बाघार राखसाधन पर्वतको के भाये और भीषणोंके लूटने भागसे कचमन होलमें
 आगये’। इसी समय नेफथसे राजसी और राजसीके अपने स्वामीके उत्कर्षसूचक
 वाक्य प्रकट होने लगे। कहींसे राम और कचमनके साथ राजाकी उक्ति
 और प्रत्युक्ति सुनाई पड़ी। तब विद्याधर राखसाधनहित रामनके बेहोश होकर
 जमीनपर गिरनेका समाचार सुन आनन्दित होकर इस दुःख-समाचारको
 पुढीन्यासे निवेदन करनेके लिए चले गये। तबुपरांत सीता, राम, कचमन,
 सुग्रीव और बिभीषणमें परस्पर बातचीत होने लगी। सुग्रीव और बिभीषणने
 उत्पन्न रामवक्ता कर्न किया। सीताके लूटनेपर कचमनने ‘सद्भातुजी अधोप्या
 मेने लगे हैं’ ऐसा बतलाया और सभी अधोप्या जानेके लिए पुष्पक विमानपर
 भाकर होकर राखीमें सभी लोग बचामति यदुना, भरद्वाजभूम तथा, सुयोदयका
 कर्न करते लगे। इसी समय पुष्पकसे रामका अभिलक्षण करनेवाके वाक्य
 उचरित हुए और अधोप्यामें विमान पहुँच गया। तब रामकपटुजीने
 शायिरीके साथ पुष्पकसे उतरकर गुहजन, बन्धुजन और नगरवासियोंको बतिकाच
 आनन्दित किया।

इति दृग्मन् ।

पाञ्च-परिचयः

पुरुषाः

सुवर्धरः	श्रीमानन्दः ।
कण्ड	सुमधरसहकारी ।
रामः	नवीनवासतेर्द्वारक्य सुवर्ध, भास्करावासा ।
कल्पवः	दक्षदधुर्धु रामादुक्तः ।
विद्यामित्रः	महर्षिः ।
समका	मित्रिकाऽवीर्यो रामादुक्तः ।
सतामन्त्रः	पञ्चपुरीक्षितः ।
सहस्रवर्धनः	सहस्रवर्धनः ।
सहस्रवर्धनः	सहस्रवर्धनः ।
परद्वारका	महर्षिः, रामादुक्तः ।
सतीरकः } मृगुरकः }	स्तुतिदात्री ।
रावणः	कन्देवरो रामादुक्तः ।
भावाऽद्वारः	मित्रपुरी रीत्यद्वारः ।
सागरः	मन्दोदरः ।
रामोक्तः	देवदत्तः ।
सुमीनः	वामदेवरो रामादुक्तः, वीरमर्दः ।
सुमीनः	सुमीनमन्त्री ।
सामयवामः	सामयवामो रामादुक्तः ।

विभीषणः	रावणाऽनुचरः ।
कदाचनः	आत्मरक्षः परिचारकः ।
महर्षिः	रावणसन्निवः ।
विनायकः	देवयोनिविशेषः ।
रावण-मित्रक	कुम्भकर्ण-अमादयः ।

सिद्धयः

श्रीराम	अनन्तनाभः, रामपत्नी, मायामायायिका ।
रावण	नदी ।
बभ्रुवा	नदी, सूर्यकला ।
सरयू	नदी ।
गोदावरी	नदी ।
तुङ्गभ्या	नदी ।
सिन्धु	रावणी, सीतासखी ।
अम्बोदरी	रावणपत्नी ।
विश्ववरी	विनायकपत्नी ।
	(सखीवेण्मदयः)



प्रसन्नराघवम्

‘चन्द्रकला’ टीकोपेतम् ।

प्रथमोऽङ्कः

राजाः मयपन्तु विदुमस्तारकाशुकिभेजया,

मन्त्रराजसुप्राप्यारकी केसराखरमाधेकारका ।

चन्द्रकलागणपतिः प्रह्लादप्रपन्नः स त्रैलोक्यपतेः ॥ १ ॥

नक्षत्रगणपूजकीया चामिभुविमतीः सुमतीया ।

सर्वदेवैः स इमान् सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ॥ २ ॥

सर्वोत्तमगणपतिः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

विष्णुवन्द्यविष्णुः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ॥ ३ ॥

प्रह्लादप्रपन्नः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

सर्वोत्तमगणपतिः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

विष्णुवन्द्यविष्णुः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

प्रह्लादप्रपन्नः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

सर्वोत्तमगणपतिः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

विष्णुवन्द्यविष्णुः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

प्रह्लादप्रपन्नः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

सर्वोत्तमगणपतिः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

विष्णुवन्द्यविष्णुः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

प्रह्लादप्रपन्नः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

सर्वोत्तमगणपतिः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

विष्णुवन्द्यविष्णुः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

प्रह्लादप्रपन्नः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

सर्वोत्तमगणपतिः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः सन्तः ।

श्रेयः शोणसरोजकोरकवदस्ते चार्त्तिनः पापयः ।
भातेन्दुभुवो विवर्त्ति युगपद्यो पुण्यवर्णवज्रोः
कस्तूरीमकरीः पयोधरपुत्रो गण्डवर्धनो च मिथः ॥ १ ॥

अपि च—

शङ्करं मुनिमुनेः पुनः पुनः प्रसीदन्ति मुनि—

एकः (शोणितः) अङ्गुलिमेव (करमाकाङ्क्षकः) येषां ते । साक्षात् जल
युग्म शोणसरोजकोरकम् = शोणसरोजकोरकम् (एककमलाभात्) ये कोरकाः (कलि-
का) तेषामिव दधः (कान्तः) येषां ते, 'सहस्री विरोधेन बहुवीही' इत्यत्र
सहस्रीतिप्रकाशितो अङ्गुलिरङ्गुलीति । चार्त्तिनः = विन्वी, 'पीताम्बरोऽङ्गुला-
चार्त्ति विवर्त्तते सो जगद्गुरु' इत्यमरः । ते = प्रवृत्ताः, चत्वारः = चतुर्लोकपालः,
पापयः = कराः, श्रेयः = कल्याणः, सम्मानमिति शेषः । प्रवर्त्तन्तु = विस्तारयन्तु ।
चार्त्तिनस्ते पापयः पुनः कीदृशा हृषिकण्ठः समाह—अङ्गुलिमिति । ये = चार्त्तिनः
पापयः जगद्गुरुः = मङ्गला, भातेन्दु = कालेन्दु, मङ्गलकतुर्दशत्वात्तुल्यकाले-
निति शेषः । पुण्यवर्णवज्रोः = पुण्यः (पवित्रः, पुण्यवर्णवज्रोः इति शेषः)
वर्णवज्रोः (अक्षरपुत्रः) शिवः = कल्याणः, पयोधरपुत्रो = कुचपुत्रो, तयैव गण-
धरो च = कनकपुत्रो च, कस्तूरीमकरीः = सुगन्धवर्धिता मकरिकाकारा पद्मरचनाः,
युगपत् = समकालं, विवर्त्ति = विवर्त्तयति । अत्र सकलजीवानां शुभाशुभ-
सूचकभावाकारकेनकम् मङ्गलोऽपि समुपादकत्वेन विष्णुवर्द्धनं अङ्गुलिकारकेन
कल्पयते । तथा च जगत्तो विन्वीमङ्गुलिमेव मङ्गलाकारकपुत्रोः कल्याणः पयो-
धरपुत्रो कनकपुत्रकपुत्रो च वीरपतेनाञ्जनायां कस्तूरीमकरीनां च शेषानां
सम्भवतीति बोध्यम् । अत्र विष्णुमकराङ्गुलिमेव जलं शोणसरोजकोरकम्
च एकत्र चोपमावृत्तम् । अनेकजलनदिवामु पानीनां कारकाद्दीप्तकान्तम्,
तथा पीतेषां मिथोऽनयेद्यथा शिवोः सङ्गतिः । चार्त्तिकदिशोऽपि वृत्ते, मङ्गलने-
नका—'सुगन्धवर्धनस्तथाः सगुरुः चार्त्तिकदिशोऽपि' इति ॥ १ ॥

आकल्पमिति । मुरमिषुकेऽङ्गुलिमेव मङ्गलकमाङ्गुली शोणसरोजकोरकः पाप-
कल्पमिति शेषः आकल्पं मुनिपुत्रः । अङ्गुलिकारकवर्णवज्रोः शिवोऽपि मङ्गलवर्धितो

मङ्गलं विष्णुके ये चारु इव कल्याणं च विस्तारं कर्ते । यो ह्यत्र मङ्गलायै कल्याणं
पुण्यं कल्याणकल्याणवर्द्धनो भोक्तृ कल्याणो ह्यो ह्यो पयोधरी और करोकर पर एक बार ही
कस्तूरीसे मकरिकाके आकारकी पट्टेलाभी को कहते हैं ॥ १ ॥

गीत पी—मङ्गलं विष्णुके मङ्गलवर्धने पयोधरमाधवे मङ्गलं वाङ्मयी मङ्गलवर्धने

वीर्येण च मतो ह्ययः सुखमनु त्वां पाञ्चक्यमभ्यजि ।
 लीलाकविस्तमेवमावतिभयो यः कुम्भकर्णम्वय-
 दापी दानचदमितां द्वाभुर्वा विचक्रमाकाशति ॥ २ ॥

कुम्भकर्णम्वयदापी यो सुखमनु विचक्रमाकाशतिभयो । अङ्गवर्तिनः स्य-
 र्देहिभ्यो योतयति—सुरतिमुक्तेषु सुपुरोन्मीक्यकमादुरी कीर्तयामनो हस-
 नुरभिला—(सुरतेः, श्रीविष्णोरेति शब्दः) सुकेन्दोः (सुखमनुष्यः, सुखमिच्छु-
 र्देहः, तस्य, 'अभिलिखे स्वाभिलिखिः समान्वाभ्यव्येगे' इति समासः) मनुष्य-
 (मनोहर्षं यथास्वापतेति श्रित्तिलोक्तम्) कर्णोदर (कर्णम्) यो उदर-
 (बाहुः) तस्य वा मादुरी (मादुर्यः, मधुरस्य शब्दः कर्णं च 'गुणकर्मणोक्त-
 यादिभ्यः कर्णंति चे'ति ज्ञान्, 'सुखकवित्तमे'ति यदोपः 'विद्वीसविभ्यमेति क्रीम्)
 त्वां कीदृ (गन्तीर) द्वाभुः (कर्णक) मनोहः (विचक्रमन्तः, मनोहरीति
 'हृत्तेरनुचमनेऽन्' इत्यच्प्रत्ययः) । तादृकः शब्दकर्मण्यभिः—विद्युत्प्रज्ज्वाला-
 त्वां—कामागिर्षं शब्दः, आकर्षणं—सहृदिपर्वणं, कवचात् वा 'माध्मवाशिभि-
 विष्णो' इति कर्मण्यस्य वृत्तमासः । 'कवचा काले विद्ये श्वाके त्र्यंशं मङ्गलो दिने ।'
 इति कोकः । 'यदुर्गुणसहस्रं तु मङ्गलो दिनमुच्यते ।' इति यजुस्मृत्यनुविर्गं च यदु-
 र्गुणसहस्रपरिमितं योग्यम् । सुखमनु = मानन्दम् ।

पाञ्चक्यमभ्यजि कर्णवति—कीर्तयति । लीलाकवित्तमेवमावतिभयो ॥ लीलाया
 (ललापाद्येन) कविता—(अतिशयाः) मेघवाद्यस्य (अग्रतर्मितस्य, पञ्चमस्यै
 हृत्प्रमिद्वपरमपस्य मेघवाद्यमन्तरं राक्षसात्मकस्य शब्दस्येवार्थः) विमक-
 (ममाकः) मेघ सः 'अवेकमन्वयस्यार्थे' इति बहुव्रीहिसमासः । दानचदमितां—
 दानचमन्वयार्थः, दानचदमितां द्वाभुर्वा, 'तस्याभ्यत्यस्य' इत्यन्, 'तद्विद्ये-
 याम्पदे'रित्यादिभुक्तिः । नच दानचदं सुरविशोक्तिनेन देवराक्षसादीनामनुचक्र-
 कम् । दानवा यव दमितस्तोषां, 'मयूरान्सकादवले'ति कपकसमासः । कुम्भकर्ण-
 म्वयदापी = कुम्भे (विरः विन्दे, 'कुम्भी तु विन्दी किरस' इत्यमरः) कर्मेष्टु
 (ओष्टेष्टु च, एकमन्दरे = कुम्भकर्णस्य = दानचमन्वयस्य दानवाभ्युच्यत राक्षसस्य ।

गन्तीर, यदुद योऽ विचक्रमन्तं पाञ्चक्यं कर्णको भवि, कामागिर्षं सञ्जन क्षी
 कस्य पर्वणं सुखी करे । अनापात देवके कर्णवती भवता मेघवाद्य राक्षसके प्रभारकी
 अतिशयन करिषाकी और दानचकन दानिर्वीके मल्लकविन्द और कुम्भोकी मयवा कुम्भ-
 कर्णे राक्षसको पीका देने वाली यो पाञ्चक्यमभ्यजि, दक्ष विद्यार्णको भवता राक्षसकी
 कुम्भकर्म कर रक्षी है ॥ २ ॥

नाभीपञ्चकस्य मुमुक्षुस्योद्गीतस्तथाकारण-
शोभीकृतकमनीय-लोचनकक्षाजोहन्मुखेन्दुपुतिः ।

आधादधी = (पीडादायक) शीघ्रकाम्यस्य मस्तकभोदरीदायकत्वमनुभव-
विशेषः । अथा दधातीति सञ्जीवः, 'मुम्बवाती विवितासञ्जीवो' इति विविः,
'वातो दुष्-पिच्छतो' इति पुत्रात्मजः । वः = पादकाम्यत्वम्, वक्तुम् = वि-
वक्तुम् = दृष्टव्यत्वं विदुः ॥ ६ ॥, पदान्तरे दृष्टान्तं शक्यमित्यर्थः । वाक्त्रयमिति =
आत्मन्येव वर्तते । अथ धनवत्त्वमुत्पन्नमेव विज्ञातितावतितामित्यनुवाक्यं विदुः = शोको-
द्भवकालं विनयकक्षाप्रकर्षं च शोभते । एवं च रक्षेयवर्जित्वाऽप्य वादो देववत्-
मनावक्तुम् पुत्रकर्मण्यर्थं दक्षवद्व्ययमर्थं च शीतोवाचमावक्तुम् अगवता
शीतमस्य वाक्कीकृत्यं भूयते । तदुक्तं नाट्यमन्त्रे नाभीकृतकमस्तथा—'आसी-
र्ममतिरुवाचमुनिर्दत्ताऽम्बुतमा मता ।' इति । आसीकृतिरिति वृत्त्यर्थः ॥ १ ॥

दुमपि विष्णुं वर्णयति—भाभीति । नाभीपञ्चकस्य मुमुक्षुस्योद्गीतस्तथाकारण-
शोभीकृतकमनीयलोचनकक्षाजोहन्मुखेन्दुपुतिः । मनुष्यैः सौमित्रं भवति । कुटी-
रकक्षाजोहन् सरोचनसति लोचनप्रमत्तं परमम् इति वा याचितव्यम् ।

वाभीपञ्चकपङ्क्तिः = नाभ्यां (मुम्बवाती, 'नाभिमुम्बवसुपे चक्रमवचमिपवी-
पुताम् । ह्योः नाभिप्रतीके ध्यात्वा विषां करतुरिकामदेव' इति मेदिनी । कीलपिक-
क्षायां 'कुटिकाराधिका' इति कीप् । यत् पक्षे (कर्मकम्) सन्न वसम् (वासं
कर्तुम्) यजमुमुक्षुः । मक्षा तस्य मुक्तेः आगमः । वहीवा (नाभ्यामप्राप्तेन पुत्रप्राप्तः)
वः वसवः (स्तोत्रम्) तस्याऽऽकर्णनेन (जयनेन) 'शोभीकृती (विकसती)
कामनीये (मुम्बरे) ये लोचने (मेहे) लोचनं कक्षा (कान्तिः) तथा केकली
(कीकली) मुक्तेः । (मुक्कवत्त्वम्) कृतिः (कान्तिः) वस्य सः । वस्यमानस्य
इति शब्दस्य विशेषणमेतत् । मनुष्यैः सौमित्रं = मनुष्यैः सौमित्रमात्रमावस्यती । सौमित्रं = सौमित्रं,
शोभेन सहितं यथा स्वाद्यतेति 'परममिति विद्यापदस्य विशेषणमेवमत्रेति । 'शैव
सदेति मुम्बपयोः' इति मनुष्यैः, 'शेषसर्वमस्य' इति सहस्य स भावः । मनुष्यो =
सहस्यस्य, मनुष्यं शीघ्रमेवेति मनुष्यवित्तस्य, 'कर्मभ्यधिकरमेवेति' किरण्यया ।
कुटी = कुटी, कर्ममिति । सकर्मकस्तेह = द्वाप्राप्तमसहितं यथा स्वाद्यया
परमम् = यथा सरोचनसति = कर्मकवासिने, मद्राजमित्यर्थः । सरोचने मसतिर्भव स
सरोचनसतिरस्य । 'सहस्री विशेषणे मनुष्यैः' इत्यत्र सहस्रीति पदवाचिते

नाभिं वृत्तकमे रक्षेवाति मद्राजीके मुक्तेः मद्राजवृत्तिके मद्राजी विकसित इत्यत्र
मेदिनी कान्तिः कीका धरने वाकी मुक्कवत्त्वम् कान्तिः सम्पन्न इति, मनुष्यैः सौमित्रं

साम्प्रति मधु-केतुभौ सकलमस्मेहं सुतामभ्युषे ।

सोऽप्यासप्रणयं सरोजवसतिं पश्यन् हरिः पातु ॥ १ ॥

(नान्दने)

सूत्रधारः—(परितो निरीक्ष्य । सहर्षम्) अये, कथममी निजवदनशर-

भविष्यन्मधुमीहिः । सोऽप्यासप्रणयम् = अधिकहास्यमेव सहितं यथास्वाध्या ।
सहर्षम् = विह्वलकम्, हरिः = भगवान्निष्णुः ॥ ॥ सुप्ताद्, सामानिकमगमिति
भाष्यः । पातु = रक्षतु । अथ पादभ्येन भगवद्वर्त्ममेहस्वीचितं समाधीयते । पुरा
वीरसागरसाधिनो हरेः कर्ममहाभक्त्युद्देश्यभाषावस्तुती समवायेताम् । ती य
हरेर्भाषिकमकस्मिन् वस्तुपूर्वम् इत्तुं यथा मारुतेर्तथा स हरिं प्रबोधयितुं योज-
यितुं युक्तम् । ततः मधुको हरिस्वी यजामेति मार्कण्डेयपुराणस्य वृत्तमिहास्तु-
कमेवम् । अथ सुकेन्युत्तरितिर्यथोपमाभङ्गात् । अथ पद्यवित्तयेव द्वादशश्लोकानि
नान्दी प्रतिपादितम् । नान्दी कथं यथा—साहित्यदर्पणे—

‘वासीर्धनसंयुक्ताः स्तुतिर्विस्तारमभ्युषते । देवद्विजपुत्रादीनां तस्मात्कान्दीति संक्षिप्ता’
सङ्कल्पताम् यन्मा-अन्यकोककीरवर्तसिन्धी । परितुक्ता इत्यनिरासामिनीं परितुक्तां

इति । पातुं कश्चिद्विहितं वृत्तम् ॥ १ ॥

नान्दने इति । नान्दा अयं = जयशरैः ।

सूत्रधार इति । नाटकस्य सूत्रं = व्यवस्थां चारयतीति सूत्रधारः, ‘कर्मण्य’
इत्यम् । यथा ४३३ उत्तरकथं भरतमुनिः—

‘नाटकस्य व्यवस्थां तत्पूर्वं व्यवस्थावीत्यम् ।

सामर्थ्यतया कृतसूत्रधारः उदीरितः ॥’ इति ।

‘सूत्रधारः परेवान्दीं मन्त्रमस्वयमारुचिः ।’

इति भरतमुनिवचनाच्चान्दीपालकतांति सूत्रधार एव मनीयते ।

परित इति । सहर्षं = हर्षेण सहितं यथा उच्येति श्रियाधिकेर्ण सवन्दनित्यर्थः ।

‘तेन सहेति सुवचनम्’ इति बहुमीहि, ‘वोपसर्गवत्ये’ति सहस्य स भाषा ।

मीयके साथ, समुद्रको पुत्री कर्मवीरों कथना और मेमके साथ और जयकासन यथाभीष्ट
अधिक हास्य और मेमके साथ देखते ॥ हरि आप जोगेंको रक्षा करें ॥ १ ॥

(नान्दीके नान्दने)

सूत्रधारः—(चारों ओर देखकर । हर्ष पूर्वम्) अरे । चारों ओरके जयकने सहक

वारषिन्वनर्षितगिरिनन्दिनीनयनशङ्खनस्य . निखिलभुनिजगद्भयरक्षनस्य
विष्वज्जटापटस्रोताङ्गताएवकितगङ्गातरङ्गविभक्तस्य मन्त्राक्षिणीचन्द्रमहा-
साटिकायमानमुकुटोपनीतनूतनमुपाकरणस्य त्रिमुखननकिननिर्माणनूतनवि-

[illegible]

'उद्दिष्टाऽर्थोऽप्यप्युक्तमाहारे चे'ति कथमाहृत्यय 'संख्यापूर्वो विदुः' इति विदुः
 लोकाः ततः 'पात्रायत्तत्वेने'ति कथित्वाऽस्माकः । विदुषमनेष तस्मिन् (कथयन्)
 विदुषमनेष, 'मनूरभ्यस्तकाश्चरये'ति कथयत्तमासः । विदुषमनेषित्तत्वे
 निमित्ते (रथमावाभ्य) नृपतमिसाङ्गुलस्थ (नवीनशुभाकाङ्गुलस्थ) द्योतेन धन-

अपने मुकती कबन पक्षियोंसे श्रुत्य पार्यताके नेत्रोंको मूल्य करानेवाकै, समस्त मुनिवर्गोंके हृदयके बाकायद, मौलिकनन बपते कदासमूहके पण्य मानमें गल्लसखल्ले समूहका तापकन मूल्य कराने बाकै, गल्लसखल्ले जन्मन निर्मित कलमटभूषणके लल्लस आश्रयन कराने लकै वाकल्लसखल्ले मुकुटमें रल्लनेवाकै और शिखरुषण कय कलमटकी लल्लसमें नलीन गुलाबके

साङ्करस्य भगवत्संज्ञास्य वाङ्मयं परिमिश्रिता एव परिचिताः । तदे-
साङ्करस्य निमित्तकामिलोक्तस्यसादाव तदवधार्यमात्रम् । (विद्वत्)
अथवा किमभ्यर्थनया । यतः—

आकारेणैव चतुरास्त्रकैयमिति परेक्षितम् ।

साङ्करस्य भगवत्संज्ञास्य वाङ्मयं परिमिश्रिता एव परिचिताः । आकारः = कविबोधसम्बन्धस्य
अन्तर्गतस्य वाच्यं स भगवान्, तस्य 'तदवधार्यमात्रम्' इति वाच्यं 'साङ्कर-
स्य' अन्तर्गतस्य 'भगवत्संज्ञास्य' इति अर्थः वा ।

'देवार्थस्य समस्तस्य श्रीदेवस्य भगवत्संज्ञास्य' ।

आकारेणैव चतुरास्त्रकैयमिति परेक्षितम् ।

इति विद्वत्पुराणम् । 'अथ श्रीकामाक्ष्याचार्यविरचितस्य' इति वाच्यम् ।

कदा—आकारेणैव चतुरास्त्रकैयमिति परेक्षितम् ।

येन विद्वत्पुराणेन च स वाच्यो भगवत्संज्ञास्य ।

इति भगवत्संज्ञास्य भगवत्संज्ञास्य भगवत्संज्ञास्य भगवत्संज्ञास्य ।

साङ्करस्य = साङ्करस्य, वाङ्मयं = वाच्यम्, आकारेणैव चतुरास्त्रकैयमिति
परिचिताः । परिचिताः = समस्तस्य, परिचिता (समावाह) साधक 'परिचिता' इति
'परिचिता' इति योगविभाजकस्येति । परिमिश्रिता एव = सममिश्रिता एव । तद्वत् =
तदवधार्यमात्रम् (इति) तदवधार्यमात्रम् तदवधार्यमात्रम् । तदवधार्यमात्रम् = परिचिताम् । विद्वत्पुरा-
णम् = विद्वत्पुराणम् = विद्वत्पुराणम् (तदवधार्यमात्रम्) वा कदा । (विद्वत्पुराणम्, तदवधार्यमात्रम्)
योगविभाजकस्येति इति अन्तर्गतस्य । तदवधार्यमात्रम् (तदवधार्यमात्रम्) तदवधार्यमात्रम् (तदवधार्यमात्रम्)
'कदा' इति कदा कदा कदा कदा कदा । तदवधार्यमात्रम् तदवधार्यमात्रम् । तदवधार्यमात्रम् = तदवधार्यमात्रम् ।
तदवधार्यमात्रम् = तदवधार्यमात्रम् । 'अथ' तदवधार्यमात्रम् इति श्रीकामाक्ष्याचार्यविरचितस्य भगवत्संज्ञास्य
भगवत्संज्ञास्य इति 'अथ' इति वाच्यम् । तदवधार्यमात्रम् तदवधार्यमात्रम् । तदवधार्यमात्रम् = तदवधार्यमात्रम् ।
तदवधार्यमात्रम् = तदवधार्यमात्रम् । तदवधार्यमात्रम् = तदवधार्यमात्रम् । तदवधार्यमात्रम् = तदवधार्यमात्रम् ।
(इति) , 'तदवधार्यमात्रम्' इति अन्तर्गतम् ।

आकारेणैव चतुरास्त्रकैयमिति परेक्षितम् ।

साङ्करस्य भगवत्संज्ञास्य वाङ्मयं परिमिश्रिता एव परिचिताः । तदे-
साङ्करस्य निमित्तकामिलोक्तस्यसादाव तदवधार्यमात्रम् । (विद्वत्)
अथवा किमभ्यर्थनया । यतः—

आकारेणैव चतुरास्त्रकैयमिति परेक्षितम् ।

गर्भस्थं केतकीपुष्पमाग्नेयेन च दध्यथा ॥ ४ ॥

(विष्णवे । सर्वम्) भूतमेतदभिसम्भानाद्देव सामाजिक-समाजविद्यो-
ऽभिषर्तते सत्ता मे रक्षतरङ्गः ।

(प्रविश्य)

महा-भावा ! इदं मन्त्रुल्लेखेनैव भवन्तमुदीरयन्ति सामाजिकः । यत्

परेक्षितं तर्कमन्तीत्यन्वयाः । चतुररा-भावाः चतुरराणि वेदां ते, 'द्विरेकपुष्पमिदं
चतुराभवेराज्यम् ।' इत्यमरा । आग्नेयेन-सौरमेव, गर्भस्थम्-अग्न्यन्तरस्थं,
कोचन-आचारभूतमिति भावाः । केतकीपुष्पमिदं-केतकीपुष्पमिदं, चतुररा-
विद्युता भवाः, आकारेणैव-आकारेणैव कथने विनियोगेति भावाः । परेक्षितम्-परस्व
(अन्वयः) इक्षितं (इत्यमरमभिप्रायः) तर्कमन्ति-उद्धृते । यथा भवता
पूर्वमेव विनाऽग्न्यन्तरस्थं केतकीपुष्पं ज्ञानम्लेकमेव विद्याया जना अभिधानेऽग्न्या-
हृदयेन पराभिमित्यनुष्ठानं इति भावाः । यत्र दद्यान्ता-उद्धृताः । सङ्गच्छन्-यथा साहि-
त्यवर्धने- 'दद्यान्तस्तु सङ्गच्छन् वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ।' इति अनुष्टुप्भूतम् ॥ ४ ॥

भूतमिति । भूतं-मित्रत्वेन, 'भूतं तर्क-अभिमित्य' इत्यमरा । एतदभिसम्भानात्-
भूतत्वं (पूर्वोक्तकोकाभ्यर्थः) अभिसम्भानात् (अभिसम्भानात्) । सामाजिकसमा-
जिक-समाजं प्रसवयन्तीति सामाजिका, 'समाजवाचकसमवेती'ति ठक्, 'उत्पद्ये' इत्येकः
'किञ्चिदे'त्यादिबुद्धिः, यद्वा समाजं रक्षन्तीति सामाजिका । रक्षती'ति
ठक् । 'समाजः' समाजदारा सन्धाः सामाजिकः सः । 'इत्यमरा । सामाजिकानां
(सन्धानानां) समाजान् (सङ्गच्छन्) । इहा-अस्मिन् स्थाने, 'आचारविध्यं य-
त्समाजम्' इति सार्वविधिमधिकृत्यतिः । मे-मम, 'ते मयात्वैक्यवधनत्वं' इति मया
हेतुः । सत्ता-सिद्धयः, अभिषर्तते-सम्मुखमागच्छति ।

मह इति । महः-लोकेश्वर, 'इहाभ्युत्तरी लोकेश्वरो महो भरतभारती ।' इत्यमरा ।
ज्ञाव-विद्युत् 'आचो विद्युत्' इत्यमरा । महत्वं सूत्रधारं प्रमुखिरियत् । इत्यम्-
भूतम् 'अवे भवताविरागे' त्याचारकं वाच्यमिति भावाः । मन्त्रुल्लेख-महामन्त्रेण,
मन्त्रुल्लेखेति भावाः । सामाजिकाः-सन्धाः । उदीरयन्ति-उद्धृत्यन्ति । उदीरिते मति-

यन् आचारते ही हृदयेके अभिमित्ययो तर्कना करये हैं ॥ ४ ॥

(ईश्वरः । सर्वं ज्ञानं) मित्रं इति नाथो वाचक ही मेरे मित्र रक्षतरङ्ग सन्धीके
समाजके स्व और जा रहे हैं ।

(प्रवेश कर)

मह-विद्युत् । सन्धकीन मेरे द्वारा ही आचारी मह कहते हैं । यी कि- 'महो मह

किञ्च 'अये भरताधिराज—' (इत्यर्थेते ।)

सूत्रधारः—(कर्णो विधाम्) अहह । असमक्षस्य असमक्षस्य ।
अभवत् । कार्यं तावदाकर्णयामि ।

नटः—भाय ! अधुना मयैव नवतसकाशावाकर्णणीयं किमिदमसमक्ष-
समिति ।

सूत्रधारः—नमिदमेव । यत् किञ्च नन्दति व्यापसि कनीयसि राज-

राज्यसि—अय इत्यादि । अये = सम्बोधनस्योत्कम्पनव्यभिचयम् । भरताधिराज =
हे महेन्द्र । अभिको राजाधिराजः, 'कुपतिपात्य' इति समासात् 'राजः' इत्यभि-
व्य-
क्त्य' इति समासात् अन्तङ्गम् । भरताधिराज इत्यन्तङ्गम् । 'भरता इत्यपि यत्'
इत्यमरः ।

रमस्तुतिमसद्वनाया सूत्रधारो वाक्यमस्तद्वर्णनेनाऽऽविब्रति कर्णो विधावेति ।
कर्णो = श्रोत्रं, विधाम् = भाषायां वक्तव्यमभिधीयतेति यावत् । विधावेत्यत्र 'यदि
भातुरिरकरोपमवाभ्योत्पन्नसंशो'रिति भातुरिमतेनाऽऽशङ्क्यः । अहहेति केरुभोक्त-
मन्वयस्य, 'अहहेत्यह्नुते केरु' इत्यमरः । असमक्षस्य = अनुचितम्, समक्षे
क्षिप्रम् । समक्षस्योऽस्मिन्निति समक्षस्य, 'अधस्तव्यमपूर्वोक्तसमक्षस्य' इत्यत्र
योगाविभागादयम् । यद्वा संयतमक्षसा तत्त्वमस्मिन्निति 'इत्यो मनुष्ये प्रातिवदित-
त्वे'ति इत्यमरः । 'अधस्तव्यमक्षसास्तु वैजक्यं समक्षस्यम् ।' इत्यमरः । न सम-
क्षसमक्षस्यम् । समक्षस्यस्तुति प्रतिपादनेनाऽऽहं, कार्यं ज्ञेयमिति यावत् ।

नट इति । नवतसकाशात् = भवत्समीपात् ।

सूत्रधार इति । नटु = अथधारणार्थकमन्वयविद्, 'प्रह्लादध्वजानाम्बुजाभ्युप-
वासनायै नटु' इत्यमरः । व्यापसि = अतिशयेन प्रसक्तो दूरो वा त्वत्पात्,
तस्मिन् । 'द्विषयव्यभिचयोपदे तावीचस्तुतो' इतीत्यनुमि 'य य' इति 'दूरेत्य-
वेति वा व्यापेसः 'व्याप्योचस' इत्यात्मनः । 'दूरेत्यस्योक्तार्थात्' इत्यमरः ।
वन्दति = सज्जति ममति सति, विद्यमान इति यावत् । 'यस्य च आत्मेव भाव-
कथनम्' इति सप्तमी । कनीयसि = अतिशयेन सूत्रधारो वा, मनीसि तेषां । ईष-

राज' (देवा भावा कर्णे पर)

सूत्रधार—(कातोको मुखर) नटः । अनुचित है, अनुचित है । अच्छा यहके
कार्यं सुनाता है ।

नट—विद्वत् । इस समय झूठे ही नाचते सुनना है कि पर क्या अनुचित हुआ है

सूत्रधार—भरे ! यही कि बी श्रेष्ठको व्यक्तित्वमें कवि (कृत) में राजपूत

यद्युपन्यस्यते । अहं हि भरतमात्रक एव । अम पुनरमज्ज्मरा गुणाराम-
नामा राजपदभाजनम् ।

महा—कीदृशगुणस्ते गुणारामः ? ।

सुवचार्—ननु नामैव क्तोत्तरम् ।

महा—(विहस्य) कथं नामैव गुणाकामः ?

सुवचार्—अथ किम् ।

गुणप्रामाणिसंघादि नामादि हि महात्मनम् ।

यथा सुवर्णश्रीकण्ठरत्नाकरसुधाकराः ॥ ३ ॥

सुवचार्ने 'सुधाश्रयणोऽनन्तरत्नाम्' इति कणादौषा । राक्षस्यं = भरताञ्जिराक-
चक्ष, उपन्यस्यते = प्रपुन्यते ; सधि भरतराजपदं प्राप्तुम्यते तदेवाऽमज्ज-
ममिति भावः । तत्र कारणमाह—अहमिति । अहं = सुवचार् इति । भरतमात्रक
एव = केवलं नद एव । तर्हि को भरताञ्जिराक इति चेत्तत्राऽह—ममेति । अम-
ज्ज्मरा = कौटुम्भ । राक्षसदमनार्थं = भरताञ्जिराजेतिपदार्थं भाजनपदस्याऽनन्तर-
त्नत्वेन प्रपुन्यकर्मित्वम् । नद इति । कीदृशगुणः = कीदृक् (कीदृशः) गुणो यस्य
का । सुवचार् इति । नामाऽप्यर्था निदर्शयति—गुणैति । हि महात्मनो नामादि
गुणप्रामाणिसंघादि, यथा सुवर्णश्रीकण्ठरत्नाकरसुधाकराः ।

हि = यस्मात्कारणात्, 'हि देवाचक्षारणे' इत्यमरः । स्थात्मनो = महागुण-
वान्, अहम् आत्मा येषां, तेषाम् । नामादि = नमिषानामपि, गुणप्रामाणिसं-
घादि = गुणानां (द्वावादिभ्यादीनाम्) प्रामा (समूहः), तस्य अविसंघादि-
भावमिषानि), अवतीति शेषः । अस्तिमैवन्तीत्यपहः प्रपुन्यमानोऽप्यस्ति' इति
महाभाष्यम् । न निर्वचयतीति सङ्कीर्णं, 'सुवचार्तो निमित्तान्वीकम्' इति
साङ्कीर्ण्ये मिति । उत्तमं ब्रह्मलोपन्धात्वेन साधयति—वयेति । यथा = येन
अमरेण, 'मकारचक्षणे अहम्' इति भावस्तथा । सुवर्ण-श्रीकण्ठ-रत्नाकर-सुधा-

कण्ठात् किंवा माता है । क्योंकि नै केवल नद है । गुणाराम नाम बाकि मेरे वक्ते माई
'भरताञ्जिराज' पदके वान है ।

महा—आपके गुणाराम कैसे गुणवाने है ?

सुवचार्—नामने ही वचर है दिया है ।

महा—(हसन्) क्या नामसे ही गुणवत् वान होता है ?

सुवचार्—और क्या ?

सुवर्ण (सोना), श्रीकण्ठ (गण्ड), रत्नाकर (समुद्र) और सुधाकर (वज्र) इसके
समान महत्सुभावीक नाम श्री गुणसुभायते अविचरित (निवर्तार्थवाक्य) नहीं होता है ॥

अपि च । किञ्चिद् गुणारम्भे कथं नाम्नैव गुणात्तन्म इत्युच्यते । च-
त्वात् रतिवचनकस्य राज्ञः सवसि इत्युपाधरोपणं नाम रूपकमभिनीय परि-
तुष्टेन राज्ञा समर्पितां रत्नविद्याधराख्यातिं प्रियामिव समस्तादित्वात् ।

नटः—स पुनः सम्प्रति कं देशमभिनन्दयति ?

सूत्रधारः—केनापि दाक्षिणात्येन नटपक्षेन ममैवेद् गुणारम्भेति
नामेति वदता रत्नविद्याधराख्यातिरपहृता । तदाकर्त्य गुणारम्भस्तमेव

कराः = स्वर्ग-कम्पनस्तुम्भ-कम्पः । कम्पं च श्रीकण्ठस्य राजाकरम् गुणाकररवेति
विग्रहे 'कम्पं हृत्प' इतीत्येतदयोगाद्भ्यः । एतदुक्तं भवति कोमलो वर्णो यस्य
सर्व कम्पमिति न्युत्पत्त्या कम्पमिति नाम स्वर्गस्य कृते च किरावादि एवं मियः (कम्पो)
कम्पः (कम्पः) इति न्युत्पत्त्या श्रीकण्ठेति नाम कम्पवत्त्व, सनाकम्प (मनीमात्र)
कम्परा (कम्पिः, भावस्य इति भावः) इति न्युत्पत्त्या राजाकरेति नाम प्रभुवत्त्व,
गुणागुणाः (अक्षुत्तगुणाः) कराः (किरावाः) यस्य स इति न्युत्पत्त्या कम्पकरेति
कथं कम्पममः कृते च किरावादि । इत्यमेव अक्षमभ्यन्तो गुणारम्भस्य व्याख्येय-
कम्पद्वयगुणप्रमादिविग्रहात्वेति भावः । किञ्चित्क्यादिगुणप्रमदमेव कम्पद्वये
गुणारम्भे नामधेयमन्वर्थं कर्तव्य इति भावः ॥ ५ ॥

नटोऽप्युच्यते—न इति । नटः = गुणारम्भः, रतिवचनकस्य = नटा-
मयेवत्यम् । सवसि—सभावात् । कम्पं = प्रत्ययकाम्यविवेचय । अभिनीय = अभि-
नयं विद्यात् । समर्पितां = प्रदत्तां, रत्नविद्याधराख्यातिं = 'रत्नविद्याधर' व्याख्यारिकं
प्रतिनिधि । प्रियामिव = स्वयमवकाशमिव । समस्तादित्वात् = प्रसूतात् । च इति ।
चा = गुणारम्भः । अभिनन्दयति = भागन्दयति ।

सूत्रधार इति । केनापि = कश्चिद्विद्वान्मयेवेत्यादि । दाक्षिणात्येन = दक्षिण-
दिशमेव, दक्षिणा भक्षे दाक्षिणात्यत्वेन, 'दक्षिणापमापुरलभ्यत्वा' इति अत्र
'किञ्चि चे' त्यादिवृत्तिश्च । नटाभ्यसूत्रेण = लेख्याभ्यमेव, अथकम्पद्वये च सति
श्रीमत्पत्रतः । जलोपसर्गाद्याकार्य 'चद्वय किरावनामात्रकवाद्येभ्य' इति वाक्ये कम्प-

और भी—गुणारम्भे कथं नामधेयं गुणारम्भे ही गुणका काय होया है यह क्या कहते हो ?
किञ्चित्के रतिवचनक नामके राजाको सनाके 'रत्नविद्याधर' नामके रूपक (इत्युक्तम्)
का अभिनय कर तन्मनुष्य राजाको समर्पित 'रत्नविद्याधर' देशी पक्षी मिलाको तरह पाई है ।
नट—वत समय ये किछ देशकी जानबिब कर रह है ।

सूत्रधार—मह गुणारम्भ नाम मेरा ही है, येछा कहनेको किछो दाक्षिणात्य भण्य
करी रत्नविद्याधर की ख्याति (प्रतिनिधि) का व्यवहरण किया । यह सूत्रधार गुणारम्भ

विशं प्रचलितः । अधुना च मुदस्माभिः यद् किल सुकण्ठनाम्ना गायकेन
सह मैत्री विधाय दाक्षिणात्यानां भूसुजां सपत्तिं तेन सह खसन्नखुप-
सङ्क्रान्तवानिति ।

महो—अहो ! महासुखम् ।

सूत्रधारः—उचितमिदम् । यतः—

कीर्तिं भुजाककमनीयभुजाकमनिह-

कम्पाजनानां शिमतसरोरुहपादनेनाम् ।

प्रतिपत्तिरित्युक्तमित्यत्र 'इत्यत्र' । विहीनोऽप्यतदो वाक्यः । सुकण्ठपदैरस्य सः ।
भुजाकः । गायकेन = 'सह' तिरपदेन योगे 'सहसुतेऽग्रधान' इति सूतीया । मैत्री =
सख्यं, मित्रस्य साधः । कर्म वा मैत्री' साधः । सुमयचनमाकाश्यादिभ्यः कर्त्तव्ये 'तिप्पन्'
पेय्यातिपत्तौरादिभ्यश्चेति क्रीप् 'इत्तस्तद्धितस्ये'ति यञोपः । रत्नसङ्ग्रहं = रत्ने
(वृत्ते) सङ्ग्रहं (भुजम्) स्तोत्रार्चक्यापमार्थं स्वर्णमयं विधातुमिति भावः ।
'रत्ने वृत्ते रणविता' इति विवरः । अत्र भुजारामपदेन रामः, इति नमकपदेन नमकः
दाक्षिणात्यपदेन रामणः, क्वातिपदेन क्षीता सुकण्ठपदेन सुग्रीवः सुख्यते इति वधा-
र्थं बोध्यम् । सद्यः चेतिः एवैरभिधीयमानकम्पाजसुखं भवतीत्यपि ज्ञेयम् ।

यतः इति । अहो—विस्मयधोतकमन्यममिदम् : 'महो ह्री च विस्मय' इत्यमरः ।
महात् = विष्ठाकाः उपक्रमः = काधारः ।

भुजाककमनीयभुजाकमनिह—कीर्तिमिति । भुजाककमनीयभुजाकमनिह-
कम्पाजनानां शिमतसरोरुहपादनेनां एतां द्रवितामिव परीं भवदृतां कीर्तिं कोटुं कः
वरत् उपक्रमे वाऽऽपयोतीत्यन्वयः ।

भुजाककमनीयभुजाकमनिह—कमनीयं भुजाकम् । भुजाके इव कमनीयौ ! भुजाक-
कमनीयौ 'उपमाभावि सामान्यकथनेरिति समासः । भुजाककमनीयौ भुजाकं यस्याः
'सा भुजाककमनीयभुजा तां द्रवितामिलेकमेव परमादिति । तथा चेतानि मिलेयनादि
कीर्तिपदेऽपि कोट्यानि । अनिष्टचक्षुःशाननाम् = अनिष्टः (मकलमाता) चक्षुः
शुभाऽऽननं (भुजम्) यस्याः सा तां, पूर्णचक्षुःशुकीमिति भावः शिमतसरोरुहपाद-
वती विष्ठाकाः वृत्ते गये ई । इतः समय इत्येव ज्ञेयम् । किं वक्ष्ये सुकण्ठ नामके गायके
साय विवता कर दाक्षिणात्य रामाभ्योऽपि तन्मार्गे कर्त्तव्यं सद्यः रत्नसङ्ग्रहात् नारत्न्यं विधा ई ।

यतः—माध्यमे ई । महात् नारत्न्यं विधा ई ।

सूत्रधारः—यद् वचित ई । कपीकि—

कम्पाजम्बोके सद्यः बाहुनीते सुखं, पूर्णं चक्षुःशुकां सुखासी, विवतित कम्पाजीके

यस्योत्प्लास्मितामपहृतां दयितामिव स्थां,

कण्ठं न कः परमुपक्रममातनोति ॥ १ ॥

सरस्वत्यै नमः ।

मङ्गल—इदमेव । यत् किं त्वयामितीपमानमनलोकायाम इति ।

प्रत्यङ्गमकुर्वितसर्वरसावतार-

नम्योत्प्लासत्—कुसुमराजिविराजिष्यम् ।

वेत्ता—विदिते (विदिते) मे सरोरुहे (कर्मणे) ते ह्य वाक्यी (सुन्दरे) मेहे-
(नयने) परत्वा । सा ताम् । पृथापकी स्वाम् = आधीयां दयितामिव = कान्तामिव
परि = अन्तर्गते । अस्तुताय = अन्त्यय नीता कीर्ति = समर्पणं 'यस्य कीर्तिः समस्तान्ते'त्य-
मर्थः । कण्ठं = गुणः । प्राप्नु कः = यत्नः 'यं महात्मन् कण्ठम्' = काव्यरसम् न अस्तु-
नोति = नो विदुर्वाति सर्वोऽपि करोत्येवेति वाक्यः । परैरपहृतायाः कान्ताया इव
कीर्तेः प्रपुङ्गवाय सर्वोऽपि कृतः प्रवृत्त इति तात्पर्यम् । अन्तोत्प्लासत्प्रा-
वृत्तान्तिकया कृतं तद्वचनं यथा—

'यथा वसन्तसिक्का तमवा जयौ गः ।' इति । अत्र वयमानभूताया दयितायाः
अपहृतोत्प्लासेन भाविकानकीकरणं जानकीमवावर्तयार्थं च परमो रामोत्प्लासत्
कृत्यते ॥ १ ॥

मङ्गल इति । अमिनीकर्मणः = विवमानाभिनयः, कण्ठविशेषमिति भावः ।

प्रत्यङ्गमिति । प्रत्यङ्गम् अकुर्वितसर्वरसावतारं नम्योत्प्लासत्कुसुमराजिविराजि-
ष्यम् अर्पयितुं शक्यम् इव वदन्त्या अतिरम्यम् अतिसत्कुसंविधानं भाव्यमन्यम्
(नमस्तोक्तयाम्) इत्यन्यथा । प्रत्यङ्गम् = अङ्गमङ्गं मति वीप्ताऽर्थेन्यवीभावः ।
अकुर्वितसर्वरसावतारम् = अकुर्वितः (उत्पन्नः) सर्वरसाय (सम्पूर्णरसाय
न्यूनरसीनामिति भावः) अवतारः (आविर्भावः) यस्मिन्, 'वाचमचम्यमित्यस्य
वितेक्यम्, एवं परत्वाऽपि । 'नमिरामम्' इति पादादन्तरे—अकुर्वितसर्वरसावतारा-
मय (मयीहरम्) इति दोषभा । नम्योत्प्लासत्कुसुमराजिविराजिष्यम् = नम्यानि
(नृतनानि) अङ्गभूति (अङ्गभूति) यानि कुसुमानि (पुष्पाणि) इति ।

उपानं मेवोते तस्यच नयनी विवाके रुद्रक, इत्योते नयनं कीर्तिको पादोके किं कोन
कृतम् आरम्भ गरी करता है ॥ १ ॥ १ ॥

इत्यस्य अर्थं वाचयती ।

मङ्गल—बारी है । आपसे नमिन् नमिन् आनेवाके विष्टे हम लोग देख देंगे ।

प्रत्येक नम्ये सब (नम्यार आदि) रसों से युक्त, नवीन और विविध रसों से युक्त ।

अमाश्लिखिते स्फुटमस्ति, 'प्रसन्नराशयं नाम' इति ।

गङा—(उभेव स्त्रीषु पठित्वा । चर्चम्) अतो, वेण्याः कविबुक्तमुद्रवि-
कासचन्द्रिकायाः प्रसादमहिता सरस्वत्या, यत्प्रसादकदेवविधाः कवीनां
विधिग्रमधुराः सूक्तयः समुल्लसन्ति ।

सुबधारा—एवमेतत् । नन्वेनेनैव कविनोत्पद्—

याति । तत्पदपरैरुक्तयिषा या स्वाम्भूमिं सती

मिति आया । कविकथनभावे । इति एकोऽङ्कः अस्मिन्नेव पदे । प्रसन्नराशयं =
प्रसन्न (सीताकथानवगतप्रसादमुद्रा) राशयः (रागः) परिमलितः प्रसन्न-
राशयश्च मङ्गलवादाऽविधानं बोद्धव्यम् । तस्याऽविधानं 'प्रसन्नराशयं प्रसन्न-
राशितोऽर्थप्रकाशकः' साहित्यदर्पणकारस्तुलसीदासः कवीनाम् ।

यत् इति । कविबुक्तमुद्रविकासचन्द्रिकायाः = कवीनां (कविबुक्ताम्) बुक्तं
(कथनं : 'सजातीयो बुक्तम्' इत्यमरः) तदेव बुक्तं (कथनम्) सत्यं विज्ञानं
(यदुक्तत्वापायम्) चन्द्रिकायाः (कौमुदी मुद्राया इति आद्यः) प्रसादमहिता =
अनुमदमहत्त्वम् । महती भावो हिता, 'पुष्पादिभ्य इत्यमरः' इतीत्यभिप्रायः ।
यत् विधाः = एतद्विधा, यत् विधा (प्रकारः) कालोक्तः । विधिग्रमधुराः = विविधा
(वैविध्योपेतः) चन्द्रिकायादेवेति आद्यः । यत्पदः (कवीनाम्) । समुल्लसन्ति =
काविरचसि ।

यातीति । हे याति । या तत्पदपरैरुक्तयिषा सती स्वाम्भूमिं जन्मता,
सा यत् यत् कविताकलाः परिमला इत्युच्यते । सूक्तप्रदेसं यत्किञ्चन
धिरः कल्पप्रसिद्धपारिजातकलिकागुणैः अस्मिन्नेति चिराय यत् यत् इत्यमरः ।
हे याति = हे सरस्वति । या तत्पदपरैरुक्तयिषा = तत्पदपरमकपराभासा, यो
यत् यत् पदे पदपदे, कपकसमासा, पदे पदपदोपाद्भूताऽऽह्वाराः । तत् पदपदको या
रैरुक्तयिषा कञ्चलीति कला, 'कम्प गता' इति भातोः पचाद्यच्, सता स्वार्थे कञ् ।
सती = सङ्गृह्यार्ता, स्वाम्भूमिं = अन्तःकरणमार्गं, 'चिह्नं तु योऽङ्कं इत्युक्तं ।

'प्रसन्नराशयं नाम स्वप्न भावता है ।

गङा—(उभेव स्त्रीषु पठित्वा । चर्चम्) अतो, कविबुक्तमुद्रवि-
कासचन्द्रिका (भादनी) के सङ्घ सरस्वतीका यह अनुमदमहत्त्व है । यिनके अनुमदके
कवियों को विविध और माधुर्यपूर्ण ऐसी सूक्तियां प्रकाशित होती हैं ।

सुबधारा—यह ठीक है । इती कविने कहा है—हे सरस्वति । आपके चरकपदोंकी
भूमिष को केवल सत्ताओं की चिन्तामूर्ति में मात्र होता है, यही कविताकला के कथन परीप्य

सम्प्राप्ता, कविताकृता परिणता शैवेयमुज्ज्वलते ।

स्वरत्नैः प्रिय चिराय यत्किंसलयं सुतापवेशं विरः—

कम्पभङ्गितपारिजातकलिकागुण्ये चिरये पदम् ॥ ५ ॥

(पुनर्विभाष्य) मम पुनः कविकमलसद्धानि मुनी बहसीकजन्मनि मनः

इत्यात्मनः मनः । 'हृत्पमरः' । सम्प्राप्ता = संप्रप्ता । सा एव प्राक्कनी = स्वपदपद-
रेणुकिमप्य एव, इत्ये = साम्यतं विचक्षणा, कविताकृता = कल्पवृक्षी, परिणता =
कलाभरं (सा) कृती, जलमुज्ज्वले = समुज्ज्वलति, भारतीयवर्णकमलरेणुकिमप्येव
कविताकलोत्पादनं भवति सूक्तपानमिति भावः । सुतापवेशं = सुतम् (सुमाचि-
तम्) एव अपदेशः (व्याख्या) वस्तु तत्, सुतारत्नं यत्किंसलयं = वस्तु (कविता-
कलापः) । किंसलयं (पद्मम्), 'स्वरत्नैः प्रियं किलकलयं' इत्यमरः । विरः
कम्पभङ्गितपारिजातकलिकागुण्ये चिरसः (मस्तकस्य) यः कम्पः (वेरपुः सन्ध्या-
व्याकर्णभोक्तमभिगन्ध्यादर्धं किरमात्रं विरः कम्प इति भावः), तेन भस्मित-
(भस्मकृतिः) पारिजातकलिकायाः (कम्पमुककोरकस्य) गुण्यः (लवणः)
ममतापरिमम् । सुतापयो स्वकर्तृप्रियं = स्वकर्तृमयेऽपि, चिराय = बहुकालं वायम्,
कल्पवृक्षमिव, 'चिराय चिरात्त्राय चिरत्वाच्चिराद्धर्तृका' । 'हृत्पमरः' । पदं = स्थानं,
'पदं स्वचरितिरात्म्यभानजकमाक्षिप्रवस्तु' । 'हृत्पमरः' । भवे = भावयति । 'हे देवि'
त्वत्पमरेणुः सहृदयहृदयप्रायः सन् कविताकृताकृतेन परिणतो भवति । तस्य
कविताकृतायाः पदकं च सुतापभाजनं सुता त्वदीयकर्तृ पदं विभव इति भावः
विभवं कविभवं भगवती वाग्वैष्यति मनोति विरः कम्पेन भविमन्वति चेति 'हृत्-
पम' । अत्र परिणामाभेदता । चार्तुकिमीदितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

पुनरिति । विभाष्य = विचार्य । कविकमलसद्धानि = कविप्रजापती, कमलं
(पद्मम्) मम (मस्तकस्थानम्) पश्य स कम्पकसया मनोति भावः । 'चिरश्चिः कल-
काभजनः' इत्यमरः । कवीनः कलकसया, तस्मिन् । बहसीकजन्मनि = बहसीक-
जन्म वस्तु स बहसीकजन्मा, तस्मिन् । 'अथर्वो बहुवीदिव्यधिकरणो जन्माभ्यु-
प्य' इति वासनाऽनुसृतवाङ्मयधिकरणबहुवीदिवः । कौतुकितं = सहातकौतुक-
लीलि लोचः । कुतुकमेव कौतुकं, तस्मिन् । 'महाविष्णुरणे'ति स्वार्येभ्यः । कौतुके

शेखर मनुभूतं देवा ई । सूकटे कट्टे चित्तं कविताकृताका वस्तुव विरहे कम्पे भवति
भारिवातक कलिकागुण्ये विर वृत्ता ई चेत्ते भावके कावने यी वृत्त समय तक स्थान
मात्र कर चेता ई ॥ ८ ॥

(विर विचार कर) मेरा मन कविता के लक्षण वाग्वैष्यति कुतुहलं श्रेष्ठकृत ई,

कौतुकिं च समैकमपि वदन्तारविन्दमाला चतुर्मुखकमलमभिहारविनोद-
मनुकमति आरक्षी नाथ वणदंती ।

अथर्व—एवमेवम् । विदुषामाभ्योनेऽपि हि—

भारवर्द्धवापतंस-कीर्तिरमणी-रूपमकम्पयन्तम्—

व्यवित्रमयसन्निविदमप्येव वक्ष्यीकमप्यनुमिः ।

दीप्त्वा यद्वदनेऽनुमन्तकगङ्गाकाम्यामृतान्येः किम-

कौतुकिमस्येति कौतुकिः, 'तत्त्वमस्य सत्त्वं सारकविन्दमाला' इति वदन्तः ।
वपय = वावरीकेभ्यः । वदन्तारविन्द = सुकमलम् । भारती = सरस्वती । चतु-
र्मुखकमलमभिहारविनोद = चत्वारि मुखानि (जागृताणि) एव कमलानि (पद्मि-
तेषु वपय (वपयन्तम्) तस्मिन् विहाराः (खेदाः) तेन विनोदः (कौतुकम्) ।
इति चतुर्मुखवि वावरीकेकमलमभिहारो भवत्येव ।

अथ इति । विदुषामाभ्योने = विदुषामप्य (विदुषणाः, स्वकीयार्थवतामकमला
इति भावः) आभ्योने (परिपूर्णतामाय) ।

भारवर्द्धवापतिः । भारवर्द्धवपतंसकीर्तिरमणीरूपमकम्पयन्तम् इति वपयन्तम् अन्विष्यती-
कमला मुनिर्विचरते । वदन्तम् अनुमन्तकगङ्गाकाम्यामृतान्येः किमपि-दीप्त्वा किम-
मृतान् अनुमन्तकी कावन्तिनी वाचयन् वर्द्धीत्यन्वयः ।

भारवर्द्धवतीत्यादिः । भारवर्द्धः (वर्द्ध) देते (कृते) वर्द्धता (भवतः, वृद्ध-
मृताः जीवाश्च) इति भावः । 'दति भारुरिषकोपमन्वीर्यवर्द्धवो' इति भारु-
रिषतेनाङ्गोपः । तस्य वा कीर्तिः (श्रद्धा) तेन रमणी (कमला, गीति भावः)
तस्या मो वदन्तः (वृत्तामकरः) तस्मिन् रमन् (समावस्यन्) यत् वदितं
(वाच्यम्) तस्य प्रथममर्थः (वादिष्यमृतः, कावन्तिनोऽन्वयः) । वक्ष्यीक-
मप्यनुमिः = वक्ष्यीकमप्यनुमिः, वक्ष्यीकमिति भावः । वक्ष्यीकम् (वाच्यम्) कम्प-
(वदन्ति) वदन्तः । मुनिः = मुनिः । विचरते = सर्वोपयोगे वर्द्धते, विदुषी-
ति वर्द्धे' इति चटोः । 'विदुषाम्भ्यो भेदित्वाप्तमेवम् । वावरीकेकम्पयन्तम् इति-
वतीति । वदन्तम् अनुमन्तकगङ्गाकाम्यामृतान्येः = वदन्तम् (वावरीके) वदन्तम्

सरस्वती रमईती विनोदं यत् ही सुक कमलकी वदन्त वक्ष्यीके चार मुनिकमलक वपने
कीकामे विनोदका वपुष्य करती है ।

अथ—अथ ही है । हीन कोको को परिपूर्णता में भी पूर्णवृद्धि वृद्धवृद्ध जीवा-
वपुषीको कोति-गतीके वृद्धके अवतरमें वदन् करने वाले वाचके वपय वपयके लोच-
वक्ष्यीके मुनि वदितव्य वदन्तके मात्र करती है । विनोदं सुकमल वदन्तवपुषी गीते

॥ १ ॥ व्याकृत्य कथितुमाभ्युद्यमयी कादम्बिनी वर्तते ॥ २ ॥

(विदूष्य) मम तु रामचन्द्र एव निर्मरमानम्बितोऽयं विचयकोरः यत् कीर्तिवन्धिकापुम्बितोऽयं वाग्मीकेरपि सारस्वतसागरः समुद्रलासः ।

सूत्रधारः—इत्यमिवम् ।

चण्डे च रामचण्डे च गरीणां च दगाजले ।

(सूत्रम्) एव यत् ह्यभ्युद्यमय (चन्द्रमण्डकम्) तस्मात् गच्छ (मन्त्रम्) यत् कान्तम् (कथितम्) एव भवति (पीयूषम्) तदेव वीऽम्बिः (समुद्रम्), तद्वत् । किमपि = पुनर्, विष्णुमिदम् । पीत्वा = भाष्यम्, कथितुमाभ्युद्यमयी = कथयः (वाग्मीकताः) एव नृत्ता (गरीणाः) ये भवन्ति (मेवाः) तन्मयी (तत्त्वकरी) । कादम्बिनी = मेघमाता, व्याकृत्य = प्रकथयत्यर्थेनान्, कथितम् भावति 'वाक्प्रवाहाभिधितोः' इत्यमरटीकायाः । 'सर्वतः प्रकथय कथयः च' । कथयन्त्युच्यते । इत्यमरः । वर्तते = वृत्तिं करोति ।

सूर्यवन्धिकापुम्बितं सगरः श्रीरामचन्द्रस्य यदिदमम्बोजावधितः । कादम्बिनीर्वाग्मीकेः सखीरुर्वेन वर्तते । वाक्प्रवाहापुम्बिताय चमपि विष्णुं पीत्वा नृत्ताः कथितार वाक्कर्षयति प्राप्नुवन्तीति भावः । जगत् कवकाऽऽह्वारः । कादम्बिनीर्वाग्मीके वृत्तम् ॥ २ ॥

विदूषयेति । रामचण्डे = रामचन्द्रे चण्डकप इति भावः । विचयकोरः = मानस-चकोरः, चित्तमेव चकोरः । निर्मर = बर्तयन्तीत्येति विदामिदोक्तम् । यथा च हीरचण्डे तथैव मदीयं चित्तमपि श्रीरामचण्डे इवैवमुद्यमयतीति भावः । वाग्मीके-वाग्मिकापुम्बितः = वक्त्र (वाग्मीके) कीर्तिः (समञ्जः) एव चण्डिका (कीदृशी) तया पुम्बितः (वृत्तपुम्बितः) । सारस्वतसागरः = वाग्मयसमुद्रः, सारस्वत्या इव सारस्वते, तदेव सागरः । समुद्रलासः = समुद्रालं प्राप, वृत्तिं प्राप्तवानिति भावः । चण्डिका समुद्र इव रामकीर्त्या वाग्मीकेवाक्प्रमसमुद्रोऽपि वृत्तिं प्राप्नोतीति भावः ।

चण्डे वेति । वीजोत्पत्तुद्रकागती चण्डे, रामचण्डे गरीणां दगाजले च कथ्य

इत्यन्वावृत्तक्य समुद्रको क्वचिन्मुनी योक्त भी कथिकम् गरीण मेवोकी पण्डितम्न काव् एव वृत्तिं गच्छति दगाती है ॥ २ ॥

(विचारका) यह मित विचयकोर ही रामचन्द्रजीमें ही एकपरी आकाशित है वित (रामचन्द्रजी) की कीर्ति चण्डिकाई सम्बन्ध होयेते वाग्मीके मुनि का वाग्म्य समुद्र वृत्तिकी प्राप्त ही गया ।

सूत्रधार—एव देता ही है ।

सूर्ये मकाय पावेकाई चण्डे, वीजकनके समुद्र काचिते सम्बन्ध रामचन्द्रजीमें

नीलोत्पलमुद्रात्कान्तौ चक्षुः नाऽऽप्नोदते भवः ॥ १० ॥

अपि च—

कदिति जगतीमात्राभङ्गन्याः पितामहविहपात्-
मदिति एषि यो देव्या पाचः भवः समजायत ।

अनो न नामोदत इत्यन्वयः ।

अत्र सम्प्रसारिण्यारोपेन 'नीलोत्पलमुद्रात्कान्तौ'विधि पदस्य निम्नपि मिलेन्नोक्तं नीलोत्पलत्वे बोधभक्तः । नीलोत्पलमुद्रात्कान्तौ = नीलोत्पलस्य (रथामकमकस्य) मुद्रात् (मित्रं, मित्र इत्यर्थः । विमलकल्याणिति भावः) तस्मात्कान्तिः (शोभा) यस्य सा तस्मिन् । तादृशे चक्षुः = दृष्टी । पूर्वाचक्षुः सकाशत इत्यर्थे 'आदित्ये चक्षुःमा भाती'ति श्रुतिः । 'अथाऽऽनन्दस्यैवो रदिसम्पन्नमसं प्रति दीप्यते सुष्यमा पूर्वरदिसम्पन्नमा गम्भीरं इत्यपि विग्रामो भवती'ति निर्देशः च मानः । नन्वापान्तात्-प्रेक्षाभिकानामन्मयाभ्यं सुखंवादिता । रामचन्द्रस्यै—नीलोत्पलमुद्रात् (नीलकण्ठ-सदृशं) कान्तिः (शोभा) यस्य सा तस्मिन् । श्रीरामचन्द्रस्य नीलकान्तिः अतिशेषः रामचक्षुः = रामे । नारीनां = स्त्रीणां, एतादृशे च—कमलस्य । एकस्य नारीकटाक्षोऽपि नीलवर्णं विधुता । कल्प = सङ्कल्पस्य भगवत्, मया = विधे, न आनोदते = आह्लादं नाप्नुममिति ।

अत्राऽऽस्तुतथोऽभङ्गनारीरुगञ्जकयोः प्रभुत्वस्य श्रीरामचन्द्रस्य चाऽऽप्तोदकत्ववर्ग-सम्बन्धादीपकाऽऽङ्कारः । उक्तवर्गे मया साहित्यद्वयेने—

'अऽस्तुतमस्तुतयोर्होषां तु विगच्छते ।' इति । जमुप्पजुवत् ॥ १० ॥

कदिति । पितामहविहपात् कदिति जगतीमात्राभङ्गन्या पाचो देव्या मदिति एषि चः भवः समजायत । अनो रदुपतिगुणग्रामरकावासुवामवदीर्घिकां नाम्ना-दृते चैव पुनं कथं मुञ्चेदित्यन्वयः ।

पितामहविहपात् = पितामहस्य (गङ्गलः) विहपात् (शोकस्य) 'यस्यै ककटी कोको विह्वं भुवनं जगत्' इत्यमरः । कदिति—सपदि, 'आकाशित्वमस्ताऽऽका-
शात्समदृष्टसपदि भुते ।' इत्यमरः । जगती = वरलोकम्, आगन्त्याः = आता-
भ्याः, पाचो देव्याः = सरस्वत्या इत्यर्थः । मदिति = मिलीर्षे, एषि = मार्गे, चः
भवः = जायासः, समजायत = समभवत् । अनो = आधेयी, रदुपतिगुणग्रामरका-
वासुवामवदीर्घिकां = रदुपतेः (रामचन्द्रस्य, रदुर्गा = रदुर्गचोत्पलानां राज्ञी, कल्प-

नौर किरांके कथकमे श्री चित्का विच हर्षको नही भता है । ॥ १० ॥

नौर श्री—गङ्गजोकरे पीव पृथ्वीको नाष्टी इह सरस्वती देवीको, पितामहार्पणे को

अपि कथमस्ती मुञ्चेदेनं न वैद्यमन्त्रके
रघुपतिगुणग्रामगताभ्युधानयदीर्षिकाम् ॥ ११ ॥

महा—कथं पुनरस्मी कथयः सर्वे रामचन्द्रमेव वर्णयन्ति ।

सूत्रधार—नाऽयं कवीनां दोषः । यतः—

स्वसूचीनां पात्रं रघुपतिकमेकं कथयतां
कवीनां को दोषः ? स तु गुणगणनामचरुणः ।

वैकुण्ठः । सत्तु भोक्तव्यं गुणानां (वाचिष्मसौक्यवादीनाम्) ग्रामा (समूहा)
कथय रघुना (प्रसंसा) एव मुच्यमानयदीर्षिका (कष्टाकृपा वापी) तस्मात् । वाच्य-
नादृते चेत् न न प्रवृत्तिरिति चेत् । तर्हीति दोषः । एवं न अतः, दूरमार्गगतनवमि-
तिरिति दोषः । कथं न केन प्रकारेण, मुञ्चेत् न अपहोय, 'हृन्मन्त्रेण' इति भाषो-
क्तिम् । 'रघुपतीनाम्' इति तुम् । यथाशब्दो जगो वीर्षाऽभ्यगमनमिति परिश्रमे
दीर्षिकाऽभ्यगमनेन परिहरति यथैव वादैन्यपि चतुरामभसत्प्राप्तिकोक्तमाम-
काके वीर्षाऽभ्यगमनरूपकं प्रयासं वीर्यासगुणसमूहप्रसंसाकपटुभाषादीसमवाया-
पनयतीति भावः । अत्र कथयकश्चाह । हरिणी कुतः, तद्वचनं यथा—'रघुना-
द्वैकुण्ठौक्योक्तो यदा हरिणी मवा ।' इति ॥ ॥ ॥

स्वसूचीनामिति । स्वसूचीनां पात्रम् एकं रघुपतिकं कथयतां कवीनां को दोषः ?
स तु कथयुः । गुणगणनाम् । यद् कथयति मिश्रीषी पतौ । अन्तगुणसूच्यैरेव एक-
मस्ती सततमुक्तं वासवसतिः यत् इत्यन्वयः ।

स्वसूचीनाम् = नास्मिन्नुभाषितानां, कान्यकपात्रमिति दोषः । पात्रं = भाषणं,
कवीनां विषयमिति भावः । एकम् = एकमानं, रघुपतिकं = रघुवंशमेव, वीर्यास-
गुणमर्थः । कथयतां हृन्मन्त्रं कवीनां = कथयिष्यामीति को दोषः = किं वृथं, न किम-
पीति भावः । अत्र न कवीनां दोषो यदि तर्हि कस्यैवमत्र—सत्यिति । स=पूर्वोक्तः

नय कथय तुम् । ये (सरस्वती) रामचन्द्रकीं गुणसमूहं प्रसंसाक्यं कष्टतमं
वाचकीनें स्थापनं करोतीति को कथयन्तीति चेत् तर्हीति ॥ ११ ॥

महा—ये स न क्वि रामचन्द्रकी का ही नवी वर्णन करोते हैं ?

सूत्रधार—न क्विनीका वीच नहीं है । क्योंकि—

भवते मुमापितीका राम प्रकृता रामचन्द्रकीकी करमितीका क्विनीका का नवा वीच ॥ ?
एव वीच ही गुणमोका है । की ॥ कथयते समस्त इन गुणोंने अन्य गुणोंमें गुणोंके

यदेतैर्मित्रैर्वैरपरगुणान्नप्येति च जग-

त्यस्तथैकाग्रको सततमुक्तसंवासरसति ॥ १९ ॥

अपि च । भोः,

वीजं यस्य विराजितं सुचरितं, प्रभा मनीषोऽक्षुटः

काण्डः पण्डितमण्डलीपरिचयः, काण्डं मयः पञ्चमः ।

अक्षुण्णस्तु = दोषस्तु, गुणगणना = दाहि = वसूतन्वादिगुणसमुद्धानाम् । यद् = यस्मात्कारणात्, पणति = कोके, मित्रैरेव = समस्तैः, यतैः = यतिः, गुणगणैरित्यर्थः । अपरगुणान्नप्येति च = अपरेषु (मन्थेषु, रसस्मादिति रोपः) गुणेषु सुप्रभैरिव (कोट्येति च) वैरैरप्यपरगुणसंवासरकोत्प्रेरिकैर्यथैः । एकः = अक्षितीयः, असी = श्रीरामचन्द्रा, सततमुक्तसंवासरसति = सततं (निरन्तरम्) मुक्तम् (आत्मदुर्लभं यथा स्वात्मना) वा संवासरः (सहवासः) तस्य सति (भाषाः), यत्ने = कृतम्, कर्तव्यान्वययोः । श्रीरामः सकलगुणगणनाऽऽधारा, गुणाभैकको गुणागतेन सहवासं वाचक्यतः काण्डेन 'श्रीराममेवाग्रमिह कथयन् तादृशगुणगणनाकिम् त्येव कर्णयन्त्यद्यो न कवीनां शेषः प्रसुत गुणयनानामेवैति भावः । अत्रोद्येवराज्यज्ञात् । विराजिनीहृतं, तद्वहलं यथा—

'तैर्यैरिदृश्या वनमममका वा विराजिनी ।' इति ॥ १९ ॥

पूर्वोक्तमेव प्रवक्षति—वीजमिति । विराजितं सुचरितं यस्य वीजं प्रभा यस्य मनीषोऽक्षुटः, पण्डितमण्डलीपरिचयो यस्य काण्डः, काण्डं यस्य मयः पञ्चमः, कीर्तिर्यस्य पुष्पपरम्परा, परिणतः सोऽयं कविः प्रमुने रघुकोपेक्षामसंसाधकं विवा किं बन्धः कियते ? इत्यन्वयः । विराजितं = बहुकाकोपारजितं सुचरितं = यो-यमचरितं मोक्षकं चरितं सुचरितं 'ह्यसिप्रादय' इति समासा । यद्वा = कविप्रमुमस्य, वीजम् = जन्तुरकारणम् । प्रभा = प्रतिभा, काण्डममनीति भावः, यो विवा काण्डं न मसरोपयुक्तं कोपहसनीयं स्वाविति काण्डप्रभातेऽभ्यस्तः । यत्नः = कविप्रमुमस्य, मनीषः = वृत्तः, जन्तुरा = अस्तिमयोक्तिर । पण्डित मण्डलीपरिचयः = काण्डविद्वन्मण्डलीसंस्तवा, यस्य = कविप्रमुमस्य, काण्डः = सकलमयः । काण्डं = स्वास्तकं काण्डं, यस्य = कविप्रमुमस्य, मयः = वृत्तिः,

सर्वत्र हीनर इन्दी रामचन्द्रवीजो निरन्तर और मानन्तपूर्वक सहवासका भाषा वचना ॥ नीर जी । नरे ।

बहुकाकोपे प्रवर्तित सुन्दर चरित्र विराजित वीज है प्रतिभा विराजित मनीष जन्तुर है, पण्डितमण्डलीका परिचय, विराजित काण्ड है, काण्ड विराजित मनीष पञ्चम है नीर वीज,

कीर्तिः पुष्पपरम्परा, परिणतः सोऽयं कवित्वद्वयम् ।

किं वन्द्यः क्रियते विना रघुकुलोत्तममर्षासाफलम् ॥ २३ ॥

मन्त्रः—कः पुनरस्य कविः ?

सूचधारः—(सप्रणयकोपम्)

विज्ञासो यद्वाचामसमरसनिम्बन्धमधुरः

कुरङ्गासीबिम्बाधरमधुरभावं गमयति ।

कवीन्द्रः कौण्डिन्याः स तव जयदेवः भवजयो-

वन्द्यः—किसकथं 'पञ्चमोऽङ्गी' किसकथम्' इत्यमरः । कीर्तिः—प्रसिद्धिः, सत्कान्तः ।
 एषवाचयितेति शेषः । यस्य = कवित्वपुष्पस्य, पुष्पपरम्परा—कुसुमपङ्क्तिः परिणतः =
 वृद्धः, सा = साधवाः, भवम् = एषः कवित्वपुष्पः = काव्यद्वयम्, रघुकुलोत्तममर्षासाफलं
 विना = रघुकुलोत्तमस्य (रघुवंशभूषणसूतस्य, श्रीरामचन्द्रस्येति भावः) पर्यस्ता-
 फलं विना (यद्वाचकं तस्यमन्त्रेण) विनापदेन श्रुते 'पृथग्विनामानामित्यु-
 तीपाऽन्धतरस्याम्' इति द्वितीया एकास्तरे एतीया एवमी च । किं = किमर्थं,
 वन्द्यः = निष्पन्नः, क्रियते = विधीयते । समुद्धे कवित्वपुष्पे कवीन्द्र आन्धः, तस्य पञ्च-
 मर्षासमर्षासाफलं, वङ्गिना तस्य निष्पन्नमिति भावः ।

अथ वृष्णाऽकङ्कः । शार्ङ्गविभीषितं वृत्तम् ॥ २३ ॥

मन्त्र इति । अर्थः = सादकस्य ।

सूचधार इति । सप्रणयकोपं = प्रणयेन (प्रेम्णा) कोपेन (क्रोधेन, वाक्क-
 कारविषयकाऽज्ञानमनितेनेति शेषः) च सहितं यथा तथा ।

विज्ञास इति । असमरसनिम्बन्धमधुरो यद्वाचां विज्ञासः कुरङ्गासीबिम्बाधर-
 मधुरभावं गमयति । कवीन्द्रः कौण्डिन्यो महादेवतनयः स जयदेवः इह तव भवज-
 यो वासिन्धुः किं न भवामीति ? इत्यन्वयः । असमरसनिम्बन्धमधुरः = असमा-
 (अनुपमा) वै रसा (गङ्गाराधयः) तेषां निम्बन्धेन (प्रवाहेन) मधुरः (स्वादुः)
 'स्वादिमिषी च मधुरी' इत्यमरः । यद्वाचां = यस्य (कवीन्द्र जयदेवस्य) वाचाय

विज्ञासो पुष्पपरम्परा है; ऐसा काव्य-द्वय रामचन्द्रजीकी महत्साफल्य के लिये, विना क्या
 निम्बन्ध किया जाता है ॥ २३ ॥

मन्त्र—रस नादकता कवि कीन है ?

सूचधार—(प्रणय और कोपके साथ)

अनुपम रसोंके प्रवाहे लानु विज्ञासो वासिन्धुका विज्ञास, सुन्दरीके निम्बन्ध सहज
 भीषण मधुरताको वाचित करता है । कवीन्द्र कौण्डिन्य महादेवपुत्र के जयदेवकी यद्वा

रयासीदतिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ॥ १४ ॥

अपि च—

सचमनस्येव यस्याऽस्य सुमित्राकुलजन्मनः ।

रामचन्द्रपदम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते सनः ॥ १५ ॥

(वाणीनाम्) विकासः = लीलाः । कुरङ्गाचीविम्बाधरमधुरभावं = कुरङ्गस्य (सुम-
त्स्य) इव भविषी (लीले) यस्य । सा कुरङ्गाची (सुम्वरी) तस्या विम्बस्य (विम्ब-
कम्प्य) इव मधुरः (भोदः) तस्य मधुरभावं (साधुर्वयम्) । रामयति = ज्ञा-
यति । मित्रस्तादृशकृपातोर्कम् । ये तत्सदृशस्ते ज्ञानाऽर्था इति न्यायेनैवोऽर्थाऽवयेय ।
'कुरङ्गाऽचीविम्बाधरमधुरभावं' इति पाठान्तरे तु—कुरङ्गाचीविम्बाधरस्य भाव-
भावं = मधुसत्त्वं, तत्सदृशकृपातोर्को 'रतिदुःखिप्रत्ययज्ञानाऽर्थं सत्त्वकमाऽऽर्कमाकाया-
मलि कर्ता' । नौ 'हृत्पति कर्तुः कर्मणम्' । रामयति = प्रापयति । कवीन्द्रवरदेवस्य
वासिष्ठातो विम्बोऽचीविम्बाधरसामान्यवरीकमोहीति भावः । कवीन्द्रः = कविदेवः
कौशिकः = कुशिवन्धोपनामः । महादेवतनयः = महादेवपुत्रः । स = प्रसिद्धः, कव-
देवः = सचदेवनामकः, कविताकिंको विद्वानिति भावः । इव = यत्र विन्दे : सच =
सचता । अकणयोः = श्रीकणोः, 'धृतिः की भवती अय' इत्यमरः । अतिथ्यम् = अ-
तिथिभावम् : किं न आयासीत् = किं न ग्राहयत्, यत्र नायत् किं त्वया कविता-
किं कस्य सचदेवचरैरभिधानं नाकर्तुमिति भावः । जयासीदित्यत्र 'या प्रापण' इति
कस्तोर्लुङि भविषी । अत्र 'गोत्र नाम च वणीयादि'ति नादधरात्तादशुभात्तात्प्राद-
कस्तोर्लुङिनामभिधानं बोद्धव्यम् । निगिरिणीपुत्रम् ॥ १४ ॥

कचमनस्येति । कचमनस्येव सुमित्राकुलजन्मनो यस्य अथ सनो रामचन्द्रक-
दम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते इत्यन्वयः । कचमनस्येव = रामाश्रुतस्येव, सुमित्राकुल-
जन्मनः = सुमित्रावाः । (दक्षरचमहिण्याः, कविपते महादेवचण्ड्याः) कुषेः (राशीच)
कम्प (ज्वरति) यस्य, तस्य । यस्य = यस्य कवीन्द्रस्य, सचदेवस्य । सनः =
चित्तम् । रामचन्द्रपदम्भोजे = रामचन्द्रस्य (रामचन्द्रस्य) पदम् (चरणम्) पृष्ठा-
म्भोजे (कमण्डले) तस्मिन् । भ्रमद् = भ्रमणे कुर्वद् सत्, भृङ्गायते = समरक-
यति, 'कर्तुः कर्मद् सकोपदये'ति पञ्चमस्यैवत्वम्, लिप्ताद् 'अनुदात्तलिप्ता आत्मने-
पदम्' इत्यन्वयेप्यम् । सुमित्रातनयो कचमनो यथा रामचन्द्रपदचरणपरावप्यस्तौ

पर नायके कर्णिके भातिथ्यको नया प्रज्ञा गती ॥ १ ॥ २४ ॥

भीर नौ—कचमनके सहाय सुमित्राके गर्भसे बलवत् भिन्न भवदेवकीका मय रामचन्द्र
कीके, चरणकमण्डले भ्रमण करवा कुना चैरिणी नाई नाकरण करवा है ॥ २५ ॥

नटः—कथमप्यिदित्यन्वयसम्यक्कोरकिरोरकस्य चरितमनुसृतोऽस्मि ।
तेन हि मम हस्ते निजनाटकमर्पयित्वेदमुत्तेऽस्मि—‘रक्षणीयमिव सूक्ति-
रत्नं चोरेभ्यः’ इति । स च मया सविनयमिदमुक्तः—

कर्णे निधाप्य च विधाय च कण्ठपीठे

धृत्वा च मूर्धनि नते हृदये च कृत्वा ।

बीरापहारचक्रितेन चिरं मयेव त्वत्सु-

क्तिमौक्तिकमय । परिरक्षणीयः ॥ १३ ॥

अर्थ—सुमित्रात्मनो कथयेषोऽपीति भावः । उपमाऽप्युपमा । अनुसृतं अनुसृतम् । ॥ १३ ॥
कथमिति । यथा चकोरकायकः स्वद्वयवाङ्मात्रं चन्द्रमसं न जानाति तथैवा-
हमपि स्वाऽमीश्वरं कभीष्टं कथयैव निश्चयतयाभिति भावः । सूक्तिरत्नं = सुभाषित-
श्रेष्ठं, प्रसन्नसुखधामनिधायकं नाटककथमिति भावः ।

कर्ण इति बीरापहारचक्रितेन मया । एव सूक्तिमौक्तिकमयः । कर्णे निधाप्य कण्ठ-
पीठे विधाप्य मूर्धनि धृत्वा नते हृदये च कृत्वा चिरं परिरक्षणीय इत्यन्वयः । बीरा-
पहारचक्रितेन = बीरापहारत्न (स्तेनापहरणम्) चक्रितेन (भीतेन) मया =
मत्तः, एव = स्वसमीपतरवर्ती, त्वत्सुक्तिमौक्तिकमयः = मयाऽनुभाषितसुभाषकाका-
यः कर्णे = कर्णे, निधाप्य = स्थापयित्वा, अथवापहृत्वं श्रुतेति भावः । मौक्तिकपदे
कलान्तरमन्त्रेण द्रष्टेति भावः । कण्ठपीठे = कण्ठस्थाने, विधाय = सज्जोष्य, अनुसृ-
तमात्मकोपः । अस्तिककन्येऽमकारपेति भावः । मौक्तिकपदे कण्ठहारकपेन द्रष्टेति
भावः । मूर्धनि = मूर्ध्नि, सिरसि, धृत्वा = स्थापयित्वा, शिरोधार्यपूर्वकमाश्रयेति
भावः । मौक्तिकपदे सेनारक्षणेणाऽवस्थान्नेति भावः । एव च = नते = अवलते,
हृदये च = हृदि च, कृत्वा = विधाप्य, जानोनाऽनगते चित्ते स्थापयित्वेति भावः ।
मौक्तिकपदे बीरादिभ्यो गोपनाय वक्रस्थले संस्थाप्येति भावः । इत्थं चिरं = बहु-
काकपर्यन्तं, परिरक्षणीयः = परिरक्षणीयः । यथा कश्चिज्जनो मौक्तिकान्निपदार्थं
बीरात्परिचातुं बहुस्थानेषु निधायति तथैवाऽहमपि भवत्सुक्तिं परस्म्यपहारकाकु-

अर्थ—चन्द्रमसो न जानतेनाहं चकोरकायके चरितमनुसृतं सैते अनुसरणं विना ।
कर्मो मे मेरे हाथमें अपना नाटक सीपकर श्रुते कहा है—‘रक्ष सुभाषित रत्नको बीरोरोंसे
रक्षा करना’ । मैंने कर्मों नाटकाके साथ देखा कहा—‘बीरोरोंके नगहरमसे नीत होकर मैं
जाचके इस सुभाषितकम सुभाषकायकी काममें रक्षकर, कण्ठस्थानमें विधाकर, सिरमें धारण
कर, भीरु चरनात हृदयमें रक्षकर, भी बहुत समय तक रक्षा करूँगा ॥ १३ ॥

सूत्रधारः—केयमलीकम्पङ्का तस्य कवेः ?

सूत्रकितवदनामुवाचसुतां कृतिमथवा सुवर्ति परस्य सूत्रारः ।

तदमपि परमर्णवस्य गत्वा वदकततः सुत्रभाजनंजनः स्वात् ६१७॥

कवेः संरक्षितमनेकस्थानेषु निरुधामीति भावः । समाप्तोक्तिरकङ्कुराः । यत्सप्ततिका-
वृत्तं, तत्कवणं यथा—‘उक्ता यत्सप्ततिका तभवा ज्ञाती नः ।’ इति ॥ १६ ॥

सूत्रधार इति । अलीकम्पङ्का—मिथ्यासम्प्रेतः ।

सूत्रकितेति । सूत्रकितवदनाम् यद्वारवृत्तां कृतिम् भवया परस्य सुवर्ति इत्या
अर्थवस्थ परं तदं गत्वा भवि कतरो जनः सूत्रभाजनं स्वात् ? वरेत्यन्वयः ।
सूत्रकितम् (अतिसुन्दरम्) कवणे (सुकम्) वदताः सा, ताम् । इदमनरं च
विशेषणं ताकाऽक्षिणीकम्पङ्कादेव हेतुकीदीपन्वादेन वा कृतं । परसुवर्तेऽपि कोऽ-
न्वयः । कृतिपथे—मनोहरकवणं, परसुवर्तिपथे सुन्दरसुकीमित्यर्थः । ‘सूत्रकित-
वचना’मिति पाठे कृतिपथे मनोहरकम्पङ्कगुणिततां, परसुवर्तिपथे—सुन्दरमालि-
नित्यर्थः । यद्वारवृत्ताम्—कृतिपथे—यद्वारम् (यत्तद्वारिगुणभूषितम्) कृतं
(अरिक्तम्) यस्याः सा ताम् । परसुवर्तिपथे—यद्वारम् (बीदार्योक्तम्)
कृतं (अरिक्तम्) यस्याः सा यद्वारवृत्ता, ताम् । ‘वृत्तं पथे चरिते चोत्तरः । कृति-
रचना, परस्य रचनाकर्ता कृतिमिति भावः । कवणः—पङ्का, पङ्क—अपङ्क,
सुवर्ति—तत्कवी, इत्या—अपङ्कव्य, अर्णवस्य—समुद्रस्य, तदं—तीरे, गत्वाऽपि—
प्राप्त्वाऽपि, कततः—अः, जनः—नरः, सूत्रभाजनं भाग्यपात्रं, स्वात्—अप्रेतः,
तावतां कुकुर्यं कृत्वा न कोऽपि जनः सूत्रभाजनं भवेदित्यर्थः । वद—बुद्धि । पथेना-
मेव रावणकृतं सीताहरणकथं रामायणद्वयमाश्रितमतोऽप्येव यत्ताकास्वामार्थं, तत्क-
वणं यथा—‘यत्सुताऽऽम्भु भावस्य भादिनोऽभ्योक्तिसूचनम् ।

यत्ताकास्वामार्थं सुवर्तसंविधानविधीयन्म् ॥’ इति ॥

रामायणी सीतासपङ्काय रावणोऽर्थवस्थ पार्श्वं गत्वाऽपि यथा सुवर्ते नाऽप्ये
तत्रैव परकृतिमपङ्कव्य न कोऽपि जनः कामन्त्रं प्राप्स्यतीति भावः । स्वेकाऽङ्कुराः ।
सुवर्तिताया नासाऽर्णवस्य वृत्तं, तत्कवणं यथा—‘अपुनि भुगुरोक्तोवकरो बुद्धि च
नवी वरगाश्च सुवर्तिताम् ॥’ इति ॥ १७ ॥

सूत्रधार—उक्त कविका वद कैला मिथ्यासम्प्रेत इ ?

सुन्दर रूपवाकी बीर कन्दारचरिते सुवर्त इत्येवम् रचनाको अथवा सुन्दर सुवर्ति
सुवर्त बीर कन्दार चरिते सम्पन्न इत्येवम् कोऽपि पुराणर सङ्ग्रहके वरवर्ती कव्यो प्राप्त करके
वी बीन सः सुवर्त सुवर्ता प्राप्त होगा ? यथा ॥ १७ ॥

नटः—एवमेतम् । नन्वयं प्रमाणप्रदीपोऽपि नृपते । तदिह चन्द्रिका-
चन्द्रालम्पयोरेव कवितातार्किकस्थयोरेकचिकरणसामानोध्यविस्मयोऽस्मि
सूत्रधारः—क इह विस्मयः ?

येषां कोमलकाव्यकौशलकलाकीलावली भारती
तेषां कर्कशतर्कदृढवचनोद्गारेऽपि किं द्विपते ? ।

नट इति ? अयं = कवीन्द्रो जयदेवः । प्रमाणप्रदीपः = प्रभासे (न्यायशास्त्रे)
प्रदीपः (निपुणः) । तत् = तदभावाभावात् । इह = अस्मिन्, अयमेव इति भावः ।
चन्द्रिकाचन्द्रालम्पयोः = कौमुदीसूर्ययोः । चण्डः (तीक्ष्णः) आतपः (प्रकाशः) यस्य
सः सूर्य इत्यर्थः । दीपिकोऽयं शब्दः । कवितातार्किकयोः = कवितानैयामिकयोः ।
एकाधिकरणताम् = एकाग्रयताम्, एकम् अधिकरणम् (भाष्यम्) ययोस्ती एका-
धिकरणौ, तयोर्भावे एकाधिकरणता ताम् । एवमेवस्मिन्नेव समये चन्द्रिकासूर्ययो-
रविविधित्वं भवति, सुदुर्लभगुणवाच्यचिकवा रात्री कठोरगुणस्य सूर्यस्य विभाज्य-
विभाजितः भावः । तथैव सुकुमारतामभावात् कवितायाः कर्कशतामभावात्तार्-
किकतापारमैकस्मिन्नेवविविधित्वं दृश्यते यद् विद्वत्काव्येऽस्मिन् जयदेवे कविता-
वास्तार्किकतायाश्च समभावेनऽवस्थितेर्विस्मयसामिधौऽस्तीति भावः ।

येनामिति । येषां भारती कोमलकाव्यकौशलकलाकीलावली, तेषां कर्कशतर्क-
दृढवचनोद्गारेऽपि किं द्विपते ? यैः काव्याकुलमण्डले करवद्वा सारगन्धं धारयिताः
सिः अलकरीप्रकुमसिखरे धाराः किं न आरोपनीयाः ? इत्यभ्युपगमः । येषांविपुला,
जयदेवसदृशानां कवितार्किकानामिति भावः । भारती = बाली, कोमलकाव्यकौशल-
कलाकीलावली = कोमल (सुदुर्लभं, मातुर्लभमादिगुणसम्पन्नमिति भावः) चन्द्र-
काव्यं (कवित्वम्) तस्मिन् वा कौशलकला (नैपुण्यकला), तेषां कीलावली (वि-
काशवली), जयतीति सेवः । तेषां = कोमलकाव्यवलीविशेषमधीणानां महा-
कवीनां, कर्कशतर्कदृढवचनोद्गारेऽपि = कर्कश (कठोरः, अतिशयपरिपक्वद्विविध-
भावेण इति भावः) वा तर्कः (न्यायशास्त्रम्) तेन चक्रानि (कुट्टिलानि, जटु-

नट—एव इति । ये कविराज न्यायशास्त्रे श्री निपुण इति चेत्तु जना जाता इति ।
चौदनी और सूर्यके सदृश कविता और तार्किकता (नैययिकता) इन दोनोंका दृश्ये
एकऽधिकरणता (एकाग्रयता) देखकर ये आश्चर्यचुक ।

सूत्रधार—इतने क्या आश्चर्य है ?

मित्र कवियोंकी बाली कोमल काव्यमें नैपुण्यकलासे विराजवती है, इन लोगोंके कर्कश
भाषणावली कुटिल वचनोंके प्रकाशनमें श्री क्या है ? मित्र पुरखोंने मियाके पदों-

यैः काम्ताकुचमण्डले करकहा। सान्द्रमारोपिता-

स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भदिक्करे नारोपणीयाः शराः ॥१८॥

महा—अपि नाम स्वयमेव कविताकोविदाः पारिवदा अस्य सूक्ष्मि-
र्निनोदयिष्यन्ते ?

बुद्धिभिरवेद्यामीति भावाः) वामि दृक्मानि (वाक्प्राप्ति, 'दृक्मे'ति पाठान्तरे कदा
वा दृक्मा। तस्या इति धोक्ता काया) > तेषामुद्गारेऽपि (प्रथमोऽङ्कः) । किं हीनते
किं हीनेन कर्मणा भूयते, क्षमणीयकवितानिर्माणपट्टना विदुषा कपोतककुम्भ-
द्वन्द्वदृक्माधामपि का दामिरिति भावाः । एतेऽर्थे दृष्टान्ते प्रतिपाद्यति—द्वीरिति ।
द्वैः = पुद्गलैः, काम्ताकुचमण्डले = शिवापबोधमण्डले, 'काम्ताकुचकुम्भक' इति
पाठान्तरे काम्तायाः कुम्भः कुम्भकः (कुम्भकः) इव तस्मिन्मिति धोक्ता वाचा ।
करकहाः = नकाः, को हीदृक्मीति 'हृद्युपकृतामी किरः क' इति क्यत्वयः । 'पुनर्मत्तः
करीकरी नवीन्ही नकारोऽक्षिपायः' इत्यमरः । साऽङ्गनम् = भाग्यपूर्वकं यथा
स्वातन्त्र्येति किम्बाधिलेखणम् । आरोपिताः = दिग्बन्धनाः, तैः = पुद्गलैः, मत्तकरीन्द्र-
कुम्भदिक्करे = मत्तः (मत्तपुक्तः) यः करीन्द्रः (गजेन्द्रः, मेढगाव इति भावाः)
तस्य यः कुम्भः (मत्तकविष्कः) तस्य दिक्करे (अक्षमणी) शराः = वाचाः, किं, न
आरोपणीयाः = न प्रवेष्टव्याः, आरोपणीया इति साकुम्भानि । शिवात्मकमेव शिवा-
क्षिणी कुचकुम्भके मत्तकतकारका तथा अपि यथा मत्तगजेन्द्रमत्तकविष्के शरमारो-
पयन्ति तथैव मुकुन्दारकाम्बदृक्मा विदुषा जना अपि कर्मवत्कर्मकाण्यमपि वाक्प्रा-
प्ति दृक्माणीति किमत्र चित्रमिति भावः । श्रुताधसिरोमने। पञ्चमरं शुक्लं प्रति
प्रतिपादितं दृष्टान्तसौख्यं श्लोकोऽपि जनश्रुत्यनुसारेण उपपद्यते—

'काम्येऽपि कोमकविषो कथमेव भाङ्ग्ये तर्ज्येऽपि कर्मवत्विषो यथमेव भाङ्ग्ये ।

सन्त्येऽपि यन्मिदविषो यथमेव भाङ्ग्ये कुम्भेऽपि सन्त्येविषो यथमेव भाङ्ग्ये तांति ।
यथमेव भाङ्ग्येऽपि सन्त्येविषो यथमेव भाङ्ग्ये । दृष्टान्तोऽङ्कान्तरस्येककर्म यथा—

'दृष्टान्तस्तु सचर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।' इति । सार्धकवित्रीकितं वृत्तम् ।
यथा इति । अपि नाम = सन्त्येदृष्टोक्तकर्मण्यप्यवृत्तम् । कविताकोविदाः = कविताया
(कविता) कोविदाः (विद्वान्) । पारिवदाः = सत्यम् ।

अरमण्डकमे नारुतोसे भाग्यपूर्वके साय श्रव किवा, वे कोन मत्त दृष्टोके मत्तकविष्कमे
यथा नाम यही कीर्तते ? ॥ २० ॥

महा—स्वयम् ही कविताके ज्ञानकार सम्भवीय इतके सुमापितोसे तथा विनीत प्राप्त
कर लो ?

सूत्रधारः—नन्वेनेनैवोक्तम्—

अपि मुदमुपयास्तो वाग्विहासैः स्वकीयेः
परमगितिषु तोयं याप्ति सन्तः कियन्तः ।

मित्रघन-प्रकरम्-स्यम्-पूर्णातघालः

कलाघासलिलासेकं नेहते किं रसाक्षः ॥ २६ ॥

नटः—अहो अस्य कवेः सूक्तीनां सरलता कोमलता च ।

अपीति । स्वकीयेः वाग्विहासैः मुदम् उपयास्तोऽपि कियन्तः । सन्तः परमगितिषु तोये वाप्ति । मित्रघनमकरम्-स्यम्-पूर्णातघालो रसाक्षः कलाघासलिलालेकं किं न ईहते ? इत्यन्वयः । स्वकीयेः = आजीवैः, वाग्विहासैः = वचनलीलाभिः । मुदं = हर्षम्, उपयास्तोऽपि = कथमाता अपि, कियन्तः = कतिपये, सन्तः = सज्जनाः, परमगितिषु = अन्वोक्तिषु, तोयं = मीतिं, याप्ति = प्राप्नुवन्ति । मित्रघासैर्भवैश्च मनी-
हमपुनश्चोऽपि कियन्तः । सन्तः परवृत्तिभिरपि मसादमातावपन्तीति भावः । वच-
नार्थं इहान्तेन ब्रूयति—मित्रेति । मित्रघनमकरम्-स्यम्-पूर्णातघालः = मित्र-
(स्त्री) इमं (साम्प्रः) को मकरम् (पुष्परसः) तस्य वा स्वन्वा (प्रस-
व) तेन पूर्णम् (परितम्) आकलाकम् (जायाः) पश्य स्तः । दृष्टावतो रसा-
क्षः = आकलाकः, 'आकलाकृतो रसाकोऽसी' इत्यमरः । कलासलिलालेकं = कलास-
(कला) यद् सलिलं (जलम्) तस्य लेकम् (लेखनम्) किं न ईहते ? किं न
ईहति ? इत्यन्वेयेति काकुत्स्थः । मधुरपुष्परसमकरमपूरितकलाकोऽपि वृत्तो यथा
कलासलिलालेकं वाञ्छति तथैव स्वरचमयः हर्षमनुभवन्तोऽपि नेचित्सङ्घट्टम्
सज्जना परमुसाधितैरपि प्रसोर्धं प्राप्नुवन्तीति भावः । इहान्ताऽकलाहः । याकिनि
वृत्तम् । सकलार्थं यथा—'यन्ममवपुतेषं याकिनी ओगिकोके' । इति ॥ १९ ॥

यत्र इति । सत्यत्वा = प्राक्कला, मसादपुनश्चाकितैति भावः । कोमलता =
सुदुलता ।

सूत्रधारः—इती कविने कदा है—

अपथी वाचोष्ठी कीलामोते हर्षको पाथे इप थी कतिपय सकलम् सूतरे कविधोष्ठी
कतिपयो तै सन्तोषका मनुभव करतै हैं । अथने पात्र पुष्परसके मसवणते पूर्ण आकलाक
(नवाही) वाज नावृष्ट कदा कलसलिलते लेखन मही बाहवा है ? ॥ २९ ॥

यत्र—अहो । इति कविने सुभाषितोंमें सरलता और कोमलता थी है ।

सूत्रधारः—कविद्वन्द्वता कठिनता च ।

नटः—कथमेते अपि रसणीये ? ।

सूत्रधारः—अथ किम्—

निम्नगते यदि नाम सम्प्रतिविर्चकाः कवीनां गिरः

स्त्यगते न च भीरुसैर्गङ्गायां वक्ताः कटाक्षच्छदाः ।

तद्वैद्यध्यवतां सतामपि मनः किं तेहते वक्तां

यत्ते किं न हरः किरीटशिखरे वक्तां कक्षामैर्गभीम् ॥ २० ॥

सूत्रधार इति । वक्ता = कुटिलता, कक्षार्थेति भावः । कठिनता = कठोरता, कटुत्वाप्येति भावः ।

नट इति । एते अपि = वक्ता—कठिनते अपि ।

निम्नगते इति । सम्प्रतिविर्चः वक्ताः कवीनां गिरः निम्नगते यदि नाम । गीरसौ। वृत्ताद्यां वक्ताः कटाक्षच्छदा न स्त्यगते यदि नाम । तत् वैद्यध्यवतां कर्ता मनोऽपि कर्ता किं न ईहते ? हरः किरीटशिखरे वक्ताम् ऐम्भी कर्ता किं न भवे ? इत्यन्वयः ।

सम्प्रतिविर्चः = सुकृतविभिः, सुर्वैरिति भावः । वक्ताः = कुटिलता, कवीनां = कर्णककर्तृणां, गिरः = वाग्म्यः, निःशरः = विहीनगते, यदि नामेति सम्भावनायात् । एवं भीरुसैः = कविद्वन्द्वैः, तस्य शुभप्रसङ्गिगुणैर्जनेति भावः । वृत्ताद्यां = हरिण-कोचलानां, हरिणस्येव इतीत्यासां, तासां, सुन्दरीनामिति भावः । वक्ता = कुटिलता, कटाक्षच्छदाः = अपात्रदर्शनशीलता, न स्त्यगते = नाऽभिनयगते, यदि नामेति सम्भावनायात् । तत् = तथाऽपि, वैद्यध्यवतां = रसिकत्वसम्पन्नानां, सतां = कल्प-मानां, मनोऽपि = कियमापि, वक्ता = कुटिलता किं न ईहते = किं नेच्छति । एवं हरः = वक्त्रा, किरीटशिखरे = मुकुटाभ्ये, वक्ता = कुटिलता, ऐम्भी = आश्रयमसीत्, इन्दोरिदमेम्भी, तस्य । 'तस्यैवम्' इत्यम्, 'भोर्गुण' इति गुणः । 'तद्विद्येभ्यश्चामावै' विद्याविद्वत्विभ । 'दिव्दानाभि'त्यादिना कोप् । कर्ता = रेका, किं न भवे = किं न

सूत्रधार—कवी कुटिलता और कठोरता भी है ।

नट—क्या वे (कुटिलता और कठोरता) भी मनोहर होती हैं ?

सूत्रधार—क्यों नहीं ।

मन्द कुटिलता मन्द, कविधोकी वक्त्ररचनाओंकी भवे । निम्न कर से कठोरता भीरुस प्रक, सुन्दरिधोकी कुटिल कटाक्षोंकी स्तुति (शारीर) मके ही न कर हैं । वो भी निपुण सम्पन्नोका मन क्या कविताको वक्त्रको आश्वास है । कठोरता मन्त्रेवकी मुकुटके मन्त्रभाजों वक्त्र वक्त्रकासी क्या वक्त्र नही करते हैं । ॥ २० ॥

अपि च—

अमृतजलधेः पायंपात्रं पर्थासि पयोधरः ।

किरति करकास्ताराकारा यदि स्फटिकाभ्रौ ।

सर्वेह तुलनामानोपमते सायं कठिनाः पुनः ।

सततममृतस्वप्नोद्गारा गिरा प्रतिभाषताम् ॥ २१ ॥

आमृति, पारम्येवेति भावः । भूमीर्हानाभावाद्दिग्गन्धेयाः कविगिरो निम्नकमे
यदि तर्हि किं रसिकशिरोमणयः सन्मा केदम्ब पुनिकता बानीनेच्छन्तेवेति भावः ।
निदर्शनाऽऽकृष्टाः । सार्धकविश्रीविषं वृत्तम् ॥ २० ॥

अमृतजलधेरिति । अमृतजलधेः पार्थासि पायंपात्रं पयोधरः स्फटिकाभ्रौ
ताराकाराः करकाः किरति यदि, तत् सत् सर्वं कठिनाः पुनः सततम् अमृतस्वप्नो-
द्गाराः प्रतिभाषतारं गिरा तुलनाम् आनीयन्ते इत्यन्वयः ।

अमृतजलधेः = पुनःसत्पारम्य, पार्थासि = कलामि, पायंपात्रं = पुनः पुनः पीत्वा,
'वा पात्र' इति भावः 'आभीरन्नेगमुक्' इत्याभीरन्ने गमुक् 'भातो पुनिकज्जलो'
'रिति तुलनामा, 'कुम्भेज्जल' इत्यन्वयः च । पयोधरः = मेघा, स्फटिकाभ्रौ =
स्फटिकभूमौ, ताराऽऽकराः = नक्षत्राऽऽकृष्टाः, करकाः = वर्षोपकान्, किरति यदि =
किपति येष, तत् = तर्हि, इदं = अस्मिन्निषये, सर्वं = अस्मिन्निषये, आपातत इति
भावः । कठिनाः = कठोरा, अन्वयार्थकतादिति भावः । पुनः = भूयः, सततं = निरन्तरम्
अमृतस्वप्नोद्गाराः = अमृतस्वप्नः (पीयूषकादी) उद्गाराः (अभिभाषः) वास्त-
नाः । प्रतिभाषताः = नक्षत्रमोमेववाकिमन्त्रसम्पवाचा, सत्काज्जनिमोमसकिमन्त्रा-
मिति भावः । गिरा = वाता, तुलनाम् = उपमा, आनीयन्ते = संग्राह्यन्ते ।
प्राकटिता अपि वर्षोपकाः स्फटिकभूमिं प्राप्य यथा प्रवृत्तिं तथैव प्राकटोरा अपि
प्रतिभाषता गिराः परिपक्वविधेः सङ्ग्रहणा मतिपदं प्राप्य सुकटाभ्रतां प्राप्नुवन्तीति
भावः । संभावनाऽऽकृष्टस्वप्नोद्गाराहरणं यथास्वैव महाकवेऽप्यप्येवेति—

'संभावनं यदीत्यं स्वादित्यूहोऽप्यमस्मिन्ने ।

सितं स्फटिककुम्भाभ्रं दिशतिरवेतीकृतेभ्रौ ।

यौकिं चोपकानां सूते तत्पुन्येते समं यत् ॥' इति ।

महात्तरे ललम्बने सन्भावकपाऽतिशयोक्तिरुद्गारास्तत्तत्तं यथा साहि-

बीर मी—सङ्ग्रहा नक्षत्राणां पीकर मेघ स्फटिकभूमिं ताराके लल्ल भीमोकी
वृष्टि करे तो कान्धे कुम्भ समवतक कठोर फिर निरन्तर अमृतकी वृष्टि करनेवाली
आसर्वाते सम्पद प्रतिभापूर्ण कविपौष्टी बानी उपमाको प्राप्त कर कोटी ॥ २१ ॥

नटः—नूनमस्य कवेः किमपि कौतुकममोद्गमेदुरमन्तःकरणं यदेवं-
विधाः सरसरीतताः सूक्ष्मः समुक्तसन्ति ।

सूत्रधारः—उचितमिदम् ।

यस्याम्बोरभिकुरमिकुरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः, कविकुलगुहः कालिदासो विज्ञासः ।
हर्षो हर्षो हृष्यवसतिः पञ्चदाणस्तु बाणः

स्वर्णमे—‘सिद्धात्वेऽथ कलापस्याऽतिशयोक्तिर्निवृत्ते ।

मेदुऽभ्यसेद् । सप्तम्येऽस्तव्यवस्तत्रिपद्वे ४

रीर्वापरीऽयम। कार्यहृत्तोः सा पञ्चधा प्रत्य ॥’ इति ।

हरिणीवृत्तं, तद्वचनं यथा—‘रतमुगहयेन्तीं श्रीं स्वर्णो वदा हरिणीं मता ।’
इति ॥ २१ ॥

नट इति । नूनमिति निमित्ते । कौतुकममोद्गमेदुरं = कौतुकं (कुतूहलम्) प्रसोदा-
(हर्षः) ताभ्यां मेदुरम् (सप्तम्य) । अन्तः करणं = हृष्यम् । यद् = यस्यादेतो ।
(सरसरीतका) = सरसः । (नटवरादिरसोपेता) कौतुकाः (चित्तप्रसादाः) ।

यस्या इति । यस्याः भोरभिकुरमिकुरः मयूरः कर्णपूरः, भासो हासः, कविकुलगुहः
कालिदासो विज्ञासः, हर्षो हर्षः, वामो हृष्यवसतिः पञ्चमानः, एषा कविताकमिनी
केषां कौतुकाश्च न ? कथमेतन्मयः । यस्याः = कविताकमिन्याः, भोरः = भोरनामकः
कुन्दरकाऽप्यवर्णयः कविः, श्रीपञ्चासिकाऽऽवयवव्यवकाशकमिति भावः । विकुर-
मिकुरः = केशकलापः, ‘विकुरा कुन्तली वासः कथं केसः शिरोवहः ।’ इत्यमरः ।
मयूरः = मयूरकविः, धूर्जतककर्ता, जगद्गुप्ता जायन्मृगहाकरो रयास इति
भावः । कर्णपूरः = कर्णभूषणम् । हासः = हासनामके महाकविः, स्वप्नवास-
वताक्षिबोधकपदककर्ता कालिदासादपि प्राचीनतर इति भावः । हासः = हास्य-
स्वामीयः । कविकुलगुहः = कविसमुदायाऽऽचार्यः, कालिदासः = कालिदासकविः,
अभिज्ञानकाकुत्स्तकविकर्ता जगत्प्रसिद्धो महाकविरिति भावः । विज्ञासः = विज्ञान-
सूर्यः = श्रीहर्षः, वैशम्पयनिरमहाकाम्यकर्तेति भावः । हर्षो = ज्ञानम्, वाचा =

नट—विद्यमानः । इतः कविकाः अन्तः करणं अनिर्वचनीयं कथं कुतूहलं भोर हर्षं
परिपूर्णं हे को कि हर्षे एते सरस और चित्तप्रसादक छद्मादित प्रभुर्भूत होते हैं ।

सूत्रधार—यह उचित है ।

नट (कविता कमिनी) का भोरनामक कवि केशकलाप, मयूर कर्णभूषण, हास
हास, कविकुलगुह कालिदास विज्ञास, श्रीहर्ष हर्ष, वामनट हृष्यवसती पञ्चमय (काव्यदेव)

केवां नैवा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥ २२ ॥

अपि च—

न मङ्गविद्या न च राजकन्यी—

स्तथा दृश्यं कविता कवीनाम् ।

लोकोत्तरे पुंसि निवेद्यमाना

पुत्री च हर्षं हृदये करोति ॥ २३ ॥

वीरमङ्गलकौमुदीकविः, काव्यमङ्गलकविर्भवेति भावः । हृदयवसतिः=हृदये (भवति) वसतिः (स्वानन्द) यस्य सा, राजकन्याः=कन्याः, पञ्च (पञ्चसकलका, अरविन्द्रादयः) कानां (शिराः) यस्य साः । कामस्य पञ्चबाणा यथा—

‘अरविन्द्रमशोकं च मृतं च तवमङ्गिका ।

नीलोत्पलं च पञ्जोते पञ्चबाणस्य साधकाः ॥’ इति ।

पुत्रा=पुत्रद्वयी, कविताकामिनी=कविता दम् कामिनी (कन्या) केवां=सङ्ख्यानां ज्ञानात्, कौतुकाय=कौतुककोत्यादनायेति भावः । न=न भवति, कथय=वृत्ति, अपि तु सर्वकामेव सङ्ख्यानां कौतुककोत्यादनाय भवतीति भावः । रूपकलङ्कारः । सम्भाषास्तोत्रतः, तत्तुल्यं यथा—

‘सम्भाषास्तः न कविपङ्क्तोर्भी नती माहुराह वैर’ इति ॥ २२ ॥

न मङ्गविद्येति । कवीनाम् ‘हर्षं कविता लोकोत्तरे पुंसि निवेद्यमाना यथा पुत्री हृद हृदये हर्षं करोति तथा न मङ्गविद्या न च राजकन्यीः (हृदये हर्षं करोति) हृदयमप्यः ।

कवीनां=कविपुत्राणाम्, हृदयम्=यथा ‘कविता=कृतिः’ लोकोत्तरे=लोकभेदे, कर्म्मसाधेयसाधारणो शमावृत्तिरिति शेषः, पुत्रीपदे—सत्यानन्दे युतीति शेषः । निवेद्यमाना=नित्यममाना पुत्रीपदे प्रतिपाद्यमाना कृती, यथा=येन प्रकारेण, पुत्री हृद=कन्या हृद, हृदये=चित्ते, हर्षम्=आनन्दं, करोति=निवृत्तिरिति शेषः=येन प्रकारेण, न मङ्गविद्या=मङ्गप्रतिपाद्यकथास्तम्, वेदान्तकथमिति भावः । न च राजकन्यीः=भूषाकलकन्यीः हृदये हर्षं करोतीति शेषः । सत्यानन्दप्रतिपादित्वा तुमारीच लोकोत्तरपुरुषवर्णनपराजना कविता यथा हर्षमर्कं जनयति तथा

है, वैद्यो कवितान्मित्री किसके हृदयमें कौतुक उत्पन्न नहीं करती ॥ २२ ॥

और जो—मित्रपुत्रयै प्रतिपादित कुमारीके सहस्र लोकोत्तर (राम आदि) पुरुषों के लिये वह कविता कवियोंके हृदयमें नित्यप्रकार हर्षमयान करती है उस तरह न मङ्गविद्या (वेदान्तशास्त्र) और न राजकन्यी ही हर्ष उत्पन्न करती हैं ॥ २३ ॥

(नेपथ्ये)

साधु भोः, कुशीलवोत्तम, साधु ।

सूत्रधारः—कथमयं भगवतो गच्छत्यस्य मिथोऽन्तेवासी दास्यन्-
न इत एवाभिवर्त्तते । तदस्याऽनवलोकनीयत्तुर्ध्वर्णस्य पुरतः स्थातु-
मनुचितमसाकम् । तदेहि । परतो गच्छावः । (इति निष्कान्ती)

इति प्रस्तावना

केवलमिदं राजकच्छीक न जनयत इति भावः । अत्रोपमाकट्टारः । एतेन सीता-
स्पर्धवराऽर्थं जनककृतो भयुर्ध्वमहोत्सवः सृज्यते । अत्र प्रथमदृशीयत्तुर्ध्व-
र्णस्यवशाद्भूतम् । 'एषादिगुण्यं यदि ली लगी नः ।' इति तत्कथनम् ।
द्वितीयचरणे नयेत्यवशाद्भूतम् ।

'उद्येश्वरश्च जलजास्ततो गौ ।' इति तत्कथनम् तथा केयवज्जोदेत्यवकाश-
मिदं सम्मिश्रणद्वयजातिभूतम् । तत्रात्मनः धया—'अजन्ततोदीरितकथमभाजी पादौ
पदीयादुपजातयस्ताः ।' इति तत्कथनम् ॥ २३ ॥

नेपथ्ये = कुशीलवोत्तमस्य विवर्त्तनस्थाने ।

'इह भूमेर्भविः एवातं वतन्मैवममुज्यते ।' इति भावः ।

कुशीलवोत्तम = नन्दोत्तर ।

सूत्रधार इति । याज्ञवल्क्यस्य = राजानस्य प्रवृत्तिः । याज्ञवल्क्यस्य शोभाऽप्यस्य
कुलात् याज्ञवल्क्यस्य स्य । 'तदादिन्यो वन' इति चम् । जन्मिवासी = मिथ्या ।
जन्मे = पुर्णमित्ये वसतीति तत्त्वज्ञानः । 'धुम्यजाती मिमिस्तावर्द्धित' इति तत्त्वज्ञाने
मितिः । 'कथमासमाभिप्लवकात्' इत्युक्तम् । अत्रमहोत्सवीयत्तुर्ध्वर्णस्य = अत्र-
महोत्सवीयः (वर्त्तनऽनर्द्धः) यत्तुर्ध्वर्णः (धुमः) वयः, तस्य । अत्राभिनव इति
भावः । अत्राभिनवः सुप्रदर्शनमिदेषात् । प्रस्तावनाकथनं यथा आदित्यवर्णनं—

'नदी विदूषको वाऽपि पाणिपार्श्विक एव वा ।

सूत्रधारोऽपि संहिताः संकापं न च कुर्वते ॥

चित्तौर्ध्वः स्वरार्थोऽपि प्रस्तुतावेतिभिर्मितः ।

आमुक्तं तत्तु विशेषं नास्ति प्रस्तावनाऽपि सा ॥' इति ।

प्रस्तावनाऽऽमुक्तं केवलमर्थान्तरम् । सा च प्रस्तावना वक्ष्यिष्या, यथाऽऽह

(नेपथ्ये)

ये परमेष्ठ । आभास आभास ।

सूत्रधारः—अगन्तुं पादकल्पयति मिथ्यामिथ्ये ये दास्यन्पादक कृते इति भोः आरहे
है । तत्कारणं यद्विषयं न विचिन्तयति तत्तु स्मरणे इत्युक्तोक्ता दृष्ट्या अनुचित है । अत्र
भावो । दृष्टरी भोः आरहे । (अत्रादौ दोषो निकृष्ट है)

इति प्रस्तावना

(अविषय)

वासुभ्यायन।—(तमेव श्लोकं पठित्वा) (वाक्यात्) साधूत्तममेव ।
तथाहि—भूपतिरयं जनकोऽपि सफलशोकशौचनारयिन्दे कश्चिदपि पुरुष-
मेकवदे निजां कन्यां समर्पयितुकामोऽस्मदगुरुपविष्टायां ब्रह्मविद्यायां
कलकमलगतायां राजसदस्यो न शिथिलावरः संवृतः । (पुनः कन्यां दत्त्वा)

विष्णुः प्रकटितः—

‘कदाज्यम् । कथमेवाह । अथोक्तः किञ्चनपुत्रः ।

अथर्वश्रुतिः पञ्चमः अथर्वश्रुतिः पञ्चमः अथर्वश्रुतिः पञ्चमः

[illegible]

^१सुखभाहुरस्य वास्यं वा समाधायाऽर्चयेत् वा ।

अथैतान्प्रमाणानि विचार्य भवति ।

इत्यभ्यास इति । तमेव श्लोकः = य मन्त्रविद्येवादिश्लोकानिःसर्गः । एतन्मन्त्र-
साधनमावम् । सकलकोशकोचनाभिविन्दे = सकलम् । एतन्मन्त्रा ये श्लोकाः (कर्माः,
'कोकलः शुभैर्गणे' इत्यमरः) तेषां कोचनानाम् (नेमाणाम्) अभिविन्दे (कर्मके,
कर्मकस्तद्वत् वाङ्मय इत्यमरः इति भाष्यम्) । 'सकलकोशकोचनाभिविन्दे' इति
वाङ्मयस्य सकलकोशकोचनानि येषु अभिविन्दानि (कर्मकानि) मन्त्रार्तान्ते (सूर्ये,
कोकोत्तरीत्यर्थेऽप्य कोशकोचनाभिविन्देऽन्ते सूर्यवामकास्तक इति भाष्यम्) । पुष्प-
त्रयान्ते = पुष्पत्रये, प्रथमस्थे वाऽपि पुष्पः पुष्पमन्त्रकण्ठस्थमिव, 'प्रतीसा
दधनैर्यैति समासाः । 'मन्त्रविकका मन्त्रविकका मन्त्रविकमुद्यतस्तकम् । मन्त्रविकका-
मन्त्रमिव 'इत्यमरः । निशः = श्लोकः, कम्पः = कुमारी, एतानि चिन्ता भाष्यम् । 'समर्पयि-
तुः कामः = समर्पयितुं (प्रतिपादयितुम्) कामः (इच्छा) इत्यस्य सः, 'तुं काममन-
सोरपी'ति मन्त्रेण । अस्मद्गुरुकपविद्यानाम् = अस्मद्गुरुणा (अस्मदाचार्येण, पाश-
कल्पनेनेति भाष्यम्) उपविष्टावान् (कुलीयदेवावाः) । कुलकमागताय = मन्त्र-
प्रतिपादयामागत्याय । निधिविन्दः = शिवः (शक्यः, मन्त्र इत्यर्थः) आदरः
(आदरः) इत्यस्य सः । साज्जतं कम्पौद्वाहसम्पादनकामो जनको मन्त्रविद्यायां

(प्रवेशद्वार)

द्वन्द्वनाम—(कहीं श्लोकको पङ्क्ति) (अभिप्राय पूर्वक) इसमें ठीक कहा।
जैसे कि—यै महाराज जनक भी सब लोगोंके मेंवाँके कमरके मुख (आकाशक) किसी
संग पुत्रवत् जपनी कन्वा (सौख्य) को समर्पण करनेकी चम्खा कर हमारे मुख (पाश-
पक्ष्मणी) से उपदिष्ट प्रमोदना और कुलकनसे आई हुई राखधनीमें भी आदर शिथिल
कर रहे हैं। (किर काल देकर)

कथमयमाकाशो बीजाश्वनिः भूयते । सञ्जनमस्मद्गुरुसंभ्यागच्छता समीर-
संचट्टनकलकण्डलकीगुणेन वेषर्विणा नारदेन भवितव्यम् । (विलोक्य)
कथं श्वनिसाहस्येन प्रतारितोऽस्मि । नन्वयं गगनतलावसन्निभोर्मधुप-
पोरेव श्वनिराकुर्यते ! (पुनः कर्णं दत्त्वा, सहर्षेतिस्मयम्) अहो भगवतो
योगीश्वरस्य प्रसादमहिमा, येनाऽहमेवविधानासपि वचभाषणोपमधुरां
स्थितिमासावितवानस्मि । तदाकर्णयामि—किमेताद्यालपतः ? (कर्णं दत्त्वा)
एकः किमाह—सखे कलालाप, कुत आगतोऽसि । अपरः किमाह—
ययस्य, मधुरप्रिय, सन्ततविकल्परान्द्रमौलिसम्दाकिनीकुमुदचननात् ।
अहो ! अनयोऽधुनापरेरालता वनिरनामधेयता च । (पुनः कर्णं दत्त्वा)

राजकक्ष्यां बीजासीम्भं अवाप्नोति भावः । बीजाश्वनिः=सकलकीर्त्या । समीर-
संचट्टनकलकण्डलकीगुणेन=समीरस्य (वायोः) संचट्टनम् (सहर्षणम्) तेन कलम् (मधु-
राधुनम्) तथा कलम् (सकलवसायः) वलकलीगुणः (बीजाश्वनम्) वत्,
हेतुः, 'नारदेनेत्यस्य विरोधमिहम् । भवितव्ये=भवनीयम्, भाव्यान्वययोगः ।
प्रतारितः=वह्निः । आकपतः=आभाषिते । सन्ततविकल्परत्नं=सन्ततं (निर-
न्तरम्) विकल्परत्नं (विकासलीलात्) । चट्टनीकिमन्दाकिनीकुमुदचननात्=
चट्टनीके (चट्टनीकेशस्य, शिखरेत्यर्थः) वा सन्दाकिनी (स्वर्णा) तस्या
कुमुदचननात् (वैरवोपचारात्), आगतोऽस्मोति शेषः । अत्र चट्टनीके। सत्येन
वीरवचनस्य सन्ततविकल्परत्नं बोध्यम्, अत एव परिकराश्चकारः । चट्टनाकाप-
वाक्यता चतुरः (चातुर्यपूर्णः) य आकाशः (आभाषणम्) तस्य पैसकता (कुमुदा-
रता) । वनिरनामधेयता=मनीहाराभिधानता । वानेन नामधेयं, 'वा भागवत-

कैसे आकाशमें यह बीजाका श्वनि सुनाई पड़ रहा है । इसविध निश्चय ही
हमारे गुणोंके पास जलैवाके तथा धातुके सर्वसे मिलनी बीजाका तार मनीहर
द्वन्द्व कर रहा है ऐसे नारदजी का रहे हैं ऐसा माध्यम होता है । (वैचक्र) कैसे
श्वनिके सहर्षणसे उगा गया हूँ । आकाशमें वदनेवाके ही जोरोंको ही यह श्वनि
सुनी का रही है । (फिर कान देकर हई और माधवके साथ) अहो ! भगवान् योगीश्वर
को बीजां प्रसादमहिमा है ? जिससे मैंने ऐसे जयशोंके भी वचनके वामकी यशुरसिद्धि
पात कर ली है । इस कारण मैं सुनता हूँ कि ये क्या बातचीत कर रहे हैं ? (कान
देकर) एक क्या कहता है—सखे कलालाप । तुम कहते जाये हो । दूसरा क्या कहता है—
ययस्य मधुरप्रिय ! महादेवकी सम्दाकिनीके निरन्तर विकल्पित होनेवाले कुमुदचनसे आया
हूँ । अहो ! इस बीजाके चातुर्यपूर्ण काण्णजी कुमुदराखा और नामको भी दृग्गच्छा है ।

किमाह—मधुरमिवः—अस्ति महीनः कोऽपि वृत्तान्तः ? किमाह कल-
हापः—अस्ति । अचिरमेव कदापि खलु बलिनन्दनो बाणासुरः कमल-
मालया भगवन्तमिन्दुमौलिमभ्यर्च्य सविजयमिदमूचिषान् । यत् किञ्च
भगवन्—

कैलासाधिकसारं किमस्ति वंस्तु महीतले ।

यस्मिन्सफलतामेति मम दोर्बुद्धमभ्यस्तम् ॥ २४ ॥

ततश्च विद्वस्येवमाह च भगवामिन्दुमौलिः—

अस्ति मे कार्मुकं दिव्यं न्यस्तं जनकभूभुजि ।

भामभ्योद्येव' इति स्वादर्भे (मङ्गलार्थे) वेद्यमपवादः । भामभ्येवस्य भावो भामभ्येषता,
'तस्य भावस्तत्पत्नी' इति तत्त्वमपवादः, 'तत्त्वम् विद्याम्' इति किञ्चाऽश्रुताऽनसूयात्
स्त्रीत्याह्वयतपवादः । अचिरा थाऽसौ भामभ्येषता । सविजये = मङ्गलापूर्वकम् ।

कैलासाधिकसारमिति । महीतले कैलासाधिकसारं वस्तु किम् अस्ति ?
परिमन् मम दोर्बुद्धमभ्यस्तं सफलताय एतौत्वन्वया ।

महीतले = भूतले, कैलासाधिकसारं = कैलासाय (भवन्निवासपर्यताय, तस्य
रावनेनोक्तो हितराशिरिति भावः) अधिकसारम् (अधिकवस्तुम्) वस्तु = पदार्थः ।
किमस्ति = किं विद्यते ? परिमन् = यथा, मम = बाणासुरस्य, समस्तसमये सफल-
बाहुसम्पन्नस्येति भावः । दोर्बुद्धमभ्यस्तं=दोषः (बाहुयः) एव दुष्काः, लेपा, मण्ड-
कम् (समूहः), बाहुषु वण्डसमवितरात्कार्यं सत्त्वाद्दुष्कारोपायपकाऽऽकारः । सफ-
लता = साधकत्वम्, इति = प्राप्नोति । कैलासस्य पूर्वमेव रावनेनोक्तो हितराशिरिति
मदोर्बुद्धमिदमोऽनवद्यकः । अतः कैलासाधिकसारमितिस्तम्भः पदार्थो मूलके किञ्च-
मिथावोऽस्ति यत्र महद्गुह्यम् : सफलो भवेदिति भावः । लघुपुद्गलवत् ॥ २४ ॥

अस्तीति । जनकभूभुजि न्यस्तं मे दिव्यं कार्मुकम् अस्ति, यस्म्य बाणासुरके
किञ्च पुरा यत्कृतं भाषा ह्यवन्वयः । जनकभूभुजि = जनके भूपते, भुजे भुजकीति

(फिर जान देख) मन्त्र मित्रमे क्या क्या है ? कुछ क्या वृत्तान्त है ? ककाकपने क्या
कहा है ? जयों ही किसीसमय बकिके पुत्र बाणासुरके कमठोंकी भावसे भगवान् कहकर
की पूजा कर मन्त्रकी साध देता कहा । कैला कि—दे मंगलम् ।

मूलकमें कैलाभवेतले की अधिक सारवाला पदार्थ कीय ला है ? जिसमें कि मेरा
बाहुसम्पन्न सफलताकी राश कहरे ॥ २४ ॥

तब ईसकर भयम्-न् महादेवने देता कहा—

महाराम जनके पास रक्षता गया मेरा दिव्य वस्तु है, जिसके बाणाग्निमें विपुलासुरके

यस्य बाणानले लिङ्गः पुरा प्राप्ताः पतङ्गताम् ॥ २५ ॥

तदाकर्म्यं च तत्कार्यमुक्तं विलोकयितुं स तत्र गतः । अहमिहागतः । कुतः पुनस्त्यग्निह ? कथय, कीदृशो वा तत्र नवीनो वृत्ताम्बः ? इति । किमाह मधुरमियः—अहमागतोऽस्मि नन्दनपत्न्यात् । अथ च तत्र मया कङ्केधरातुषरस्य गर्जितमाकर्णितम्—आः कथं रे, नन्दनवनस्य रक्षिणः ! अनर्पितचन्द्रपूज एव निराचरक्यवर्तिनि छूनसफलप्रभूतं नन्दनवन-मिति । ततस्तैरिदमुक्तो निराचरः—‘क्षन्तस्त्वमेतत् । अथ हि जनकराज-

शुभ्रम्, जनकमासी भूभुम्, तस्मिन् । अन्कसीध इति भावः । म्यस्त=स्वायत्तं मे = मम, दिव्यं = लोकोत्तरं, दिवि अर्धं दिव्यं, ‘सुभागपादुक्षयसीधो मय’ इति पादावयवः । वार्तुर्ध = वस्तुः । कर्ममे प्रभवतीति, ‘कर्मण वक्त्रम्’ इति सम्प्रदायः । ‘कथाऽक्षिपाम् । अनुभाषी अन्वहार/समकोट्यकार्यमुक्तम् । ‘हृत्तरा’ । अस्ति = अस्तीति । मय = कार्यकस्य, बाणाऽनले = तरा/अग्नी’ बाण द्वाऽनलस्तस्मिन् । कण्क-समासो कपलाऽल्लङ्कारः । लिङ्गः = विलोक्यता, पुरा = पुराणि, विपुराऽपुराणेति भावः । पतङ्गतां = सकभर्ता, ‘समी पतङ्गसकभी’ इत्यमरः । प्राप्ताः = अप्तादिताः । विपुरपुरवाहे मयोवपुर्कं अद् राक्षो जनकस्य भवतश्च, तदेव त्वार्धं कर्त्तव्य-सीति भावः । अद्भुतमुद्भुतम् ॥ २५ ॥

तदाकर्म्येति । सा = बाणाऽमुरः । नन्दनपत्न्यात् = दृष्टोपपत्त्यात् । कङ्केधरातु-षरस्य = रावणसेवकस्य । मिताचरक्यवर्तिनि = राक्षसधर्माणि, रावण इति भावः । अनर्पितचन्द्रपूजे = अनर्पितः (अपूजितः) चन्द्रपूज । (चन्द्रसेवकः) येन सः तस्मिन् ‘मय च भावेन भावकचयम्’ इति सप्तमी । एवमसकयसूतं = कुनामि (विनामि, अवधिष्टानीति भावः) सककामि (समस्तानि) प्रकृतानि (पुण्यानि) वस्त्राणां ? सता = कङ्केधराऽतुषरमथमसमन्तरमित्यर्थः । तैः चन्द्रनवमरक्षिणिः । चन्द्रार्धं = धर्मेणीयम् । जनकराजकर्म्यकेत्यादि = जनकमात्रस्य (जनकशुभ्रम्)

सीधो अर्ध पतङ्गमावको प्राठ ही नवे ॥ २५ ॥

यद् भुजकः कस भुजको देखनेके किए (कण्कहार) वहाँ गया । मैं वहाँ आया । तुम वहाँ कहाँ जाये हो ? कङ्के, वहाँ मैसा तथा वृत्ताम्ब है ? मधुरमियने क्या कहा ? मैं नन्दनवनसे जाया हूँ और वहाँ मैंने रावणके मधुरचरका गर्जन सुना कि—वरे ! क्यों नन्दन वनके रक्षकरो ? राक्षसोंके पाठवनों रावणके किरपूना करनेके पहले ही—नन्दनवनके सब धूरु सीधे गये । तब वनकीगैने राक्षसोंकी ऐसा कहा—‘अपना करनेवादिह । बाव जनकमहाराजकी कर्म्यका स्वचर देखनेके किए कीदृक्पूर्ण सककर्मियोंके

कल्पकाक्षीरस्वयंवरदिलोकनकुतुहलसकलसुरलोकाविमानमण्डनाय महाम्
कुतुमोपयोगः' । तदाकर्ण्य वैभवेव दृष्टान्स्वमुपायनीकरोमि सङ्केतस्वेति
प्रचलितो निराश्वरः । अहमपि कौतुकादिहागतोऽस्मि । (सविवाहम्)
अहो ! महाननयाङ्कुरोद्भेदो पश्यं वाणरावणयोः कर्णान्तिकमपि विमानतः
सीतास्वयंवरदृष्टान्स्वः । अथवा । अक्षमतिक्रतरतया । अमारोपिता अपि
अनरोक्तयः संभवन्ति । (विचार्य) कुतो वा भस्मरसम्भाषना ।

अकरन्दरसस्यम्-सुन्दरोद्गाराधारिणी ।

कल्पका (कुमारी, सीतेत्यर्थः) तस्या क्षीरः (गूरु) यः स्वयम्भारः (स्वयं विष-
कालो वस्तुम्) तस्य विडोक्तं (दर्शनम्) तस्मिन् कुतुकिताः (संज्ञातयैवृद्धकाः,
स्वस्व संज्ञातं तादृकादिभ्य इत्थत् इतीत्यन्वयः) सकटाः (समस्ताः) ये गुर-
द्वेकाः (द्वैतमूढाः) तेषां निम्नमनस्कभाव (ज्योत्स्नानाज्जङ्गलभाव) । कुतुमो-
पयोगः = कुतुमायः (उपपायः) उपयोगः (व्यवहारः) । सङ्केतस्वयंवरस्य = रावणस्य,
'सताक्षीनामपि सगन्धमात्रविषयायां चक्षुषे'ति नयान् कर्मणः = सम्यग्बोधविषयायां
यती । उपायनीकरोमि = उपहारीकरोमि, अनुपायनमुपायनं यथा त्वं यते तथा
करोमि, 'कुम्भद्वितीये संवत्सर्गपरि विम' इति विमः । 'नस्पृशी' इत्यन्वयस्येत्यम् ।
उपायनमुपमाकृत्युपहारतयोपदेशः । इत्यमरः । अनर्थाङ्कुरोद्भेदः = अनर्थः (अतिशयः)
एव अङ्कुरः (अतिशयोक्तिम्) तस्योद्भेदः (नाशः) । कलापितं = अज्ञ-
भ्रमीयम् । 'अपकृष्टाऽन्तिकाऽप्यनर्थाऽप्यप्यः कल्पमितोऽप्ययम् । हृत्पमरः । अति-
कातरतया = अतिभीक्ष्ण्येन, कर्कषयेन योरी 'राज्यमात्राऽपि विमरः कारकविमरी
प्रबोधि'ति नयेन सूतीया । अतिकातरतया सार्वं नाज्यसीति भावः । अमारो-
पिताः = अनेन (आम्वा, तदभावदति तत्प्रकारकज्ञानरूपेति भावः) आरोपिताः
(कुलाऽऽरोपाः) । विचार्य = भावयित्वा ।

अकरन्देति । अकरन्दरसस्यसुन्दरोद्गाराधारिणी अकलाऽऽतन्त्रिणी एती चन्त्रिणी

विमानांको नलकुतुहल करनिके किम् पूकोका पयोऽयं यथीग दुभा है ।' ऐसा कहकर 'होता
वृष्टान्तको कहे'वर राधनको उपहार करता है' ऐसा कहकर राजस नवा । मैं भी कीट-
इसी धर्मा जाया है । (विचारके साथ) नहीं ! मरम् अनर्थाङ्कुर अकर दुभा है जो कि-
वाग भोर रणनके कानके समीप भी सीतास्वयंवरके वृष्टान्तके विमान किया । अथवा ।
म्वादा करपेके नहीं होना चाहिए । अमरकी चन्त्रिणी अमर की चारोपित हो सकती है ।
(विचार कर) अथवा अमरकी सम्भावना कैसे हो सकती है ?

कुतुमुपयोगे इत्येके प्रलपन (भुने) के सङ्घट्ट मनीहर सन्दर्भको धारण करनेवाके, कान

अथपालम्बिनापेतौ बन्विनाधिप राजतः ॥ १६ ॥

(नेपथ्ये)

साधु भगवन्, विज्ञातं, बन्विनापेव खल्यासां, नानाविगन्तसमागत-
नृपतिचक्रवर्णनाय जनकेन समादिष्टौ ।

वाहभ्यास्यतः—अहो घुणाक्षरन्त्यायो धविषं भ्रमरद्वयं प्रति सवोक्तं
बन्विद्वयं प्रति फलितं वचः । भदसु । तविमं भ्रमरदृष्टान्तमस्मद्गुरुरपे
निवेदयामि । (इति निष्क्रान्ताः)

इयं राजत इत्यन्वयः ।

मकरन्दरसस्पर्शसुन्दरोद्गारधारिणी = मकरन्दरस (सुन्दररस) विकारो मक-
रन्दः, 'तस्य विकार' इत्यन् । 'पुष्पकुण्डे बहुलम्' इति तस्य शब्दः । मकरन्दस्य
'पुष्परसस्येति' न्यायक्याने रसपदस्य वीचकस्य स्वादतो मकरन्दस्य (सुन्दरपुष्परस)
इत्यः (इवः) तस्य रसरसः (प्रकथयन्) स इव यः सुन्दरः (मनोहरः) उद्गारः
(कम्पः) तं भावयतस्तच्छ्रीको भवतु यच्च भवनाऽऽनन्विनी = कर्णात्मन्ययको, एतौच
अमरी, बन्विनाधिप = स्तुतिपाठकाधिप, राजतः = जोसेते । वचमात्रद्वारा । मनु-
हृदयकम् ॥ १६ ॥

नेपथ्य इति । नानाविगन्तसमागतः स नृपतिचक्रवर्णनाय = नानाविगन्तैः (अनेक-
विज्ञानैः) समागताः (समायाताः) ये नृपतयः (राजानः) तेषां चर्चा
(कथनम्) तस्य वर्णनाय (प्रतिपादनाय) ।

अतः परं प्रवेशकयोः स्तुतिपाठकयोः प्रवेशादुक्तत्वात् प्रवृत्तकर्मिणं वाह्याभ्यां
सकलचर्चं यथा वृत्तकथने—'कलकसाम्यसमाकृतमनेनः स्फागवृत्तकम् ।' इति ।

वाहभ्यामन इति । घुणाक्षरन्त्याः = गुणद्वये काङ्क्षन्ते यथा संयोगेन कर्माः
प्राप्नुयन्ते, तथैव संयोगेन वाऽऽभ्यसितौ भदरा भवति तन्नाम्न न्याय उपपुन्यते ।
अस्मद्गुरुरपे = 'निवेदयामी'ति क्रियाप्रत्ययान्त 'क्रियया वसमिमैति श्लोऽभिसम्बन्धम्'
इति सम्प्रदानप्रत्ययान्तौ ।

को आनन्वित करनेवाक से दो चीजें । स्तुतिपाठकोंके समागत होनेसे ही सब है ॥ १६ ॥

(नेपथ्ये)

भनवन् । आपने ऊँच जानकिया । हमदीनों स्तुतिपाठक हो हैं । हमें कतेक
दिशामोंसे आनेवाके राजसमूहका कर्मा करनेके लिए मन्त्रप्राप्त जानकने आका हो है ।

वाहभ्यामन—महो । वह घुणाक्षर न्याय है, मैंने इन दो अमरीको बन्द करके जो
वचन कहा वह दो स्तुतिपाठकोंके प्रति बरित हुआ । हो काम । तत्कालीन वह भ्रमरदृष्टान्त
अपने सुबोको निवेदन करता हूँ । (कलन्दर सब बाहर निकलते हैं ।)

इति विष्कम्भकः

(ततः प्रविशति दम्बिद्वयम्)

एकः—अयस्य मल्लीरक्ष, परव परय । राजेन्द्रदत्तान्निगधशलाकासदृश-
निर्मितेषु मञ्चेष्वासीना इमे कुङ्कुमकृताङ्गरागा राजानोऽमलस्फटिकभा-
सावशिखरासङ्गिनः कनकसिंहा इव राजन्ते, जम्बुधतुग्धसागरलहरी-
शिखरावलम्बिनोऽभिनवोद्भूतकृमिराकरयिष्यप्रतिविम्बा इव शोभन्ते ।
(मञ्चस्त मल्लीरक्ष, पैकल पैकल । गङ्ग-वसन-दिपिङ्ग-सजायासदृशविम्विदेष्टु
मञ्चपद्म आसीना इमे कुङ्कुमकृताङ्गरागा राजानो भ्रमसकविप्रपासासिद्धरासङ्गिनो

विष्कम्भकः ॥ एतत्कृष्णमुखां सावित्र्यदर्पणे यथा—

‘दृक्कवतिष्यमाणानां कथाऽशास्त्रां निर्द्वन्द्वम् ।

संविस्तार्यस्तु दिशस्तत्र भाषावृक्षस्य र्वाकः ॥

मथैव सम्प्रसादः वा पञ्चाङ्गो न प्रवीक्षितः ॥

इति । स्वायं, स तु संक्षीर्णो भीष्मसम्प्रदायकविपत्ता ॥ इति ।

तथा चाभ्यस्य विष्कम्भकस्य मथप्रमपात्रप्रयोजितसंश्लेषमयवाङ्मुह्यत्वं ज्ञेयम् ।
अस्याञ्जराञ्जलकला ध्विपवेषासूचनाऽर्धमवसेयः ।

एक इति । अयस्य = समस्यरक्ष, यमसा सुखो यमस्वरसासङ्गुजो, ‘जीवनोर्ध्वो’
स्वादिना यम् । ‘अयस्यः रिमधः सयवा’ इत्यमरः । राजेन्द्रदत्तान्निगधशलाकाका-
मदृशनिर्मितेषु = राजेन्द्रादौ (श्लेढ दस्तिना) ये वृक्षमाः (वृक्षाः), परदत्ता वृक्षमा
वृक्षा रक्षा इत्यमरः) तेषां शिखराः (शिखराः) वा शलाकाः, (शलाकाः)
वासां सदृशं (वशासती) तन्निर्मितेषु (तन्निर्मितेषु) । मञ्चेषु = पर्वतेषु । कुङ्कुम-
कृताङ्गरागाः = कुङ्कुमेव (कारमीरेण) कृताः (निर्दिताः) जम्बुधरा (जम्बुध-
रक्षेत्रम्) वैश्ये । अमलस्फटिकमासावशिखराऽऽसङ्गिनः = अमलाः (निर्मलाः) ये
स्फटिकाः (सितोपकाः) तन्निर्मितो यः प्रासादः (राजसदृशम्) तस्य शिखरम्
(अग्रभागः), तस्मिन् भासङ्गिनः संसार्युक्ता, आकृता इति भावः । कनकसिंहा
इव = सुवर्णकेशरिण इव । राजन्ते = शोभन्ते । राज्ञां कान्तिसाग्रेव कनकोपमा

इति विष्कम्भकः ।

(तत्र ही रघुतिपाठक प्रदेय करते हैं ।)

एक—मित्र मल्लीरक्ष ! देखो देखो । हाथियोंके पीठोंके चिकने हवारीं ठकड़ींसे बने
हुए भासनों पर बैठे हुए भीरु कितरसे भ्रममें छेड़ हिंदे हुए राक्षसगुरु, निर्मल स्फटिक
प्रासादके कर्णधारमें आकृष्ट सोनेके सिंहाके सदृश सीमित हो रहे हैं । धरम् प्रोक्त

फलमर्तिहा विभ्र रेहन्ति । अमुन्मदुदसाधरस्सहसिहसरावकम्बिनो अभिगन्तुमशक्त-
मितावरविम्बपक्षिभिश्च विभ्र सोहन्ति)

मञ्जीरकः—सखे नूपुरकः परय परय ।

स्वां स्वां दिशं धितवतां निवहेन राज्ञां

मञ्जावलीवलम्ब-भाकलितं विभ्राति ।

सीतास्ययंयर-पिलोकन-कीदुकेन

पुञ्जीकृताऽऽकृतिं दिशामिष चक्रवालम् ॥ २७ ॥

परावससाभ्येन सिंहोपमा मोक्षया । अमुन्मदुदसाधरस्सहसिहसरावकम्बिनो अभिगन्तुमशक्त-
मितावरविम्बपक्षिभिश्च विभ्र सोहन्ति)
मञ्जीरकः (मीरः) को कुम्भसमरः (कीरसमुद्रः) तस्य मञ्जीरः (मञ्जावलीवला)
शिकराणि (कर्णभाराणां) अकलम्बते (भाग्यवन्ते) तन्मूर्तिः । अभिगन्तु-
मशक्ताकामप्रतिविम्बाः = अभिगन्तुमशक्ताः । (मृतकोदितस्य) मितवरविम्बस्य
(अमृतमण्डपस्य) प्रतिविम्बा इव (प्रतिमा इव, 'प्रतिमानं प्रतिविम्बं प्रतिमा
प्रतिपातना प्रतिपक्षाय । प्रतिपक्षित्वां पुंसि प्रतिनिधिः' इत्यमरः)

मञ्जीरको मञ्जावली वर्णयति—स्वां स्वांमिति ।

स्वां स्वां दिशं धितवतां राज्ञां निवहेन भाकलितं मञ्जावलीवलम्बं सीतास्य-
यन्मरविचोकनकीदुकेन पुञ्जीकृताऽऽकृतिं दिशामिष चक्रवालम् ॥

स्वां स्वां = स्वकीयां स्वकीयां, वीर्याणां वृत्तिः । आभीष्टत्वेन निवतामिति
भावः । दिशं = प्राप्यविकाशमित्यर्थः । धितवतां = सेवितवतां, राज्ञां = मूर्पाकानां,
निवहेन = समुत्तेन, भाकलितं = रक्षीकृतं, मञ्जावलीवलम्बं = पर्यङ्गपङ्क्तिमण्डकं, सीता-
स्ययन्मरविचोकनकीदुकेन = सीतायाः (ज्ञानयमः) स्वयम्बरस्य (पराभ्येक-
प्रीतवस्य) पङ्क्तिकोक्तं (दर्शनम्) तस्मिन् कीदुकेन (कुट्टकेन) । पुञ्जी-
कृताऽऽकृतिः = पुञ्जीकृता (समुद्गीकृता) भाकृतिः (भाकारः) यस्य सः ।
चक्रवालं—विभ्रां चक्रवालमिव = भाववादिभावाभां मण्डकमिव, विभ्राति = लोभते ।
सचस्ववाकिमवेसादिसं सेवितवतां राज्ञां समुद्देशाऽधिकृतं मञ्जपङ्क्तिमण्डकं सीता-

कीरसमुद्रके महाद्वारोंके कर्णभाराणां भाग्य करमेवाके बचोदित अमृतमण्डपके प्रतिविम्बों
के समुद्र सोमा वा रहे हैं ।

मञ्जीरक—मित्र नूपुरक ! देखो देखो ।

अपनी अपनी दिशाको भाग्य करमेवाके राजाओंके समूहसे सीताका मण्डपमण्ड,
सीताके स्वयंवरस्थल देखनेके कीदुकसे बड़ा दुना दिक्कसुवायके समुद्र सोवित हो
रहा है ॥ २७ ॥

अपि च—

नरकस्य मरकतामयप्रसूतामलम्—

विपदसमप्राप्ताकामश्वाश्लिष्यति ।

मिथुरमधनचापापरोपणोत्कण्ठिताना—

मतिरभसयती च भवभूतां चित्तवृत्तिः ॥ २५ ॥

मिथुरमधः—इत्यस्य मञ्जीरक, कोऽयं सीताकरमह्यासनावसम्भूतस्मी-
वितसत्पुलकमुकुलवाक्त्रमपि च निजमुजसहकारराशिपुगलं विलोकयन्ति-

स्वमयस्वद्वयं ननु गृहेनेकत्राऽपि विधत्ते विधम्भकमिव चोभत इति भावः । तथा
चाश्लोभेचाश्लुहारः । कस्यस्तितिकर्कं वृत्तम् ॥ २५ ॥

भूयोऽपि मल्लवृत्तिवर्णनं विदधति—नरतीति । इयं नरकस्य मरकतामयप्रसूताम-
लमिव विपदसमप्राप्ताकामश्वाश्लिष्यति मिथुरमधनचापापरोपणोत्कण्ठितानां चमा-
भूताम् मतिरभसयती चित्तवृत्तिरिव नरतीत्यर्थः ।

इयं = सचिद्वृत्तिविधत्ता, नरकस्य मरकतामयप्रसूतामलम्—नरकाणां (राजपुत्राणां) कराग्रेषु
(हस्ताग्रेषु) स्वस्मै न्यासकं, स्वस्मी न्यासकं भाकुलं 'हृदयमरः' यद् पूर्व (रक्तं)
तस्य अग्रे (अग्रभागे) कम्पा (सम्पत्ता) च विधानां (इतिनाम्) दक्षता । (दस्ता)
तेनैव मरकाकामिनिर्मिता वा मल्लकपा वा पाञ्चाजिका (पुञ्जिका) । मिथुरमधन-
चापाऽपरोपणोत्कण्ठितानां = मिथुरमधनस्य (चित्तस्य) यथापा (भद्रः) तस्य
आरोपणे (उपक्रमे) उत्कण्ठितानाम् (अभ्युत्थानाम्) । चमाभूतां राज्ञी, चर-
तितीति चमाभूतस्तेषां 'किप् वेति किप्प्रयय' इत्यस्य चिति कृति तुक् इति
तुक् । मतिरभसयती = भवितव्यवेगवती, 'भवसो हर्षवेगयो रिति विरचः । चित्त-
वृत्तिरिव मल्लः कणवृत्तिरिव, नरति = मृत्युति, 'नर वृत्ति' इति धातोर्कट् । काष्ठ-
सर्षी पाञ्चाजिकेव यथा मल्लकपा पाञ्चाजिकेवपि नास्ते तस्यैव इत्यपापरोपणोत्क-
ण्ठता राज्ञे चित्तवृत्तिरिव भवतीति भावः । अयं पूर्वार्थे मञ्जी पाञ्चाजिकपरोपाङ्ग-
मुत्तरार्थे चोपमाश्लुहारस्य वा च प्रदीपज्ञाऽङ्गिभावेन सङ्गरः । मातिनीवृत्तम् ॥ २६ ॥

मिथुरमधः इति । सीताकरमह्यासनावसम्भूतस्मीवितसत्पुलकमुकुलवाक्त्रमपि च-

भोर मी—राजपुत्राणां कराग्रेषु न्यासकं रक्तमुक्तं अग्रभागे कम्पज्ज्वालो वर्तमाने
निर्मित मल्लकपे कटपुतकिर्णं, महादेवके वल्लुको कठानेकेष्वेव कलपित्त राजासौ की-
र्तिवत् केमाजी चित्तवृत्तिकी तरह मृत्यु कर रही है ॥ २६ ॥

मिथुरमधः—मित्र मञ्जीरक । यद् यौन सीताके पाणिप्रक्षालन की कंकसाक्य वसन्तहीमासे

सति ? (बचस्व मञ्जीरक, को इसो कोटाकरगहवासननवसन्तकृष्णविलसन्तजुल-
कमुलसमालम्बितं गिरानुमसहभारताहिमुमलं पुलोकतो विदूषि ?)

मञ्जीरकः—स एव निजयशःपरिमलप्रसोदितचारणचञ्चरीकचयको-
जाहलमुखरितदिकृचकयाखरभापाखतुन्तलाखहारी मञ्जिषपीको नाम ।

नृपूरकः—अयं पुनः कतमो यः किल दूरापसारितकटकप्रकटितधनु-
गुणकर्षणकिणतोस्त्रामयङ्गले भुजङ्गएके विलोकयेद्विदुःसति ? (एको त्वय को
को किल दूरापसारितकटकप्रकटितधनुगुणकिणकटकलेहामण्डले भुजङ्गएके पुलो-
कःसौ विदूषि ?)

सौम्याः (जावक्या) कटप्रहः (पाणिप्रहणम्) तस्मिन् वा वासना (जावका)
सौम कसन्तकचमी (सुरभिषोका) तथा ये पुष्पाः (रोमाञ्चा) एव सुकुलः
(कुलम्बका) तैर्वा जाके (समूह) तेन मण्डितम् (अलङ्कृतम्) । निजधुवसह-
कारसाधियुगलं = निजधुवौ (आत्मबाहु) एव यौ सहकारपाणिनी (भवितौ-
भाङ्गकचकी) तयोर्दुर्गलं (युगलम्) विकोकम्ब = वरम्ब ।

मञ्जीरक इति । निजयशः परिमलप्रसोदिः = निजयशः (स्वकीर्तिः) एव परि-
भक्तः (सुरम्ब) तेन प्रसोदितः (इर्वितः) ये वासना (वसोगावनाः) एव
चञ्चरीकाः (अमराः) तैर्वा चयः (समूह) तस्य वा कोटादक (कटकका) तेन
सुन्दरितं (लब्ध्वापमानम्) दिग्बकवाकं (दिशाम्बकम्) येन सा, तावता
जमापाकागो (भूमिपाकागो, राजामित्तर्वा) कुलकाङ्गला (केकम्बकम्बलः,
बहु कुलकरम्ब = कुलकद्वैतसंघोषार्थः) । मणिककापीको नाम = नाम्ना मणिकवा-
पीक इत्यर्थः ।

नृपूरक इति । दूरापसारितकटकप्रकटितधनुगुणकर्षणकिणतोस्त्रामयङ्गले = दूरम्
(विपकुलम्) अपसारितं (मत्तिसारितम्) यद् कटकं (बक्यं, यकोट्ठाङ्गलप-
णितेका, लावापकाः पारिद्वर्वा कटको बलधोऽस्त्रियाध् । इत्यमरा) तेन मण्डितः
(प्रकाशितः) यो धनुर्गुणाकर्षणकिणः (आपमौर्वाकर्षणकुलाः मांसमण्डिः) ए

सौमप्रकय सुकुलंके समूहते अलङ्कृत सहकारवृद्धोके रहस्य मयने को बाहुमोको देहः
रहा है ?

मञ्जीरक—अपने चञ्चरीक सुगन्धते वर्धित चारणरूप अमरोंके कोटादकसे दिशः-
मण्डलको सुन्दरित करनेवाला और राजाओंके कैशधृगणसदृश है मणिककापीक नामके
राजा हैं ।

नृपूरक—यह कौन है ? जो कि रहस्यके दूर दूरानेसे प्राप्तवा चोपमैके माने
अन्धिकर देखामण्डलको प्रकाशित कर अपने बाहुदम्बको देता रहा है ।

मञ्जीरकः—सोऽयं कुबेरविगङ्गनाललाटतटविलासलम्पटः काश्मीर-
तिलकः ।

नृपुत्रकः—अयं पुनः को निजप्रतापदिनकरोद्गमपूर्वगिरिशिखरसहचरं
दक्षिणभुजदण्डमुन्नमय्य वर्तते ? (एनो उग को गिष्यपकादक्षिणचरुगमपुण्य-
गिरिशिखरसहचरं दक्षिणभुजदण्डमुन्नमय्य वहि !)

मञ्जीरकः—स एव निजप्रतापप्रभापटलपिञ्जरितमहायाचलनितम्भ-
तटः काञ्चीमण्डनो धीरमाणिक्यनामा नृपतिः ।

नृपुत्रकः—कोऽयं हर्षोल्लासपुलकपिसंश्रुताकपोलस्थलचलितकुट्टकज-

एव कैलासगङ्ग (रेखागङ्गकल्प) धर्मिस्तमितम् । एतादृशो भुजदण्डो = बाहुदण्डः ।
मञ्जीरक इति । कुबेरविगङ्गनाललाटतटविलासलम्पटः = कुबेरस्य (पञ्चरात्रस्य)
मिष् (विभा, उन्नीचीति भावः) सैव वाङ्मया (काश्मिनी) तस्या ललाटतटे
(आलकलङ्क, पद्मभूतिरिति भावः) तस्य विलासलम्पटा (उपसीताऽभ्यासा)
कचरविगङ्गविधातदेवाऽधीश्वर इति भावः ।

नृपुत्रक इति । निजप्रतापदिनकरोद्गमपूर्वगिरिशिखरसहचरं = निजप्रतापः (स्व-
प्रतापः) एव दिनकरः (सूर्यः) तस्योद्गमस्य (उद्गमस्य) हेतुभूत इति वीथः । वा
पूर्वगिरि (पूर्वपर्वतः, उद्गमऽवक इति भावः) तस्य शिखरं (शिखरम्) तस्य
सहचरम् (सहायम्) उक्तमप्य = अर्थः कृत्वा ।

मञ्जीरक इति । निजप्रतापप्रभापटलपिञ्जरितमहायाचलनितम्भतटः = निज-
प्रतापस्य (स्वप्रतापस्य) वा मया (कीर्तिः) चरणा पदके (समूहः) सैव
पिञ्जरितम् (पिञ्जरीकृतम्) मङ्गलाऽवकल्प (मङ्गलनामकपर्वतस्य) नितम्भतटम्
(सम्भ्रमताः) येन सा । काञ्चीमण्डनः = काञ्चियाः (काञ्चीनामकदेशस्य) मण्डनः
(मूलमण्डलः) ।

नृपुत्रक इति । हर्षोल्लासपुलकपिसंश्रुताकपोलस्थलचलितकुट्टकजसदकभिनेतमऽ-

मञ्जीरक—ये कुबेरान् कचरविलासलम्पटदरीके ललाटतट (पर्वतभूमि) के विलास
से लम्पट कापसीरतिलक-नामक राजा है ।

नृपुत्रक—वह कौन अपने प्रतापपूर्वके उद्गमके हेतुभूत उद्गमपर्वतकी शिखरीके सहचर
अर्थात् राक्षसे बाहुदण्डको उठा रहा है ?

मञ्जीरक—ये अपने प्रतापके प्रभापटलसे मङ्गलपर्वतकी मध्यभागकी रक्षित करके
पक्षे काञ्चीमण्डलके मङ्गलारकय धीरमाणिक्य नामक राजा है ।

नृपुत्रक—वह कौन हर्षसे प्रकट होवेवाले रोमाञ्चसे चञ्चल कपोलसे प्रचलित कुट्टक

संहरानिवेशनापदेशेन प्रकटितहररासनकर्णपूरमनोरमो राजते ? (को इसी हररासनांतपुलकमिसंहसकमोस्रपम्वलकुम्भमस्तारिसमिधेयगतवदेशेन पथविग्रह-
रसरासपकणकरमनोरहो रहेदि ?)

मञ्जीरकः—सोऽयमसमरणमहार्णवैकमफरो मत्स्यराजः ।

नृपूरकः—अयं पुनः कोऽमलमलयज्वरसधवलितभुजवृक्षविह्वलित-
भुजगराजभीः शिरीषकुसुमसुकुमारं माररिपुसारासनं कलयन् विरफुरति ?
(इसी उग को कलमकयज्वरसधवलितभुजवृक्षविह्वलितभुजगरासमितिरी शिरीष-
कुसुमसुकुमारं माररिपुसारासनं कल कयसो विरफुरति ?)

पद्मेन = दर्वेन (समोद्वेप) उलकजम् (उदराण्यम्) यः पुलकः (रोमाङ्कः) सैव
विलम्बकम् (अलिपरीकृतम्) यद् अपोलकजम् (गम्भिरकम्) तस्मिन् चकिले
(मयकिलम्) यत्कुम्भकम् (कर्णवेधनम्) तस्य सरो (उचितस्थाने) यद् भिदे-
शम् (चारणम्) तस्याप्यपद्मेन (व्याजेन) । प्रकटितहररासनकर्णपूरमनोरमः =
प्रकटितः (प्रकाशितः) हररासनम् (शिवकर्तृकम्) एव कर्णपूरः (शोभा-
भरणम्) सविद्यं मनोरमा (अलिकावः) वैत सः । कर्मुकं कर्मान्तराङ्गम्
कर्णपूरिकरोमीति लक्ष्मिनाम इति भावः ।

मञ्जीरक इति । असमरणमहार्णवैकमफरः = मलमा (अतुल्यः, अनुपम इत्यर्थः)
साक्षी को रणः (युद्धम्) स एव महार्णवः (महासागरः) तस्मिन् एकः (अहि-
सीधः) मकरः (माहः) । 'मकरो मिथो । मत्ते रात्रिमितेने के'ति हैमः । मत्स्य-
इत्यः = मत्स्यवेशाजधीश्वरः । मत्स्यवेशो विराटस्य राज्ञो राज्ञ्यमिति महाभारत-
मन्त्रीवर्ते । 'मन्त्री'ति प्रसिद्धः । मत्स्यपुरी तस्य राजधानी संज्ञायते । स च मत्स्य-
वेशः सागरतस्तु 'अक्षर' भाग्या प्रसिद्धो वर्तते ।

नृपूरक इति । अमलमलयज्वरसधवलितभुजवृक्षविह्वलितभुजगराजभीः =
अमलः (विरलः) यो मलयज्वरसः (चन्दनम्) तेन चकिली (दृढकीकृती)

को चकित रथानमें रक्षितके महाभेदे किमधुको कर्णपूरन वनाभेदे मन्जीरकको मकाशिन
कर रहा है !

मञ्जीरक—ये चतुर्पमपुलकम महासमुद्रके एकमात्र प्रादत्यकर मत्स्यराज है ।

नृपूरक—भिदेक चन्दनरससे सजेर किसे गले बाधुदण्डोसे सेवनागधी शोभाके
अनुकरण करनेवाला यह भीन शिवभुजको शिरीषपुष्पके लक्ष्य सुकुमार समकता हुआ
शोभित हो रहा है !

मञ्जोरकाः—स एव विमलमुक्तावलीविराजमानवक्षस्तदनुक्तमुज्जरत्नः
सिन्धुराजः । तवत्तमनेन प्रकृतं तावदुपक्रमाद्दे । (परिश्रम्य तथैः)
अहो राजानः, आकर्णयताकर्णयत ।

आकर्णयन्तं सिन्धुरमधनोद्वन्द्वकोद्वन्द्वनद्या

मौर्वीमुर्वीवल्लयतिष्ठकः कोऽपि यः कार्यसीद ।

मौर्वीमुर्वी (वाहुवर्ण्य) तावत् विदम्बिता (अनुकृता) भुजगराजस्य (सर्व-
राजस्य, लोकस्वैत्यर्थः) श्रीः (सोमा) येन सा । सारिपुकरासनं = मारस्य
(कामस्य) सिन्धोः (तप्तोः, सिन्धुस्वैत्यर्थः), सारासनं (भद्रः, सारा जस्यन्तोऽनेनेति
‘कारणाऽधिकरणयोश्चेति कर्णौ बहुवृत्तः) तत् । सिरीपकुसुममुकुमारं = सिरीपकुसु-
मोदकं, ककुम्भम् = विचारयन्, स्वपुत्रवाञ्छातिशयेनेति शेषः ।

मञ्जोरक इति । विमलमुक्तावलीविराजमानवक्षस्तदनुक्तमुज्जरत्नः = विमला
(निर्मला) वा मुक्तावली (मोक्तिकमाळा) तया विराजमानं (सोभमानम्)
वक्षस्तदम् (वरः स्वकम्) वक्ष्ये सा, एवं च—तुङ्गः (उन्नतः) भुजः (बाहुः)
एव तरङ्गः (भङ्गः) वक्ष्ये सा । सिन्धुराजः = सिन्धुदेवाऽधीश्वरः, ‘देवो नक्षत्रि-
वैऽहो सिन्धुर्मा, सरिति सिन्धुम् ।’ इत्यमरः । अत्र मञ्जोरकोऽपि सर्वत्र विशेष-
णानि नास्तीत्यर्थानि हेतवः । अनेनाऽहं कृतं राजवर्णनेन, सार्यं नाभ्यस्तीति भावः ।
प्रकृतं = प्रसन्नोपात्तं, तवत्तममिति शेषः । उपक्रमाद्दे = आरम्भाद्दे, ‘मोपाऽर्था
कर्मणाभ्याम्’ इत्यादिभेदवत् ।

लज्जकप्रतिष्ठा शोचयति—आकर्णयन्मिति ।

इह यः कोऽपि सर्वविकल्पविकल्पकसिन्धुरमधनोद्वन्द्वकोद्वन्द्वनद्या मौर्वीमाकर्णयन्तं
करोति । तस्य परितस्तमुक्रमाद्यान्ती कूत्रकाञ्चीमुज्जरमङ्गना राजपुत्री ओजसेषोऽस्यैव
अविधीत्यन्वयः ।

इह = मस्यां राजपुत्री, यः, कोऽपि = लज्जितनामशेषः, सर्वविकल्पविकल्पकः =
भूतदृष्टमण्डनः, कीदृशः । सिन्धुरमधनोद्वन्द्वकोद्वन्द्वनद्या = सिन्धुरमधनस्य (सहरस्य)
उद्वन्द्वः (भीतिजनकः) यः कोद्वन्द्वः (अनुः) वस्त्रिकद्वयम् (वक्ष्यम्) । तादृशी
मौर्वी = त्वया । ‘मौर्वीत्यादिनिषी गुण’ इत्यमरः । आकर्णयन्तं = कर्णवैशारद्येन,

मञ्जोरक—ये निर्विक मुक्तामालासि विराजमाना वक्षस्तद्वत्ते मुक्ता भीरु वज्रत वाहुतरङ्ग-
सि मौर्विव सिन्धुराज इ । वक्ष, मध नक्षिक राजवर्णनसे प्रयोधन नदी, प्रस्तुत विषयस्य
आत्म्य करे । (वृषकर र्द्धे स्वरसे) हे राजाभो । इतिवे सुनिवे ।

इत एवमनरमे को कीर्त मो राजा महादेवतोके मोक्तिजनक यजुर्वे इह प्रत्यक्षाको कान
वक्ष कीर्त्तना । वक्षो निरुत्तमनिर्मे नारी कुरे उन्मयमान काञ्चीसि मुक्तर कटिपुरोमान

तस्यऽऽयातो परितरमुषं राजकुमो भविषी
कृञ्जकाराश्रीमुत्तरजघना शोचनेनोत्सवाय ॥ २६ ॥

(पुनः एकं कुम्भं) सखे, हरयतामसी—

कामादिकामुं कथिकर्षणकौतुकोर्मि-
रोमाश्रितक्षिगुणपीषत्पादुवन्हा ।
सीताकरमहमिक्षाकुतुकातिमात्र-

कर्षति = आकर्षति । तस्य = हरकामुं कर्षणकस्य वीरस्य, परितरमुषं = पर्यन्त
मुषं, समीपमिति धातुः । कायाश्री = आगच्छन्ती, भागमनकाके च = कृञ्जकारा-
श्रीमुत्तरजघना = कृञ्जारी (तम् कुर्वती) या काशी (मेखका) तथा मुत्तरं (जम्भा-
पमानम् कथनं (कश्चिपुरोभावाः) वर्याः सा साक्षी राजकुमारी = राजकुमारी-
सीतेति भावः । शोचनेनोत्सवाय = कोटयोः (कर्णयोः) मेखयोः (वयनयोः)
कृञ्जकार (कृञ्ज, कृञ्जवनापेति भावः), भविषी = भविषी, भविष्यतीति
भावः । राजकुमारी तस्य वीरवरस्य समीपगमनेन तेजयोस्तद्वानमनकाके काशी-
सखेन च शोचयोः हर्षोत्सवानय भविष्यतीति तात्पर्यम् । अथ विलोकनस्य
साधिमिमांसात्परिकराऽङ्कहारः । स यथा चन्द्राकोकेऽनेनैव जगदेवम् इति—

‘अङ्कहारः परिकरः साधिमिमांसे विरोचने ।

कुञ्जऽङ्ककितोत्तरतापे हस्तु चः सिवाः ॥’ इति । मन्त्राकाश्यादृश्यम् ॥ २७ ॥

कामादिकामुं केति । कामादिकामुं कथिकर्षणकौतुकोर्मिरोमाश्रितक्षिगुणपीषत्पादु-
वन्हा । सीताकरमहमिक्षाकुतुकातिमात्रमितीर्षमाणद्वया भवेत्तः परितः (सन्निधि
शेषः) इत्यन्वयः ।

असी = पुनः, कामादिकामुं केति = कामादिकामुं = (सिवाय) पादुवन्हा (वन्हा)
तस्य कथिकर्षणम् (आकर्षणम्) तस्मिन् पादुवन्हा (कुञ्जकुम्भं), तस्य कर्मि
(वर्यः), तेन रोमाश्रित (सञ्जालोमकण्ठकी) क्षिगुणपीषी (क्षिगुणमांसकौ,
अस्मादाऽतिशयेनेति शेषः) पादुवन्ही (गुणवन्ही) शेषं ते । पुनः सीताकरमहे-
त्यादिः = सीतापात्रा (जानन्याः) यः करग्रहः (पानिग्रहणम्) तस्मिन् सिकम्
(संगच्छन्) यत् कुम्भं (कुञ्जकुम्भं) तेनाऽतिमात्रम् (अत्यर्थं यथा स्वाद्यम्)

वासी राजकुमारी सीता, तस्यै कान् नीर मेखोके कृञ्जकारे किं ही जायसी ॥ २७ ॥

(किं शोचकं साय) मित्र । देखो, ये—

महादेवजीके वन्हाई क्षिपनेन कौतुककी तरङ्गते रोमाश्रित नीर क्षिगुण गुण पादुवन्हा
शोभित नीर सीताजीके पानिग्रहणने सम्यक् कुञ्जकुम्भे आनन्य प्रकृत हरवन्हा राज-

विस्तीर्यमाणहृदया। परितो नरेन्द्राः ॥ ३० ॥

(पुनः सर्वम्) अये ! कथमुत्थलितमेव समसमपसञ्चरणमित्तत्कपो-
क्तसंज्ञासमसुधारणान्मणिपुण्ड्रलेन राजमण्डलेन ।

नूपुरकः—विशोक्य विशोक्य, एषामन्योन्यसङ्घट्टमानकेयूरसमुच्चल-
त्कनककणमिषेण प्रतापाम्नेर्विस्फुल्लिता इव हर्यन्ते । (पुलोमेहि प्रलोभेहि,
इत्यर्थं आणोष्णसङ्घट्टनकेयूरसमुच्चलन्तकनककणमिषेण यथादाग्निनी विस्फुल्लिता
विष दीप्तति)

मञ्जीरका—(विहस्य)

विस्तीर्यमाणे (जायमानविस्तारं, प्रपुञ्जमिति भावः) इत्यर्थं (विचक्ष) देवं ते ।
साक्षात् नरेन्द्राः (राजानाः) परितः=सर्वतः, रक्तकाकामिति शेषः । मन्तीति
मित्रावहाऽभ्याहारः । वस्तुस्तत्तत्कं वृत्तम् ॥ ३० ॥

पुनरिति । समसमपसञ्चरणमित्तत्कपोक्तसंज्ञासमसुधारणान्मणिपुण्ड्रलेन =
समसमर्थं (तुल्यकारकं यथा तथा) यद् सञ्चरणं (संचलनं-प्रवृत्ताकर्तव्यमिति
भावः) तेन मिश्रितं (संगम्यमिश्रितं) यानि कपोलतत्त्वानि (गणदण्डकाणि) तेषां
वा संघट्टः (मिथोघर्षणम्) तेन मण्डलं (समुच्चलम्) यथा तथा एण्डितं (सञ्चल-
यमानम्) मणिपुण्ड्रकाणि (रत्नकचित्तकर्णवैहङ्गानि) यस्य तत्, तेन । राजमण्ड-
लेन=राजसमुद्गेन ।

नूपुरक इति । पूर्वा=राज्ञात् । अन्योन्यसङ्घट्टमानकेयूरसमुच्चलत्कनककणमि-
षेण=अन्योन्यं (परस्परम्) संघट्टमानानि (जायमानवर्षणानि) यानि केयूरानि
(करभूषणानि) तेषां समुच्चलन्तः (समुन्नम्यन्तः) ये कनककणाः (सुकर्णकमाः)
तेषामिषेण (क्लेशेन) । कैतवाऽप्युक्तिः । यथावाऽग्नेः=प्रतापाऽनकस्य, राजासिति
शेषः । विस्फुल्लिताः इव=कणा इव । उद्येवाऽभ्याहारः ।

वर्गं रक्तकाकाके चारों ओर मौजूद हैं ॥ ३० ॥

(फिर सर्वको ध्यान) करें । कैसे एक ही बार बहुत सी चीजोंके किन्हीं चीजोंके
कभीकभी ठोकरसे चक्कर मारतेबाके मणिपुण्ड्रकोसे पुनः राजसमूह चक्र पड़े ।

नूपुरक—दौड़ो दौड़ो । इनके परस्पर टक्कर खाते हुए बाजूबजूतोंसे निकले हुए सीनेके
टुकड़ोंके बहाते कैसे कि राजाके प्रतापाऽनकसे निज-पारिषों दौड़ो ॥ रही हैं ।

मञ्जीरक—(बँसकर)

पश्य पश्य सुभटैः स्फुटभावं भक्तिरेव गमिता न तु शक्तिः ।

अशक्तिर्विरचितो न तु मुष्टिमौलिरिव नमितो न ॥ अथा ॥ ३१ ॥

नूपुरकः—कथमारम्भरमणीय एव एषां संरम्भः । (एवं चारम्भर-
पिण्डी जेव इमानं संरम्भः)

मञ्जीरक—(सविवाहम्)

आङ्गीपात् परतोऽप्यमी सुपत्नयः सर्वे समम्भाराताः ।

वीरानां बहुवचनव्यथासंगतत्वाद्—पश्य पश्येति ।

सुभटैर्भक्तिरेव स्फुटभावं गमिता शक्तिस्तु न । अशक्तिः विरचितो मुष्टितु न ।
भीतिरेव नमिता, चापस्तु न । पश्य पश्येत्त्वम्भरा ।

सुभटैः = वीरयोधैः, भक्तिरेव = अनुसन्धितेव, साङ्गरकार्मुक इति शेषः । स्फुट
भावं = प्राकारवं-गमिता = गमिता, शक्तिस्तु = सामर्थ्यं तु, न = स्फुटभावं न गमि-
तेत्यर्थः । तथा अशक्तिः = प्रणामपुत्रा, विरचितः = कृतः, मुष्टितु = अनुसन्धितं
तु, न = न विरचितः । तथा च—भीतिरेव मस्तक एव, स्वरूपेति शेषः । नमिता =
कञ्चीकृता, अनुसन्धितं सामर्थ्यभावाद्भावेति भावः । चापस्तु = कार्मुकं तु, न = न
नमितः । पश्य पश्य = अशक्तिकमः उपलोक्य, संरम्भे द्विर्यदिः । आरम्भः अर्थः कर्म ।

अथ शिवासाध्या परिस्फुराः । परिस्फुराकचने शोभाहरणे चम्पाकीके तथा—

‘परिस्फुरा शिवाध्याकचनेस्फुरास्तुपन्नजम् ।

स्फुरास्तुपन्नजम्, स्वागतेषु न अतनुवाय ॥’ इति ।

स्वागतावृत्ते, तत्कचने एव—‘स्वागतेषु स्फुरास्तुपन्नजम् ॥’ इति ॥ ३१ ॥

नूपुरक इति । एषां = वीरशुभजायम् । संरम्भः = कलाहः आरम्भरमणीयः =
कलकलमनोहरः, निष्कलसमाप्तिरिति यावत् ।

आङ्गीपादिति । परतोऽपि द्विपाद् वा तमी सर्वे सुपत्नयः समम्भाराताः । इत्थं
कम्पा कलवीतकीमकचनः । कीर्तिस्य कम्पारवत् । केनापि इत्थं चतुः न आङ्गीके,

वीर वीरानामे विवचनान् भक्ति इति न्यक्त की, शक्ति नहीं । अशक्ति इति वीरों, अनु
भीतिरेके विव मुष्टी नहीं; और याथा इति सुभटा अनु नहीं । देखो देखो ॥ ३१ ॥

नूपुरक—किस तरह इन वीर पुरुषोंका संरम्भ आरम्भमें ही छन्द हुआ (समाप्तिमें
नहीं) ।

मञ्जीरक—(विवाहके समय)

अनुसन्धिते भी इत देखनामते ये सब राज्य भीष जाने हुए हैं । यह कम्पा सुर्णके

कथ्येयं कलघौतकोमलदन्तिः, कीर्तिश्च सामास्यम् ?
नाकृतं, न च दातृत्वं, न नमितं स्वानाथ न त्याजितं
केनापीदमहो धनुः किमधुना निर्वाणमुर्वीतसम् ॥ ३२ ॥

(नेपथ्ये)

आः, कोऽयमलीकवैतालिको धनुर्मात्रकेऽपि नमयितव्ये निर्वाणमुर्वी-
तसमुपविशति ? ।

न च दातृत्वं, न नमितं स्वानाथ न त्याजितम् । अहो ! अधुना सर्वोद्वेगं किं निर्वा-
णम् ? इत्यन्वयः ।

पयसोऽपि = परस्मादपि, कम्बुह्रीपमिति शेषः । ह्रीपात् = दैवभागात्, आ =
कातरम् ? अथाह्वयद्वयं सर्पादायाम् 'आह् सर्पादायचमे' इति कर्मनचचमीयत्वं,
तद्योये ह्रीपसम्भात् 'वज्रमपाह्वरिषि'रिति पञ्चमी । अमी = धृते, तत्रैकविध-
कृतत्वाद्वा । कथ्येयं परामर्शः । । सर्वे = भक्तकाः, नृपतयः = राजानाः, समस्तजातयः =
समाजातयः । इयं = अग्निहोत्रस्या, आह्वयः = कुमारी, यीतेति भावः । कलघौतकोम-
लदन्तिः = सुवर्णमयदुलभमिति, कलघौतमिव कोमला दन्तिर्वन्ध्याः सा । 'कलघौतं
रीज्यहेतो'रिति दमस्तः । तिवचमुद्वेगममेव न केवलं कथाकाथा, अपि तु — कीर्तिश्च
नक्षत्र, कात्यायनम् = प्राप्तिविषय इत्यर्थः । तथाऽपि केनाऽपि = कीरेण, इयं = सवि-
कृतत्वं, धनुः = कार्युक्तं तिवस्येति शेषः । नाऽऽह्वयं = मोक्षदायितं, आकर्षणस्य का
कथा — न च दातृत्वं = स्तोत्रकार्यमेनाऽपि न सम्भावितम् । एवं च — न नमितं =
नाऽयमलीकृतम् । किं ननुना — दधानाथ = नवकाजाथ, न त्याजितं = न त्याजितम् ।
अहो = आश्चर्यम्, 'अहो ह्रीं च किमपि' इत्यमरः । अधुना = अस्मदिति, उर्वीतकं =
भूतकं, किं निर्वाणं = किं वीररहितं = जातमिति शेषः । अजोपमाऽह्वयः । कार्युक्त-
विकीकृतं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

नेपथ्य इति । अलीकवैतालिका = मिथ्यावैतालिका ।

नमयितव्ये = नामनीये ।

सहस्र कामिनाली है । यह भी प्राप्ति का विषय है । किसीने भी इस धनुषी नहीं कहा-
कुल वंशधर शब्द एक प्रकट नहीं किया । नहीं हुआया । अधिक क्या ? तबसे भी
मही इत्यादि । नारायण है, इस समय भूतक क्या वीररूप ही गया ? ॥ ३२ ॥

(नेपथ्ये)

अरे ! यह कीत बूत देवदत्त केवल धनुषी हुकलेके दिने भी भूतक वीररूप है
ऐसा कह रहा है ।

नृपुत्रकः—वयस्य, कस्याऽयं महीतलचलद्राहुरधरवर्कः कथं-
ध्वनिः श्रूयते । (वयस्य, यस्त इमौ महीतलचलन्तराहुरधरवर्कः कस्याऽयं
श्रुती भवि ।)

मखोरकः—अयाऽप्ययमपरिचितः । तदेनं पृच्छामि तावत् । (परि-
क्रम्य) अहो, कः कलु भवान्यः सकलवेदादर्शिनो ममाऽपि न विख्यातः ?
(प्रविश्य)

पुरुषः—(सादोपं परिक्रम्य) (सखीभम्) छाः पाप, बैतासिधरपत्तव,
कतिपयमामटिकापर्यटनदुर्विदग्ध, कथं मामपि वरा—(इत्यधीकते स्वग-
तम्) कथं संपरणीयं विपरितुमुपश्रान्तोऽस्मि भवतु । इदमेव तावन्निर्वा-
ह्यामि । कथं मामपि वरादिगुणिलसिनीकर्णपूरीकृतकीर्तिपद्मं विमुच्य-

**नृपुत्रक इति । महीतलचलद्राहुरधरवर्कः = महीतलके (धृतके) चक्र-
(राक्षस) एव राहुरधः (संहिकेयस्थानः) तस्य यो वरः (वरः) एव
कर्कषा (कठोर, कर्णोद्भोजक इति भावः) ।**

**पुरुष इति 'साऽप्ययम' = तदर्थम् । बैतासिधरपत्तव = बैतासिधरीच । कति-
पयमामटिकापर्यटनदुर्विदग्ध = कतिपयः (अपरसंख्या) एव ग्रामटिकाः (पुत्र-
ग्रामाः) तावत् पर्यटनं (भ्रमणम्) तेन दुर्विदग्ध = दुर्निष्ठः, निष्ठुः पश्येति भावः ।
संपरणीयं = सोपनीयं, एककण्ठोपाकरणं भवानेति भावः । विपरितुम् = विपर्य-
स्तुम्, प्रकटापिदुमिति भावः । उपकामः = उपलोपकः । निर्वाह्यामि = निर्वाह-
करोमि, प्रमादादुपलुप्तं प्रकाराभ्यन्तरेण प्रतिपद्यामीति भावः । वल्लिभिकासिनी
कर्णपूरीकृतकीर्तिपद्मम् = वरः (वल्लभकम्) विसः (विद्याः) एव विद्यासिन्धुः**

**नृपुत्रक—मित्र । श्रुती पर जगते हुए राहुरधके जगदके सइस कठोर वर किछको
जगदध्वनि सुनी जा रही है ।**

**मखोरक—मै भी इसे बहुत बहनापता है । इसविषय वरसे पूछता हूँ । (धूमकर)
अहो ! नाम खीब है ! किसे कि तब वेदको देखनेवाला मैं भी नहीं जानता हूँ ।**

(प्रवेशकर)

**पुरुष—(दर्पके साथ परिक्रमण कर) (सीधे छात्र) जाः पापि । जयम वेदाधिकः !
जुझ खोटे गावोंमें धूमकर ही अपनेको मनीष ग्रामने जाके । कैसे तुझ वर—(पैदा जाया
ही कहने पर, मर ही मर) कैसे जिवनि योग्य विवशही प्रकाश कर रहा हूँ । अच्छा ।
इसी बचनका निर्वाह करता हूँ । किस प्रकार दशविषयान्वरियोने भिषके कीटिपदको
कर्णभूषण बनाया है (वर विद्याओंमें विद्याव) ऐसे त्रिमुदवदीर नामवाले तुझ**

वीरनामधेयं कूपमयूक इव सागरमविस्र्यातमपदिशसि । तत्कथय, क
तावत्कर्णान्तिकनिशम्यशुणं कन्यारत्नं कार्मुकं च ।

मञ्जीरकः—इदं तावत्कार्मुकम्, कन्या तु धरमं लोचनपद्मसदृश-
रिप्यति ।

पुरुषः—(सतंजम्) बिहू मूर्ख, कबं रे, राशिनक्षत्रपाठकर्ता गोष्ठी
न हटवानसि तैऽपि कन्यामेव प्रथमं प्रकटयन्ति, धरमं वतुः ।

मञ्जीरकः—(स्वगतम्) कथमयं वाचाटवां प्रकटयति । भवतु ।

(विजयनलीका ककनाः) राशिः कर्णपूरीकृतं (कर्माभरणीकृतम्) कीर्तिः (यथा)
एव पस्तकं (किमर्थम्) पश्य सा, तम् । त्रिभुवन्वीरनामधेयं = त्रिभुवने (को-
किले, स्वर्गमर्त्यपातालकल्प इति भावः) वीरः नामधेयं (नास) पश्य सा, तम् ।
कर्णाऽन्तिकविजयगुणं = परमिदं देहलीवीरनामधेयं इत्येवम् कन्यारत्नस्य कार्मुकस्य
च वीरपद्मं बोधयम् । कर्णान्तिके (भोजसमीपे) विजयः (भोजन्याः) गुणाः
(सीम्बर्मेहुरमरादिप्रायश्चित्तार्थम्) धरमं तद्विति कन्यारत्नपदे । कार्मुकपदे तु-
कर्णाऽन्तिके निवासः (भास्वरसमीपाऽनेया, यद्वा कन्या) गुणः (वीर्यं, यद्वा कथ-
नम् । वीर्यसम्पत्) पश्य तम् ।

मञ्जीरक इति । धरमं = धरमाय, इत्यनुबन्धसमासप्रत्ययमिति भावः । कोक-
पदे = नेत्रमार्गं, कोकपदोऽपि । कन्यारत्नम् 'अवतुल्यं यथासाधय' इति सप्तम्यान्तोऽन्त्य-
त्वम् । वाङ्मयप्रयोगोचरतामिति भावः ।

पुरुष इति । ससंरामे = समीपम् । रे इति अनादरोक्तौ । राशिवक्त्रपाठ-
कर्ता = ज्योतिषाणां विद्वानिति भावः । गोष्ठी = सभायु । तैऽपि = राशिवक्त्र-
पाठक्य अपि । कन्यामेव = राशिवक्त्रपाठो धरमराते । माय् कन्यामेव ।

मञ्जीरक इति । स्वगतम् = आत्मगतम्, स्वगतलक्षणे वधा साहित्यदर्पणे—

'अनाम्बं लज्जं पश्यतु सविह स्वगतं मलम् ।' इति ।

तद्वद्विषयं भी कूपमयूकके समानं गुणं अभ्यसितं कथं रंजं हो । इत्यदि वदामी, कानके
समीपं गमनीयं गुणवाची मेघ कन्या (सीता) वीर कानके समीपं आकर्षणीयं मलयका
माया भवतु, ये हो कर्ता है ?

मञ्जीरक—वतु यह है और कन्या तो भी मे नेत्रमार्गमें अवतीर्ण होगी ।

पुरुष—(वीरके साम) बिहू मूर्ख ! क्यों रे ! तुमने राशिनक्षत्रपाठको (ज्योतिषियों)
को समझा नहीं देखा है ! वे भी पहले कन्या को ही प्रकट करते हैं, पीछे वतुको ।

मञ्जीरक—(मन ■ मन) किस प्रकार यह अपनी वाचाटवाको प्रकट कर रहा है ।

अन्यैव तावदेनं निवारयामि । (अमरम्) अवे, एतावति दीरमरकले
त्यमेष नक्षत्रविद्याकुशलः ।

पुनः—(सकोपम्) आः, कर्बं रे, सहमेव क्षत्रविद्यायामकुशलः ?

मञ्जीरकः—तत्कथं कर्मकुलमन्तरेणैव कन्वाधिलोकनायोक्तव्यमस्ते ।

पुनः—(सकोपम् , परिष्कम्) कर्बं ममापि आपारोपयो संशयः ।

मञ्जीरकः—अथ किम् ?

पुनः—तदेव ममामिसंभाष्यते, यदि—

विनेषाम्मोबाहं बहुकदचित्सिताम्बरतका-

वाचावता = कुशिततबहुमभिला, कुशिता बहुसंगस्य वाचाः, 'आख्यातौ
बहुभाषिणि' 'कुशित इति वक्तव्यम्' इत्यादिवाचकः 'स्वाध्यायान्तरु वाचाको वा-
चावता बहुवर्णनम्' इत्यमरः । वाचास्य वाको वाचावता नाम । अनयेव = वाचा-
वतायैव : एतत् = इमं, नवात्मकं पुनर्वसितव्यः । अन्वादेन इत् सम्भस्य 'हितीवा-
दीत्येन' इत्येतादेन नक्षत्रविद्याकुशलः = नक्षत्रविद्यायां स्वीतिरवाको कुशल
(निपुणः) । नवात्मकेति वक्ष्येदेन नक्षत्रविद्याकुशल इति नक्षत्रविद्यायामप्रवीण
इति तिरस्काररूपोऽर्थो ज्ञातव्यः ।

मञ्जीरक इति । तत् = तर्हि । कर्मकुले = बन्धुः, कुलनवा कर्मकुलेनममित्यर्थः ।
अन्तरेणैति एतेन योगे 'अन्तराग्नतेन पुनः' इति द्वितीया । अन्तरेण = विना ।
कन्वाधिलोकनाय = कुमारीवर्णनाय, 'तावत्यै वसुधायै वाच्ये'ति वसुधायै ।

विनेषेति । अमरकोशाहं विनेष बहुकदचित्सिताम्बरतकात्, हेनचित्सितितिरम्भ
तदित्येता कितसति वरीति दृष्टान्ताम्भवः ।

अमोबाहं = मेघं, 'विने'ति एतेन योगे 'वृत्तिविद्यानामिदृतीयाग्न्यतरस्याय'
इति द्वितीया, नवात्मने द्वितीया पक्षी यः । विनेषमन्तरेणैव, बहुकदचित्सिताम्ब-
रतकात् = बहुकदचित्सिः (नयेककदचित्सिः) कितम् (उपहितम्) पद अम्बर-

अम्भः । वती (वाचावता) से रत्नम् विवारण अता ह । (इत्यमरः) अरे । इतमे वीर-
रत्नवाच्ये वाच ही नक्षत्रविद्यायै कुशल है (एतावन्तरे अत्रविद्यायै कुशल नहीं है) ।

पुनः—(कोपके साथ) अरे ! क्यों रे मैं ही नक्षत्रविद्यायै नकुशल हूँ ?

मञ्जीरक—तब क्यों वसुधो-कठाने विद्या कन्वाधो देखनेके लिए अलग्गित है ?

पुनः—(दफेके साथ, घुमकर) क्या मेरे वसु कठानेमें भी सन्देह करते हो ?

मञ्जीरक—जीर क्या ?

पुनः—मेरे विषयमें ऐसी संवाक्य भी क्यों है तो-मेझके विद्या ही नयेक क्षणितोते

सुखिणेका हेमघुतिविततिरन्या विकसति ॥

यदि वा—

विनैव स्वर्णज्ञां नभसि रमसोऽमुद्राफरी-

परीवर्तैः सार्कं स्फुरति नवनीलोत्पलवणम् ॥ ३३ ॥

(विलोक्य, तद्विचारम्) कथमस्मत्प्रतिज्ञामज्ञाय विपरीतं सृष्टिनैपुणं प्रणीतयान् विधिः । मन्विदं तथैव पर्याप्तम् । (विपुत्रम्) क एव विधिरपि महिरोभाय ।

तदम् (आभाकृतम्) तस्मात् । हेमघुतिविततिरन्या = हेमघुतेः (घुमणकण्ठो) वा विततिः (विस्तारः) सैव रम्या (मनोहरा) 'उपमानानि साधनवचनैरिति ससाप्तः । सुखिणेका = विपुत्रेका, विकसति यदि = प्रकाशते चेत्, मेघमन्दरेण नमस्तकादिपुष्पाकाविकसत् सन्नावगासत् चेत्तर्हि असापि चापारोपनं संसयाः स्वयं स्वादिति भावः ।

अपरामपि सवभावनां प्रकाशकति—यदि चेत् ?

विनेवेति । स्वर्णज्ञां विनैव नभसि रमसोऽमुद्राफरीपरीवर्तः सार्कं नवनीलोत्पलवणं स्फुरति (यदि) इत्यन्वयः । स्वर्णज्ञां विनैव = भाषावागज्ञामन्दरेण, नमसि नमस्तकादिपुष्पाका, रमसोऽमुद्राफरीपरीवर्तः = रमसेन (वेगेन) प्रमुखाः (अवकाः) वाः कावर्तः (घुमणवत्) तासां परीवर्तः (इत्यतस्तत्त्वकनैः) 'क्षार्कं पदेन चोरी' 'साधुत्वेऽप्यत्र' इति सूतीका ।

'रमसे वेगवर्धनो' इति विरचः । परिवर्तमानि परीवर्तयतीति, 'भावे' इति चम् । 'उपसर्गस्य प्रथममुप्ये बहुकम्' इति वीर्यवस्य 'नवनीलोत्पलवणं = नूतननीलकमल-समुद्र' स्फुरति यदि = विकसति चेत् । अपारमुता विपुत्रज्ञो विना विद्यति वेग-कलकलीनसंभवकनैः सप्त भीलीपलकजो विकसति चेत् तर्हि असापि चापारोपनं संसयास्वयं स्वादिति भावः । अस्तमन्वेऽस्तमन्वकपातिसचोक्तिरुद्धता । तिक-रिनीवृत्तम् ॥ ३३ ॥

विलोक्येति । विलोक्य = दृष्ट्वा, सौमनिकाराज्यविनां सीतामिति मेघः । सुखि-

किम् बाह्यवृत्तके सुवर्णकान्तिके विस्तारके सद्यः मनीहर विपुत्रेका प्रकाशित हो—

नववा—नमस्तकाका विना ही वेगसे अथवा छिन्नी मन्त्रियोंके परिवर्तनोंके साथ मने वीर्यवस्यका सप्त प्रकाशित ॥ ३३ ॥

(रसकर, विवादके साथ) किन् प्रकार मेरी मतिवादी भक्त करनेके किन् प्रकाराने विपरीत सृष्टिनैपुण्यका मन्त्रन किया । मैं वृत्तों वैसा ही देखता हूँ । (विवाद कर) मेरे विरोधके सिद्ध वे प्रकारों भी कौन हैं ।

मयि श्रीरोदम्बनिष्ठसुरकिमिमिनिर्णी
निरुद्धोद्वापीअककमकिनीं कर्तुंमनसि ।

पद्मंउवासी मधुरमधुरास्वापचतुर-

आतुमिः स्वैर्बन्धैरनुनयपरोऽभूत्तमपि ॥ ३४ ॥

(पुनर्निपुणं निरूप्य) अये, सादृशेन प्रचारितोऽस्मि ।

शैलुः = एवमात्रेणुप्यय । कनीयसां = कुतश्च । श्रीरोदम्ब = श्रीरोधे कर्तुं 'इम-
नसि भावयचनात्' इति कर्तुर्ही ।

मयीति । मयि श्रीरोदम्बनिष्ठसुरकिमिमिनिर्णी निरुद्धोद्वापीअककम-
किनीं कर्तुंमनसि पद्मंउवासीऽऽकृते अकमपि मधुरमधुरास्वापचतुरः आतुमिः स्वै-
रन्धैः अनुनयपरोऽभूत्तमपिः ।

मयि = राक्षसे, श्रीरोदम्बनिष्ठसुरकिमिमिनिर्णी = श्रीरोधमयि (श्री-
सागरे) निष्पन्नः (निरुद्धः, सुष्ठु इति भावः) यो मुरस्ति (मुरारिः विष्णुरित्यर्थः)
तस्य नामिमिनिर्णी (नामिकमकिनीह), निरुद्धोद्वापीअककमकिनीं = निरुद्ध
(एवम्) वा श्रीवासी (केकदीपिका) तस्या अककमकिनीम् (नीरपदिनीम्)
कर्तुंमनसि = कर्तुं (विधातुम्) मनः (चित्तम्) वाच्यम्, तस्मिन् । 'तुं कम्मम-
नोत्तपी'ति मन्त्रेण । 'वरच च भावेन अककमय' इति भावे महती । साग्रेण-
स्येऽपि गमकत्वात्समासः । कृत्तिमिन्धुः कमावप्रकारोपरिवर्तिधमकत्वे गमक-
त्वात् । पद्मंउवासीऽऽकृते = पद्मम् (आचारस्यानस्य, मुरविनामिमिनिम्ब । इति
भावः) मेधम् (चतुस्तिम्) आकृते तन्धैकः, सादृकः । अकमपि = विविधरपि ।
मधुरमधुराऽऽकृतेचतुरः = मधुरमधुरा (अस्तिमममाहुपेयिता) च आकृताः
(आभावनाभि) तेषु चतुराः (चित्ताः), कैः । आतुमिः = आतुल्यकैः । स्वैः =
मित्रैः, बन्धुः = मुरैः, अनुनयपरोः मार्गवातत्वात्, अनुनयः = नयनम् । श्रीसागर-
नामिनो निष्पन्नोर्नामिकमकिनीकुम्भक्य तथा एवमीदृशिककमकिनीं विधास्या-
मीति मया चिन्तिते स्वाधारचतुस्तिममकृत्वा आतुमानोऽपि चतुभिरपि स्ववहनेमा-
नतुनीम् 'अतः ! मेधं धर्मी'ति शार्ङ्गित्वाभिहितं भावः । शिखरिणीकृत्वा ॥ ३४ ॥
पुनरिति । निरूप्य = इष्टम् । सीताऽऽकृतिमिति शेषः । प्रचारितः = वक्षितः ।

श्रीरसश्रुते लीये इष्ट विष्णु मन्वापूर्व अदिस्त्रिकमकिनीकी चर मंते मपनी
श्रीवासीकी के मन्ते इमकिनी मन्तेका विचार किम् वा तत्र मन्ते मन्ता (कमकिनी)
के चतुस्ती श्रुत्वा करने वाले मन्तनी की अस्तिम मधुर नामाचमने मधुर मपने चमने
मुकोसि मेरे मनुज्य करनेमें तत्पर हुए मे ॥ ३४ ॥

(फिर मन्तनी तरह देखकर) करे ! श्रुत्वाके उक्त क्या ॥ । मन्त विमन्तकी ऐसा

तद्विलोकेषा नेयं विकसति परं सौवर्णिकरे

यसस्याः कस्याश्चित् कमकदधिरा गात्रकृतिका ।

अपोदं नोग्रजत् कुचतयवर्णं मीनतरङ्गं

परं तस्याः यव स्फुरति नयमाक्षोऽकलितम् ॥ ६५ ॥

(विभाव्य) नूनं सर्वेषु सीताभिधानं कन्यारजम् ।

(पुनः सर्वम्)

रात्रीषु । जीवसि सुधा, न सुधाकर । स्व-

तद्विलोकेषेति । इयं तद्विलोका न विकसति परं सौवर्णिकरे वसन्त्या । कस्याश्चित् कमकदधिरा गात्रकृतिका । इदमपि उभयत्र मीनतरङ्गं कुचतयवर्णं च, परं तस्याः यव नयमाक्षोऽकलितं स्फुरतीत्यन्वयः । इयं = साठवर्षं वयस्यमाना, तद्विलोका = विमुक्तिका, न विकसति = न सीतते । परं = परंन्तु, सौवर्णिकरे = मालादायमानौ, वसन्त्याः = निवसन्त्याः, कस्याश्चित् = कस्यायाः, कमकदधिरा = सुवर्णसोभया, गात्रकृतिका = देहकृतिका । विकसतीति शेषः । इदमपि = पुरतो दृश्यमानमपि, उभय-उभयत्र उभयत्र कुचं, दधिराधमारोहयति भावः । मीनतरङ्गं = मारुतकण्ठं, कुच-तयवर्णं = नीलकण्ठवर्णं, न = न वर्तते, परं = किन्तु, तस्या यव = सौवर्णिकरस्या-दित्या । कलनाया यव, नयमाक्षोऽकलितं = नेत्रद्वयमकलितं, स्फुरति = मलकाले । सौवर्णिकरे विमुक्त्योपमया देहकृतिकया विराजमाना नीलकण्ठकोपमा । काचि-कना विकसतीति भावः । अत्राऽऽरी संशयोऽस्ते च निम्नरे पर्यवसानादित्यत्र-उन्ता सम्बोद्धाऽकलितः । तद्विभागं तद्विकल्पे यथा—

सन्नेहः प्रकृतेऽप्यस्य संसारा प्रतिभोदितः ।

कुक्षो निरूपयगर्भोऽसौ निजपाञ्च इति विधा ॥ इति । निजपरिणीतुम् ॥ ६५ ॥

विभावेति । विभाव्य = विविच्य ।

सीतास्वरूपं दर्शयति—रात्रीषु ।

रात्रीषु / सुधा जीवसि । हे सुधाकर ! त्वमस्या । पद्मजस्य समो न, सुधास्य कुत्रो भृङ्गवतो रसोमे कुत्रः कस्यः ? त्वं हे कमल ! त्वमपि किं कमलजनामे ? इत्यन्वयः ।

हे रात्रीषु = हे कमल !, सुधा = स्वर्ण, जीवसि = वातात् भावयसि, विकसति

नहीं प्रकाशित हो रही है, बावजूद रामप्राप्तादिके उन्मत्तवैभवसे रहती हुई किसी की भी स्मृतीरज्जुता है । इष्टिपार्श्वमें प्राप्त यह मल्लकीते शबल नीलकण्ठका वन भी नहीं है, बल्कि वही लोके नेत्रोका दर्शनविलास प्रकाशित हो रहा है ॥ ६५ ॥

(निषाद कर) यह विषय ही सीतावामक कन्यारजम् है । (फिर सर्वपूर्वक)

हे कमल ! तू स्वर्ण भी रहा है । हे चन्द्र ! तू इस सीताके वरणके भावुकके वरावर

मस्याः समः पदनस्य कुतो मुखस्य ।
 जने इधोर्मुग्धताः कतमः कुरज-
 स्तत्त्वज्ञान । त्वमपि किं ज्ञप्स्यताम् ॥ ३६ ॥
 (पुनः वरनस्य)
 कक्षी कक्षी, करमः करमा,
 करिदाक्षता करिदाक्षता ।

[illegible]

प्रत्यक्षरिति । स्यात्प्रत्यक्षरिति ।

सीताया ऋद्धिर्भवति—कथ्यतेति । कथ्यते कथ्यते, कथयः कथयः, कथयिष्यतेः
कथयिष्यते । कथयिष्यते इदम् अस्माकं भुवनविजयेति तुल्यं न विनतीत्यर्थः ।

कदली = रम्भावृक्षः, कदली = सैन्धवास्तिवृक्षस्यवृक्षः, अतः रवामाया
(समझीशेष्णायाः) सीताया अवसानं च विभर्तिष्ठि भावः । करमा = कर्मकारः
पाणिपार्श्वसागः, 'मन्वितामभ्यवर्तिष्ठ करम् करसो वति ।' इत्यमरः । करमः =

भी नहीं हो तो मुझके बराबर कैसे होने ! मृगयचना (सीता) के मेथोंके सामने बस गया
 शीतल है ! इच्छित है कथन । मुम की केशनेशोंके बाजन्दीपानके किन्हीं हो गया ! ॥२४॥
 (चित्त धरके साथ)

✓ सबसे बड़ी है, बरत (उसके आकार का हाथ का समानांतर) बरत ही है, हाथ का

मुचनमितयेऽपि विभर्ति तुला-

मिवमूढयुगं न चमूढददाः ॥ ३७ ॥

मञ्जीरकः—सखे नृपुरुष, किमेतत् । कस्याम्निदपि इस्तावादाय
सान्त्वनालोकयत्यन्तःपुरिको जनः ?

नृपुरुषः—अहन्तीदृशं सम्भाषयामि यत्किञ्च गुरुभयनाङ्गरासया
चन्दनिकाया समर्पितं चित्रपटं यिसोकयतीति । (अहं एरिखं संभाषेभि अं
किर गुदभयनादो आगवाए चन्दनिकाए तमपिखं विसपठं तुलोवेति सि)

मञ्जीरकः—स त्वया दृष्टश्चित्रपटः ?

नृपुरुषः—भर्तृहारिका तावत्तन्मात्रं कोऽपि भीक्षोत्पन्नवृत्तरयामतः
कुसुमरारसदराक्षः कुशलीकृतनृचापध्वजमर्षिकुमारः । (अहदादिमा वध

मञ्जीरकः, करिषाञ्जकः = मञ्जरीकण्टकावृद्धः, करिषाञ्जकः = आयुर्वेदार्थः । इत्थं
च चमूढमनः = धुलानववाया, सीताया इत्यर्थः । इदं = पुरोद्वेगमानम्, उद्वेगः =
सन्निवृत्तिः, मुचनमितयेऽपि = लोकमयेऽपि, मयोऽवधमा पश्य सत् विगतं, संख्याया
अवधये तमपि इति तदर्थोऽप्ययम् । तुलाम् = सादृश्यं, न विभर्ति = न भारयति ।
स्वर्णमर्षपासाकात्मके कोकमयेऽपि सीतोदराभ्यनिर्वाहकं पक्ष्याभिरं नाज्यतीति
भावः । अथ द्वितीयवर्णनीकरसकरिषाञ्जकसम्बद्धा पौनःपुन्यभिरयं सामान्यकवुक्ती-
करणकरिषाञ्जकमयेषु मुचनमितेभ्यु कथितम् । सन्तो जात्यादियुगवित्तिद्वन्द्ववादि-
कमर्थं बोधयन्ति जात्यावित्तिपद्यं स्पष्टम् । सोऽयमर्थोऽन्यदर्थं कथितथाप्ययमिः ।
सोऽयमर्थः, तदर्थं यथा—'इह सोऽयमर्थमभिहितं । प्रमितम् ।' इति ॥ ३७ ॥

मञ्जीरक इति । कस्याम्निदपि = अन्तःपुरपरिचारिकाया अपि ।

नृपुरुष इति । भर्तृहारिका = स्वामिन्दुहितासीतेति भावः । भीक्षोत्पन्नवृत्तरया-

एवं वक्ष्यते । एवं ही है । धुलानववाया (सीता) के ये दोनों एक सीमां लोकमें अपनी
जाली मही रखती हैं ॥ ३७ ॥

मञ्जीरक—मित्र नृपुरुष । यह क्या है ? अन्तःपुरकी लोग कितनी लोके हावसे लेकर
इसे आत्मके साथ देख रहे हैं ।

नृपुरुष—मैं देखो संभाषना करता हूँ कि उद्वेगसे लीटी हुई चन्दनिकासे समर्पित
चित्रपटकी लोग देख रहे हैं ।

मञ्जीरक—नया तुमसे वह चित्रपट देखा ?

नृपुरुष—रामकुमारी (सीता) और और लोकमनके पक्षके उद्वेग स्वानवर्ण भाके,

अथच को वि भीमपुत्रमन्त्रात्मकको कुसुमसरसरिसरको कुसुमसकिरहरभावी
अकवडिमारो)

मञ्जीरकः—अहह !! सुग्धः सत्त्वकलाजनः । यदेवमभि कठोरप्रतिज्ञे
राजनि किशोरवत्सं आभासरमभांसति । सखे, आनासि केन लिखितं
चित्रमिति ?

नूपुरकः—जानामि महर्षेर्जनकस्य दुष्टिना धर्मचारिण्या । (कागामि,
महोदधिो जन्मस्य दुष्टिचार धर्मचारिणोऽ)

मञ्जीरकः—इदानीमुद्विग्नो भय मनोरथाङ्कुरः । देवी मैत्रीयो सिद्ध-
योगिनी कालप्रवर्तिनी सा नलीकमाधिसति ।

मः = भीमोत्पन्नकम् (भीमकमलकम्) इव रचामः (कुसुमवर्णः) । कुसुमस-
रसरसकपाः = कुसुमसरोज (कुसुमेकुला कमलमेवेति भावः) सरसं (सुन्दरम्) कपे
(लीनार्पम्) यस्य साः । कुसुमसकिरहरभावाः—कुसुमसिद्धतः (कर्मवेदसिद्धतः, कर्मो-
न्माहृत इति भावः) हरभावाः (विष्णुधर्मकम्) देव साः ।

मञ्जीरक इति । सुग्धः = सुग्धः, 'सुग्धः सुन्दरवृक्षोऽपि' इत्यमरः । राजनि = भूषे,
कमल इति भावः । कठोरप्रतिज्ञे = दृढप्रतिज्ञे, पाणतोक्त्यामन्त्रमेव कल्प्य । समर्पयिष्य
इति दृढप्रतिज्ञाधारिणीति भावः । किशोरवत्सं = निवृत्तवयस्यवत्सल्यवत्सल्यम् । आ-
संसति = इत्यसति ।

नूपुरक इति = दुष्टिचा = पुण्याः ।

मञ्जीरक इति । मनोरथाङ्कुरः = मलिकाचरोहः । उद्विग्नः = प्रवृत्तः । मनो-
रथाङ्कुरो जेदे हेतुमाह—देवीति । मैत्रीकं = मित्रम् ।

कामदेवके पुत्र इत्यमरः, विष्णुपुत्री अकवडि कीर्तनेरति चक्रेतीति कुमार उद्यमे किमे
मेवेति ।

मञ्जीरक—अहह ! जीवति मूर्तं होयैति । जी कि भावा (जन्म) के कठोर
प्रतिज्ञा करने पर भी किशोर जन्मस्थाने राजवत्सकी आज्ञा करती है । मित्र । कितने यह
मित्र किया है ! जानते हो ।

नूपुरक—जानता ॥ महर्षिजनकजी पुत्री धर्मचारिणीने किया है ।

मञ्जीरक—इस समय मेरा मलिकाचरोह उग गया है । लोगों काकीको देखने,
बाकी सिद्धयोगिनी देवी मैत्री मित्र नहीं किशोर है ।

नृपूरकः—सर्वं सम्भाव्यते यद्यथं जरठाङ्गं ह्योऽपसरति । (सर्वं सम्भाव्यमादि यद्य इमो जरठाङ्गो ह्यो ओसरति)

मञ्जीरकः—आः, कोऽयम् ? किमिदम् ? एनमपसारयामि । अये, किमिवस्ततो विहोक्तयसे ? नन्विदं शम्भवं धनुस्तविष्टैव दीयतां दृष्टिः ।

पुरुषः—आः, किमुच्यते दृष्टिरिति, नन्विदं मुष्टिरपि दीयते ।

(परिक्रम्य, मेखारभ्रंशमभिनीय सविचारं विहोक्तयति)

मञ्जीरकः—

अये कङ्केश विहस्तशेखराश्लोकनेन ते ।

समयो याति, तत्तर्जं पृष्ट्वाणं हरकामुक्तम् ॥ ३८ ॥

नृपूरक इति । जरठाङ्गः = जीर्णोऽवयवबहुद इत्यर्थः ।

मञ्जीरक इति । अपसारयामि = निवारयामि । अय इति सम्बोधने । विहोक्तयसे = परयसि, सौमतिकराभ्यर्षितां सौतामिति शेषः । शम्भवं = शैवम् ।

परिक्रम्येति । मेखारभ्रंशं = किरीभूषणाभ्रंशसंज्ञं, सविचारं = केवदुर्लभम् । विवाहभाज्यप्राप्तुमभावनामुक्तयो बोद्धव्यः । विहोक्तयति = मेखरमिति शेषः ।

अय इति । अये ! ते केशविहस्तशेखराश्लोकनेन अकम् । समयो याति । तत्तर्जं हरकामुक्तं पृष्ट्वाणं मेखव्यवसा । अय इति सम्बोधने । ते = तव, केशविहस्तशेखराश्लोकनेन = केशात् (शिरोच्छ्वात्) विहस्तः (पतितः) यः शेखरः (शिरोभूषणम्) तस्याऽऽश्लोकनेन (दर्शनेन) अकं = पर्याप्तं केशविहस्तशेखराश्लोकनेन स्नाभ्यं प्राऽस्तीति भावः । पृष्ट्वाणो अये कङ्केश कङ्केश्वर, राघवैत्यर्थोऽप्ययते । समयः = काका, हरकामुक्ताऽऽकार्यनश्चेति शेषः । याति = गत्येति । तत् = तस्मात्कारणाय, तर्जं = सार्वरः, हरकामुक्तं = शिवचार्द, पृष्ट्वाणं = नादत्स्व, 'मद जपादान इति भाषाकोद्' 'इहो दनां शान्त्यौ' इति दनाः शान्त्यः । अमुपदृष्ट्वाणम् ॥ ३८ ॥

नृपूरकः—यह दुबका पहानं हटे तां छन हो सकता है ।

मञ्जीरकः—अरे ! वह कौन है ? यह क्या है ? मैं इसे छूता हूँ । अभी की ! हजर कबर यह क्या देख रहे हो ? यह शिवधनु है, इसलिये इसी पर वृष्टिपात करो ।

पुरुषः—जीः ! यह क्या दृष्टि देनेकी बात कर रहे हो ? यह मुष्टि भी देता है ।

(धूमकर किरीभूषण गिरनेका जमिनच कर विवादके साथ देखता है ।)

मञ्जीरकः—अरे ! तुम्हें कैशोंसे गिरे हुए किरीभूषणकी देखना नहीं चाहिये । जबवा है कङ्केश भिरे हुए किरीभूषणको देखनेसे तुम्हारा समय बीत रहा है । इसलिये शिवधनुकी शीघ्र पकड़ो ॥ ३८ ॥

पुरुषः—(स्वगतम्) कथमनेन विदितोऽस्मि (विस्मय) पुष्पाधर-
न्यायगतं शब्दसादृश्यमेतत् (प्रकृतम् । संस्मृतम्)

साधकेपकमनीयमुदस्य कीदृशैव विनिवध्य च मौर्वीम् ।

कृदमेव हरकामुक्तमेतत्, इत्ययं सुदृशो इदमङ्क ॥ ३६ ॥

(यनुवि इत्यस्यैवित्वा । स्वगतम्) कथं न चक्षत्यसि । भवतु । (प्रकृतम्)

अये, धनुरिति वक्तव्यम् । तत्सरस्त्रेण कर्वाजधारापथेन सीता-
मानवामि ।

पुरुष इति । विविता = ज्ञाता । अये ! कश्चेत्येतत् शब्देनैवकादिति भावः ।
पुष्पाधरन्यायगतं = पुष्पाधरात्पुरुषाणि पुष्पाधराणि, संयोगवाक्यान्तजादयि, तेषां
न्यायस्तुतयः । प्रकाशं = सर्वज्ञत्वं यथा स्वात्तया ।

प्रकाशकत्वं यथा—‘सर्वज्ञत्वं प्रकाशं स्वात्तयि । साध्यकेपकमनीयमिति ।
साध्यकेपकमनीयम् उदस्य सीता कीदृशम् इव विनिवध्य च एतत् हरकामुक्तं कृदमेव
एव अथ इदं सुदृशो इदम् च (कृदमेव एव) इत्यन्वयः । साध्यकेपकमनीयम् =
अयमेवैव (गर्वेण) सहितम्, अथ एव कथनीयम् (सुन्दरम्) विवाचिनीयम् ।
साध्यकेपकमनीयमिति एते तु अयमेवैव (अयमेवैव) सहितं यथा स्वात्तयेति
विवाचिनीयम् । अत एव कथनीयम् । इदम् = उदस्य, हरकामुक्तमिति शेषः ।
सीता = उवा, ‘सीता’ इवा विवाचिनी तुवा’ इत्यन्वयः । कीदृशम् एव = कीदृशम् एव,
अयमेवैवेति भावः । विनिवध्य च—आरोप्य च, एतत् = समीपतरमिति, हरकामु-
क्तं = विवाचनम्, कृदमेव एव = भावकम् एव, काश्चिन्मन्दैव इति भावः । अतः = इदं
इदम् = मन्दैव, सुदृशः = सुन्दरमेवभावः, अतिशयोक्तिः भावः । कोनमेवमी
वदता सा सुदृशः, तस्याः । इदम् च = मन्दम्, कृदम् एवेति पूर्वतोऽनुवृत्तिः । आह-
रुदीयैवैवैव । अहिकामुक्तमेव सीताऽपि मत्तामसादविभ्यसीति भावः । स्वगतम्
वृत्तं, उदस्यम् यथा—‘स्वगतमेति रमभाङ्गमुदस्यम्’ इति ॥ ३६ ॥

यनुविति । वक्तव्यम्, यनुममवाधेयित्वेति शेषः ।

पुरुष—(मन ही मन) इतने मुझे कैसे जान लिया । (विचार कर) वह पुष्पाधर
मानसी पास अन्धसाहचर्यमान है । (मुनः कर । कोनपूर्वक)

ययमने साय सुन्दर करते कहांकर कथन कीदृशे ही मत्तामसी पदार्थ इत वि-
चनको कीच ही किया । यहाँ सुन्दर सीताने सुन्दर इदमको भी भाङ्ग ही कर किया इतने
केवामान भी संदेह नहीं है ॥ ३६ ॥

(यनु पर हाथ देकर । मन ही मन) कैसे वह वक्तव्य बो नहीं । अयम् । (सुमन्तर)
करे ! यनुवह कथिण्याम् है । इतिवि सरस्वत्या एवमवधेयतामे मानसी सीतानी मत्ता है ।

मञ्जीरकः—कथमस्तिप्रगल्भसे । न विलोकयसि !

रोषाक्षणीकृतविलोचनकस्तिभिश्च-

भ्रूमङ्गभीमघटितभुङ्कुटीविटङ्कम् ।

सत्कातलोक्षकरघातलस्राकराज-

घोर्दण्डवण्डचरितं नरवीरचक्रम् ॥ ४० ॥

पुरुषः—(कृपापुत्राय) (परितो विलोक्य) परयत् परयत् ।

निर्मिसधैरिकरिक्कुम्भतटीविमुक्त-

मुक्ताफलमकरतारकिताम्बरभी ।

मञ्जीरक इति । भक्तिप्रगल्भसे = भक्तिपात्रं प्रदर्शयसि, रोषाक्षणीकृतैति । रोषाक्षणीकृतविलोचनकस्तिभिश्चभ्रूमङ्गभीमघटितभुङ्कुटीविटङ्कम् इत्यादिश्लोकैश्चरितं सत्कातलोक्षकरघातलस्राकराज-
 स्वादि । रोषेण (कोपेन राघवकृतारम्भकामाजनितेनेति रोषः) मञ्जीकृतो (एक-
 वर्णीकृतो) वे विलोचने (नेत्रे) तयोः कान्त्या (प्रभया) भिन्नो (प्राकृतेर्न)
 ह्यौ भ्रूमङ्गौ (नेत्रोन्मेषादिभ्ये) ताम्भां भीमं (भयानकम्) यथा स्वाकाया वदितः
 (निर्मितः) भुङ्कुटीविटङ्कः (भृङ्गपञ्चमृतः प्रदक्षः) घात तदिति नरवीरचक्रस्य
 विलोचनमिदम् । पुरुषः सत्कातलोक्षकरघातलस्राकराजघोर्दण्डवण्डचरितम् = सत्कात-
 (निभसारिका, कोलादिति रोषः) कृतोष्ठा (चक्राणां) वा करपाककृतः (पात्रकृता)
 मया करकम् । भीमयाः) घोर्दण्डः (बाहुवृद्धः) तेन चक्रम् (नाचन्तकोपवज्र-
 चरितं (चरित्रम्) यस्य तत् । तादृशं नरवीरचक्रं = राजमण्डलं, न विलोकयसीति
 पूर्ववत्प्रदक्षाम्भ्यां सम्बन्धः । त्वदीयकाङ्क्षेन कोषाकाशमसतिविज्ञानं राजमण्डलं न
 विलोकयसीति भावः । मत्सन्ततिशब्दं पुरुष ॥ ४० ॥

पुरुष इति । उच्यते = उच्यते ।

निर्मिण्णेति । रे रे पुरुष । निर्मिण्णैरिकरिक्कुम्भतटीविमुक्तमुक्ताफलमकरतारकि-
 ताम्बरभी । यो रणे काकशान्तिरिक् कं पृथ कृपाकृपयो मम कृपाणो भातिरस्यम्बन्धः ।

मञ्जीरक—नवीं ध्याता दिदाय कर रदे हो ? नवीं देखत हो कि कीचो एकनौ तेजो
 की कान्तिसे विम्व भ्रूमङ्गसे मचक्र भुङ्कुटीके उन्नत घनेछाये भीर सिमानसे तिकाकी
 गई मन्दारसे भीकम बाहुवृद्धसे अत्यन्त कोपपूर्ण माचरण करैछाये राजसमूहकोई नवा
 नवीं देख रहे हो । ॥ ४० ॥

पुरुष—(प्रह्वार ठठकर) (चारों ओर देखकर) देखी देखो । रे रे राजसमूह !
 कपुरुष दानिवोके विदधिरव मस्तक रूप कुम्भोंसे गिरे द्रुप नीतिवोसे ताराशुक आकाशको

यः कात्स्न्याभिविधं भवति रणे स एव

रे रे नृपा भव कृपाकृपणः कृपाणः ॥ ४१ ॥

(बाक्यो कर्णं दत्वा) किं मूय ?

एकः कर्णं बहुतरैः सुभदैः करोति,

संग्रामदम्भरमिति रण्य रे विपायम् ।

यं मन्थसे सुलभमय, सदैव तेन

चेतो निधेहि समरे समरेकयेव ॥ ४२ ॥

रे रे इति अनादरचोक्तं विपायवृत्तम् । सुपाय = राक्षसः ? भिक्षुगणैश्च भिक्षु-
भिः (विदारिताः) वैरिहरिणां (सन्तुगमानाम्) याः कृपासदृशः (तिरः शिथ-
लः) तावन्मिथुनानि (पर्वतानि) धानि मुक्ताफलानि (मौक्तिकफलानि)
सैवां प्रकरः (समूहः) तेन तारकितः (सञ्जातकारणः) अभ्यरभी । (आकाश-
शोभा) येन स इति कृपाभिविधोपनं मेवम् । यो रणे = युद्धे, कात्स्न्याभिविधः = अल्पवस्तु-
नीय, तरङ्गहारकत्वाभिविधं भावः । स एव = तावत् एव, कृपाकृपणः कृपायां (कृपा-
यां हिरये) कृपणः (कार्यवस्तुषु, कर्णं इति भावः) मम = वीरमानितः, कृपा-
णः = कृपा, भाति = जोधते । कृपापरकमुक्तमतिभीषणं मम कृपायं दत्त्वा युद्ध-
साहसं नास्त्युपेयमिति भावः । कर्णोत्प्रेषणकृतः । वस्तुस्तत्किं कृतम् ॥ ४१ ॥

आकाशभास्तिं प्रकाश—एक इति । रे ! एको बहुतरैः सुभदैः कर्णं संग्राम-
कर्म करोतीति विपायं त्यज । अत्र यं सुकर्म मन्थसे, तेन सदैव ममरे समरेकयेव
चेतो निधेहीत्यन्वयः ।

रे इत्यनादरचोक्तं समुपोधम् । एकः = एकको, बहुतरैः, अधिकसंख्यको,
सुभदैः = वीरयोधैः, कर्णं = केन प्रकारेण संग्रामकर्मरं = युद्धाभिव्यं, करोति = वि-
धामि, इति = एतद्वशां, विपायं = कर्णं, रण्य = युद्ध । विपायवृत्तानी हेतुमाह ममिति ।
अत्र = युद्ध स्थाने, यं = मां, सुकर्म = सुपायं, सुजेयमिति भावः । मन्थसे =

शोभा त्रिकोणवर्णा भीरु युद्धक्षेत्रे जागरणिकी तरह यकीन होती है, कृपाके विषयमें
सुरण (कर्मज) बड़ी मेरी तलवार क्षीयित हो रही है ॥ ४१ ॥

(आकाशमें कल संकर) वना कर्ण हो ।

भरे । मैं कई-क होकर बहुतों से दो दोहाकों के साथ संग्रामक व्यवहार कैसे करूँगा
देखा होर कोही । यहां पर जिसे हून सुकर्म मान रहे हों, वही के साथ युद्धमें पराजयीके
भावका ही मन रसी ॥ ४२ ॥

अहो धृष्टता मनुष्यकीटानाम् । तदेताभिजमूखैव भीषयामि । (सातेरं निष्पन्नः) । (नेपथ्ये)

मन्वाकिनी-कनकपद्म-यिताङ्कुराणां

किञ्चोपविगजलसदृशनाङ्कुराणाम् ।

उन्मूलनैरत्नमनीयत वीराद्यं ये-

कस्मीञ्जी भुजा मम निजा । प्रकटीभयन्तु ॥ ४३ ॥

भावाति, तेन = तावदेव, भुजेन मयेति भावः । सौद = समयेव, समरे = युद्धे, समोक्तयैव = तुल्यत्वेनैव, वेत्ता = विता, निभेहि = रथायव । एकोऽर्थं कथं सुधैः संश्रामं करिष्यतीति चेद्व्याख्या । एकोऽर्थं संश्रामे युवस्यमकमिति भावः । वसन्त-
सिक्कं वृत्तम् ॥ ४३ ॥

निबभुवानाङ्कुराणि—मन्वाकिनीति । मन्वाकिनीकनकपद्मयिताङ्कुराणां किञ्च
अपविगजलसदृशनाङ्कुराणाम् उन्मूलनैः वीराद्यं भयमनीयत । तेस्मी मम
निजा भुजा । प्रकटीभयनिकायन्तु ।

मन्वाकिनीकनकपद्मयिताङ्कुराणां = मन्वाकिन्या । (भावार्थाद्भावाः) याति
कनकपद्माणि (स्वर्णकमलाणि) तेषां यिताङ्कुराणां (मृणाकमरोद्गताम्) किञ्च =
अथ च । उपविगजलसदृशनाङ्कुराणाम् = उन्मूलनैः (भयङ्कराः) ये वीराः ।
(वीराश्चाद्यो विजयिणः) तेषां कलत्ताः (सोममाताः) ये दृशनाङ्कुराः (दन्त-
मरोद्गताः), तेषाम् । उन्मूलनैः = वारुणैः, वी = सधुजे, वीराय = वाक्यं, यिता-
भावाः 'वृत्तात्वा कपुर्त्वात्' इत्यण् । 'यितायं वीराय वाक्यम्' इत्यमरः । कर्क =
पर्वति मया स्मासभा, मनीयत = वाच्यते स्म । ते = विजयैरते समरेऽसकृदु-
भूताः, कमी = तावता, मम = दृशनाङ्कुराणाम्, निजा = भावनीया, भुजाः =
बाहुयः प्रकटीभयन्तु = प्रकटीभयन्तु । वाक्यावस्थासमये वीराभयानाङ्कुराणां
मुवर्णपदानामैशवतादीनां विभाक्त्या च वृत्ताद्यामुत्पादनेऽनेकजने विजयः प्रवृत्ति-
रस्तेऽमी भुजाः पुनरपि मद्रिकलपदयोस्तथाय इत्यर्थं प्राप्नुवन्तिवति भावः ।
वसन्तसिक्काङ्कुरम् ॥ ४३ ॥

अहो । मनुष्य कीटोको विदारः । रत्नभरण इन्हें नरने करीरते ही करता है ।
(वसन्तके साव जाता है ।) (नेपथ्यमे)

भावाय गच्छते स्वर्ण कमलोंके मृणाककप अङ्कुरोंके और अङ्कुर दिग्गजोंके सोम-
मय दन्तमरोद्गोंके मी उन्मूलन करके चिन्होंके अपनी वाक्यावस्था (वचन) प्रतीतिरूप
के विदार । वैसे वैसे बाहुसमूह वल समय प्रकट हों ॥ ४३ ॥

(ततः प्रविशति निजरूपेण दशकण्ठः)

नूपुरकः—वयस्य, पश्य पश्य कौतूहलं यदेकस्यापि मानुषस्य दश
मस्तंभवति । (वयस्य, वेयस्य वेयस्य कौतूहलं न एकस्य वि मानुषस्य दश
मस्तंभवं)

मञ्जीरकः—नैव मानुषः, राक्षसराजः सत्यसौ दशकण्ठः ।

नूपुरकः—तत्परिप्रायसां मां वयस्यः । नूनं राक्षसमात्र एव सम्मुख-
पतितं मानुषं चर्वयति । पुनः राक्षसराजः । (ता परितः शब्दं मं वयस्यसौ,
नं दशकण्ठस्य जेय्य समुत्पत्तिर्वा मानुषं चर्वयति किं न दशकण्ठराजो)

मञ्जीरकः—अतः कातरतया । सकलवीरदुष्टवन्दनीया हि बन्धिजातिः ।
तत् कथमस्मद्विषेषु सकलानुयनैकवीरो विपरीतं वर्तिष्यते दशकण्ठः ।

नूपुरकः—(सहर्षम्) यदीदृशं तर्हि किमप्येनं निःशङ्कं प्रचक्षामि ।
(उपसृत्य) अये, किमितीयन्ति मस्तकान्युद्गन्ते किमिति वैनं रक्षित्वा
मुनरपराणि यज्जुगधिभ निक्षिप्यन्ते । (वह परितः ता किमि इमं पीतशङ्को

नूपुरक इति । कौतूहलं = कौतुकम् ।

मञ्जीरक इति । बन्धिजातिः = स्तुतिपाठकजातिः । सकलवीरदुष्टवन्दनीया =
सकलाः । (समयाः) ये वीराः । (दृष्टाः) वेयं शब्दं (समूहः) येन तस्य वा भण्ड-
नीया (अभिवादननीया, श्रुत्या वा) । अस्मद्विषेषु = अस्मादन्तेषु । दशकण्ठः = राजा ।
विपरीतं = भर्त्सनीतिविषयं, वर्तिष्यते = आचरिष्यति ।

प्रचक्षामि = प्रदर्शनं करिष्यामि । 'प्रचक्षामीत्याम्नाम्' इति भाष्यकर्तुः । अङ्गन्ते =
आर्षन्ते । अङ्गानि = अङ्गानि, मस्तकानीति शेषः ।

(नमस्कृत्य जपते कथं राक्षस मनेष्व करणं है ।)

नूपुरक—मित्र । यह कौतुक देखो देखो, ओ कि एक मनुष्यको भी दश मस्तक है ।

मञ्जीरक—यह मनुष्य नहीं है, यह राक्षसराज राजा है ।

नूपुरक—तब मित्र मेरी रक्षा करें । राक्षसराज ही सामने आवे हुए मनुष्यको
क्या भाव है तो फिर दश राक्षसराजका क्या करना ।

मञ्जीरक—उदरको कीर्षं भावव्यक्तता नहीं है । क्योंकि वन्द्यो (स्तुति पाठक) की
जाति सकल शीरसमुद्गते अभिवादननीय है । इस कारण हमारे घेरे कोमोपर समस्तश्रेष्ठके
पक्षमात्र भी राक्षस केते विपरीत आचरण लोग ।

नूपुरक—(ईर्ष्यपूर्वक) ऐसा है ही मैं मस्तं निःशङ्क हीकर कुछ पूछूँ । (समीप जा

पुनरिच्छम् । अये, किंति एतिमाहं भव्यमाहं सम्बह्मिन्ति, किंति वा एकं दक्षिण
रूप भवराहं वस्तुतत्त्वे वा विनिश्चयन्ति)

राज्यम्—आः पाप, कममस्थाने शिररक्षेवार्त्तमाहमज्ञसमादेवपति ।
तदेव वैताकिह हस्तुदेवयः ।

मञ्जीरकः—(विहस्य) स्थाने शिररक्षेवार्त्तमाहमज्ञसाध ?

राज्यम्—अथ किम् ? ननु रे—

विद्याधरप्रणयिनी-कल्पवृक्षमात्र-

श्रीताविभुक्त-कुसुम-प्रकरावकीर्णै ।

श्रीकामप्रभुवरणे वा रणे वा कामे

विष्णोऽपि मस्तकगणे मम मज्ञसाध ॥ ५७ ॥

राज्यं इति । वैताकिहः ॥ चारणः । उपेवः ॥ उपेवणीयः ।

विद्याधरेति । विद्याधरप्रणयिनीकल्पवृक्षमात्रकीर्णविभुक्तकुसुमप्रकरावकीर्णै श्री-
कामप्रभुवरणे वा रणे वा कामे विष्णोऽपि मम मस्तकगणे मज्ञसाधेत्यन्वयः ।

विद्याधरोपाधिः ॥ विद्याधराणां (देवयोगिविशेषाणां) वा । ममविष्णुः (मम
आकिम्पः, विद्याधर इति भावः) तासां वे कशः (वृत्तः) एव पञ्चमाः (किम्-
कवापि) तेषामग्रे (ममभागे) श्रीकम्पः (विद्याधरे) विभुक्तानि (अर्पितानि)
पात्रि कुसुमानि (पुष्पाणि) तेषां ममः (सपुत्रः) लेनाऽवकीर्णै (परिपूर्णै)
विशेषमश्विं देवकीवीर्यमात्रेण एव वाऽपि विशेषमय । श्रीकामप्रभुवरणे ॥ श्रीकाम-
प्रभुवरः श्रीकामप्रभुः (श्रीकामप्रभुवरः) तस्य चरणे (पादौ) एव रणे च-
मसंयाने वा, कामे ॥ उपेवः, विष्णोऽपि ॥ कुतोऽपि, मम ॥ राज्यस्य, मस्तकगणः ॥ शिरो-
निलयः, मज्ञसाध ॥ कल्पवृक्षमात्र, अकिम्पतीति बोधः । विद्याधरीकल्पवृक्षमात्रसमर्पित-

कर) भवे । नवौ इत्ये मस्तकगणे चारण विद्या है । एकद्वौ एककर मन्त्र समीचीनी चरी पर
नवौ मही रस वेता ?

राज्यम्—ओह ! पात्रि ! नवौ फिर कामगोकी मातले कममज्ञ सूचित करता है । फिर
मी तु वैताकिह होनेसे उपेवणीय है ।

मञ्जीरक—(हँसकर) स्थान (विश्रामनमें) मैं ही आपके फिर कामगोकी बाध की
मज्ञसाधे किम् है ?

राज्यम्—ओर क्या । हुन है—

अन्वये विद्याधरीकी हस्तप्रणयिनी कामगोकी ओहें नये पुनःसमूहसे परिपूर्ण
श्रीकामदेवके चरणमें ओर वेते ही रचमें भी बनेकरुपसे शिर भी मेरा मस्तकगण मज्ञसाधे
किम् है ॥ ५७ ॥

नूपुरकः—यदीह रास्त्वं तर्हि किमिति निजरूपं संगोप्य चोर इव
अविष्टोऽसि । (यदि एरिसो तुमं तद् किंति निजरूपं संगोप्य चोरान्न पविष्टोऽसि)

रावणः—धिक् सूर्य, न जानासि रे—

ये चन्द्रचूडावतवातानेक-

बाहुर्व्यभिस्तामनयो भुजा मे ।

तेरेव भूविष्टतरेः प्रकृताभ्या-

वाधिरोपाय कथं न कज्जे ॥ ४४ ॥

प्रकृतिकरपरिपूर्णं चन्द्रचूडवरणे चोरोपरमुपहारीकृतो महीपमस्तकमनो यथा
मन्मथमन्त्रावाऽभ्यसितायैव एवैवमुपायनीकृतः मन्मथकसंहृतिः कथयामासैव भवि-
ष्यतीति भावः । एतेन रामकर्तृकं भावि रावणमस्तकमन्त्रावाप्येवमं सृज्यते । कथका-
न्वाहारः । यत्प्रकृतिकं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

नूपुरक इति । ईदृशः = एतादृशः, चोर इति भावः । संगोप्य = विरोहितं कृत्वा ।
एतेन चन्द्रचूडकं भावि जामकीहरणं सृज्यते ।

न इति । ये मे भुजाः चन्द्रचूडावतवातानेकबाहुर्व्यभिस्तामनयः, भूविष्टतरेः
तेरेव बाधावधिरोपाय प्रकृतः (सक्) कथं न कज्ज हावमयः ।

ये, ये = मम, भुजाः = बाहवः, व्यभिक्तिर्लज्जक इति भावः । चन्द्रचूडावत-
वाकनेकबाहुर्व्यभिस्तामनयः = चन्द्रचूडस्य (चन्द्रसेसरस्य, सिम्पयेति भावः)
मयवः (पर्यवः, कैकास इति भावः) तस्य बाहवः (संकाकथं, स्वसम्पन्नेनाहु-
स्तमजमिति भावः) तस्मिन्नेकम् (अद्वितीयम्) यथातुर्म (चतुरता, पञ्चतत्पर्य)
तस्मिन् विन्तामनयः (इन्द्राण्यकरतविशेषः, विन्तामनिसरसा इति भावः ।
काकशिलोऽयं मयोराः) । भूविष्टतरेः = अधिकतरेः, तेरेव = बाहुभिर्येव, बाधावधि-
रोपाय = कर्तुंकायमकाय, प्रकृतः = तत्परः सक्, अहमिति शेषः । कथं = केन
प्रकारेण न कज्जे = कमजितो न भवामि । धैर्यम भुजैः निमग्नैः कैकासोऽपि
संकाकितः, तेरेव चन्द्रचतुरासमयोऽप्येवम् कथं न कमजितो भवामिति भावः । इन्द्रचक्रा-
वृत्तं, तत्कथनं यथा—'स्यामिन्द्रचक्रा पवि तौ कतौ मः' इति ॥ ४५ ॥

नूपुरक—एहा ई तो क्या आप अपना रूप छिपाकर चोरकी समान प्रदेव निम्ने हुए हैं ।

रावण—धिक् सूर्य, भरे । तु नहीं जानता ।

चो मेरे हाथ महामेखीके पर्यव कैकासकी चक्रावर्तन एकमान बाहुर्मै इन्द्रचक्र
विन्तामनिके सहित हैं, बहुतेरे तन्वी इत्थोले एक चक्र कथनेके किए प्रकृत होता हुआ मैं
क्यों नहीं कमजोर होता हूँ । ॥ ४५ ॥

तत्त्वय कुल जानकीति ।

मन्त्रीरक्षा—(सविषादम्)

यस्याः स्वयं कुलशुक्लं किञ्च बाह्वक्षयः—

स्तातः । स यः जनको जननी भविषी ।

साऽपि त्वमद्य बलं दुर्विधिवैशसेन

वत्से । निशाचरकराङ्गता भविषी ॥ ४६ ॥

मृदुरक्षा—(अपवर्णम्) अतः तापेन । कथमेतावन्मात्रे धीरमयवले

यस्या इति । हे कन्ये । यस्याः कुलशुक्लं स्वयं बाह्वक्षयः किञ्च, तातः स यः जनको, जननी भविषी । साऽपि त्वमद्य दुर्विधिवैशसेन निशाचरकराङ्गता भविषी, बलं । इत्यन्वयः ।

हे वत्से = हे राजारक्षारपदभूते जानकि ! यस्याः = ते, कुलशुक्लं = पित्रोऽन्तर्गतं स्वयं = न त्वया, बाह्वक्षयः = बाह्वक्षयपदनामको पोषिराजः, किञ्चेति निश्चये । तातः = पिता, 'तातस्तु जनकः पिते'त्यमरः । साः = प्रसिद्धा, यः = भव्यं, दुर्विधिवै-
शसेन इति भावः । जनकाः = जनकनामधेयो महाराजः । जननी = माता, 'जन-
निनी प्रसूयति'त्यमरः । भविषी = भविषी । साऽपि = साऽप्यपि, त्वं = सीता, त्वम् =
जस्मिन्मित्रे, दुर्विधिवैशसेन = दुर्भाग्यस्य बाधुत्वसेन, शुद्धो विधिर्दुर्विधिः, 'कुल-
प्राप्त' इति समासः । निशसति = द्विषस्तीति निशसः, 'मन्त्रिप्रद्विष्याविभ्यो णु-
तिङ्' इति । यथादित्याहृण्यसर्गपूर्वकाम् 'सप्त हिंसायाम्' इति चातोरक्तव्यः ।
विशसत्य भावो वैशसः, दुर्विधे वैशसेन । निशाचरकराङ्गता = निशाचुः भरतीति
निशाचरः 'चोह' इति उभयपदः । निशाचरस्य (राक्षसस्य, राक्षसमेति भावः)
कराङ्गता (हस्तोत्सङ्गता) भविषी = भविषी, जसीतिशोः । एतेन वृत्तक-
रत्ने रावणकर्तृकं मादि जानकीहरणं सूच्यते । वत्सवत्तिकं मृदुरम् ॥ ४६ ॥

मृदुरक्षा इति । अपवर्णम् = अन्धपराकर्तृनपूर्वकं प्रकाश्य । अपवर्णितकर्तृकं साक्षि-

रसम्पन्नं नरा जानकी कदा हे ?

मन्त्रीरक्षा—(विषादके तापः)

हे वत्से सीते ! जिसके कुलशुक्ल स्वयम् बाह्वक्षयः, पिता जनक महाराज और जननी प्रसूयी हैं । ऐसी होकर भी त्वम् जान दुर्भाग्यवती बाधुत्वसेन राक्षसकी हस्तगत होगी ।
वत्स ! ॥ ४६ ॥

मृदुरक्षा—(केवल मन्त्रीरक्षकी कुलाकर) सन्ताप नहीं करना चाहिये । अपने शीरोंके

कोऽपि नास्ति योऽस्य हठप्रवृत्तस्य पुरतो भवति । (कलं लावेन । कलं
एतिभनेतस्मि वीरसङ्गले कोवि नतिय औ हसस्स हठम्पठत्तस्स पुरतो होदि)

मञ्जीरकः—कुपितस्य वृशकयठस्य कः सम्भुलै भवति अत्रिधः चते
सहस्रबाहोः कार्त्तवीर्यात् ।

नूपुरकः—(सहर्षम्), जीविताः स्मः, परय, ननु प्रातः सहस्रबाहुः
कुतवीर्यपुत्रः । (जीविदं हा, पेक्क न पत्ती सहस्रबाहु किदवीरुत्ती)

मञ्जीरकः—विष् मूर्ख, आमदग्न्यकुठारधाराजलमिममः क सम्प्रति
कार्त्तवीर्यः तन्मूनमयं बाणासुरो भविष्यति । हन्त मोः, तविपमनर्धान्व-
रम् । (विपुलम्) अथवा विपस्य विषमोपधं भविष्यति ।

सहर्षमेव वदाम—‘तत्रवेदयवारितम् । सहर्षं तु बह्वन्तर्य पराङ्मुख प्रकाशते । ‘इति
हठप्रवृत्तस्य—विषमोक्कहृत्तपूर्यके समीहितसाधनतापरस्वेत्यर्थः । अर्पाहीनमकुलैव
सीताहृदयोद्यतत्वेति भावः । पुरतो भवति = अग्रे भवति, निवारणादर्शमिति शेषः ।

मञ्जीरक इति । सहस्रबाहोः = सहस्रभुजस्य, सहस्रं बाह्वो यस्य स सहस्रबा-
हुस्तस्य । वृशकयमसाक्षात्समसमये सहस्रबाहुकम्पत्वेति भावः । कार्त्तवीर्यात् =
कार्त्तवीर्यनातकब्रह्मचर्यकन्याकात्, अतीवोर्ध्वं ‘अन्वतादितरैर्विपक्षान्वाभ्युच्चरय-
द्वासाविमुक्ते’ इति पञ्चमी ।

नूपुरक इति । जीविताः = प्रासजीवनाः ।

मञ्जीरक इति । आमदग्न्यकुठारधाराजलमिममः = अमृतालेख्यं गुमाश्रम-
वन्धः = परशुरामः, ‘तर्गाविम्भो यम्’ इति पञ्चम्यथा । आमदग्न्यस्य (परशुराम-
स्य) कः कुटारः (परशु) तस्य यता (सीरुणाग्रममता) सीव जलम् (अम्बु)
तस्मिन्मिममः (कुतमिसकथः) । कार्त्तवीर्यात् परशुरामेन पूर्वमेव परशुरामा निह-
यितः, कुतः पुनरिह तस्याऽऽमनसम्भय इति भावः । नमर्धान्वरम् = अन्वोऽमर्षः,

तस्यहमे कोर्धे देता नहीं है जो इतने शीघ्रको ग्रहण करनेमें तत्पर इसके भागे वास्तके ।

मञ्जीरक—कुद रातनके सम्भुलै सहस्रबाहु कार्त्तवीर्यके बोक्कर नीर औन अत्रिय
वास्तकता है ।

नूपुरक—(हर्षके साथ) हमजोग वच गये । देखो, सहस्रबाहु कुतवीर्यपुत्र नारदे है ।

मञ्जीरक—विष् मूर्ख । परशुरामके कुठारधाराके यकमे विमग्ग कार्त्तवीर्य नहीं कहा
है । इतकिय शिक्षय ही यह बाणासुर होगा । हाय ! नरै । वह इतना भनर्ध आ पड़ा ।
(विनाशकर) अथवा विपका निर हो मौचक होगा ।

(ततः प्रविशति बाबाभूतः)

बाबाभूतः—(परिक्रम्य, लाटीपत्रम्)

कैलासस्यैकशिकराद्यपि भूरिसारं

मिस्तीमभारमभुनः धनुर्विभुमौकैः ।

व्यासस्य पुण्यसदृशं करपद्ममेव

स्पर्शितं भुजगुमचनं सफलं करोमि ॥ ४७ ॥

रावणः—(अमाकर्षितकेन) कथमद्यापि नानीयते जानकी ।

‘मयूरभंसकाद्यदये’ति समासः । पक्षी राज्ञः पक्षाभ्यन्तर्गतोऽभूत्तत्वात् न बाबाभूतोऽपरोऽन्तर्गत्तः भावितः इति साधः ।

एतत् इति । माह महज्ज्वाभुजोन्मारेण सहज्ज्वाहोर्वाजाभुतस्य प्रवेशः । कर्त्तुं च सङ्गीकृत्यपत्तरी—‘अद्युचितस्य पात्रस्य प्रवेशो न च भुज्यते ।’ इति । बाबाभूत इति । लाटीपत्रं च दर्शयति ।

कैलासेति । कैलासस्यैकशिकराद्यपि भूरिसारं मिस्तीमभारम् इभुमौकैर्बहुः करपद्ममेव पुण्यसदृशम् आकलय्य अभुना स्पर्शितं भुजगुमचनं सफलं करोमीत्यन्वयः ।

कैलासस्यैकशिकराद्यपि = कैलासपर्वतशृङ्गाद्यपि, भूरिसारम् = अधिकसारपत्रम्, अतः पक्षि मिस्तीमभारम् = अमुपमभारसम्पन्नं, निर्गतः सीमा नष्टमत्तः मिस्तीमभारसो भागो यस्य तत् । इभुमौकैः = अङ्गुलीकृतस्य, सङ्गरस्योत्पत्तः । वज्र-कामुर्कैः, करपद्ममेव = हस्तकिमकमेव, कर इव पद्मम्, तेन मयूरभंसकाद्यदये’ति करक-समासः । पुण्यसदृशं = सुसमममानं यमा स्वाद्यवेति विद्याभितोषणम् । अमाकर्ष्य = अन्नासक्येति भावः । अमुना = वृद्धाग्रे स्पर्शितं = समृद्धं, ‘स्कापी वृद्धी’ इत्यत्रमाहारी-विज्ञायां कथय्य, ‘स्वयः स्वी विज्ञावायु’ इति स्व्यादेव । भुजगुमचनं = बाहु-कुचविपिनं, भुजा इव मुमास्तेषां वनम् । सफलं = फलसम्पन्नं, करोमि विविधमिति । कैलासपर्वताद्यपि पुस्तकस्य वरचमुच अस्मापनेन स्वकीयं भुजस्तद्वनवृक्षं सफलं विद्यास्वाप्तीति साधः । अत्र करकाऽऽह्वारः । वस्तुस्तत्सिद्धं वृत्तम् ॥ ४७ ॥

राजम् इति । अमाकर्षितकेन = अमाकर्षितेनैव भावेन । अङ्गुलीसङ्करवाक्यः ।

(बाबाभूतः प्रवेशं करोति ।)

बाबाभूतः—(परिक्रम्य कर दर्शयति साधः)

कैलास पर्वतको चोटीसे भी अधिकसारवाले और मिस्तीमभारसे भुज फलवन्तको हस्तपत्रसे भुजसे सहज ष्टाकर मैं हस्तमय वज्रक अपने बाहुकय वृक्षोंके वनको सफल बनाता हूँ ॥ ४७ ॥

राजम्—(वृजनेका माय विज्ञाकर) क्यों नवीनक जानकी नहीं करं गरं ।

राजाः—(विलोक्य, स्वगतम्) कथमिदं वराकण्ठोऽपि । (प्रकृतम्)
अहो, एतावति वीरलोके न केनापि तावदारोपितमैश्वरं धनुः ।

नूपुरकः—नारोपणीयं च ।

राज्यम्—कस्यचापि नाणीयते सीता । त्वयं अप्रहास एव बला-
वानपि ।

बाणः—(विहस्य) यवीष्टरां वीरकण्ठं तत्किमारोप्यैव हरभार्तुकं
नाणीयते सीता ।

रावणः—अः, कोऽयमक्षीकपयित्तः ?

उदण्डः—अस्मिन्महासङ्ग्रामेऽस्मिन्महा-

हेतावतामहादुःखमथावकाशोऽस्ति ।

वराकण्ठः = वराकण्ठोऽपि, 'वराकण्ठोऽपि कर्मण्यधिकरणेति' पञ्चमी ।

बाण इति । वीरकण्ठः = वीरद्वी ।

राकण इति । अक्षीकपयित्तः = मिथ्यापुत्रः, मिथ्यापुत्रित्वाऽभिमित्तकस्यपुत्र
इति भावः ।

आत्मपराक्रमं कर्तव्यमिति—उदण्डेति । उदण्डः अस्मिन्महासङ्ग्रामेऽस्मिन्महा-
हेतावतामहादुःखमथावकाशोऽस्ति ।

उदण्डेत्यादि = उदण्डः (वज्रतः) यद्विद्वान् (अतिवीर्यवान्, शीर्षमिति
भावः) अपराधं भावः, 'पुत्रादिभ्य इभ्योऽपि' लीगमिष्यत्यपः । तेन वज्रम् (मका-
कमानः) को पुत्रदण्डकण्डः (आहुदण्डकमूढः) तेन हेतुना (अनायासेन) वरा-

बाणः—(विसर, यत्न ही मन) यहाँ राजा भी कैसे आ गया ? (चुनकर) लायने
है, हमने वीरोंके समूहमें किसीने भी महेश्वरकी धनुको नहीं ठठका ।

नूपुरकः—यह बहुत किसीने भी नहीं ठठका आ लीगा ।

राकणः—देखें किते अभी सीता नहीं काँवें जाती । (देखी) यह सम्वार ही वरसे
सीताको ले जाती है ।

बाणः—(विसर) देखा वीरदर्प है तो शिवभट्ट बड़ाकर ही नहीं नहीं सीताको ले
जाते हो ?

रावणः—आः ! यह कौन मिथ्यापुत्रित है !

वज्रत शीर्षते मकाकमान बाहुसमूहसे अनायास ही वज्रक हीनेवाले लड़ाईमें केलास

बाणः—(हकीमम्) अये समरकलाकुण्ड ? एराकवठ, ममापि भुजमारं निस्तारं व्यपदिशसि । न जानासि किं, यतोऽत्रैव—

विपुः पादाभ्योऽपगतिरभसोत्सिक्तहृदया,
प्रयातः पातालं न कतिकतिधारणकरवम् ।
सहजे बाहुना चित्तिचक्रमास्तव्य सकलं,
अणुभातोद्भेदा फणफलकमालां फणितोः ॥ ४६ ॥

अथवा इति 'आत्ममानेकरवै'ति कारणात् । 'अर्थाद्विषयकत्वमुम्' इति सुमायमा ।

बाण इति । समरकलाकुण्ड = समरकलायां (युद्धकलायाम्) कुण्ड (मन्द-
क्रिया) तत्सम्बन्धी । 'कुण्डोऽमन्दः क्रियासुप्तः' इत्यमरः ।

विपुः इति । विपुः पादाभ्योऽपगतिरभसोत्सिक्तहृदया । पाताले प्रयातः कलं
चित्तिचक्रं पाहुना सहज आसज्य फणितोः फणकर्मभावां फणफलोद्भेदं कति-
कतिधारान् न अकरवम् इत्यन्वयः ।

विपुः = जनकस्य, बहोरिति भावः । पादाभ्योऽपगतिरभसोत्सिक्तहृदयः =
पादाभ्योऽपगो (अरण्यमरुयोः) वा प्रगतिः (प्रयासः) तस्यां अभ्येन (वीर्य)
कतिकम् (उत्सिक्तमुक्तं, गर्वमुक्तमिति भावः) हृदयं (चित्तम्) एव सा ।
सादृशोऽनुमिति शेषः । पाताले = रक्षाले, प्रयातः = गतः सन्, सकले = समस्तं,
चित्तिचक्रं = धूम्रचक्रं, बाहुना = भुजानां, सहजे = वक्रकृत्याम्, आसज्य = अभ्य-
सृज्य, फणितोः = नागराजस्य, शेषस्वेति भावः । फणफलकमालां = फणफलकानां
(फणापह्वानाम्) मालां (पङ्क्तिम्), बहोरपमेतत् । नागजरोद्भेदां = अपजरो
(भूभारे) उद्भेदं (धारणमयीदमहिता, नारद्विषामिति भावः) विषेवमेतत् ।
कति कतिधारान् = अणुविधवारान्, न अकरवम् = न कृतवान् ।

विपुश्चरणाऽभिवादनार्थं स्वयं पाताले गतवता मया भुजवन्धमाह्वे भूमिकं
विधायाम्परिमितवारं फणितफलासंहतिर्नारद्विषा मयाविद्येति भावः । सादृश्य
ममाभ्ये त्वदीया कैकालाञ्चक्राकरकाणां हारणमिति मया भूयोऽपि उपा-
कृताः । सिकविनीवृत्तम् ॥ ७९ ॥

बाण—(लीधपूर्वक) अरे युद्धकलां मन्दक्रिया एवम् । मेरे बाहुभारकी यी कारणात्
कृते ही नहीं जानते ही क्या ? किंतु कारणसे यही पर—

विपुषी (वक्रि) के चरण कमलोंके प्रणाममें घोंघटा करनेसे गर्वमुक्त चित्तवाले मेरे
पाताले जाकर समस्त धूम्रचक्रों द्वारा बाहुनीमें रक्कर सेवनशकी फणपङ्क्तियों इन्हीं
के नारसे मृत्यु कई बार क्या नहीं कर दिया ? ॥ ४९ ॥

राघवः—अरे, बलितनय ! बलितनयवृत्तिरसि, यवत्सीकविक्रमवर्णी-
नयः सत्यविक्रमस्य मे पुरतः स्वात्मानं विदम्बयसि ।

बाणः—कथं त्वमेव सत्यविक्रमः ?

राघवः—अथ किम् ?

दोष्णां न मे विदितवानसि वीरकम्पनी—

प्रासादविभ्रमवतीं पद्मीं गरिष्ठाम् ।

ये चन्द्रोत्तरगिरी करपङ्कवाङ्ग—

पर्यङ्कशापिनि वधुः कलत्रप्रतिष्ठां ॥ ५० ॥

राघव इति । बलितनय = बलितः (सजातयका) नयः (नीतिः) येन साः
सजातयका, हे नीतिप्रतिपालक इति भावः । तत्र चर्कं सजातमस्य सः बलितः,
'कल्प्य संजाते तारकाविष्य इत्यर्थः' इतीत्यतएव । चन्द्रा चर्के (विरोचनपुत्राय)
धनयः (पुत्रः), सजातयको । बलितनयवृत्तिः = बलितः (विक्रितः) नये
(नीती) वृत्तिः (पर्यक्रम) नयः सः । बाण इति । त्वमेव = भाग्य इति भावः ।
अविक्रमोऽप्यविक्रमवर्णीत्येवो बोद्धव्यः ।

दोष्णामिति । वीरकम्पनीप्रासादविभ्रमवतीं मे दोष्णां गरिष्ठां पद्मीं न विदित-
वान् अस्मि । ये करपङ्कवाङ्गपर्यङ्कशापिनि चन्द्रोत्तरगिरी कलत्रप्रतिष्ठां वधुरित्य-
म्वयः । वीरकम्पनीप्रभासविभ्रमवतीं = वीरकम्पना (दूरकम्पना) । यः प्रासादः
(निवासस्थानम्) तस्य विभ्रमः (विकारः) पद्मी (तन्मन्त्रिणम्), वीर-
कम्पनाधारवृत्तामिति भावः । मे = मम, दोष्णां = वाहूनी, गरिष्ठां = गौरवात्तिक्रम-
विक्रिप्ता, पद्मी = पद्मिनी, न विदितवान् अस्मि = न ज्ञातवान् अस्मि । ये = मे दोष्णाः
(वाहवः), करपङ्कवाङ्गपर्यङ्कशापिनि = करपङ्कवानाम् (हस्तकिसकपानाम्)
वधुः (उत्तमः, सम्पन्नः इत्यर्थः) वधु पर्यङ्कः (पश्यङ्कः) तन्त्रापिनि (तन्त्रिणे)
चार्करी चन्द्रोत्तरगिरी = निवर्तते, सजात इति भावः । कलत्रप्रतिष्ठा = प्रासादः-

राघव—हे नीतिप्रतिपालक ! अथवा हे बलिपुत्र नाम ! दुम्भारा भीतिम्बवद्
निबलित है, जो कि सत्यपराक्रमवाले मेरे सामने अपनेको विवशित कर रहे ही ।

बाण—क्या दुम्भरा सत्यपराक्रम वाले ही ?

राघव—और क्या ?

वीरकम्पनीके प्रासादके विनाससे सम्पन्न (वीरकम्पनीको आधारभूत) मेरे बाहूनीकी
गौरवपूर्ण पद्धिती दुम्भरा नहीं जानते ही । निम्नोत्तरे (मेरे बाहूनीके) करपङ्कवमें रहने
वाले निवर्तित सजातमें कलत्रकी प्रतिष्ठाकी चारण किया ॥ ५० ॥

वाणः—असमर्पणीकयागुविमहेण । तविहं धनुराण्योस्तारतन्धं निरु-
पयिष्यति ।

मञ्जीरकः—अये वाण-रावणौ, किमिदं नरवीरैकसमर्पणीकसीतापरि-
णयमनोरथेन विफलभायास्यते चेत्तःपदवी ।

वाणः—किमेतापता—

त्रिपुरसमधनवापारोपणोत्कण्ठिता धी-

र्मम न ज्ञनकपुत्री-पाणिपद्महाय ।

कञ्जस्तुल्यता, वज्रः = दलकतः । औरकपक्षीमासास्तुल्य मरुज्ज्वा, तद्विहितः
सैकावाचनः । मासादाऽकञ्जस्तुल्यः सहायः । मज्जे ! कीदृशं मार्गमिति वाचः ।
अज्ञोपमाऽकञ्जहारः । कञ्जस्तुल्यकं वृत्तम् ॥ ५० ॥

वाण इति । अक्षीकथाविमहेण = मिथ्यावचनककहीव । तारतन्धं = म्यूना-
विकारायम् ।

मञ्जीरक इति । नरवीरैकसमर्पणीकसीतापरिणयमनोरथेन = नरवीरिणु (मधु-
सूरेण) एका (अहिनीया, राम इति व्याख्याऽर्थः) तस्मै समर्पणीका (प्रक्षिपार-
णीया) वा सीता (जानकी) तस्या परिचये (विवाहे) अनोरथेन (नविका-
हेन) । चेत्तः पदवी = चित्तसरणिः । निरुक्तं = निष्कर्षं यथा स्वात्मा । ज्ञाना-
स्यते = वीक्षयते ।

त्रिपुरसमधमेति । मम धीः त्रिपुरसमधनवापारोपणोत्कण्ठिता, ज्ञनकपुत्रीपाणिपद्म-
माहाय न । अयि तु वज्रकवाजुपुङ्गविर्म्यूहमाकावकपरिमकहेकातान्त्र्याऽऽत्मवरा-
देत्यन्वयः ।

जम = वाणाऽमुरत्य, धीः = बुद्धिः, त्रिपुरसमधनवापारोपणोत्कण्ठिता = त्रिपुर-
समधनत्व (त्रिपुरारो, सङ्गतत्वेत्यर्थः) वापः (वज्रः) तस्याऽज्ञोपमे (व्यापुक्तता-
विवाहे) उत्कण्ठिता (उत्सुका) ज्ञनकपुत्रीपाणिपद्ममाहाय न = ज्ञनकपुत्र्याः
(जानक्याः, सीताया इत्यर्थः) पाणिपद्ममाहाय न (करकमकमहाय न), उत्क-

वाच—मिथ्या वचनककही कोई भावनेकता नहीं । इसकारण यह वज्र इस
क्षेत्रीके म्यूनाऽविकारायका निकपण करेगा ।

मञ्जीरक—अरे राग और रावण । नरवीरोंमें एक (अहिनीय) को समर्पण करनेके
लिए जोरसे सीताके साथ विवाहकी इच्छासे क्यों आनन्दोग विचलनको निरुक्त वनारसे हैं ?

वाण—वचनेसे—

मेरी बुद्धि किन्हीका वज्र कटानेके लिए उत्कण्ठित है, सीताके करकमक मरुज्ज्वाके लिए

अपि तु बहुलबाहुव्यूहनिर्व्यूहमाणा-

वत्तपरिमलहेताताप्यवाहन्मराय ॥ ३१ ॥

रायणः—

उन्मीकितेन शिखरेण दुरावत्तस्य

प्रागेव मे भुजवनस्य कृता परीक्षा ।

एषा विदेहतनयाकुचकुम्भकेकि-

कौतूहलाद्गिरिशकार्मुककर्मदीप्ता ॥ ३२ ॥

मिच्छेति शेषः । अपि तु, बहुलेश्वादि । बहुलः (बहुलः) मे बाहुकः (भुजा)
तेन व्यूहः (समूहः) तस्य निर्व्यूहः (व्यूहरहिता, एकेकाः प्रसारितेति भावः)
या माता (स्त्री) तस्या बहुपरिमला (सन्निभुमाभ्यां, 'बहुपरिमल' इति पाठान्तरे
तु सन्निभुमस्य स्यात्) तस्य हेतुमा (विकारोऽयम्) यत् तावत् (नृपस्य) तस्य
आवत्तस्य । समादरात् यत् अम धीकवण्डितास्तीति शेषः । 'आवत्तस्य' समा-
दरे तत्तर्जितत्वं बोधः । इति विश्वः । मदीया धीर्मानवीपानिपीडनार्थव्यूहमिच्छता
न वर्तते, इत्यपारोपणे प्रसारितबहुबाहुकतवाच्यबहुत्वसमात् एव उत्पन्ना विपत्तिः
इति भावः । आकितिवृत्तं, तत्त्वार्थं यथा—'नममयवदुत्तमं मासिनी भोगिनी' इति अ

उन्मीकितेनेति । दुरावत्तस्य उन्मीकितेन शिखरेण प्रागेव मे भुजवनस्य परीक्षा
कृता । एषा विदेहतनयाकुचकुम्भकेकि कौतूहलाद् गिरिशकार्मुककर्मदीप्ता इत्यन्वयः ।

दुरावत्तस्य = शिखरपर्वतस्य, कैलासस्थैत्यर्थः । उन्मीकितेन = संवृत्तितेन,
शिखरेण = शिखरे, प्रागेव = पुरैव, मे = मम, शिखरस्यैत्यर्थः । भुजवनस्य = बाहुवि-
पिनस्य, बाहुसमूहस्यैत्यर्थः । परीक्षा = परीक्षणं, कृता = विहिता । एषा = इषा,
अपरिमलेति भावः । विदेहतनयाकुचकुम्भकेकि कौतूहलाद् = विदेहतनयायाः (वनक-
मुतायाः, सीताया इत्यर्थः) कुचकुम्भयोः (पयोधककनयोः) या केकि (स्त्रीका)
तस्या कौतूहलाद् (कौतूहलम्) । गिरिशकार्मुककर्मदीप्ता = गिरिशस्य (शिखरस्य)
कार्मुकं (वृत्तः) तस्य कर्मणि (क्रियापाद्, आत्मनः कृपायामिति भावः) दीप्ता
(विद्यता) अस्तीति शेषः । विक्रमपर्वतस्यैव दुरावत्तस्यैव कैलासस्यैव कर्म प्रागे-

नदीः तस्मिन् बहुतेषु बाहुमौली बह्वेक करके उठाई गई भावकी दृष्टि दुर्गमिने निकलते
नृत्य करनेके नाट्यरङ्गे किं वलकण्डित है ॥ ५२ ॥

रायण—शिखरपर्वत (कैलास) को उठाई गई सीटी मेरे बाहुमौली परीक्षा पहले ही
कर चुकी है । नवी सीताके वनकनयोः कीकाके कौतूहलसे शत विषयदुखी उठाना है ॥

(नेपाथ्ये)

अमुरसुरमिक्षाचरोरणापामपि नरकिन्नरसिद्धचारणानाम् ।

नमसति यदि कोऽपि चापमेकम् मम बुद्धितुः स करग्रहं तनोतु ॥

रावणः—

हे रे भुजा ! कुबत चम्पुकलाकिरीट-

कोदण्डकर्षणयशोधयका (मलोकीम्) ।

वाञ्छुद्धिः, साम्यते सीतापाणिग्रहणाद्यमेव हरणापादोपनाम्नो व्यापारोऽवसिद्ध इति भावः । वसन्तसिद्धं वृत्तम् ॥ ५२ ॥

नेपाथ्यतो जनकहता मोदया भूयते—अमुरेति । अमुरसुरमिक्षाचरोरणां नर-
किन्नरसिद्धचारणानाम् अपि कोऽपि पृतत् चार्धं नमसति यदि स मम बुद्धितुः करग्रहं
तनोरित्यन्वयः । अमुरसुरमिक्षाचरोरणां = दैत्यविश्वराजसत्तयाणां, तथा नर-
किन्नरसिद्धचारणानाम् अपि = मधुप्वकिम्बुदपसिद्धकुलीकानां मन्थेऽपि, उभय-
त्राऽपि 'चाऽर्धे हृन्द्' इतीतरैतरयोगाद्वा । 'चापमास्तु ह्यौकवा' इत्यमरः ।
कोऽपि = कस्य, पृतत् = समिद्धुद्विधत्, चार्धे = इत्यार्धकम् । 'अथाऽक्षिपात् । वजु-
कापी चम्पुशरसतकोदण्डकास्तु' कम् । इत्यमरः । नमसति यदि = नतं करोति चेत्,
सहति वीर्य । सः = इत्यार्धकममनकतां वना, मम = मितिकाऽक्षिपते । बुद्धितुः =
पुण्या, सीताया इत्यर्थः । करग्रहं = पाणिग्रहणं, तनोतु=दिश्यातु । हरणापादोप-
नाम्नो यस्मै कस्मा अपि वक्तुहितं वाक्यं समर्थमिव इति भावः । पुष्पितामृत्, स-
त्त्वयन्ती यथा—

'अमुनि न मुनापस्तोयकारो मुनि न नदी नरणाञ्च पुष्पिताम् ॥' इति ॥ ५२ ॥

हे रे भुजा इति । हे रे भुजा ! त्रिलोकीं चम्पुकलाकिरीटकोदण्डकर्षणयशोधयकां
कुबत । अचिरात् विद्वद्बुद्धीवशो जगद्वनय । परिधूसराश्च च अङ्गीकुर्वन्मिमांसां यथा ।

हे रे भुजा = हे रे शङ्खः, महीवा इति सेवा । त्रिलोकीं = लोकत्रयी, स्वामित्य-
वातात्मिकामित्यर्थः, उद्वेगमिदम् । अयाणां लोकानां समादायिकोकी, ताम् ।
'तद्विज्ञाऽर्थोत्तरपदसमाहारे चे'ति समासस्तस्य 'संख्यापूर्वोद्दिष्ट' इति द्विगुस्तथा ।
'अकाराज्योत्तरपदो द्विगुः क्षिपामिह' इत्यनुसप्तमाद् 'द्विगो' इति कीच । चम्पु-
कलाकिरीटकोदण्डकर्षणयशोधयका = चम्पुकला एव किरीटं (मुकुटम्) यस्य स

(नेपाथ्ये)

दैत्य, देव, राक्षस, सन्, मनुष्य, किन्नर सिद्ध नीर पातन इत्येवं चो कोर् नीर स वजु
की पठति तो नद् मेरि मुनीका पाणिग्रहण कर से ॥ ५२ ॥

रावण—हे मेरे शङ्खगण ! तीनों लोकोंमें विजयीके वजु कीचमेरी वरस नकते तथैव

रावणः—(स्वगतम्) अरे हृदय, अलं कातरवत्, अयं तावत्कातर
कुण्ठीकृतवशकरुणं शितिकम्पकामुकं ।

अग्न्योऽपि कोऽपि यदि चापमिमं विकृष्य
सीताकरप्रहृषिधिं विवशीत धीरा ।

कङ्क्षां नयामि च गिराभ्युनयामि चेतां
द्रागानयामि च वशे जनकैश्चन्द्रपुत्रीम् ॥ ४५ ॥

सङ्कीर्णः—सखे, परम ।

वागस्य बाहुशिकरैः परिपीडयमानं

रावण इति । कुण्ठीकृतवशकरुणं=कुण्ठीकृतः (निम्नकीकृतः) वशकरुणः (रावणः)
येन, तस्मिन् । शितिकम्पकामुकं=हरवन्नुपि । कतराण्यः, वायोऽन्वहृदयं निष्का-
शवायो प्रविशतीति भावः ।

अग्न्योऽपि=अपरोऽपि, कोऽपि धीरा इमं वायं विकृष्य सीताकरप्रहृषिधिं
विवशीत वरि, (तर्हि) एतां जनकैश्चन्द्रपुत्रीं कङ्क्षां नयामि गिरा अभ्युनयामि द्राक्
वशे आनयामि चेवम्भवा ।

अग्न्योऽपि=अपरोऽपि, कोऽपि=अज्ञातनासवेयः, धीरा=यूरी वराः, इमे=
सविहृदवर्तिनः, वायं=भक्तुः, विकृष्य=कातोष्य, सीताकरप्रहृषिधिं=वागशी-
रसनिप्रहृषिभारं, विवशीत वरि=कृष्यान्वेष्टुं, तर्हि अहमिति शेषः । द्रमाक्ष=
इमां, जनकैश्चन्द्रपुत्रीं=विश्वेश्वरदुहितरं, सीतामित्यर्थः । कङ्क्षां=स्पृष्टीं, 'नयात्री'
इत्यत्र 'अकथितं चे'त्यनेन शौणकराक्षम् । नयामि=आपविन्यामि, 'कर्तृमानसा-
शीन्ये कर्तृमानवष्टे'ति कट् । गिरा=वाग्वा, अभ्युनयामि=प्रसादयामि द्राक्=
शीघ्रं, 'द्राक्प्रहृष्टसपदि मुत' इत्यमरः । वशे=आनयामि च=स्वाधीनां करिष्यामि
येति भावः । एतेन भावि आनशीहरणं सूचितम् । वसन्तसिद्धं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

वागस्येति । वागस्य बाहुशिकरैः परिपीडयमानं हृन्दुमीके इयं कष्टः कमा-

रावणः—(मन ही मन) अरे हृदय । इमं कातरं मत भवौ । किञ्चै रत्नमग्रे नम-
स्त्वं कर विद्या वस किञ्चन बढानेर्मे वद् चीन है ।

और यी औरी बीर इस भक्तुकी बढाकर सीताका पाकिध्वन कर केना यी सीताकी कष्ट
के नाशना और वासीसे अभ्युनय करेगा और अपनी वशवर्तिनी भी कर दगा ॥ ५५ ॥

सङ्कीर्णः—मित्र । वेशी ।

वागके बाहुशिकरोंसे परिपीडयमान यह किञ्चिद् कामादुरकी दचनरचनाओंसे प्रवर्तित

नेवं धनुश्चलति किञ्चिद्विपुलसौले ।

कामातुरस्य चवसाभिष संविधानै-

रम्यविरलं प्रकृतिचात मनःसतीनाम् ॥ ५६ ॥

रावणः—(सविषयमात्मगतम्) सीतानुनयप्रत्यूहविपुलेन दुरुपश्रुतिः ।
(प्रकाशम्) अये बाण, अपि नाम ते पलाशभारनिस्सारो भुजधारः ।

बाणः—कर्म भुजमण्डलमिवमाक्षोक्यन्नपि कटुभाषितां न मुञ्चसि ?

पुरस्त्र चवसां संविधानैः अम्यविरलं प्रकृतिचात सतीनां मनः किञ्चिद्विपुलसौले ।

राजस्य = बकिद्वयोः, बाहुनिक्षौः = रश्मिद्वयस्य सौलेः, बाहुना शिखराधीनं
बाहुनिक्षारमि, तैः 'उपमितं' वाचाविभिः 'सामान्याऽप्यकोरो' इति समासः । पश्-
चीवसमानं = पर्याकुलमानम्, इन्धुसौले = चन्द्रकोटरम् इह = समिकुलस्थितं,
चतुः = चतुर्ध्वं, कामातुरस्य = मन्त्रधातुस्य कस्यचित्समस्य, चवसां =
चवसानां, संविधानैः = रचनाभिः, अम्यविरलं = अविरलं, प्रकृतिचात = स्वभाव-
मुत्तीर्णं, प्रकृता चात 'प्रकृत्यादिभ्योऽपसंज्ञानम्' इति लुप्तीया, ततः समासः ।
सतीनां = पतिव्रतानां, 'सुचरिणां तु सतीनांभीपतिव्रता' इत्यमरः । मन इव =
विषय इव, किञ्चिद्विपुलं = अनापि, न चकृति = न संवदति, स्वस्थानादिति सेवाः ।
यत्नेन सीताकर्तृकं चापि राज्यमप्यारब्धवानमावधत् अवति । अत्र उदात्ताऽऽङ्कार-
चञ्चकचने चेष्टा—

'उदात्तास्तु सञ्चञ्चकचने कस्तुनः प्रतिविम्बकम्' इति । कस्तुनः सति कस्तुनः ॥ ५६ ॥

रावण इति । सीताऽनुनयमापूहविपुला = सीतायाः (जानक्याः) अनुनयः
(प्रविपातः) तस्मिन्मपूहः (विपुलः) तस्य विपुला (बुद्धिः) । सुस्पष्टतिः =
बुद्धिः अपश्रुतिः = (प्रपञ्चणम्) । अदिरलं प्रकृतिचातः ।

बाण इति । हेठयराजेन = कार्यवीर्येण । कार्यवीर्यो राजर्षे निम्ना कारागारे-
नन्वाविति पुराणप्रविरलं वृत्तम् ।

स्वभावमुत्तीर्य पतिव्रतार्थे मनसं सताम कुञ्च यो मर्दो पत रद्दा है ॥ ५६ ॥

रावण—(विषयके सप्त पञ्च ही मन) सीताके अनुनयने विपुली सुचना करनेवाली
वह हट कमरुति प्रकाशित हुई है । (पुनःकर) अरे बाण । तुम्हारा बाहुधार पलाशमार
के लीक साराहीन हो गया है क्या ।

बाण—एत बाहुमण्डलको देखकर भी तुम क्यों नहीं कटुभाषणको चोखते हो ?

राक्षसः—तत्किमनेन करिष्यसि ।

बाणः—यत्कृतं हेह्यराजेन ।

राक्षसः—इदमसीं ते भुजवन् नित्यमपानतः निर्वहामि ।

बाणः—इदमहं त्वत्प्रतापान्नतमनेकतपिरप्यपुन्यितनित्यपादुमस्त-
हचनित्यनिर्मुक्तभाराद्यभारासारैः हम्भामि ।

राक्षसः—

हे बाण, तुझ मधि बाणघाताणि पञ्च,
तत्परित मे करतले करपाकवल्ली ।
हे पञ्चबाण, विदूषा त्वमपि स्वभावात् ,

राक्षस इति । निर्वहामि = मिश्रीये यथा वशासना मन्त्रीकरोमि ।

बाण इति । नैकैश्चरितैः बाणि = अनेके (बाणः) चरितः (भुजवन्) ये
बाणः (अर्थात् वशासने इन्द्राशुभानि) तेः पुत्रियताः (सम्पत्ताः) ये भिन्नाह्वः
(एवमुक्ताः) एव वकाहकाः (सेवाः) सेवा निवहः (समूहः) तस्मादिर्मुक्ताः
(विमुक्ताः) ये नारायाः (अश्वेकनाम, सर्वकोहमयाः सरविलेपः) सेवा नाराः
(कल्पनाः) सासासासारैः (मसणैः), 'अश्वेकनाम् नाराया' इति 'स्यादासारः
मसणम्' इति आसहः । सम्भामि = सम्मिलं भवामि ।

हे बाणैति । हे बाण ! मनि पञ्च बाणघाताणि तुझ । मनु मे करतले करपाकवल्ली
अस्ति । हे पञ्चबाण ! त्वमपि स्वभावात्, विदूषा । मनु सा पुत्रियकोकककभक्तकी
पुत्रीत्वन्वयः ।

हे बाण = को बाणाऽसुर ! मधि = मद्भिन्ने, पञ्च बाणघाताणि = बाणपञ्चकी,
तुझ=मधिप, मनु=हे बाण, 'अप्याऽश्वेकनाम्नाऽशुभपाऽऽमन्त्रे मनुः नृत्वनरा ।
से = सम, करतले = पालितले, करपाकवल्ली = कल्पवृक्षा, 'मक्की तु प्रसतिर्कते'-

राक्षस—तव दस (बाहुमण्डल) से क्या भरोते ।

बाण—जी कर्तवीर्यने किया था (तुम्हें जीवंगा) ।

राक्षस—मैं तुम्हारे दस बाहुमण्डल की मर्ते प्रतापान्तिते मित्रित कर आज काहंगा ।

बाण—मैं तुम्हारे दस प्रतापान्तिकी अनेक सुन्दर वनियों (मयया एतादृशों) से
सम्पन्न अपने बाहुमण्डल मेंसे छोड़े गये नारायणों की वृत्तियों से उता खाहंगा ।

राक्षस—हे बाणासुर ! मेरे ऊपर वीर ही बाणोंकी छोड़ो । मेरे हाथमें कल्पवृक्षा है ।
हे पञ्चबाण (कालदेव) ! तुम भी अपने बाणोंकी प्रकट करो । सीतमूत्रके मृगयणाकृत

नम्येति सा युचतिस्त्रोक्तस्तान्मन्त्राः ॥ ५७ ॥

नूपुरकः—अये बाणराजनी, स्ययमेकस्मान् यर्पयन्ती न लज्जेते ? ।

(अये बाणराजना, त्वयं त्वन् बाणानं भज्यन्ती न लज्जेते)

राजकः—विष् मूर्ख, लज्जामन्त्रोक्तस्तान्मन्त्रादराकण्डः, मनु रे,—

मन्मोदरीकुटिलकोमलमेवमाह—

मन्दारवामनकरमन्दरसं विवन्तः ।

वीजानिनादमधुरमणिमुपविशन्तो

महिकामं मधुरकरा अपि कीर्तयन्ति ॥ ५८ ॥

त्वमहा । मन्त्रि = विवन्ते, अतो मन्त्रं विवेकीति भावः । हे राजाण = अरे राजा
त्वमपि, त्वमात्मन् = मित्रमाराध, विदुषु = प्रकटीकृत । मधु = हे पञ्चबाण !, सा =
सुखमधिकवाता युचतिस्त्रोक्तस्तान्मन्त्राः = युचतिस्त्रोक्ते (लज्जीयसूत्रे) कृतान्मन्त्रा
(मधुरकराभूता, लोनेति भावः) एति = आगच्छति, अतो मन्त्रं लज्जामन्त्रो
विवेकीति भावः । नतन्मन्त्रिकं वृत्तम् ॥ ५७ ॥

राजक इति । भावैकराजना = भावमा (मित्रा) इव एकः (एककः) काव्यम् ।
(मन्मोदरीयः) पश्य सा ।

माध्वमेव मधुर मधुरकरा अपि महिकामं कीर्तयन्तीति प्रतिपादयति—
मन्मोदरीति ।

मन्मोदरीकुटिलकोमलमेवमाह—मन्दारवामनकरमन्दरसं विवन्तो वीजानिनादमधुर-
मणिमुपविशन्तो मधुरकरा अपि महिकामं कीर्तयन्तीति भावः ।

मन्मोदरीत्यादिः = मन्मद (कृतम्) उदरे (कण्ठगया—मन्मद) कथाः
सा मन्मोदरी (मधुरकुटी, मधुरकण्ठित्यर्थः) तरयाः कुटिलः (बाणः) कोमलः
(मधुरकः) वा केवलस्य (कुलककथायाः) तस्मिन्निहितं मन्मदमारवाम (मधुरक-
कुलममावयम्) मन्द मन्मदरसं (पुष्करस्य) विवन्तः भवन्तः । अत एव—
वीजानिनादमधुरमणिं = वीजानिनादः (वलकली मन्मदः) इव मधुरमणिम् (मुक्ति-

लोता मारवा इति ॥ ५८ ॥

नूपुरकः—अरे राम और राजक । त्वयम् नयना वर्णन करते हुए तुमलोग कहिये
यही होते ही ?

राजक—विष् मूर्ख ! राजक अपने भाप ही तेहे मन्मोदरीय है । देख रे ।

मन्मोदरीति कुटिल और कोमल कोसमारतें विवन्त मन्मोदरीयाके पुष्करको पीते
हुए मन्मद वीजाके सहस्र मधुरमन्त्रको प्रकट करते हुए भीरे भी तेहे परमेश्वरका कीर्तन
करते हैं ॥ ५८ ॥

बाह्य—कथमयं सुरवरकृतसुमद्यजक्यनीषकाभिनीजनोपभोगसौभाग्यं
विद्वन्मयति ? तद्विदानीध—

अग्नी मे क्रोर्दग्धास्तु क्रिधद्वातीतैकशिक्षाया-
स्तु रज्ज्वाहं दग्धकृत्तिकरतलम्यास्तकुक्षिभ्यम् ।
पयभूम इवैरं विद्वाद्यनमुन्मूह्य सकर्तं,
अस भीतोद्यार्णं सुरतदमनोर्षं विव्यत् ॥ ५३ ॥

सुखदुःखानाम्) अद्वितीयः = अद्वैतान्तः, असाद्यमान इति भावः । मनुष्येन यदि =
अमरा यदि, किमुत देवमनुष्यः । इत्यपि देव व्यक्तते । अत एवाऽऽर्थापत्तिः
कदाचिः । अद्वितीयं = अत्यन्तं, कीर्तयति = कर्तव्यं । अतन्नातिक्रान्तम् ॥५८॥

मान्य इति । सुरतकलुषमयामकमनीषकमिनीमनोपनीमसीभाष्यम् = सुरतलो
 (मन्वदरत्न) यत् कलुषमयम् (पुन्यकलुषम्) तेन कमनीयम् । काममनोपनीः य
 कामिनीमनः । (कल्याणम्) । मन्वोपनीमसीभाष्यम् (मिर्मसकलुषम्) । विद-
 म्भाष्यम् = भगवतोति ।

कायः वसुधैव कुटुम्बकम्—ममी इति । सुविपश्चरैकैकलिकता ममी मे दोषंभ्यः
 ॥३॥ सुविपश्चरैकैकलिकता ममी मे दोषंभ्यः ॥३॥ सुविपश्चरैकैकलिकता ममी मे दोषंभ्यः ॥३॥

दुहितृदरसौतेन किञ्चरः । = दुहितम् (अपमितम्) दुरसौक्यम् (शिकम्भकम्,
 कैलासस्येत्यर्थः) दृक् (मुख्यम्, 'दृके मुख्यः शब्दकेवला' इत्यमरः) शिखरं (शिखरम्)
 वेष्टे । वसी = पूते, मे = मम, दोषं यथाः = बाहुवन्धाः, साहस्यदुहितृदरसम्भवात्तदुहितम्
 अहङ्कारत्वात् (अहङ्कारेण) सहितं यथा तथेति क्रियाविशेषणम् । करतले (हस्तौ-
 सौ) म्वस्तं (निहितम्) कृतिनां (यत्नम्) येन साः पश्य । तादृशं तृताक्षाद्वम् =
 धर्मं, परामुखम् = विमिश्रितम्, सङ्घर्षं = समग्रं, विदलनम् देवोपवनं, जन्मनकात्रमिति
 धामः । स्वीरं = स्वच्छन्दं यथा स्वात्तयेति क्रियाविशेषणम् । इन्मूढम् = अन्मूढितं
 कृत्वा मम = बाणाऽधुरस्य, कीडोद्यानं = लेखमुपवनम्, उदरमेतत् । दुरस-
 मलोक्षं = मन्दारपावपमलोदरं, विदधतु = ध्वन्युत् । कैलासपर्वतम् अत्र यथा अहङ्कारे

बाबू—बहु किस प्रकार मन्दारपुष्पोंकी फाँलसे क्षयमानोष्ण जलमयी उपभोगके लीलायुक्ता वर्णन कर रहा है ! इसकीज नभी—

कैलासपर्वतको एक खोटीसी उपमित दे मरे वाङ्मरक, नगहारके साथ हामरें नक
कोनले इमको शीतकर समस्त मध्यमकायको स्वच्छन्दतापूर्वक बन्नुभिता ह्य मेर
श्रीवीरालको देवदुर्गो मरौदर बना बाई ॥ ५५ ॥

(इति निष्पन्नः)

रायणः—कथमयं निर्गतः ? अहं तु—

अनादृत्य हठात् स्त्रीतां नाऽभ्यस्यतो गच्छन्मुत्सहे ।

न शृणोमि यदि कूर्माकम्बुमनुजीविनः ॥ ६० ॥

मञ्जीरकः—वत्से जानकि ! अश्रुना त्वैवैकरक्षणीयासि ।

रायणः—(कर्णं दत्त्वा) अये, कस्याऽयमाकम्बुः श्रूयते नभसि ।

(विपुर्न निरुध्य) नूनमनेन कस्यापि साराचपीडितेन कठोरमाकम्बुता गण-

पकाहस्तं पुरन्दरं पराक्षित्य गणनकामनोऽभूकमपूर्वम् सदीपं स्त्रीक्षोपकम् मन्धारादि-
शूरवक्त्रकोदरं कुर्वन्निवसि भावः । अश्रुपताऽभ्यङ्गः । शिकारिणीवृत्तम् ॥ ५९ ॥अनादृत्येति । अश्रुजीविनः कूर्म आकम्बुं न शृणोमि यदि, स्त्रीतां हठात् अना-
दृत्य अभ्यस्यतो गच्छन् न ज्ञत्वा इत्यन्वयः । अश्रुजीविनः = अश्रुचरस्य, कूर्म = कठिनम्,
आकम्बुं = वदितव्यमिति । न शृणोमि यदि = न आकर्णयामि चेत्, एतेनभावी
भारीकम्बुः शृण्यते । तर्हि स्त्रीतां = जानकीं, हठात् = वक्राकारमाश्रित्य, 'एषण-
क्षोपैकर्मन्वधिकरमेवे'ति वक्ष्यते । 'प्रसन्नं तु वक्राकारेण हृत्' इत्यमरः । अनादृत्य =
आदरमशङ्क्य । अभ्यस्यता = अभ्यसिन्मन् रभावे, 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति सार्व-
विधकिञ्चस्तसि । गच्छन् = गच्छन्, न ज्ञत्वा = ज्ञत्वा न कश्चित्प्राप्ति, वर्तमानसा-
मीन्ये वर्तमानवद्वा' इति कर्त्तुः । अश्रुपुष्पसमम् ॥ ६० ॥मञ्जीरक इति । अश्रुना = हृद्भावी, भावाश्रुदे रते सतीति भावः । त्वैवैकरक्ष-
णीया = आत्मरक्षणायैव रक्षया । रायणस्य एतदर्थं प्रतिज्ञायां सत्यामिति भावः ।रायण इति । रायणमयपारिभा = आकाशमार्गगामिना । भवितव्यं = भाव्यं,
आकाशमययोगः ।

(इति कश्चर निरुक्तता वै)

रायणः—कैते मद् निरुक्त गता ? मै स्त्री—

अश्रुचरको कठोर रोचमन्मनि न शृणुगं तौ स्त्रीपत्नी हठे दत्तकिमे विना दूरी-
भावे वागेवे किं वत्साह गच्छी मर्कता ॥ ६० ॥

मञ्जीरकः—वत्से स्त्रीति । एतत्समयं तुम् केचन भाग्यते द्वौ रक्षणीय द्वौ ।

रायणः—(कात देहः) करे । आकाशमे मद् किन्तुके रीनेछे नावावे छुवी चानदो
है । (अश्रुपुष्प विचारकर) निश्चय ही मद् किन्तुके नारायणे पीडित, कठोरकम्बुते

नपयचारिणा मारीचेन भविष्यम् । तदेवमान्वासयामि तावत् (इति निष्पन्नः) ।

नूपुरकः—वयस्य, दिष्टया व्याघ्रस्येव मुखात् कुरङ्गीनाम्य हस्तादु-
र्बलिता जानकी । (वयस्य, दिष्टिषा वयस्य विष्य मुखादौ कुरङ्गी विष्य वयस्य
हस्तादौ उन्मरिषा जानकी)

मञ्जीरकाः—सखे, यथमेतत् । तदेहि । वृत्तान्तमित्रं जनकपुत्रस्य
निवेदयामः ।

(इति निष्पन्नः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः ।

—००००००००—

नूपुरक इति । निष्ठया = भाव्येन, मन्त्रवन्निष्ठ ।

मञ्जीरक इति । जनकपुत्रस्य = मिमिक्षोरवरस्य, 'कर्मदीयानि सन्तानानि
विषयाणां वक्तव्ये'ति निष्पन्नसंज्ञानाम्नाश्रयात् ।

इति निष्पन्नः सर्वे इति । सर्वनिष्पन्नस्य च अङ्गावसानमुच्यते ।

इति प्रथमोऽङ्कः ।

—००००००००—

रीतिवाक्यं तथा व्याकाशमार्गं चक्रीवाक्यं मारीचं होता चादिप । इत्यत्रापि इत्यने
व्याकाशमं वेत्ता ह । (अन्तर निष्क भगता ह)

नूपुरकः—मित्र । भाग्यते व्याघ्रके मुखे वृणीषी तद्व हस्तके क्षाधते सीता वनी ।

मञ्जीरकः—मित्र । ठीक है । इत्यदि भाषी । यद् वृत्तान्त मन्त्रात्मककरो
निवेदन करें ।

(एव एव निष्क चादि है ।)

प्रथम अङ्क समाप्त ।

—००००००००—

द्वितीयोऽङ्कः

([तपः प्रविशति तापसा])

तापसा—(समन्तादवलोक्य) अहो,—अयमनेकशुक्रशावकाभुसामनि-
ताम्यद्विरिक्तावितानमनोरसारासमणीयस्तन्निवेशप्रवेशः । (निपथ्यामिश्र-
मवलोक्य) कथमयं मिश्रः ? मिश्रो, इत इतः ।

(प्रविश्य)

मिश्रः—अपि कुशलं तापसस्य ?

तापसः—सैममस्माकम्, दुस्मानं च कुशलम् ?

सत इति । तापसा = तपोऽस्यास्तीति 'अपूर्व' इत्यण् । तापस्यै 'तपः सङ्ख्याभ्यां
विनीती' इति विनिर्वाचये तपस्वीत्यपि 'तपस्वी तापसः पारिकल्पिते' इत्यमरः । अने-
कशुक्रशावकाभुसामनितान्मद्विरिक्तावितानमनोरसारासमणीयस्तन्निवेशप्रवेशः ॥
अनेके (बहुधा) ये शुक्रशावकाः । (कीदृशितानाः) तेषामभुसामेन (अमात-
सेन) वितानं (पृथक्तं यथा स्वास्य) द्विरि (द्विरित्यर्था) वा कृता
(यद्वा) तस्या विनीतं (वितारा) । तैत मनोरसः (सुन्दरः) च आस्यः (उप-
पन्नः) तस्य रमणीयः (मनोहरः) सन्निवेशः, (निवेशनस्यानन्तं) पश्चिमन्ता,
तापसा मनेको ई कृतता । १ मिश्रः = मिश्रमणीकः, मिश्रस्त इति 'मिश्र मिश्रपा-
सकसे कामे ये'ति धातोः 'समाससमिश्र' इति अमरः, 'मिश्र' परिभाषा कर्मन्तो
पासाकर्षणि मरुत्तरी' इत्यमरः ।

मिश्रमिति । कुशकमपि—कल्पयामसि मिश्र । अपि प्रयत्नात् । 'शङ्कोरमुच्य-
मन्महासम्भाषास्वपि' इत्यमरः ।

तापस इति । सैममस्माकं, 'मातुके अमिकं भव्यं कुशले सैमसिवाय' इत्यमरः ।

(अमन्तरं तपस्वी प्रवेशं कृता है ।)

तापस—(पार और देखकर) नहीं ! अनेक ओलोंके समायमसे अतिस्वयं द्वे वयं
वाली कृताने वितारसे सुन्दर उपपन्नी रमणीय स्थितिवाका यह स्वास्य है । (निपथ्यके
समस्त देखकर) वैसे यह मिश्र नामका । मिश्री । शर इत ।

(प्रवेशकर)

मिश्र—तापसका कुशल है ?

तापस—हमारा कुशल है, दुन्दारा कुशल है ?

मित्रः—इत्याधीं निवेष्टो भवद्वर्जितः ।

सायसः—(पुनः सज्जनम्) ननु कीदृशं सहीपर्वटमेव भाग्यो भवति ।
तत्र मित्रिकायां पञ्चरात्रविद्यासेनं मनोऽपनेतव्यः । असङ्गादयं च राजा
जनको द्रष्टव्यः ।

मित्रः—किन्नुस्माकं निरीहणां राजद्वर्जितम् ।

सायसः—नूनमयं ब्रह्मविद्यामिनोवकुलसः सखु सीरम्बजः । तेन
बहुभुजित एव भवाद्वरतम् ।

मित्रः—अये, राजापि ब्रह्मविद्यावानिति सत्यमेतत् ?

मित्ररिति । मित्रेयतो = मित्रधत्वात्, मित्रकर्मस्तीति शेषः ।

सायस इति । कीदृशं = कीदृश्येव, 'तत्र तद्वेदे'ति वक्षिष्यन्त्या । यथा कीदा
कल्पते यदा पर्वटसि तथेति भावः । मित्रिकायां = पञ्चकपुरांशु ।

मित्ररिति । निरीहणां = निरभिकाप्यन्त्या, मित्रेहा वैभवात्वात्, 'इत्या
काङ्क्षा इहोहाप्यन्त्या' क्लिप्ता मनोरथाः । इत्यमरः ।

सायस इति । सीरम्बजः = सखः । ब्रह्मविद्यामिनोवकुलसः = ब्रह्मविद्याविद
मिना ब्रह्मविद्या (वेदान्तविद्या), 'सकर्मविद्यादीनां सिद्धयः कुरुपद्वेपयदोव-
सम्भवात्' इति अयमवकुलोपी सखः । ब्रह्मविद्या विमोहनं (मनोमोहा)
समिन्कुलाः (मित्रः) । सखइति = भवत्सखया, ब्रह्मविद्यामिनोवकुलसः
मित्रैरिति भावः ।

मित्ररिति । ब्रह्मविद्यायात् = ब्रह्मविद्यासम्पन्ना, सखतो राजानकवीराणां वृद्ध-
मीतिवैवाऽमिमित्रिसम्पत्ति इति भावः । सखं = सख्यं, काङ्क्षा मरतो भव्यते ।

मित्रः—इतस्तमेव आपके वरुणस्य विष्टेरकपटे कुशलम् है ।

सायसः—(तिर प्रेमके सख) साय कीदृशी दृष्ट इत्यनें पर्वटव करुणैरे कळ गवे है ।
इतकारेय मित्रिकापुरीमें वीच रात विमानकर गरिमको इदना पादिने । अतस्तमे
राजानकका भी वरुण करना चाहिये ।

मित्रः—इसारे दैते निरुहणोंको राजाके वरुणसे वरुण ज्ञेयम् है ।

सायसः—मित्रव ही ये सखाराम सीरम्बज केद्वयमित्राते मनोरथन करनेमें मित्रु
है । इतकिय आपके घरीके मित्रुनोंको उनका वरुण करना प्रिय ही है ।

मित्रः—अये, राजा भी ब्रह्मविद्यावाके है, क्या यह सच है ?

तापसः—भिन्नो, सत्यमेतद्, देवस्य दरा—(इत्यर्थोक्ते) देवस्य दितिकण्डस्याहम् ।

भिन्नः—(भिन्न) अलग्नतापेन । विदितं मया, राक्षसः कञ्च भवाम् ।

तापसः—तत्कथं विदितं को भवामिति ?

भिन्नः—अहमपि भवामरा एव कोऽपि राक्षसः ।

तापसः—तवाकर्षणम् । अहं हि सकलमन्त्रिमुकुटमाख्येन साहचर्येण प्रविष्टस्तारुकावनम् । आकर्णितं हि तेन यद् किञ्च कोऽपि कौशिको नाम मुनी राजाभमयोभ्याधिपतिमेत्य ह्यमररक्षणाय तस्य रामभामार्ग

तापस इति । अम्यासचरात्पुनरुक्तस्येति वक्तुमिच्छति । रक्षयतिर्वैवमिवा वृक्षपक्ष्मन्तरेव कृतिकण्डस्याहमेति कथयति । कृतिकण्डस्य = महादेवस्य ।

भिन्नइति । भयकापेन = विद्वेगेन, स्वभाषणोपमेनेति भावः ।

तापस इति । विदितं = विनाःपूर्वकं मया ध्यातया 'विदितम्' इति पाठान्तरेऽप्यप्येवार्थः ।

भिन्नइति । भवामरा = भवामराया ।

तापस इति । सकलमन्त्रिमुकुटमाख्येन = सकलमन्त्रिणां (समस्तभौमधिया-नाम्) मुकुटमाख्येन (किरीटमावदसदृशेन, मण्डितवरेणेति भावः) । साऽमुजं = साऽभारत्, कथमनसहितमिति भावः । मित्रमवनात्पामपि = ह्यनेनाम्नामपि, वाक्-विधेभ्यो देहस्य, देहान्नपनेनियमस्य प्रियतरत्वं मसिद्धमेव । मित्रतनवी = स्वपुत्री, शमरुच्यन्ताविति भावः । तस्य = कौशिकमुनेः, 'कौशिकीनामपि सम्भवनामवि-काया कञ्चमे'ति नियमात्सामान्यतया सम्भवत्वं बोद्धवम् ।

तापस—भिन्नो । वह सत्य है । देव दरा—(देता नागा ही कण्डर) देव जी-कण्डरों भांका है ।

भिन्न—(देहवर) मुह दोन्हीही भावपक्षता नहीं है । मैंने जान किं कि भाव राक्षस है ।

तापस—तब दिवसातकी साम न्याय कहिय कि भाव कौन है ।

भिन्न—मैं भी भावसे सहज कोई राक्षस है ।

तापस—तब सुनिय । सम्पूर्ण मन्त्रियोंकी मुकुटकी भांकाके सहज मास्वदान्ते मुझे तादृशत्वमने मेला है । कर्मोंने मुना है हि कौशिकनामक किसी मुनिने मनीष्याके रात्रिके नास-वाधर भवने यवकी रक्षाके लिए बनके राम जानके पुनको छोटे भारे

तनयं सानुजं याचितयाम् । तेन चावरयं माननीयो मुनिरिति निजजनका-
भ्यामपि प्रियतमौ निजतनयौ तस्य समर्पितौ ।

भिष्णुः—ततस्ततः ।

वापसः—ततस्तेन मुनिना पारितोषिकं तादृक्पुण्यमर्पितं तस्य राजः ।

उक्तं च, 'राजम्, दिव्यमिदं तादृक्पुण्यम् ।

तद्विदं वीरसूकर्णनिषेधोचितमित्यसौ ।

अन्तःस्फुरन्ती रत्नानां वर्णमाकेव वसति ॥ १ ॥

तेन च कीशल्या कर्णयोर्निवेशनीयम् इति । अनुमतं च राजा । राज-

तादृक्पुण्यं = कर्णभूषणविशेषसुन्दरम् । दिव्यम् = स्वर्णवर्णम्, विदि भवं 'सुमन-
'पस्तुद्वयसीधो वत्' इति यत्प्रामाण्यम् ।

तद्विदमिति । तद् इदं वीरसूकर्णनिषेधोचितम् इति अन्तःस्फुरन्ती वसती
रत्नानां वर्णमाका वसति इत्येवम्भयः ।

तद् = सुवर्णमसिद्धम्, इदं = सज्जितकुहरयं, तादृक्पुण्यमिति भावः । वीरसूकर्ण-
निषेधोचितं = वीरं स्यात् इति वीरसूः (वीरमाता) तस्याः । कर्णयोः (भूषणयोः)
निषेधाच्च (भाषणाच्च) उचितम् (योग्यम्), अस्तीति बोधः । इति = पृथक् ।
अन्तः स्फुरन्ती = अन्तः (अन्तर्गतरत्नानां) स्फुरन्ती (प्रोत्तमाना), वसती =
वृधं, रत्नानां = मणीनां, पञ्चरागादीनामिति भावः । वर्णमाका = वर्णानां (रत्नकी-
लादिकृपाणां, पञ्चान्तरे अक्षराणाञ्च) माका (पङ्क्तिः) वसति इदं = सूचयति इति ।
वर्णमाका यथा कदापि विषयं सूचयति तथैव तादृक्पुण्यमन्तरवर्त्यमन्तरवर्णमाकाऽपि
'तादृक्पुण्यमिदं वीरमध्वारणयोग्यम्' इति सूचयतीत्येति भावः । उक्तोवाचकत्वात् ।
आह्वयः कृतम् ॥ १ ॥

तेनेति । अनुमतं = स्वीकृतम् ।

(कृष्णम्) के साथ याँगा । वसती है वी 'मुनि अवश्य मान्य है' ऐसा ही वरद नेनीके भी
मित्रताम अपने दोनों पुत्रोंको भण्डे साथ दिया ।

भिष्णु—तब क्या हुआ ?

वापस—भगवन्त मुनिने पारितोषिकके ती० वर तादृक् (कर्णभूषण) पुण्य राजाको
अर्पित किया, वीर कहा, राजा । यह तादृक्पुण्य दिव्य है ।

कीकमसिद्ध यह तादृक्पुण्य वीरमाताके भीषणुमने रत्नकेके लिये योग्य है । यह
बात वीरर 'अमलती तुरई रत्नोंकी वर्णमाका (रत्न पीत भाँति वर्णों की वा अक्षरीकी
पङ्क्ति) केरे सूचित कर रही है ॥ २ ॥

इतकारण इसे वीरसूयाके कानमें रक्ता चढ़ाये । राजाके भी स्वीकार दिया ।

कुमारद्वानुगतोऽनं निजाभमपरं प्रति गतं च मुनिना ।

विष्णुः—ततस्ततः ?

रायसः—तदिदमाकर्ण्य तत्ताटश्रुत्या कङ्केश्वरजनन्या लिङ्गवाया एक कर्णोचितमिति विचिन्त्य तदाङ्कुरणाय पूर्वमेव ताटकां प्रति निजानुचर एकः प्रस्थापितः । अधुना च नूनं ताटक्या तत्ताटश्रुत्यामाहृतमिति विचार्य तवानयनाय ताटकां प्रस्थानं प्रवृत्तः ।

विष्णुः—कथं पुनरिह कृताम्तजातमाकर्णितं मास्थयता ।

रायसः—

वार्ता च कौतुकवती, विमला च विद्या

लोकोत्तरः परिमलम् कुरङ्गनाभे ।

वैद्यस्य विन्दुरिव वारिणि दुर्मिवा-

मेतत्तथं प्रसरति स्वयमेव भूमी ॥ २ ॥

रायस इति । कङ्केश्वरजनन्या । कङ्केश्वरवध (राजयस्य) जनन्याः (मातुः) कर्णोचितं = कर्णोचितयोग्यमित्यर्थः ।

वार्तावेति । कौतुकवती वार्ता, विमला विद्या, कुरङ्गनाभे लोकोत्तरः परममलं दुर्मिवास्तु इतत्तथं वारिणि तैस्तस्य विन्दुरिव भूमी स्वयमेव प्रसरतीत्यन्वयः । कौतुकवती = कौतुकोत्प्रेषकप्रसन्नप्रवृत्ता, वार्ता = वृत्तान्तः 'वार्ता' प्रवृत्तिर्बृत्तान्त इत्यन्ता स्वात्' इत्यमरः । विमला = निर्मला, विद्येति भावः । विद्या = पुरुषार्थप्रतिपादकं साधनम् । कुरङ्गनाभे = पूगमयस्य, कस्तूरी इत्यर्थः । लोकोत्तरः = श्रेष्ठतमेव, परिमलम् = सुगन्धम्, दुर्मिवा = मिवाविशुद्धमवयवम्, प्रसरति = प्रसरति, वारिणि = लके, तैस्तस्य = तिकादिस्नेहस्य, विन्दुरिव = वृषत् इव, भूमी = पृथिव्या,

और ही राककुमारोसे अनुगत श्रुति थी अपने आभयकी थके गये ।

विष्णु—तब क्या हुआ ?

रायस—एक सुनकर वह ताटश्रुतक रावणकी माता लिङ्गवाकी ही कर्णश्रुत्यके योग्य है वैसा विचारकर जले कनिषेकिव ताटकाकी पास चढ़के ही मरमा एक अनुचर भेजा गया है । वही भी 'निश्चय ही ताटका उस ताटश्रुतककी का सुकी है' वैसा विचार कर चले कनिषेकिव ताटकाकी दाँस में डेका गया है ।

विष्णु—इन वृत्तान्तोको माण्यमान्ने कैसे सुन लिया ?

रायस—कौतुकपूर्ण वृत्तान्त, निर्मल विद्या और कस्तूरीपुगवा कीरनेक सुगन्ध, मणिपारंथे वे तीनों, कर्णों केकरी कूँके सहज दृष्टीमें अपने नाप देक जाते ॥ २ ॥

विशेषतः बहुतरंगप्रतिध्वनिधारायै माह्वयाम् ।

मिश्रुः—तत्कार्यं मिथिलोपपत्तेः भवाम् ? ।

सायसः—आकर्णितं हि मयि मिथिलानागतो जङ्घेय इति । अतस्त्व-
श्लोककृत्य प्रथममिहागतः । अमुता च तादृकमनं यस्यामि । तत्कथय
तामङ्गलाम् पुनः कतरः ।

मिश्रुः—अत्रापि स एव यः प्रथमं तादृकं प्रति ग्रहितः । मिथिलो-
पपन्नमनकारणं समानमाययोः ।

एवमेव = आत्मनेव, सहायकनैरपैरपैवेति भावाः । अतस्त्वित्यस्यमभिव्यक्तिः ।
असौ प्रथितस्तैरपिपुनरपि विस्तारमाप्नोति तस्यैव सुदृष्टकोत्यादिषु वाता, सुधर-
मवाध्यास विद्या मृगमदपरिमलस्य सहायकान्तरपैरपैवेत्येव मत्तारसञ्चित्त्याप्नोति
भावाः । अत्र मत्तुतायाः वातायाः अमत्तुतयोर्विद्युः। अत्रानिपदसिद्धयोदय नृमिमत्त-
रणकय एकधर्मैः। निसम्बन्धादीपकमकङ्कारस्तत्कथनं यथा—

‘अतस्तुतप्रस्तुतयोर्विद्युः सु मिगयते ।

अथ कारकमेकं स्याद्देकासु क्रियासु चैव ॥’ इति ।

एवमुपमाकङ्काररवेति द्वयोर्वाक्त्रिमं सङ्गरः । यस्याभक्तिं कृतम् ॥ २ ॥

मिश्रोपपत्तयेति । बहुतरंगप्रतिध्वनिधारायै = बहुतराः (अधिकतराः) ये प्रति-
धवाः (चाराः) तावत् प्रतिधाति (मिथोजयति) तन्वीका, ‘सुध्वजती मिथिल-
पत्तीरपै’ इति निमित्तः । ‘यस्याऽर्थं वर्णं प्रतिधिरपसर्वतरः स्वताः । चारज गुरुपुष्प-
मयेत्येवम् ।

सायस इति । सहायकं = तत्तद्व्यवहर्कभूतसहितम् वाग्व्याभ्यां सहित-
मिति, ‘तेन सवेति सुध्वयोः’ इति बहुव्रीहिः, ‘बोपकर्मस्थे’ति सङ्ख्येय कलायः ।
विकल्पस्यापकान्तरे ‘सहायक’मिति ।

मिथिलोपपत्ते माह्वयाम् अनेक सुध्वरोका प्रवन्व करति है ।

मिश्रु—हो नाच कैसी मिथिलको कवचनमें आयी ?

सायस—तैने सुना कि जङ्घेय (रावण) मिथिलमें आगये है । इसलिय रहके
इसके दर्शन करनेकेलि मैं पहुँच आया । अभी ही तादृकमनको आकाश । कहिय नाच
कीज है ।

मिश्रु—मैं भी यही हूँ जो कि पहले तादृकमि गत लेना क्या क्या । मिथिलको कवचन
(वागीचे) में आयेका रावण इसीमोंका एक ही है ।

तापसः—(सार्धम्) तत्कथय सार्धम् । तर्कि स्तादृक् सम्प्रति ताट-
कावनम् ?

मिथुः—सताटकमिति तावत् पूच्छ ।

तापसा—क पुनः सम्प्रति ताटका ? ।

मिथुः—पुरीं प्रविष्टा ।

तापसा—तर्कि प्रसारयस्य ?

मिथुः—नहि नहि, अन्तकस्य ।

तापसा—केन पुनः प्रतिहारयितमम्यकपुरीप्रवेष्टो तस्यः ।

मिथुः—रामभायेनैव ।

तापसा—क एव रामः ? (विचरन्) कूर्णं स एव यः कञ्चु प्रसारय-
कुमारघोरभजः । तत्कथय, कं पुनरपुना ताटकावनम् ?

मिथुमिति । सताटक = ताटका सहिते, वनमिति शेषः ।

आम्यकस्य = रामराजस्य आम्यकसीत्यात् । 'पञ्चाद्यच्' । आम्यक एवाभ्युक्तः 'कञ्चो
इत्यभर' । आह्वयेनो वैवायव्योऽभ्युक्तः ।' इत्यमरः ।

तापसा इति । प्रतिहारयिते प्रतिहारयन् (द्वारपाठस्य) भावयितव्यं । ताटका-
वनम् = ताटकापुरी, कुवाकुमारीभावमिति भावः ।

तापसा—(इयं तावत्) तावत् कथय । तव कथा मया ताटकावनम् तादृक् है ?

मिथुः—'ताटकाके वनम् ताटका है ?' यह कहिये ।

तापसा—जी वत सत्य ताटका कहीं है ?

मिथुः—वसन्ते पुरीमें प्रवेश किया ।

तापसा—व्या वसन्तकाली पुरीमें ?

मिथुः—नहीं नहीं, वसन्तकाली पुरीमें ।

तापसा—किसने वसन्ते वसन्तकाली पुरीमें प्रवेश करनेकेलिए द्वारपाठको ताटका
भावयित किया ?

मिथुः—राजने राजने ही ।

तापसा—यह राज कौन है ? (विचार कर) विशय ही नहीं है जो इसराजके शीतों
-कुमारोंमें प्रवेश है । अथ कहिये, कि इससमय ताटकाके पुन कहीं हैं ?

मित्रः—सुधाहुस्तापसादकमेयानुगतः । मारीचोऽपि शिशुकीकोपि-
तरामनाराचपीडितो जीवन्मुक्त इव दूरं क्षिप्तः ।

तापसः—तत् कथमिदानीं न कथितं केनापि लङ्घ्येश्वरस्य ।

मित्रः—कथितमेव किलोदसाग्रन्दता मारीचेन ।

तापसः—तत्कथं कुपितो न लङ्घ्येश्वरः ।

मित्रः—सीताभिलाषशीवले लङ्घ्येश्वरचेतसि नास्ति एव कोपपरिवर्तः ।

तापसः—ह पुनर्युना रामलक्ष्मणी ।

मित्रः—मुतं मया कौशिकानुपदं तदाभमाभिमिक्षां प्रति प्रचक्षिता-
विति (विभीषण) (सत्राष्टम्) कथमिदौ तावित यथाभिवर्तते । तद्वत्स्य
मिराचरभैरिणो रामस्य पुरतः स्थातुमनुचितमाश्रयोः ।

(इति निष्कान्तौ)

इति मित्रकम्भकः ।

मित्रमिति । साध्वामेव = स्वमातृमेव, अनुगतः = अनुवातः । रामवामेव
व्यापारित इत्यर्थः ।

मित्रमिति । आक्रमणं = आक्रमणं कुर्वता, कथित्वर्थः । कौशिकानुपदोऽपि
सीतावास (आनन्दवास) अभिक्षा (मण्डपमण्डपः) तेन वीरके (सीते) ।

निष्कम्भककर्णं प्रथमांशे गतं, तत्राज्यं मध्यमपत्रमपोमितत्वाच्छ्रुतः ।

मित्रः—सुधाहुने तो तापसाका ही अनुगमन किया । मारीच भी शिशुकी को
नन्दता रामके वाराचसे पीडित होकर जीव-मुक्तके समान दूर पँका गया ।

तापसः—तब अभी इस बातको लङ्घ्येश्वरके पास शिक्षाके क्यों नहीं कहा ?

मित्रः—चित्काकर मारीचने इस बातको कह दी दिया ।

तापसः—तब क्यों लङ्घ्येश्वर कुपित नहीं हुए ?

मित्रः—सीताकी वृष्णाके वीरक लङ्घ्येश्वरके चित्तमें कोपका परिचाय कहा ही नहीं ।

तापसः—अभी राम और लक्ष्मण क्यों हैं ?

मित्रः—मैंने सुना कि कौशिक आधिका अनुगमन कर जनके नाममसे राम और
लक्ष्मण विधिवान्नी कहे गये । (ईश्वर और वासके साथ) कैसी ये दोनों इसी और वाराच
हैं ? इतकारण राजाके देवी रामचन्द्रके आगे हम दोनोंका रहना अनुचित है ।

(अन्तर दोनों निकल जाते हैं)

इति निष्कम्भक

(एतत् प्रविष्टौ समकक्षमणौ)

रामः—यत्स लक्ष्मणः, परं परं यत्स रामजीवकम् ।

लक्ष्मणः—आर्य, भिसर्गैरमणीयोऽयमात्मनः । जन्तुना तु मनुमासा-
वतारेण नितान्तरमणीयः ।

रामः—(सहर्षम्) कथमवलीर्णैव मनुमासलक्ष्मीः (विस्मय) य-
मेतन् । तवादि—

इह मनुपवधूना पीतमल्लीमधूना,

विकसति कमनीयः काकलीसम्पदायः ।

राम इति । आरामरामणीयकम् = आरामरम्य (उपवनस्य) रामणीयकम्
(सौन्दर्यम्) । रमणीयत्वं भावो रामणीयकं, वीरकादृगुकीरमादृगुन् इति गुण-
मुपोरनामी इति तस्यऽन्वयः ।

लक्ष्मण इति । भिसर्गैरमणीयः = भिसर्गेण (श्रवणात्) रमणीयः (सुन्दरः) ।
मनुमासावतारेण = मनुमासस्य (चैत्रमासस्य) अवतारेण (आविर्भावेन) ।
‘वपुर्वैवे वेविको मधु । इत्यमरः ।

राम इति । मनुमासलक्ष्मीः = चैत्रमासलक्ष्मीः ।

इहैति । इह पीतमल्लीमधूना मनुपवधूना कमनीयः काकलीसम्पदायौ विकसति ।

इह इक्ष्वाग्निकेन प्रतिपद्य उपविष्टा वपुर्वैवे मधुरी लक्ष्मीं तद्वतीत्यन्वयः ।

इह = अत्र, आराममयेन इति भावः । पीतमल्लीमधूना = लीलाणि (आवा-
न्ताणि) मल्लीमधूनि (मलिका पुष्पवृक्षाः) रैलीनां, ‘द्वयद्वयं तु मलिका ।
धूपदीप्तितासीकरचेत्यमरः । मलिका ‘वैली’तिनामना मलिकं पुष्पम् । मनुप-
वधूना = जमरवीणां, जमरीणांमिषयः । कमनीयः = मनोहरः, काकलीसम्प-
दायः = सपुत्रसम्पदायः, विकसति = आविर्भवति । इह = अत्र, आराममयेन,
इक्ष्वाग्निकेन = मकयाऽथकसमीरेण, प्रतिपद्य = प्रतिपद्यं प्रतिपद्यन्निवेष्टं वा,
उपविष्टा = कृतोपविष्टा, मधुरी = अशोकम्, मधुरी = अश्वरी, ‘मधुरिममरि’ ।

(एतं राम और लक्ष्मण प्रवेश करते हैं)

राम—यत्स लक्ष्मण ! उपवनका सौन्दर्य देखो देखो ।

लक्ष्मण—आर्य । यह उपवन स्वभावसे ही सुन्दर है । इसलिये ही चैत्रमासके
आविर्भावे और ही सुन्दर ही रहा है ।

राम—(हर्षके साथ) क्या चैत्रमासकी बीमा आ ही गई । (विचार कर) यह
देखा है । वैसे कि—

इह उपवनमें देखीके फूलका रसपीनेवाले । जमरियोंका सुग्ग मधुरमनिका

इहं नदति सखीसं मन्त्रये वाचस्पत्यम्.

मल्लिकार्जुनप्रसाद कृष्णचन्द्रभट्ट

अपि न—

महर्षिशिष्यराजकुलैवायं मयोक्तव्यास्तथा

शुभमकारणं जेतुं बलवत्तु यत्नतः।

विहितमस्ति कैलाशेऽग्रे भुजङ्गधरं हरे

मनसि विमृशन् भीतः छाकं प्रयासि हनौ हनौ ॥४॥

श्रीश्री हृद्यमरः । सफीकं = सविचारं = क्रियावित्तैवमिदम् । नदति = गूणवति ।
अथोपदिष्टेयमेवादिशब्दाभावात्प्रतीक्ष्यमाणमिदमस्तत् । सावित्रीपूजक १ ॥ ३ ॥

मकयसिद्धादिभिः । मकयसिद्धाद आर्कसां भूदवधत्तं मनोभवसाधनात्
 तेषु बाण्ड्यु चमत्तसमीरणं । कैलासाग्रे विहितवसतिं शुभकृत्तं इदं भवति किमुक्तं
 सीताः सनेः सनेः प्रवाति (इति) कथं इत्यन्वयः ।

सकपशिसारात् = सकलाऽप्यकथ्यतात् इतिगिरिः, कौटिकासं = कैकासाऽप्यक-
थनंवात्, वसतिगिरिपर्यन्तमिति भावः । भुवनवर्ध = लोकावर्धकं, भगोवत्काल-
दात् = मन्त्रवादेकात्, नेतुं = एवापसीकृतुं, वाञ्छन् = इच्छन्, वसन्तकालीना =
शुद्धिदाता, कैकासाज्ये = कैकासपर्यन्तशिक्षणे, विहितमस्ति = विदितः (कृता)
वसतिः (वाक्) वेन, तस्य । भुजङ्गवरं = सर्वभारकं, सर्ववक्त्रधारिणमिति भावः ।
हृत् = महादेवं, मयसि = पिते, विद्वान् = भाषयन्, ततः भीतः = भयतः कर्तुः,
कालैः कालैः = मन्त्रं मन्त्रं, प्रयाति = मन्त्रकति, (इति = एतत्) वाङ्मे = भाषाङ्गे,
अहमिति शेषः । इतिगिरिपर्यन्तादुत्तरपर्यन्तं जगतीमण्डलं मन्त्रवादेकात्प्राप्त-
कृतं वाञ्छन् वसन्तदाताः कैकासाऽप्यकथिते कृतदासं भुजङ्गवरं ॥ स्यात्वा इ-
त्यमन्त्रयोर्वैरेण हृत्भुवनभुजङ्गानां स्वरदाहकत्वेन च भीतः भवपि प्रमोदादिसत्त्वा-
वसितकमनीषावाग्मन्त्रप्रकपेन वारीति सङ्क्षेपमिति भावः । तथेवाहङ्गुहः । इतिभी-
वृत्तं, तत्कथने यथा—इत्युगहृत्स्वीं ओस्लौगो यथा हरिणी तदा । इति ॥ २ ॥

संशोधन कीमति हो रहा है। महा वाणिज्याध्यक्षासु प्रतिष्ठित अथवा पत्राचारमें कपटिक-
अधोक्तरी मजदूरी विनाशके साथ मुख्य अट रही है ॥ ३ ॥

श्रीर श्री—

मध्यपूर्वस्थी बोटीसे कैलासपर्वतपर्यन्त मोक्षमण्डली हामरेपक्षी आवाहे जीतनेको
दम्मा। फरतत हुवा नसम्पन्नहुका बाबु कैलासपक्षी बोटीमें बास फरने बाके सर्वे भारत
नरनेबाके मन्दिषको मतमें विचार करत हुवा फरतत पीरे पीरे ग्द रहा है मै मन्दी
आजहा करता हूँ ॥ ४ ॥

(पुनरन्वतोऽन्वयोऽयम्) अये, इयमसौ मयकलकलस्योत्तंसितसितसरोज-
राजिराजिता सरसी सरसीकरोति मे चेत् । (पुनः सकौटुम्) अये,
कथमयं नलिनीवनविहारिणी सहचरीमपि विहाय कदाहंसपोतरचतुर्विड-
पान्तरालमनुसरति । (अर्धं हत्वा) अये, क एव मयकलकरिकनकभृङ्गा-
मणिरणितानुकारी मनोहारी कोऽपि कलकलः समुज्जसति ? (विस्मयः)

इति भावस्तस्य रमणी (विवाहिनी) सासमृद्धौ । हे देवि चमिके ! त्वां = मयतीं,
ममनुवागिमिषुमयामि, 'ममो वरिविचित्रा वयम्' इति नयनान्तरात् । नार्था कति-
कलकलने यथा वृत्तयोः—

'वस्थाः पादे मयमे, ह्यादसमाश्रयता एतीयेगि ।

अहाह्व द्वितीये, वतुर्के यत्तत्त साऽर्धा ।' इति ।

यत्त वतुर्णीतिपद्येव इति कथममयकलकलकलकलमिति विभावयन्तु विप-
क्षितः ॥ ६ ॥

पुनरिति । मयकलकलस्योत्तंसितसितसरोजराजिराजिता = मदेन (अत्यन्तम्)
कलाः (मधुराभ्युदयसम्पुकाः) ये कलहंसाः (राजहंसाः) तैवत्सितानि
(मृदितानि) सितानि (दुष्कानि) यावि सरोजानि (कमलानि) तेषां राजिः
(पङ्क्तिः) तथा राजिता (सोमिता), सरसीतिपद्यस्य विशेषमभिपद्य । 'कलहंसस्य
कादम्बे राजहंसं वृषोत्तमे' इति मेदिनी । सरसी = कासारः । सरसीकरोति = गीतक-
रोति भावः । मयकलं लक्षं यथा सम्यक्ते तथा करोतीति 'कम्पसितयोगे सम्यक्-
करोति वि' इति विरः । कलहंसपोतः = राजहंसविष्टः । चतुर्विडपान्तरात् = आका-
शाकाऽभ्यन्तरात् । मयकलकरिकनकभृङ्गकामणिरणिताऽनुकारी = मदेन (अत्यन्तम्)
कलाः (मनोहराः) या करी (हरी) तस्य या कनकभृङ्गा (सुवर्णपिण्डाः) तत्र
यो मणिः (रत्नम्) सत्य रमितम् (राग्यम्) अनुकरोतीति तत्करीकः । साहसा
कलकलः = कोकादृशः । समुज्जसति = जाविर्भवति । राजहंसमिहितहारि = कल-
हंसाभ्यन्तरात्तन्मैवमित्यर्थः । हंसायां राजा राजहंसः 'राजवृत्तादिषु परम्' इति

(फिर इसरो नीर बेककर) अरे । मयती मधुर नीर मयकलकलस्योत्तंसितसितसरोज
भूषित रवेन कमलोंकी पङ्क्तिसे प्रकाशित वह ताकाच मेरे चितको सरस बना रहा है ।
(फिर कौटुम्बिके साथ) अरे । हेतु यह इतनायस कमलिनीके वनमें विहार करने नाही
भवनी सहचरीकी भी छोड़कर भागदुक्की साकाके मयभागका अनुसरण कर रहा है ।
(कामदेव) अरे । मयसे मनोहर हारीकी सुवर्ण शृङ्गामें अवस्थित मणिके सम्यक्का
अनुकरण (मकल) करनेवाला यह कैसा कीजदक पट रहा है । (विचारकर) निश्चय ही यह

चूर्नं राजहंसशिखितहारि मञ्जीरगुञ्जितमेतत् । तद्वदश्वमिह सखीताचक्र-
चरणरणन्मणिनूपुरया—पुराङ्गनया कयाचन अशिक्षाकृतनमोगच्छन्त्या
भवितव्यम् । तद्वत्तमस्माकमितोऽवलोकनेन परस्मीति शङ्कापि सङ्गोपाय
रघूनाम् ।

(नेपथ्ये)

भर्तृहारिके ! इत इतः ।

रामः—कयमित्यं राजकुमारिकम् ? तवालोकायामि तावत् । (विलोक्य
सहर्षभीतुम्)

केयं श्यामोपलभिरचितोऽस्तेकहेमैकोरेका-

राजपदस्य पूर्वमिषात् । 'राजहंसास्तु ते कञ्चुचरभैर्जोदितः शिताः ।' इत्यमरः ।
शितार्चं शिखितं, 'शिमि भव्यते शम्' इति भातोः 'ननुसके भावे च' इति जमजयः ।
राजहंसमिजितं हरसीति चण्डीकम् । मञ्जीरगुञ्जितं = नूपुरकम्पः । 'पादाभ्यां तुल-
कां शिर्षोरो नूपुरोऽङ्गिवात् ।' इत्यमरः । सखीताचक्रचरणरणन्मणिनूपुरया = सखीके
(सविकासं यथा स्यात्तथा) चण्डी (शङ्खन्ती) वी चरणौ (पादौ) लाम्बा
हमन्तौ (सवर्गं कुर्वन्तौ) भणिनूपुरी (एवमचित्तमतीतौ) चरयाः सां तथा ।
अशिक्षाऽऽद्यतनं = दुर्गममन्दिरम् । पुराङ्गनया = नगरद्वन्द्वम् । रघूनां = रघु-
नद्यानां पुत्रानां, कयमयाऽयमर्थः ।

नेपथ्य इति । भर्तृहारिके = राजकुमारि ।

राम इति । आलोकायामि = पर्यामि, कुसारीदृष्टौ शोपाऽभावादिनि भावः ।

लोकोर्नयमिति केवमिति । श्यामोपलभिरचितोऽस्तेकहेमैकोरेकाकम्पैः कलक-
कदलीकम्पकीर्णगौरैः हारिद्राज्जुह्वनदधरं कामिलपूरं वहतिः अङ्गैः कामकोटा-

राजहंसके शम्भुको भी बीतमेवाको मञ्जीरको आवाज है । इसपरि अवश्य ही यहाँ नर-
विकासके साथ चक्रमेवाके चरणोंसे शिखने मणिज्वलित नूपुर (पादौ) कम्प का रहे है
येही चण्डिकाभिरमें आनेवाली वह कोई नगरद्वन्द्वरी होती चाहिये । इसपरि एक
और इसकोमोकी देखना नहीं चाहिये । 'वह परसी है क्या ? येही सङ्गो भी रघुनन्दने
कल्पेन पुराणोंसे सङ्गोपादे लिख होती-है ।

(नेपथ्यमें)

राजकुमारि ! इत इतः ।

रामः—क्या वह राजकुमारी है ? तब देखता हूँ । (देखकर हर्ष और भीतृकके साथ)
कसीदी पर पिछी गई छत्रमेंकी नवितोय रेखानोंके सङ्ग संनिविष्ट, सोयेकी कदमके

हृन्मैरङ्गैः कतककदलीकम्बुलीगर्भगौरैः ।

हारिद्राम्बुद्रसहचरं कान्तिपूरं वहसिः

कामाक्षीकामधनचक्षुनीदीपिकवाधिरसि ॥ ७ ॥

(ततः प्रविशति सीता सखी च)

सीता—हृन्मै, परय परय, अयोवमुद्यानं वसन्तसहचरेण स्वयमेव
मन्मथेनाऽलङ्कृतमिवातिमात्रं रमणीयं प्रतिभाति । (हृन्मै, ऐक्य वेक्य-
अथ इत्युच्यते वसन्तसहचरेण सखं जेम्ब मन्मथेनालङ्कितं विच्य प्रतिमेतं रमि-
ष्यं पदिहादि)

भजनचक्षुनीदीपिका ॥ इयं का वाधिरस्योत्पन्ना । हृन्मैरङ्गैर्विरचितोक्तेषु
हेमैकैकालनैः = हयामः (कृष्णवर्णः) च उपर्य (प्रत्यक्षः, ज्ञान इति भावः)
तस्मिन् विरचितः (कृतः) उक्तेषु (उक्तेषु वाक्येषु) वक्ष्याः सा । तादसी वा हेमं
(सुवर्णस्य) वृक्षाः (अद्वितीयाः) रेखाः (केलाः) सा इयं कम्पाणि (सीध-
विहाति) ते । कतककदलीकम्बुलीगर्भगौरैः = कतककदम्बाः (सुवर्णरम्भातरो)
कदलीगर्भाः (अमृततरभागाः) च इयं गौराणि (पीताणि), ते । हारिद्राम्बुद्र-
सहचरं = हारिद्रं (हरिद्रासम्बन्धि) वक्ष्या (वक्ष्या) तस्य द्वयं (रसः) तस्य
सहचरं (सहचारिणं, सहसमिति भावः) तादसी कान्तिपूरं = सोभाप्रवाहं, वहसिः =
वाहयति, अक्षैः = वेदाज्जवैः, उपर्युक्तेति शेषः । कामाक्षीकामधनचक्षुनीदीपिका
इयं = कामाक्षीकामैः (भजनविलासाय) चक्षुर्धनं (मन्दिरम्) तस्य वक्ष्या (वक्ष्या-
शाका, उन्मेषेण इति भावः) तस्यां दीपिका ॥ = दीप इव । इयं = निकट-
वर्तिनी, का = वक्ष्या, वाधिरसि = प्रादुर्भवति । यत्र पादक्षय उपमा दुरीषे पाद-
अर्थे वा चेति हृन्मैरङ्गाङ्गिमात्रेण सहचरः । मन्मथकान्ताहृतस्य ॥ ७ ॥

सीतेति । हृन्मै = हे सखि ! 'हृन्मै हृन्मै हृन्मै' सीतां कैरी सखीं प्रति ।
इत्यन्तरः । वसन्तसहचरेण = वसन्तसमिन्नेन । प्रतिभात्यम् = अत्यर्थम् ।

मीनरी मन्मथे सहस्र दीपवर्ण नीर इक्षीके रसके सहस्र सोमप्रवाहक्षी वलन करनेवाले
आहुतिसे उपरहित पद्म कामाक्षीकाके भजनकी आदारीमें दीपिकाके सहस्र वह कौन मन्मथरी
प्रादुर्भाव हो रही है ? ॥ ७ ॥

(तब सीता नीर उन्मेषे सखी कहती है)

सीता—सखि ! देखी देखी । आज वह कौन्या वसन्तकी साथ किने हुए रत्न-
आलोकके ही चक्षुर्धनके सहस्र आहुति ही मन्मथर उगारदा है ।

सखी—अनवद्याङ्गि ! एषमेतत् ।

रामः—अये ! सर्वानवद्याङ्गीति वक्तव्यम् । नन्दस्याः—

बन्धूकबन्धुरधरः, सितकेतकासं

खसुर्मधूककलिकामधुरः कपोलः ।

दस्तावली विजितवाङ्मयीनराशि-

दास्यं पुनर्विकल्पवृद्धदत्तदास्यम् ॥ ८ ॥

सखीति । अनवद्याङ्गि = अनिन्दनीयदेहावयवे, नोद्यत इति नन्द = मित्र-
स्त्रीवत्, 'अनवद्यप्यनयां गार्हपतितम्याऽभिरोधेषु' इति निपातः । 'कुप्यङ्गित्वा-
वच्छेदार्थाऽङ्गः' समाः 'इत्यमरः । वाऽवद्यमनवद्यं, तादृजमङ्गं मस्याः, ताऽव-
द्यप्यङ्गी, तात्पर्यङ्गी । 'अङ्गप्राप्तकथेभ्यो वक्तव्यम्' इति वा लोट् । अतः संस्कृतोक्तिः
सीताशक्त्या वैदग्ध्यं कयापयति । पयोक्तं भरतेव—

'संस्कृतभाषाचाराः प्रायो वाटकेषु न क्षिप्यः रक्षाध्वजः ।

कचिदपि तपः प्रसादाद्विदग्धताबोधनाच्च सत्यमेव' इति ।

सीताया अनवद्यसर्वाङ्गत्वं समर्पयते—बन्धूकबन्धुरिति । अधरोक्तबन्धूकबन्धुः, अथ
सितकेतकाऽऽमं, कपोलो मधूककलिकामधुरः, दस्तावली विजितवाङ्मयीनराशिः
पुनरास्यं विकल्पवृद्धदत्तदास्यम् (भक्ति) इत्यन्वयः । कपरा = कोटः । सीताया
इति शेषः, एषं परमांशः । बन्धूकबन्धुः = बन्धुजीवकपुष्पसारथः, रत्नजस्तु बन्धूके
बन्धुजीवकः इत्यमरः । बन्धूकं आपासां 'दोषहरिया' इति नाम्ना क्वातं रक्तपुष्पम् ।
बन्धुः = मेघः, सितकेतकाऽऽमं = सितकेतकीपुष्पकान्तिसर्पः, सितकेतकत्वेवाऽऽमा
अस्य तत् । कपोलः = गन्धः, मधूककलिकामधुरः = मधूकस्य (गुग्गुलुस्य, मध्यामां
तु 'मधुभा' इति स्थातस्य) कलिका (कोरकः) मधुरः (मनीहरः), सधूके
तु गुग्गुलुसमज्जुमौ । आनन्दस्यमधुजीवो' इत्यमरः । दस्ताऽऽवली = दस्तावलीः,
विजितवाङ्मयीनराशिः = विजिता (पराजिता) वाङ्मयीनराशिः (कलकल-
जीवनाच्च) राशिः (मेघी) कया सा । 'समीकरकदाङ्गी' इत्यमरः । पुनः =
पुनः, आस्यं = सुखं, विकल्पवृद्धदत्तदास्यं = प्रकृतकमरुविहीनपदार्थं, विकल्प-

सखी—हे अनिन्दित भक्त्यामी ! आपका कदना सही है ।

राम—अरे ! 'अनिन्दित समस्त भक्त्यामी' कदना चाहिये । इसके मोह बन्धूक
(दोषहरिया नामके रक्तपुष्प) के लहस, तेज सनेद केतकीपुष्पके समान, कपोल मधूक
(मधुभा नामके फूल) के कोरकके पुष्प मनीहर, दातोकी पक्षि जनरके वीरको जीवने
वाली और मुक्त भक्तितम कनकको भी दास बनातेवाना है ॥ ८ ॥

अहो ! मुग्धाया अप्यस्याः प्रकृतिकमनीयपदार्थपरिशीलनीयवित्त्वचा-
दुरी । तथाहि इयं हि—

पद्माभ्यामुन्नमिद्वामधरयति शोभाऽभ्युन्नमिद्वामि

कराभ्यामादत्ते नभकिस्सल्लयानामरुणताम् ।

प्रवाहस्यच्छायां वसन्धसनाग्नेण पिबति,

स्मितज्योत्स्नापूरैरुपहसति कान्तिं हिमकचैः ॥ ६ ॥

कमनीय इति इत्थं वेत्तव्यम् । मुक्तं सौन्दर्याऽतिशयेन विकसितकमलतिरस्कारक-
मस्तीति भावः । इत्थं च सीता सर्वाऽभ्युन्नमिद्वामि नर्तते इति समर्थितं भवति । अत्र
पूर्वोपासनां सिद्ध्यामुपमावाचनान्तरप्रतिपादितयोर्होमोर्ध्वतिरेकयोश्चैकाग्र्याऽनुपमे-
कात्सङ्गः । वसन्धतिलकं वृत्तम् ॥ ६ ॥

अहो इति । मुग्धायाः = अपरिपक्वज्ञेः, प्रथमाऽभ्युन्नमिद्वामिद्वामि वा । प्रकृति-
कमनीयपदार्थपरिशीलनीयवित्त्वचादुरी = प्रकृता (स्वभावेन) कमनीयः (मुग्धाः)
यः पदार्थः (वस्तु) तस्य परिशीलनस्य (परिचयस्य) पदोचितम् (उचितता)
तत्र चादुरी (चादुर्यं, नैपुण्यमिति भावः) ।

सीतायाः प्रकृतिकमनीयपदार्थपरिशीलनीयवित्त्वचादुरीमुपमादयति—पद्माभ्या-
मिति । पद्माभ्यामुन्नमिद्वामि शोभाऽभ्युन्नमिद्वामि लभयति, कराभ्यां नभकिस्सल्लयानामरु-
णतया वादत्ते, वसन्धसनाग्नेण प्रवाहस्य छायां पिबति स्मितज्योत्स्नापूरैः
हिमकचैः कान्तिम् उपहसतीत्यन्वयः । अत्र इयमिति पदं पूर्वतोऽप्याहार्यम् ? इयं =
सीता, पद्माभ्यां = चरणाभ्यां, 'पदं व्यवसितित्वात्स्थानकचमनाऽऽवृत्तिस्तुम् । 'इत्य-
महं । उन्नमिद्वामि = विकसिताम्, उन्नमिद्वामि (निमीकितत्वम्) इत्याः सा उन्न-
मिता ताम् । शोभाऽभ्युन्नमिद्वामि = रक्तकमलकान्तिम्, अधरयति = अधरीकरोति । नभ-
कमलादपि अरुणतरुणौ सीताचरणवित्त्वामिति भावः । कराभ्यां = हस्ताभ्यां, नभकिस्सल-
लयां = नूतनपद्मवताम्, अरुणतां = रक्तताम्, वादत्ते = गृह्णाति, प्रत्यप्रकिस्स-
ल्लयऽभ्युन्नमिद्वामि सीताकराविति तात्पर्यम् । वसन्धसनाग्नेण = वसन्धसनाग्नेः
(वसन्धसनाग्नेः, अधरयोः इति भावः) अग्नेः (अग्नभागेन) प्रवाहस्य = विप्लवस्य =

अहो । नभश्च नभस्याग्नेर् अग्नेः रक्तकः, एवमावृत्तान्तर वस्तुके परिचयके नीयवित्त्वामे-
वगुहाई है । यः—

चरणौते निमीकित-रक्तकमलोश्च कान्तिश्चैव भावः करोती है । हाँसे से उभे पल्लवों की
छायाको ग्रहण करती है । शोभाओं के नम्रतापसे प्रवाह (वृत्ता) की कान्ति की भी जाती
है और नभ-हस्तकी कान्तिप्रवाहों से नभमाकी कान्ति का उपहास करती है ॥ ६ ॥

सखी—भर्तृदारिके, इदं तच्छिल्पिकायतनम् ।

सीता—(अञ्जलिं वदन्त्या) देवि, शराधरमौलिदेवार्धधारिणि, त्रिभु-
वन्महसुवासिनि, नमो नमस्ते । (देवि, ससहस्रमौलिदेवधारिणि, त्रिभुवनवर-
सुहासिणि, नमो नमो हे)

सखी—समुचितैव प्रणामपरिपाटी ।

सीता—(प्रणमकोपमां) लसमलीकजसिपतेन । (अलसलीकजमिदम्)

सखी—(अञ्जलिं वदन्त्या)

कान्तरमिन्दुमणिशामकोमले । कोमलेन्दुमुकुटाङ्गसायिनि ।

वार्ता = कान्ति, पिबति = खाद्यमिति, सीताया लघौ कान्त्यैव विदुमकांतिधरा-
शिवमिमांशः । रिमत्तज्ज्योत्स्नाधुरैः = रिमत्तस्य ('ईवद्विधासिन्धुयं रिमत्तं स्यात्स्व-
दिताऽधरस्य' इत्युक्तकणस्य मन्वहास्वस्य) ज्योत्स्नाधुरैः (कान्तिप्रवाहैः) हिम-
रुधैः = चन्द्रस्य, कान्ति = सोमाय, उपहसति = उपहासं करोति । सीतासिमत-
कांतिशब्दकोभातिरक्काक्षिणीत्याकृतम् । अत्र व्यतिरेकोपरयोरेकाग्रयाऽभुवनेशा-
ल्लङ्कारः । शिखरिणीकृतम् ॥ १ ॥

सीतेति । शराधरमौलिदेवार्धधारिणि = शराधरमौलौ (चन्द्रमोक्षरस्य, सङ्करस्ये-
त्यर्थः) देवार्धधारिणि (शरीरार्धधारणशीले) । त्रिभुवनमहसुवासिनि = त्रिभुवन-
भोज (लोकत्रयभोज) महसुहं (सकलम्) तस्य सुवासिनि (सुवासिनी) ।

सखीति । प्रणामपरिपाटी = अभिवादनपद्धतिः, समुचितैव = योग्यैव, लसमले-
कादिना पत्युनुरागादतिशयकिम्बुधनेत्यादिना देव्या अगद्व्यापित्यं तथा च—ततः
स्वस्या अपि पतिवाङ्मन्यं सततस्वगृहवासभोक्तिविशिष्टम् । मार्णस इति भावः ।

सीतेति । ललीकजसिपतेन = शिष्यामापितेन ।

कान्तरमिति । इन्दुमणिशामकोमले हेकोमलेन्दुमुकुटाङ्गसायिनि ! इन्दुमुन्दर-

सखी—रामकुमारि । यद् यद् चण्डिकायन्दिर है ।

सीता—(हाथोंको जोषकर) हे देवि । हे महादेवकी भर्ताहिनि । त्रिभुवनमहसुहमें
विवास करनेवाली । आपकी नमस्कार है, नमस्कार है ।

सखी—प्रणाम करनेकी पद्धति समुचित ही है ।

सीता—(प्रणमकोपके साथ) लल मल बीकी ।

सखी—(अञ्जलिं जोषकर)

हे चन्द्रकान्तरमणिशामकोमले इत्येव कोमले । हे चन्द्रकेशकी गौरमें सीदेवाली । चन्द्र

इन्मुवाकमधिरेण विन्दतामिन्मुन्दरमुषी सखी मम ॥ १० ॥

रामः—अये, कयसस्याः परिणयमनोरवप्रणयी सखीजनः, (विपुत्र्य)
अधितमेतत् । वयस्सन्धौ खल्वियं वर्तते । तयाहि—

अपक्रान्ते वासये, तदपिममि चागन्मुमनसि,

मुषी मम सखी अधिरेण इन्मुवाकं कान्तं विन्दतामिस्त्वया ।

इन्मुमणिदामकोसले = इन्मुमणिदाम (अन्तःकान्तमणिमाका) सेव कोसला
(मुकुटा) तस्त्वमुषी । हे कोमलैश्वर्यमुकुटासावित्री = बालकम्पनीकपुस्तकप्रपन-
कीके । कोमकः (बालः) इन्दुः (अन्तः) मुकुटा (शिखरः) यस्य सः, तस्य भजे
(ललिते) सेते तच्छोका, तस्त्वमुषी । हे पार्थिवे ! इन्मुमुन्दरमुषी = अन्तःमनोह-
रानना = इन्मुमुन्दरं मुषी यस्याः सा 'स्वाङ्गाधीपसर्जनावसंयोगोत्पन्ना' इति कीच् ।
शाहसी मम सखी = वयस्या, सीवेति भावः । अधिरेण = विप्रम् । इन्मुवाकः =
चन्द्रसममुन्दरं, कान्तं = वरकर्म, विन्दतां = प्राप्तेषु, विपुत्र्य 'कामे' इति भावो-
क्तम् । 'हेमुषादीनाम्' इति श्रुम् । सीताया इन्मुमुन्दरमुषीमिवावस्थाः कृते इन्मु-
वाकवरप्राप्तौ कृतायाः प्रार्थनाया औचित्यं प्रोत्पद्यते । अत्र विलेकणस्य साधमिप्राय-
त्वात्परिकराज्ज्ज्ञातः । एतेष्वप्युक्तं, तद्वचनं यथा—'शरराविह रधोदता कयी ।'
इति ॥ १० ॥

राम इति । परिणयमनोरवप्रणयी = परिणयसचोदने (विवाहाऽभिकामे) प्रणयी
(प्रवधमुक्तः) । वयःसन्धौ = वयसोः (वयस्यचोः, गन्धुतो वाक्यस्याऽऽप्यध्वतो
वोचनस्य चेति यावः) सन्धौ (मेलनकाळे) ।

सीताया वयः सम्भिः प्रतिपाद्यति—अपक्रान्त इति । वासयेऽपक्रान्ते, तदपिममि
च चागन्मुमनसि, मुगधये प्रवर्तते चतुरिममि च आरलेपरतिके सति इन्मुषीवरकतो
धदु धदुःकोनायि वयसा न स्पृष्टं तत् पतत् पञ्चयोः परमं मर्म इह जयति इत्यम्वया ।

वासये = शौचये, अपक्रान्ते = अपगते, तदपिममि च = तदप्येव च, तद्वचनं
वाक्यस्यभिप्रायः, तस्मिन् 'इन्मुवादिभ्य इमदिञे' । सीममिच् । चागन्मुमनसि = भाव-
मुमनसि सति, चागन्मुं भनौ यस्य सः, तस्मिन् । मत्यागत इति भावः । तु काम-

सहस्र मुन्दर मुकधे मुक मेरी सखी सीम अन्तःमाके तद्वच मुन्दर वरको धाध करले ॥ १० ॥

राम—भरे । उषी सेते इन्मे विवाहके अधिलाभमे प्रेय कर रही है !

(विचार ॥) यह शोच्य है । वह हो अवस्थाओं (वाक्य बीर जीवन) की सम्भिमं
रह रही है । जैसे कि—

वयपनके सीटनेपर, वयामीके कानेकी रम्भा करनेपर, नरवयपनके जानेपर बीर

प्रयाते मुग्धत्वे, चतुरिमणि बाह्योपरसिके ।

न केनापि स्पृष्टं यद्विद्य चयसा मर्म परमं

तदेतत्पञ्चमेयोजयति चतुरिखोबरद्वयः ॥ १३ ॥

अख्यो—अयि देवि, सत्वरं मे पूरय मनोरथम्, यावदियं न दुर्मना-
यो सखी ।

सीता—(उत्पन्नयकोपम्) किमिति दुर्मनाविषये । (किंति दुर्मनाविषयम्)

लक्ष्मणः—अयि राजहंसकन्यके, किमिति दुर्मनावसे, अयं ते मृत-
मिदं पान्तरितः क्वन्तः ।

मन्मथोरपीति मकारलोपः । तथा च मुग्धत्वे = अवरिपङ्कजकोमान्ते, प्रयाते = प्रगते,
अथ च—चतुरिमणि = चतुरभावे, मीलत्वा इति भावः । चतुरस्य भावचतुर्भा,
चक्षिम् । आरकोपरसिके = आरकजगमयिमि सति, न तु कृतादिके इति भावः ।
रसोऽस्याऽस्तीति रसिकः, जत इति ठगौ इति ठग्यत्वम् । आरकोपर रसिके ।
इन्द्रीवरद्वयः = मीलकमककोपमायाम्, इन्द्रीवरे इव द्वौ वस्त्राः सा इन्द्रीवरद्व्य,
छन्दो, सीताया इति भावः । इन्द्रीवरं च मीलेऽस्मिन् 'इत्यमरः । अथ चतुः
क्षरीरं, केनापि = कतरेणापि, वयसा = लवस्त्वया न स्पृष्टं = नाऽऽस्पृष्टं, बाह्यस्य-
यत्कालोऽन्यथा च आगतत्वादिति भावः । तत् = तादृशम्, मृतम् = मर्मापत्त-
वर्ति, पञ्चमेयः = पञ्चबाणस्य, कामस्येति भावः । परमम् = उत्कृष्टं, मर्म = लक्ष्यगुणं
अथ, इह = अस्मिन्, क्षातीति भावः । अयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति भावः ।
चिचरिणीवृत्तम् ॥ ११ ॥

सखीति । सखी = सीता । दुर्मनावसे अहमना दुर्मना भवति, 'भूषादिभ्यो
मुण्यभ्येर्कोपक दृक्' इति वयम् । किञ्चात् 'चतुराचक्षित जालमेवद्वय' इत्यामनेवद्वय ।
कवस्य इति । मृतमिदं पान्तरितः = मृतमिदं (बाह्यभाषायां) अन्तरित-
(न्ययद्वितः) ।

चतुरस्रके आरकजगमयि मर्म रसिक होनेपर इन्दरी (सीता) के बिल छतरीकी किती
व्यवस्था मे मी स्पृष्ट नहीं किया, वैया यह कामदेवक लेख मर्म (लक्ष्यगुण) होता हुआ इस
संसारमें उत्कर्ष पूर्वक रत्न रहा है ॥ १२ ॥

सखी—हे देवि । मेरे मन्मथको क्षीमपूर्ण क्षीमिद, अवगत यह सखी दुःखित न ।

सीता—(उत्पन्नयकोपके साथ) मैं क्यों दुःखित हूँगी ।

लक्ष्मण—हे राजहंसकन्यके । तुम क्यों दुःखित होती हो । यह इन्दरी मितवस
भाषाईकी काला (बाक) में व्यवहित है ।

सीता—हस्ता, कस्याऽयं करिकलमकण्ठनिर्घोषमधुरः कण्ठशब्दः
श्रूयते, तन्निरूपयामः । (हस्त, कस्य इमे करिकलकण्ठनिर्घोषमधुरो कण्ठ-
शब्दो श्रुतीयमिति सा निश्चयेन)

रामः—(सविचारम्) कथमियमनन्तरितैव लतया । (कर्ता श्रुति)

स्तनविजितस्तवकधीरधराधरितप्रधातुनवलक्ष्मीः ।

अथि लतिके ! तिरयन्ती तरलदृष्टं नावलम्बते लज्जाम् ॥१२॥

सीतेति । करिकलमकण्ठनिर्घोषमधुरः = करिकलमस्य (करिषावकस्य, अथ
कलमपदेनैव करिषावककृपाऽर्थावबोधे सति पुनः करिष्वं प्रथममिति न शब्दं, 'विशि-
ष्टवाचकानां पदानां सति पृथग्विधोपन्यासकपदसमवधाने विशेष्यमात्रपरत्वक-
'इति न्यायेन कलमपदस्य शाब्दकृपाऽर्थत्वं तदा करिकलमपदेन करिषावककृपाऽ-
र्थत्वं बोद्धव्यम् । काव्यदत्तकृतसूचकतापाननस्तु—'करिकलमशब्दे करिषाव्यस्ता-
मूष्यस्येत्याह । करि=मीवकुञ्जरा, तद्रूपः कलमः करिकलम इत्यर्थाः ।) कण्ठनिर्घोषः
(गण्ठशब्दः) स इव मधुरः (माधुर्ययुक्तः) श्रुतिश्रुत इति भावः । निरूप-
यामा = परीक्षामः ।

रामो कृताग्रपुष्पमते—स्तनविजितेति । अथि लतिके ! स्तनविजितस्तवकधीर-
धराधरितप्रधातुनवलक्ष्मीः तरलदृष्टं तिरयन्ती (त्वम्) कज्जां न अवलम्बते ?
इत्यन्वयः । अथि लतिके=अथि लतते, अपीति कोमलाम्भने । स्तनविजितस्तवक-
धीरधराधराधरितप्रधातुनवलक्ष्मीः (कुचाभ्याम्) विजिता (अभिगृता) स्तवकधीः (गुणध्वजोभा) धराधा-
सा । तदा अधराधरितप्रधातुनवलक्ष्मीः = अधरेण (भोष्ट्रेण) अधरिता (तिर-
स्कृता) प्रधातुन (पञ्चकस्य) प्रवलक्ष्मीः (चतुर्नभोभा) - एस्याः सा । अत एव
तरलदृष्टं = चपलवधर्मा, सीतामिति भावः । तिरयन्ती = क्षाण्डादयन्ती, लम्बिति
शेषः । कज्जां = मीकां, न अवलम्बते = न आश्रयति, सीतया स्वकुचाभ्यां लक्ष्मीया
कुसुमाग्रपुष्पसोभा पराजिता लक्षरेण च लक्ष्मीया प्रमाकनवधोभा परामृतं, पूर्णं च
विजिन्वाः सकाशे विजयस्व प्राक्कलेऽपि धर्मे स्वजेरी सीतां मध्वावसति तथाऽपि च

सीता—अथि । यह कितना हाथीके बन्नेकी कण्ठनिर्घोषमधुर कण्ठशब्द
श्रुता या रहा है । इत्यपि पता लगने ।

राम—(विचारके साथ) कौन यह कलासे व्यवहित हो गई । (कलासे) हे कौन !
निरूपे नएसे लवोसे दुन्दारी गुणध्वजोभा जीत ही है एवम् लोभसे दुन्दारे परलक्ष्मी
मई जीया तिरस्कृत कर ही है चपल नेवीसे पुष्प दृष्ट (सीता) को व्याख्यादित करने
वाली दुर्गे क्या कज्जा यहीं होती है ॥ १२ ॥

(पुनः सहर्षम्)

इयामच्छुवीनामियमन्तराले प्रादुर्भवन्ती कन्दलीदक्षानाम् ।

कलेव चाम्प्री भवभीरवानां चकोरवर्मा मुखितं करोति ॥ १३ ॥

(पुनः कन्दली प्रति)

हे बाळदेमकतिके ! भुवमीहसे त्व-

विह्वलति भावः । अत्र अतिरेकाऽङ्कहारः । गीतिरक्षस्वस्त्युत्कर्षणं यथा—

‘जायां मयमल्लोके यद्वि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः ।

कथयोः कृतपत्तिसौभां तां गीतिं गीतवान्भुजङ्गः ॥’ इति ॥ १२ ॥

इयामच्छुवीनामिति । इयामच्छुवीनां कन्दलीदक्षानाम् अन्तराले प्रादुर्भवन्ती इयं भवभीरवानां अन्तराले प्रादुर्भवन्ती चाम्प्री कला इव सौ चकोरवर्मा मुखितं करोतीत्यन्वयः । इयामच्छुवीनां = इयासां (कृष्णवर्णा) भुवि (कान्ति) येषां येषां, वाहसायां कन्दलीदक्षानां = रम्भापद्मानाम्, अन्तराले = मध्यभागे, प्रादुर्भवन्ती जायिभवन्ती, इयं = सीता, भवभीरवानां = मूलमेषानाम्, अन्तराले = मध्यभागे, प्रादुर्भवन्ती = प्रकाशमाना, चाम्प्री = चम्पूसम्बन्धिनी, कला इव = कोटनी नील इव, मां—रामे, चकोरवर्मा = चम्प्रीकापाधिपक्षिभिरवसर्जितं, मुखितं = प्रसन्नं, करोति = विधधाति । मयमल्लोकां मयभागे प्रकाशमाना चाम्पूवन्ती कला यथा चकोरमाह्लावयति तथैव इयामवर्जानां रम्भापद्मानामन्तराले प्रादुर्भवन्ती सीता सा मापमन्दपतीति भावः । अत्रोपमाऽङ्कहारः । पूर्वार्धे इन्द्रवज्रा उतरार्धे कोपेन्द्रवज्राः समिश्रणानुवर्णातिवृत्तं, तत्त्वार्थं यथा—‘स्वादिन्द्रवज्रा यद्वि तां जगामाः, जपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो सौ । जपन्तरोदीरितरुक्षमाजौ पादौ मदीवाहुपजात-वस्ताः ॥’ इति ॥ १३ ॥

पुनः रामः कन्दलीमुपाकस्ते—हे बाळदेमकतिके इति । हे बाळदेमकतिके ! त्वं तरुवयसायमा अलम्बितं ककुपितुम् ईदृशे भुवम्, पुनः शिलासवर्ती चिरं विर-म्बन्, हि क्षीणा कलाः परिचिताः (सत्या) स्थिरतां प्रदाप्तीत्यन्वयः ।

(चिर-वर्षके क्षयम्)

इयामकान्तिवारे कन्दलीपत्रोंके नीचे प्रकट होनेवाली पद् सीता मने मेनोंके बीचमें प्रकाशित होनेवाली चम्पूकम्पनी तरह मुझे चकोरके समान आनन्दित कर रही है ॥ १३ ॥

(चिर कन्दलीसे)

हे बाळदेमकतिके ! तुम बाणरु नीर दबे दबे मेनोंसे मुक्त सुन्दरी सीताकी बचसोमा

मृदभिर्य कलपितुं तरलायताभ्याः ।

मृदां विहास्य विहासवतीं चिरं, हि

स्त्रीणां कलाः परिचिताः स्थिरतां प्रयान्ति ॥ १५ ॥

सीता—हृदा, कोऽयं कनकवर्णः शिखरिद्विपिच्छमयिद्वतकर्णपूरो
मुग्धत्वविमुक्तलोचनविकारः कुमारो दृश्यते । इमं पर्यन्त्या मम निज-

हे मातृहेमलतिके—हे मलयप्रसुवर्णसमवर्णिक । त्वं, तरलायताभ्याः=वपुः-
सीमन्मोक्षभावाः, सीताया इति भावः । तरले (चञ्चले) भावते (विस्तृते) भवि-
षी (नेत्रे) सदास्तस्याः । समासाऽयः मधु, विहास्यसीप् । अस्मिन्=सन्नि-
धौ, सन्निधौ कृते पुमान्बुद्ध इत्यमरः । कलपितुं=प्राप्तुम्, ईदृशे=वाम्बुद्धिः,
मुग्धं=मूर्ध्नि, तर्हि, एताश्च=इमां, विहासवतीं=मृदुरसेद्योतेषां, सीतामिति भावः ।
चिरं=बहुकालपर्यन्तं, विहास्य=नाभने विहास्यमुक्तं कुत, स्वसमीप एव स्थापयेति
भावः । विहास्यं समर्पयते=हीति । हि=यतः, स्त्रीणां=कलनायां, कलाः=गुणवि-
शेषाः, परिचिताः=संस्तुताः, सत्यं, 'संस्तवः स्यात्परिचय' इत्यमरः । स्थिरतां=
स्वैर्यं, प्रयान्ति=प्राप्नुयन्ति, प्राप्नुयन्तीति भावः । इयं सीता चिरकालपर्यन्तं तव
समीपे तिष्ठेत्तर्हि त्वं तस्या अस्मिन्मां कलपितुं प्रारभेरिति भावः । अत्र पूर्वार्धे
कृतोच्चाञ्छ्वारो भुवदभ्युपेक्षावाचकं, तदुक्तं यथा—

'मन्ये हस्ते भुवं प्रापो नूनमित्येवमाद्यः ।

उपेक्षावाचकाः वाक्या ह्य उच्यन्तेऽपि तावत् ॥ १६ ॥

उत्तरार्धे च सामान्येव विशेषसमर्थनकपोऽर्थान्तरव्यासोऽयञ्छ्वार एव च प्रसि-
धोऽस्मान्भूतायाः कृतव्या उपमेयत्वप्रकटनमाजलीपाञ्छ्वारद्वयेतेषां मिथोऽन्ये-
षमा स्थितेः संसृष्टि वस्तुतत्त्विकं वृत्तम् ॥ १७ ॥

सीतेति । कनकवर्णः=सुवर्णवर्णः कनकस्येव वर्णो यस्य सः । शिखरिद्विपिच्छ-
मयिद्वतकर्णपूरः=शिखरिद्विपिच्छ (मयूरस्य) पिच्छेन (बर्धेन) मण्डितः (भूषितः)
कर्णपूरः (कर्णभूषणम्) यस्य सः । मुग्धत्वविमुक्तलोचनविकारः=मुग्धत्वेन (म-
मौहवा) विमुक्तः (परित्यक्तः) लोचनविकारः (वपनविह्वलिः, अपममभिरिति

यो ग्राह करेदी रक्षा करदी हो क्या । तो ॥ विहासवती सीतासे बहुत समयतक
मिळमिळकारी (भपने पल्ल ठहरावी) । क्योंकि शिवांसी कलाएँ परिचित होनेपर स्वैर्य
ही प्राप्त करती है ॥ १४ ॥

सीता—सखि ! यह कोय सीतेके सदृश वर्णवाला, मयूरपिच्छसे सुश्रित कर्णभूषणसे
मुक्त और मुग्धभावसे रहित मेशविकारवाला कुमार देखा या रहा है । इसको देखकर

वात्स इव वात्सल्यमलक्षितं हृदयं वर्तते । (इत्थं, को इसी कलमबन्धने सिद्-
धिकिष्ठमभिरुक्तापरो मुहूर्तविसृष्टलोकमविभक्तो कुमारो दीप्तः । इमं पेश-
न्तीए मह गिमनवर्धमि विम वन्धनपथ्यलक्षितं दिग्दर्शं वादि)

कथमणः—अये, केयमस्यां मुमित्रायामिव मे सुषिरप्रवृत्ता चित्तवृत्तिः ।

सीता—इहा, इमं कुमारं विलोक्यन्त्या मम वत्सोर्मिला चित्तमारो-
हति । (इत्थं, इमं कुमारं प्रलोक्यन्तीए मह वच्छन् वन्धन चित्तमारोहति)

सखी—(विहस्य) नूनमयं कस्यचिद्वत्सराध्यलालनीयो भविष्यति ।
सं विलोक्यन्त्या मे स्वमपि चित्तवृत्तिमारोह्यसि । तत्पृच्छामि तावदेनम् ।
(परिहस्य) अये राजकुमार, कः खलु भवान् ? यस्त्वमेक एव मुग्धतया-
ऽपरिगलितस्यपि वनभूमिषु विहरसि ।

कथमणः—विह मूर्खे, कथं मामग्रजेन परितस्वर्तिना रामचन्द्रेण
नायकवन्धनपथ्येकाकिनमपदिशसि ?

भावः) येन सा । निवर्तन्त इव = स्ववात्सल्यमोजने कर्मिष्ठमात्रार्थं यथ इत्थं
वत्सल्यमप्रकाशितं = वात्सल्येन (स्निग्धत्वेन) प्रकाशितम् (धीवत्) ।

कथमण इति । चित्तवृत्तिः = मनोभावावः ।

सर्कोति । अपरिणीतितायु = अपरिणितायु ।

कथमण इति । परितस्वर्तिना = निकटवर्तिना । नायकवन्धनं = रक्षकमुक्तम् । एका-
किनम् = एकम्, 'एकदाकिनिपञ्चासहाये' इत्यादिनामधेयः । 'एककी लोक-
पुलक' इत्यमरः ।

मेरा चित्त कीसे बधने वात्सल्यमानन छोटे मारेमें होता है वहीतरह स्नेहसे प्रकाशित
हो रहा है ।

कथमण—नरे ! मे खीन है ? इममें मेरी चित्तवृत्ति माया मुमित्राकी तरह बहुत
समयतक प्रवृत्त रहती है ।

सीता—सखि ! इस कुमारको देखकर बहुत कर्मिष्ठता स्मरण हो रहा है ।

सखी—(हँसकर) निश्चय ही यह किसीसे वात्सल्यमानन करनेसे लाकनीय होगा
निकतो देखकर मुझे भी नापका स्मरण होगा । इसपर इसे पूछती हूँ । (पूनकर) राज-
कुमार । भाव कोन है ? जो भाव अवश्य होनेसे नकेही अपरिचित वनभूमियोंमें विहरण
कर रहे हैं ।

कथमण—विह मूर्खे ! मेरे वक्ते जाई रामचन्द्रजीके सखीप रहनेपर भी पुन कीसे
मुझे नकेना का रही हो ?

सखी—(सहर्षम्) कुसुमिवस्तद्वधुना मे मनोरथदुःखः ।

सीता—हृता, किमत्राऽऽत्माकम् ? तदेहि, निजगृहमेव गजामः ।
(किञ्चिद् परित्यज्य, पुनर्यात्रित्य) हृता, एकं विस्मृतास्मि । ननु स सहकार-
पादपौऽवलोकनीयो यस्य वासन्त्या खलया सह संगममभिलषन्ति समा-
ऽन्ताः । (हन्त, किमेतत् अङ्गणं ? ॥ एहि । निजघरं जेव्य वन्नाह । हृता, एकं
विस्मयदिदं । त्वं खी सहभारपादयो अवलोकनीयो अस्स वासन्तीसदाह सह संवसे
अहितवन्ति सह वन्नायो)

(इत्युभे परिक्षामतः)

रामः—(सहर्षम्)

सम्पन्नःकुसुमान्वशरत्नार्णवसर्षरी ।

अहो ! इयमितो नूनं पुनरप्यभिषर्त्तते ॥ १५ ॥

सखीति : कुसुमिता = पुष्पिता : । कुसुमाणि संजातान्धस्य, 'तद्वत् संजातं
तारकादिस्य हृत्' इतीत्यर्थव्ययः ।

सीतेति । आशुष्य = पराशुष्य । सहकारपादयो = अविश्वैरमात्रवृद्धा । राम-
वर्धनार्थं सीताया एवं व्यपदेशो बोद्धव्यः ।

सीतामपदागमनं वर्णयति रामः—सम्पन्न इति । अहो ! सम्पन्नः कुसुमान्व-
शरत्नार्णवसर्षरी इयं पुनरपि हृतः अभिषर्त्तते नूनमित्यन्वयः ।

अहो = हर्षोत्कटकमव्ययमित्युच्यते । सम्पन्नः कुसुमान्वशरत्नार्णवसर्षरी = सम्पन्न
एव (सखिचमेव) एव कुसुमम् (कौसुमम्) तस्याऽऽन्तरे (हर्षे) शरदा (सरशतीः)
पार्णवसर्षरी (पुर्णितारातिः) । इयं = सीता, पुनरपि = भूयोऽपि, हृतः = अत्र,
सार्णविसर्षिकस्तसिः । अभिषर्त्तते = प्रत्यागच्छति, नूनं = निश्चयेन । अत्र परम्परित-
रूपकमलङ्कारः । अङ्गुष्ठाच्छम् ॥ १५ ॥

सखी—(हर्षपूर्वकं) वर इत्तममव मेरा अनिकानवृद्ध पुष्पित हो गया ।

सीता—इसमें इन्नारा क्या प्रयोजन है ? इसविध पत्नी, अपने भवनमें ही रहें ।
(कुछ श्रद्धा, फिर बौद्धकर) सखि ! एक बात भूल गई । वह सहकारवृद्धो, वैद्यना
वादिह मेरी माताएँ जिसकी वासन्तीकालसे व्याह कर देनेकी चम्का रखती है ।

(तब दोनों धूमती हैं ।)

राम—(हर्षके साथ)

अहो ! मेरे विपक्ष कुसुमके, जालन्दक्षिण्ड चरत्तवृद्धी पुष्पिभारविकी समस्त
यह (सीता) फिर सी रह और नारही है ॥ १५ ॥

(निर्वर्ण्य)

वहस्यस्या इष्टिर्विकचनयनीलोत्पलतुला-

भक्त्यास्यामिण्या वदनमिदमिन्दोः कलयति ।

कुचौ किञ्चिन्मीलत्कमलतुलां कन्दलयत-

स्तामःशोभां विनां चिकुरमिचुरम्बं ॥ कुदते ॥ १६ ॥

सखी—एव सहकारपादपः, इयं च वासन्ती सता । (इति वदन्ति-
तनुसरतः)

निर्वर्ण्येति । निर्वर्ण्य=रङ्गा, 'निर्वर्ण्ये तु निष्प्राणं वृत्तं नाऽऽश्लोकनेषणम्' इत्यमरः ।
जावकी वर्णयति शमो—वहस्यस्या इति । अस्या इष्टिर्विकचनयनीलोत्पलतुल्यं
वदति, इयं वदनम् नक्षत्रस्य इन्दोः अभिम्बं कलयति, कुचौ किञ्चिन्मीलत्कमल-
तुलां कन्दलयतः, चिकुरमिचुरम्बं विनां तमः शोभां कुदते हीत्यन्वयः । अस्या=
सीतायाः, इष्टिः=मयनं, विकचनयनीलोत्पलतुलां=विकसितभूतयनीलकमलोपमां,
विकचं नक्षत्रं यनीलोत्पलं तस्य तुल्यम् इति विग्रहः । वहति=भारयति । इयं=
निकटवर्ति, वदनं=सीताया मुलम्, नक्षत्रस्य=पूर्णस्य, नक्षत्रकलाकलितत्वेति
भावः । इन्दोः=चन्द्रस्य, अभिम्बं=शोभां, 'अभिम्बा नामशोभो' इत्यमरः ।
कलयति=मलयति । कुचौ=जावकाः सखी, किञ्चिन्मीलत्कमलतुलां=किञ्चि-
(ईदम्) मीलती (सुकुचिरे) ये कमले (एते) तयोस्तुलनाम् उपमायां कन्-
लयतः=प्राप्नुतः । चिकुरमिचुरम्बं=जावकाः केशकलापः, 'विनां तु संदतिर्नृणं
चिकुरम्बं कम्बकम्' इत्यमरः । विनां=विचित्रकलां, तमाशोभाम्=रात्रिकान्तिं,
कुदते=विद्यधाति, हि=निम्नयेन । पूर्वश्लोके कृतस्य सीतायां पार्श्ववर्त्येतिहा-
सोपस्य स्फुटतां संपादयितुं वर्णनस्य चरितार्थताऽऽश्लेष्या । तथा हि सीतानवने
नीलकमलोपमे नीलकमलं रात्रौ विकसति । सीताया वदनं पूर्णचन्द्रतुल्यं, कुचौ
च रात्रिसुत्रिकमलोपमौ, मध्मज्योतीर्जयीवमत्वादिति भावः । सीतायाः केशपाक-
वज्रमध्वकारकान्तिं विभर्ति । उपमाऽऽकृष्टाः । सिलरिणीइत्यम् ॥ १६ ॥

सखीति । वासन्तीकलाः=आधवीकलाः ।

(देखकर)

इसके नेत्र विकसित नवीन नीलकमलोंकी उपमाकी भास कर रहे हैं । इसका मुख
पूर्णचन्द्रकी शोभाकी भास करता है । इसके स्तन कुच ही विषे हुए कमलोंकी उपमाकी
पाठे हैं और केशकलाप विचित्र रात्रिशोभाको भक्त कर रहे हैं ॥ १६ ॥

सखी—यह सहकार (बहुत ही प्रगल्भ भाव) हुआ है और यह वासन्ती (मानवी)
कला है । (दोनों उसके पास जाती हैं ।)

रामः—कथमिमे मे परिस्तरमनुसरतः । तत्किञ्चिदपसरामि तावत् ।

सखी—(सहस्ररस्याय करे धृत्वा, सकौतुकम्) हला, परय परय, एतै-
र्नैसशिल्याविलिखितैः कोमलकलैः सम्भाव्यते यत्किञ्चिदं धृतलता केनापि
विदग्धेन निजहस्तेन संभावितेति । अथवा निजचापसलाराद्धितेन स्थयं
सन्मवेनैवेति । (हला, पेक्क पेक्क, इमेहि महसिहाविमिहिदेहि कोमलपदलेहि
संभवायदि जं किर इमं चूल्हा कोमलि विदग्धेन निजहस्तेन संभावितेति ।
अथवा निजचापसलाराद्धितेन स्थयं सन्मवेनैवेति)

रामः—इत्थं सम्भावयति भवती, मम पुनरन्यथा वितर्कः ।

मत्वा चापं शशिशुभिः । निजं शुचिमा पुष्पधन्या
तन्मीमेनां तव तनुजतां ममपदेशे वमरः ।

राम वृत्तिः । अपसरामि = अपसरजं करोमि, दूरं गच्छामीति भावः ।

सखीति । तत्किञ्चिदपसरामि = मत्वा (गच्छाम्य) शिका (अपसराम्)
तया विलिखितैः (विदग्धैः) : संभाव्यते = संभावना क्रियते । विदग्धेन = रजि-
केन, कामकलाभिपुलेनेति भावः ।

राम इति । अन्यथा = प्रकारागन्तरेण । वितर्कः = कलहः ।

अत्र वितर्कं प्रतिपादयति—मवेति । हे शशिशुभिः । पुष्पधन्या तन्मीम् पूर्वा-
रुधः तनुजतां निजं चापं मत्वा शुचिमा मध्यदेशे वमरः । यस्मात् जय विचलिकपराय
विदग्धवक्षीकरहृत्परायकाराः शिका मनुजैस्तथिरेता भवन्तीत्यन्वयः ।

हे शशिशुभिः = हे चन्द्रशुभिः, शशीय सुखं यस्याः सा, तत्तन्मुक्तौ, हे सीत-इति
भावः । पुष्पधन्या = कामदेवः, पुष्पं धनुर्वस्त्रं सा, 'वा संज्ञायाम्' इत्यमरः । तन्मी =
कुम्भे, तव = भवत्या, तनुजतां = देहकलिकां, निजं = स्वै, चापं = धनुः, मत्वा =
धत्वा, शुचिमा = संपिण्डिताऽशुचिपानिमा ममपदेशे = अक्षरमभागी, वमरः =
कलहः । उक्तमर्थं समर्थयते—यस्मादिति । यस्मात् = यत्नः, कारणत्वात् । अत्र = इह
तव तनुजतां वसिति भावः । विचलिकपराय = उदरेस्ताम्रितयकैतयाय, त्रयामै

राम—किंत प्रकार ये दोनों मेरे समीप आ रही हैं ? इसलिय मैं कुछ हड़ता हूँ ।

सखी—(सहस्ररसी याताकी हस्तों से) (श्रीकृष्ण के साथ) लखि । देखो देखो ।
माम्बुके अग्रपाशों किसे ये हन कोमलपत्रोंसे मालूम होता है ॥ इत आनन्दको किसी
रसिक पुरुषने अपने हाथसे या अपनी बनुकैताकी शङ्कासे स्वयम् कामदेवने ही मनुशुद्धीय
किया है ।

राम—यह देखी संभावना (जटकर) करती है, परन्तु मेरा दूसरा ही अर्थ है ।

हे चन्द्रशुभि । कामदेवने तवही हन शुद्धी देहलताकी अपना मनु सम्बन्ध हृदी

यस्मात्तत्र विमुक्तवशीकारमुप्राप्तुकारा-

स्तस्मै भाग्यं निवर्तकपटापङ्क्तुवीर्यभिरैवाः ॥ १३ ॥

सखी—भट्टदारिके, इयं वासन्ती लता, इयं च पद्म,

वासन्तीरसविभुं सुन्दरमिन्दिरा इह वारन्ति ।

चिरमन्दिरमरविन्दं मन्दं मन्दं परिहरन्ति ॥ १८ ॥

कविना कथ्यते, 'सद्विद्याऽर्थोत्तरपद्ममाहारेणे'षु चरपदसमाप्तः । 'अतिवैलम्बये
च करकासरवन्दयोः । उपहारे पुमान्कीत्तु जश्या रसधर्मेणि । सुहृदाक्रमेदे च क-
राऽक्रमेदेऽपि चे'ति मेदिनी । विमुक्तवशीकारमुप्राप्तुकाराः = विमुक्तवय (कोक-
प्रपन्न) वशीकारमुप्राप्तम् (मार्कण्डेयप्रथमकाशिकाश्रमिनाम्) लमुकम् (अनुपमः,
सद्व्यकरणमिति भावः) वास्तु ताः । तादृशः शिवाः = त्रिस्तम्बकाः, चतुर्वीर्यवि-
रैवाः = करकासासविचित्राणि, पुष्पचम्बव इति शेषः । भाग्यं = यकासाय । हे
सुन्दरि ! सहयो जयमप्यां तव लज्जतां स्त्रीयां भयुर्बलिं काला मुदिता मन्मदेमे
बभार, तव पत्र तव लज्जतामासुदरोलाश्रितवर्केतवाक्यकोकप्रपन्नवीर्यकरणमुदा-
सदपरितपोऽकुलिसन्धिकेला विराजन्त इति भावः । अत्र पूर्वार्धे भाग्यसकलार
उत्तरार्धे च वैतवापद्विधयेति द्वयोरङ्गाभिजातेन सह्यः । मन्वाभ्यास्तावुत्तम् ॥ १३ ॥

वासन्तीति । इह इन्दिराः सुन्दरं वासन्तीरसविभुं वारन्ति; चिरमन्दिरा
वरविन्दं मन्दं मन्दं परिहरन्तीत्यन्वयः । इह = अत्राऽऽश्रमे इन्दिराः = भवराः,
सुन्दरं = मनोहरं, वासन्तीरसविभुं = साधवीमकरम्बुपयत्तं, वारन्ति = विवन्ति, चिर-
मन्दिरं = चिरकालाऽऽधारभूतम्, वरविन्दं = कमलं, मन्दं मन्दं = समैः समैः
वीर्यादरे द्विरुक्तिः । परिहरन्ति = परित्यजन्ति । अत्र 'अतिपरिचयादपहासस्त-
गमनात्सादरो भवति । कोकः प्रयागवासी कृपे स्नानं समाचरति ॥' इति न्यायेन
चिरकाकोपयुक्तमात्मके भवराणामनादरो यथासातत्वाद्वासन्तीकृतार्थं चोऽस्तदि-
क्षितेये धोत्यते । इत्यनुप्रासोनाम कल्याणलङ्कारस्तद्वचनं यथा—

'अनेकस्वैकथा साम्यमसङ्कटाऽप्यनेकथा ।

एकस्य सकृदप्येव ब्रुत्वानुप्रास उच्यते ॥' इति । वाच्यं वाचिः ॥ १४ ॥

ये मन्मदेश (कम्प) ने मन्मदा । किं कारणते रस (दैवक्या) ने धीन एव रस रसार्थोके
वहानेते धीनो लीकोके भावार्थ करवेद्ये सुधाभीक्य ननुकरण करवेवाली तीन अनुक्ति-
सम्पिबोधे रेकार्य प्रकाशित हो रही हैं ॥ १५ ॥

सखी—राजकुमारी ! यह वासन्तीकृता है । भाग्य यह भी देखिए । इस वागीधे में
भगवन् मनोहर वासन्तीकृतके रसविभुको भी रहे ॥ और चिरकालते भावारभूत कमलको
भीरें कोवसे वा रहे हैं ॥ १८ ॥

(सीता तदेव पठति)

रामः—किमिवानीं कृतान्तरवर्णनया, नन्विष्यसे—

निर्मुक्तशेषवशा-विधिरा नवीन-

सम्प्राप्त-यौवन-वसन्त-मनोरम-धीः ।

उन्मीलितस्तनवस्तवका विक्राम-

मेणीदृशस्तनुकृता तनुते मुखं नः ॥ १६ ॥

सखी—भर्तृकारिके, परय । इयमसौ वासन्ती सता स्वयमेव सह-
कारपोतमालिङ्गितुं पुरःसरति ।राम इति : कृतान्तरवर्णनया = अन्त्यवर्णनविषये, नन्विष्यसे कृता कृतान्तरं,
‘सद्वर्णनसंकादवधे’ति समासः । कृतान्तरस्य वर्णना, तथा ।सीतायाः कृतान्तरात् प्रवृत्तं भवति—निर्मुक्तं । निर्मुक्तशेषवशाद्विधिरा नवीन-
संवाद्ययौवनवसन्तमनोरमयोः । उन्मीलितस्तनवस्तवका पुण्ड्रः तनुकृता भी मुखं
विक्रामं तनुते इत्यन्वयः । निर्मुक्तशेषवशाद्विधिरा = निर्मुक्ता । (भवता) सौक्यवशा
(वाक्वाऽवस्था) एव विधिरः (विधिराऽऽवस्थाः सा । नवीनसंवाद्ययौवनवसन्तम-
नोरमयोः = नवीन (मूलनं, नया तथा) संप्राप्ता (समासादिता) यौवनम् (ता-
व्यम्) एव वसन्तः (सुरभिः) तस्य मनोरमा (संधिरा) धीः (ज्ञोमा) यथा
सा । तथा उन्मीलितस्तनवस्तवका = उन्मीलितौ (विकसितौ) स्तनौ (कुक्षौ)
एव नक्तवकी (मूलनपुष्पपुष्पौ) धरया सा । पुण्ड्रः = हृदिणीदृशः, सीताया
इति भावः । तादृशी तनुकृता वेदकक्षी, नः = अस्माकं, परयतामिति शेषः । ■ =
हर्षं, विक्रामं (प्रवेदनं) तनुते = विस्तारयति । विधिराऽपराधे वसन्ताऽविर्मये च
विकसिततनुकुक्षुसुषुम्णा कक्षे च सैकवाऽपराम्परस्य विस्तृततनुकृता विकसितस्तनी
सीतायाः इव वेदकक्षाऽस्मदीयं हर्षं विस्तारयतीति भावः । अत्र परम्परितरूपक-
मङ्गलदः । वसन्तसिक्कं दृष्टम् ॥ १५ ॥

(सीता सखी वलीकयो पङ्कजी हैं)

राम—जनी दूसरी छात्रके वर्णनसे क्या ? भरे । इसने ही वाक्वाऽवस्थाकर विधिर-
ननुको सौकर वाक्वाऽवस्था वसन्तधौ नवीन भीमा प्राप्त कर ली है । विकसित स्तन
ही धितके नये पुनःपुनः हैं इस छन्दरी (सीता) की पैती देवकता, इनमें हर्षको प्रवेक
केला रही है ॥ १५ ॥सखी—रामकुमारि । देखियः यह वासन्तीकृता स्वयम् ही भावदृशको आच्छिन्न
कृतके विष आये नई रही है ।

सीता—(सप्रणवधोष्णम्) जये, अलीकजल्पिनि, इदानीं तव परिसरं परिहृतवान्वयं गमिष्यामि । (जये, अलीकजल्पिनि, इति ब्रुव परिसरं परिहरिष्य मन्मादी गमिष्यम्)

रामः—

अमलमुपासकान्धकमनीयकपोलरूपे-

स्तरलसलीकनीलनजिनप्रतिपुलकदा ।

विकसद्दशोकशोणकरकान्तिभूतः सुतनो-

र्मदलुलितामि हन्त ! ललितामि हरन्ति मनः ॥२०॥

सीतेति । अलीकजल्पिनि = मिथ्याभाषिणि, अलीकं जल्पतीति अलीकज, अलसमुद्धौ ।

रामः सीतामनयकोपे वर्णयति—अमलमुपासकेति । हन्त ! अमलमुपासकान्धकमनीयकपोलरूपेः तरलसलीकनीलनजिनप्रतिपुलकदशो विकसद्दशोकशोणकरकान्तिभूतः सुतनोः मन्दलुलितामि ललितामि मनोहरमतीश्वर्यम् ।

हन्त = हर्षयोजकमन्मथमिदमथ । अमलमुपासकान्धकमनीयकपोलरूपेः = अमलं (निर्मलम्) धाम्पुलाकान्धम् (विलनाम्) तदिव कमनीया (मनोहरा) कपोलरूपिः (गन्धकककान्तिः) वस्त्राः सा, वस्त्राः । तथा तरलसलीकनीलनजिनप्रतिपुलकदा = तरले (अलले) सलीके (लीलाप्रदिते, समिधाते इत्यर्थः) ये नीलनजिने (नीलनजने) ते इव प्रतिपुलके (विकसिते) रसौ (येने) वस्त्रा इति वस्त्राः । एवं च विकसद्दशोकशोणकरकान्तिभूतः = विकसत् (विकसं प्राप्तुम्) यत् अलोकम् (अलोककुसुमम्) तदिव शोणा (रक्तवर्णा) वा करकान्तिः (हस्तशोभा) ता विमर्शि (आरयति) इति, वस्त्राः । तद्वत्तयाः सुतनो = सुन्दर्या सीताया इति भावः । मन्दलुलितामि = मन्देव (तादृश्यवर्णेन) लुलितामि (अल्लुलाभिः) । ललितामि = अल्लारवैद्या मनः = चित्तं, मनीषमिति शेषः । हरन्ति =

सीता—(प्रणवधोष्णे वायु) करो ब्रूवोक्तं वली ! मैं वस्तुसब तेरा सामीप्य होकर दूसरी जगह नहीं जाती हूँ ।

राम—हन्त ! निर्मल गुणाध्यात्मके सहस्र मनोहर करोष्मन्निसे पुष्प, चक्र और विकासपूर्ण मीनकमलोंके सहस्र विकसित नेत्रोंसे सम्पन्न और विकसित मन्दोद्गुम्फके सहस्र हस्तशोभाकी वारण करनेवाली सुन्दरी (सीता) के तादृश्यवर्णसे चञ्चल-भङ्गा-वेष्टाये मलकी भाङ्गके कर रही हैं ॥ २० ॥

सीता—(विभोष्यः सकीर्तयन्)

विकसितपेक्षोत्पलपक्षाद्युष्यधामनो

महेषसौम्यशेखरः पुरस्सोम-कोमलः ।

कदागृहे कोऽयमनङ्गकप-सम्पन्नो

विशोचनयोर्ददाति मे सुखं शिक्षणमप्यङ्गनः ॥ १९ ॥

(विसृज्येसृष्टपलपक्षाद्युष्यधामनो

महेषसौम्यशेखरः पुरस्सोमकोमलो ।

कदापरमि को इदो अङ्गकपसम्पन्नो

विशोचमान देह मे सुखं सिद्ध्यमप्यङ्गो ॥)

भाकर्षति । कवित्वकर्म यथा साहित्यदर्पणे—

‘सुकमारलयाङ्गानां विन्यासो कविर्न यदेतुः’ इति ।

अथोपमाङ्कहारः । नवैकं सुखं, कवित्वकर्म यथा—

‘यदि यद्यतो नवी भवत्कदा युद्ध नवैकम्’ इति ॥ २० ॥

सीताविरामकर्म वर्णयति—विकसेति । विकसितपेक्षोत्पलपक्षाद्युष्यधामनो-
भक्तो महेषसौम्यशेखरः पुरस्सोमकोमलः । अङ्गकपसम्पन्नः शिक्षणमप्यङ्गो कदागृहे
कदा को मे विशोचनयोः सुखं ददातीत्यप्यङ्गः ।

विकसितपेक्षोत्पलपक्षाद्युष्यधामनः = विकसितः (प्रसूतः) ‘विसृष्ट’ श्वाये
‘पुरस्ते’ति शब्दे स्फुरन् = विकसितं प्राप्नुयश्चित्पयः) पेक्षः (कोमलः) य उत्पल-
पक्षाद्युष्यः (कुवलयदलसमूहः) स इव रत्नमलः (कीलकपरः) । पुनरमहेष-
सौम्यशेखरः सुमनसोमकोमलः = महेषस्य (महादेवस्य) सौम्यशेखरे (मनोहर-
भौती) स्फुरन् (भासमानः) यः सोमः (चन्द्रः) स इव कोमलः (मृदुलः) ।
यत् य अङ्गकपसम्पन्नः = कामसौन्दर्यकामकारकः, कामादपि सुन्दरतर इति
भावः । यत् ययङ्कर्तुं कञ्चयसीति ‘कृत्यकृत्योद्युक्तयः’ इत्यत्र बहुलमहणसामर्थ्या-
त्तर्हि शब्दः । पुरातनः शिक्षणमप्यङ्गः—अधुरविष्णुमभितः, शिक्षणं सम्पन्नं यस्य
सः । ‘शिक्षणस्तु शिक्षणं नपुंसके’ इत्यमरः । कदागृहे = निकुलो, अवरिपक्ष
इति शेषः । अर्थः = निकटस्थः, कः = लघुः, मे = मत्तः, विशोचनयोः = मेकयोः

सीता—(ईकतर, कीर्तयति साध)

विकसित कोमल नोक्तपक्षोके पत्रसमूहे स्तब्ध नोक्तपत्रं, महादेवजीके नवीहर
शेखरमे मात्मानं चन्द्रके लङ्घ्य कोमलः, कामदेवके रूपको मात करणे भावा कदागृहे
अवरिपक्ष यद् कोमल पुरुष मेरे मेजोमे सुख ॥ रहा है ॥ २१ ॥

सखी—अर्जुनारिके, कयय कयय, कयं लतालोकेमादिरतासि !

(सीताऽज्ञाकर्णितकेन तदेव पञ्चमस्वरं पठति)

सखी—(उपसृत्य) कथमियमन्यथितेव क्षस्यते ? क पुनश्चित्तमस्याः ?

(रामे दृष्ट्वा, साह्रताम्) अये, इदमस्याक्षितराजकन्धनोत्तानम् । (पुनः

सीतां करे धृत्वा) प्रणयमधुरोऽपि सखीजनः किमवधीर्यते ? अथघोषित-
मिवम्, अधुना हि त्वायं हृदयमधिवासति ।

सीता—(स्फातम्) कथमवगातास्म्यन्तया । (कम् अवनयति स्माप १)

(इति कर्णा नाटयति)

सुखम् = आनन्दं, ददाति = वितरति । जज्ञोपमाऽऽह्वारः । पञ्चमामरं कर्तुं, तत्तत्-
कर्णं यथा—‘प्रमाणिकपदद्वयं वदन्ति पञ्चमामरम् ।’ इति ।

प्रमाणिकपदद्वयं यथा—‘प्रमाणिकं जरौ कर्तौ’ इति ॥ ११ ॥

सखीति । कताऽऽक्षोभनाद् = दहतिद्वानाद्, पिरतेतिपदेन सोमो ‘अगुप्ला-
गिरामप्रमादायानामुपसंभवात्’ इति पञ्चमी ।

अनाकर्णितकेन = आकर्णनरहितेवेव भावेन, उपसृष्टितेति शेषः ।

सखीति । अन्यथितः = अन्यमवस्था, अन्यविमर्शितं यस्याः स्त्री । साऽऽह्वयं
साऽभिप्रायम् । अस्याः = पुत्रस्याः, सीताया इत्यर्थः । चित्ताजकन्धनाजकन्धन-
(मयः) एव राजः (इक्षी) तस्य बन्धनायाऽऽज्ञानम् (स्तम्भः) । राम एव
अस्याविमर्शं ददाति इति भावः । प्रणयमधुरः = प्रेममाधुर्यसम्पन्नः । अवधीर्यते = तिर-
स्क्रियते । हृदयं = चित्तम्, ‘अविमर्शती’ति पदेनसोमो ‘उपाम्यन्माकूरस’ इत्या-
धरस्य कर्मत्वाद्द्वितीया ।

सीतेति । अवयता = आता । इमं = रामम्, अदिरयेति शेषः । सुखं = ‘श्रेयः’-

सखी—राजकुमारी । कहिय कहिय । क्यों जग कया वही देख रही है ? (सीता
मनहुरी करके फिर वही राजकुमारी पञ्चमस्वरसे पढ़ती है ।)

सखी—(निकट जाकर) क्यों यह सम्भवतस्के समान प्रतीत हो रही है ? इसका
किया कारा पर है ?

(रामकी देखकर अभिप्रायपूर्ण) अरे ! वे इसने चित्तकरा राजीने सम्भवके स्तम्भ
है । (फिर सीताको हाथसे पकड़कर)

अन्यसे मधुर सखीबनका भी तिरस्कार करती हो ? जन्मा वह उचित है । क्योंकि
इसप्रणय ने तुम्हारे हृदयमें रहते हैं ।

सीता—(मन ही मन) कैसे इसने मुझे जान किया ? (सम्भ्रान्त मनिलन करती है ।)

सखी—(स्वगतम्) कथमियं लब्धते ? तदन्यतो नयामि । (प्रकराय)
कथमद्यापि इदं न मुञ्चति ते प्रणयकोपः ?

सीता—(स्वगतम्) कोपमुद्दिशानया भणितम्, न पुनरिमम् ।
(कोपमुद्दिशिक इमां भणितं न संग इमम्) (प्रकराय) हता, कथं पुन्यं,
कोपित्यामि । केवलमन्यचित्तया न संभावितासि । (हस्तः पक्षं ब्रू
कृत्स्नं । केवलमन्यचित्तया न सम्भावितासि)

सखी—क तर्हि दत्तचित्तासि ?

सीता—आरामे । (आरामम्)

सखी—(विहस्य) अहो ! ते चासुर्यम्, यत् आकारप्रकटनेनैवाकार-
गुप्तिं कृतवत्यसि ।

(सीता सम्मन्त्रयधोमुखो विहसति)

व्याप्तीति परेण कोणे 'कुबहुहेष्वांखुमाङ्गां दं मति कोप' इति चतुर्वी ।

सखीति । आकारप्रकटनेन च 'आ'कर्णप्रकाशनेन, आरामपद इति शेषः । आकार-
गुप्तिम् = धमिमात्रगोपनं, रामे दत्तचित्तासि रामपद आकारगोपनेनाऽभिप्रायगोपनं
कृतवत्यसीति भावः ।

उत्तरादिति । हे कुतूहलकोणे ! कमलरसमोचने लोचने उत्तरात् । ■ सुन्दरि !
अम्बरं कलियुगमिदानीं विहस्यरागीरम् अस्तिवत्यन्वयः ।

सखी—(मन ही मन) किततरह वह कथित हो रही है । उसकी हसे दूसरी ओर
के जाती है । (सुनकर) कैसे अभी तक प्रणयकोप गुम्हारे डरवको नहीं छोड़ रहा है ?

सीता—(मन ही मन) कोपको खदेड़ करके रहने कहा है वन (राम) को नहीं ।
(सुनकर) ताहि । कैसे तुमपर कोप कर्कश है ! मैं अन्यमनस्क होनेसे ही गुम्हारी संभालना
नहीं कर सकी ।

सखी—तब तुमने पिछ कहा दिया है ।

सीता—आराममें ।

सखी—(हुँसकर) नहीं ! गुम्हारी चतुरता । जो कि तुमने 'आ'कर प्रकाश करके
ही आकार दिया दिया ।

(सीता अन्वते कमलमुखी होकर रहती है ।)

रामः—

उत्तरङ्गय कुञ्जलोचने ! लोचने कमलवर्णमोक्षने ।

अस्तु सुन्दरि ! कलिम्बन्निवीचीधिहम्बरराशीरमम्बरम् ॥२२॥

सखी—(सप्रणवस्मितम्) अलमालिखनेऽपि हृदयापलापेन । ननु विविधं मया—

अथ ते सखि ! शिखण्डमण्डने, पुण्डरीकरमणीयलोचने ।

इधामतामरस्रक्षामकोमले, रामनामनि मनो मनोभवे ॥ २३ ॥

हे कुञ्जलोचने = हे भुगाधि !, कमलवर्णमोक्षने = एवमर्पस्थानाकारिणी, कमल-
वर्णस्य मोक्षार्थं वाञ्छा, ते । कमलवर्णमधिकतरसुन्दरे इति भावः । तावती, लोचने =
नेत्रे, उत्तरङ्गय = उत्तरमप, उच्यते कुरु । तेन च हे सुन्दरि = हे सौन्दर्यसम्पन्ने, हे
सरित इति भावः ! मन्थरम् = भावप्रसं, कलिम्बन्निवीचीधिहम्बरराशीरं = अमुना-
तरङ्गसमुद्गमाभीरं, कलिम्बन्निवीचीधिहम्बरराशीरं = अमुना-
(तरङ्गाः) तातां वनरः (समूहाः), सेव गभीरम् (गभीरं गहनमिति भावः)
अस्तु = भवतु । नीलोत्पलवृक्षसमपोस्तबद्धोचलधोक्षरि प्रसारनेनाऽऽकाशं यमुना-
तरङ्गेषु मीलनार्थं अवस्थिति भावः । उपमा, ध्वतिरेकोऽसम्बन्धे सम्बन्धकवाञ्छि-
तधोक्षरवृक्षारस्तथा चैतेषां मिथोऽन्येक्षया स्थितेः संज्ञाः । एवमुक्त्वा हस्तम् ॥२२॥
सखीति । आलिखनेऽपि = सखीकथनेऽपि । हृदयापलापेन = हृदयस्थिताग्नि-
प्रायविह्वलेन ।

अत्रेति । हे सखि ! शिखण्डमण्डने पुण्डरीकरमणीयलोचने इधामतामरस्रक्षाम-
कोमले अथ रामनामनि मनोभवे हे मया (इति मया विहितम्) इत्यन्वयः ।

हे सखी = हे मयास्ये ! सीते ! शिखण्डमण्डने = मधुरविस्तृतमूष्णे, पुण्डरीकर-
मणीयलोचने = पुण्डरीके (श्वेतकमले) इव रमणीये (सुन्दरे) लोचने (नेत्रे)
वस्य, सस्मितम् । उपमातामरस्रक्षामकोमले = रम्यामनि (कृष्णवर्णनि) बाभि राम-

राम—हे हरिणाथि सीते ! कमलको रमन्मनो मुकुटनेनाके नेत्रोद्योऽक्षर करभो
(कला करी) । हे सुन्दरि ! नाकाय यमुनाके तरङ्गसमूहके सप्रणव गहन द्रो ॥ २२ ॥

सखी—(प्रेम्णैव मन्थरस्यैव साध) सखीजननं मी हृदयको नव शिखणो । रमैव
नामनिवा ।

हे सखि ! मधुरविस्तृतं भुवि, श्वेतकमलोंके सप्रणव नेत्रोते पुष्प भीर मीर-
कमलों पट्टिकी चारं कोमल रस रामनामके कामदेवके पुष्पाय मन है (वह मैंने
मान लिया) ॥ २२ ॥

सीता—इति, परय परय । (हस्त, पैकस पैकस)

मदनबधूनुपुररवरमलोच्य किमपि किमपि कूजन् ।

माकन्दमुकुलमधुरस्मधुरमुखो मधुकरो भ्रमति ॥ २६ ॥

(मदनबधूनुपुररवरमलोच्य किमपि किमपि कूजन्ते ।

माकन्दमुकुलमधुरस्मधुरमुखो मधुकरो भ्रमति ॥)

(पुनः स्वगतम्)

अपि पिबती लोचने ! मिथञ्जनवदनारविन्दमकरन्दम् ।

इति (कमकानि, नीलोत्पलातीति भावः) तेषां वाम (पङ्क्तिः) तद्विष कोमलाः (मधुकः) तस्मिन् । अत्र = अस्मिन्, रामनारणि = रामाऽऽवये, रामो नाम वक्ष्य स तस्मिन् । मनोभवे = कामदेवे, ते = तव, मनः = चित्तं, संकल्पमिति बोधः । इति मया विवितमिति पूर्वतः सम्बन्धः । अत्रोपमाऽऽह्वारः । रमोद्बता कूजन् ॥ २६ ॥

मदनेति । मदनबधूनुपुररवरमलोच्य किमपि किमपि कूजन् माकन्दमुकुलमधुरस्मधुरमुखो मधुकरो भ्रमतीत्यन्वयः । मदनबधूनाः (कामपत्न्याः, रतेरिष्यार्थः) मधुः ररव (सञ्चरितव्यः) स इव रमणीयं (मनोहरम्) वक्ष्या तथा । किमपि किमपि = अनिर्वाच्यमन्यत् यथा स्वाग्रथा । कूजन् = गच्छं कूजन्, माकन्दमुकुलमधुरस्मधुरमुखः = माकन्दमुकुलस्य (भावमुकुलस्य, 'कुल्लो मुकुलोऽस्त्रिधा') यो मधुरः (मकरन्दः) तेन मधुरं (माधुर्यपूर्णम्) मुकुलम् (वानवम्) यत्वं सः । पादसो मधुकः = प्रमदः । भ्रमति = भ्रमणं करोति । वृत्त्यनुप्रासः । भाषां आति ॥

पुनः सीता एकवचने प्रत्याह—भवीति । अस्मि लोचने । मिथञ्जनवदनारविन्दमकरन्दम् पिबती । अस्मि तस्मिन् । 'पुनः पुनर्वाच, वाचं च वाच' इति विचारवत् प्रत्यागन्धः ।

भवीति कोमलामन्त्रणे, लोचने = नेत्रे ! मिथञ्जनवदनारविन्दमकरन्दम् = मिथञ्जनस्य (पञ्चमज्जनस्य, रामस्येति भावः) वदनम् (मुखम्) अरविन्दम् (कमलम्) इव, तस्य मकरन्दं (पुष्परसम्), पिबती = पयसे, द्रवितमनवद्वनलोभा

सीता—सखि । देवो देवो ।

कामदेवकी पत्नी (रति) के मधुरवन्दके सहस्र मनोहर और अनिर्वचनीय मकारते रुच्य करता हुआ माकन्दे मुकुलके मकरन्दको पात्र करनेसे मधुर मुख वन्दवाच भ्रमर भ्रमण कर रहा है ॥ २४ ॥

(फिर सब ही भन)

हे देवों । मिथञ्जन (राम) के मुकुलमण्डके मकरन्दका पात्र कर ली । हे वन्दवों ।

अवि तरले । विचारयतं 'पुनः क युवां, कार्य च' ॥ २४ ॥

(अहं पिबह् ओषणाहं पिबज्जगत्पिबनारविन्दममरन्दम् ।

अहं तरलाहं विचारहं पुनः अहं पुनः अहं हस्ते च ॥)

रामः—(निर्दोषं)

सर्वस्वं नवयौवनस्य, भवनं भोगस्य, भाग्यं दत्तां,

सौभाग्यं मन्विभ्रमस्य, जगतः सारं, फलं जन्मनः ।

साकृत् कुसुमायुधस्य, हृदयं रामस्य, तत्त्वं रतेः,

प्रणवाऽतिशयेन पर्यतमिति भावः । अवि तरले = हे चक्षुःश्रोत्रे । पुनः = पुनः पुनः = ओषणे, क = कुत, स्वास्यय इति शेषः, कार्यं च = निकटस्था भिवज्जगत्, राम इति भावः । क = कुत, स्वास्वस्तीति शेषः, मूषोऽभ्येत समं युवयोः समग्रामो युव्ये इति भावः । इति-इत्यं, विचारयतं = विचारं कुतश्च । अमोतरा-अस्मै पूर्व-प्रणवाऽत्यन्त-अस्मै इति हेतुवाक्यान्वयविशेषः । तत्त्वज्ञानं यथा—'हेतुर्गोचरमवयव-सर्वस्वं काम्यछिन्नं निगद्यते' इति । आयां जातिः ॥ २५ ॥

रामः सीताया आलोकितं वर्जयति—सर्वस्वमिति ।

नवयौवनस्य सर्वस्वं, भोगस्य भवनं, दत्तां भाग्यं, मन्विभ्रमस्य सौभाग्यं जगतः सारं, जन्मनः फलम् । कुसुमायुधस्य साकृत्कृतं, रामस्य हृदयं, तत्त्वज्ञानं शङ्करस्य रहस्यम् तत्त्वज्ञानः सत् किञ्चित् आलोकितम् इत्यन्वयः । नवयौवनस्य = भूतनवाक्यस्य, सर्वस्वं = सर्वज्ञसम्पत्तिः, भोगस्य = दृष्टान्तिभ्रमस्य सुखसाहाय्यारस्य, भवनम् = वास्तवस्थानम् । दत्तां = मेधायां, भाग्यं = भाग्येयम् । माम्ना-देवैतादृशस्य-अलोकितस्य इमोचरतेति भावः । मन्विभ्रमस्य-मन्विभ्रममन्विभ्रमस्य, सौभाग्यं = सुभगतम् । जगतः = लोकस्य, सारं = सर्वोत्कृष्टं, तत्त्वमिति शेषः । जन्मनः = जन्मस्य, फलम् = उत्पत्तिनाम्, एतद्विषयेकमेव सम्प्रसादनमिति भावः । कुसुमायुधस्य = कामदेवस्य, साकृत्कृतम् = अभिप्रायविशिष्टं, स्थानमिति शेषः । रामस्य = भगवन्, हृदयं = मन्त्रा, एतेन सीता-अलोकितस्यैव रामसुखजनकस्य

'किं तुम दोनो कहों । और ये कहों ?' इति वाक्या विचार करजे ॥ २५ ॥

राम—(देखकर)

मैं क्यानीका सर्वस्व, भोगका भवन (जन्मवत्साधन), मेरीका भाग्य, यौवनमरले भिन्नसम सौभाग्य, जगतका सार, जन्मका उत्पत्तिनाम्, कामदेवका अभिप्रायविशिष्ट स्थान, रामका हृदय, रामकी परमात्मना और शङ्करका रहस्य, कुसुमकोयना (सीता)-का

शृङ्गारस्य रहस्यमुत्पद्यच्छास्त्रात् किञ्चिवाक्योक्तिम् ॥ २६ ॥

(सीता स्वगतं पुनस्तान्नेष यात्री पठति)

सखी—अयि भर्तृदारिके, परम ।

एकदमककोमलोत्पलपलाशमङ्गाकुलोऽयमलिपोतः ।

तच्च लोचनयोरनयोः परिसरमनुवेक्षसरति ॥ २७ ॥

सीता—(सहर्षमात्मगतम्) अपि लोचने बद्धपदपदे ननु सुलोपश्रुति-
रियम् । (अयि स्नेहणाहं बद्धसम्पदम् नं सुहोपश्रुतीयम्)

लोचने । रतेः = रामस्य, तर्ज्यं = पराकाङ्क्षा । शृङ्गारस्य = भावितव्यस्य, रहस्यम् =
अपविषत्, उत्पलपलाशः = सुवलयनयनायाः, सीताया इत्यर्थः । तच्च = असङ्कल-
साक्षात्कारं, किञ्चित् = अनिर्वचनीयम्, आलोकितां = दर्शनम्, गच्छतीति शेषः ।
नय रूपकमलङ्कारः । सावर्कविभीषितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

सीतेति । साधाम् = भार्याम्, मङ्गाकुलभाषायां साधापदमार्यान् प्रयुज्यते ।

सखी भक्तिसरणिधम् रामं—वर्णयति—एकदमकोति । एकदमककोमलोत्पलपला-
शमङ्गाकुलोऽयम् अलिपोतः तच्च जनयोर्लोचनयोः परिसरम् अनुवेक्षम् अनुसर-
तीत्यन्वयः । एकदमककोमलोत्पलपलाशमङ्गाकुलोऽयम् = वक्ष्य (विकस्य) जगतं
(निर्मलम्) कोमलम् (सुहृदम्) ययुत्पलं (कुवलयम्) तस्य पलाशस्य (धनस्य)
मङ्गाया (सन्नेहेन) आकुलः (आस्तः) 'अस्तोरमप्रगुणाऽऽकुलो' इत्यमरः । अयं =
विकटपर्शं, अलिपोतः = अमरसिद्धा, तच्च = भवस्थाः, जनयोः—पुत्रयोः स्नेहजनयोः =
ममजनयोः परिसरं = पर्याप्तप्रवेशम्, अनुवेक्षं = प्रतिक्षणम्, अनुसरति = अनुगच्छति ।
सीतामयमयोः परमं तदपदेनं भीकोत्पलपलाशम् अयमलिपोतः (कृष्णवर्णवामाग्राम-
चन्द्रोऽपि) अनुगमनमुत्तरतीति भावः । भ्रान्तिमयलङ्कारस्तत्कल्पनं यथा—

'साम्यावर्तसिस्तदनुक्षिप्तिमान्प्रतिभोषितः' इति । भार्या जातिः ॥ २७ ॥
सीतेति । स्नेहने = वेधे, मदीये इति बोधाः । बद्धपदपदे = अनुगमनमिति बोधः-

नय अनिर्वचनीय वचनं हे ॥ २६ ॥

(सीता मन ही मन फिर कहीं वात्सली पढ़ती हैं ।)

सखी—रामकुमारि ! देखिए ।

सिक्के हुए विमल और सौमल कुवलयके पत्रकी सहाते मङ्गल नय भ्रमरकिन्तु
जागके लाल नेत्रोंके पास प्रतिक्षण अनुसरण कर रहा है ॥ २७ ॥

सीता—(हर्षपूर्ण मन ही मन) स्नेहनीने भी भ्रमरकी लाल करविचा नय
मुलकवचनमन है ।

रामः—(सञ्ज्याशयम्)

अमृतमयपयोधिबीरकस्तोत्रस्तोत्रैः

स्नपयति तरलाक्षी यत्र मां नेत्रपातैः ।

अपि ममनु सदाऽपि सम्पुङ्गवो...

(निवृत्य सविधायम्)

...कुतो वा ?

मधुरविधुरमिथाः सृष्टयो हा ! विधातुः ॥ २८ ॥

अमरे । मदीयनेत्रयो रामरूपभमरोऽनुसूत इति ध्रुत्वा सुकलुषपत इति भावः ।

राम इति । सप्रथमम् = आकाङ्क्षासहितं यथा तथा ।

रामः स्तीताम्बकोकनं वर्जयति—अमृतसवेति । तरलाक्षी अमृतमयपयोधि-
बीरकस्तोत्रस्तोत्रैः नेत्रपातैः यत्र मां स्नपयति सदाऽपि भवं सम्पुङ्गवो ममनु । वा-
कुतः ? विधातुः सृष्टयो मधुरविधुरमिथाः ॥ इत्यम्बधः ।

तरलाक्षी = चञ्चललोचना, स्तीतेत्यर्थः । अमृतमयपयोधिबीरकस्तोत्रस्तोत्रैः =
अमृतमयः (सुधाप्रसुरः) या ययोधिः (सम्पुङ्गवः) तस्य बीरसमाः (पुण्यसहायः)
ये कल्लोकाः (महातरङ्गाः) ते इव कोकः (चञ्चलाः) तैः । तादृशैः नेत्रपातैः =
इष्टिपातैः, कटाक्षपूर्वैरिति भावः । यत्र = यस्मिन्समुहूर्ते, मां = रामं, स्नपयति = मण्ड-
लपति, निवृत्त्याय 'मयावीच' इति भासोर्कट् । कटाक्षपूर्वैर्नेत्रपातैर्मां मनुगृह्णातीति
भावः । सदाऽपि = सर्वदाऽपि, भवं = सम्प्रत्यनुभूयमानः, सम्पुङ्गवः = उत्तमः कवः,
ममनु = अस्तु । अस्मत्परीत्यस्याऽसंभावनाविमर्शेन सविधायं पुनरुद्भूते—कुतो
वेति । वा = अपवा, कुतः = कस्मात्, हेतोरिव संभाष्यत इति शेषः । जसंमाद-
मायो हेतुं मतिपादयति—मधुरेति । विधातुः = माह्वानः, सृष्टया = रचया, मधुरमि-
धुरमिध्रम = मधुरेण (माधुर्यपूर्णेन, सुधरूपतया विभावितेनेति सत्वा) विधुरेण
च (वैधुर्यपूर्णेन, विधौगहेतुत्वाद्दुःखरूपतया विभावितेनेति भावा) मिथाः

रामः—(रम्भापूर्वक)

चञ्चल नेत्रोत्ते सुक (स्तीता) अमृतमय समुद्रके वृषके सदाश, महातरङ्गोके तुल्य, चञ्चल
इष्टिपातोत्ते निवर्तते सुके नहा रही है (मधुरादीन कर रही है), सदा ही यह कृष्ण मुहूर्ते
करा रही ।

(विचार कर केरपूर्वक)

अपवा...वह बात कैसे हो सकती है ? ममजीबो रचकारों संयोग और विधौगके
मिश्रित हैं ॥ २८ ॥

(प्रवेश)

चेटी—मर्त्यदारिके, भट्टिनीभिराज्ञाऽस्मिन्, धत्तिक वत्सा ज्ञानकी मतिरिति गृहमानीय विचित्राभरणैर्मण्डिताम् । मेम वस्याः सानन्दं वदना-
रविन्दं दिलोकयामः । (भट्टारिण, भट्टिणीर्हि ज्ञानतपि । अं फिर वत्सा जाणई
मत्ति परमाणीज विचित्रहरखेहि मण्डीयवु । जेन तीए साभन् वधवारविन्दं
पुलोयवु)

सीता—हृदये, कथं स्नेहसुखा समाऽन्वाः । (हृदये, कथं सिनेहसुखाभो
मह अन्वाभो)

चेटिका—यास्त्वां निसर्गलावण्यचन्द्रलेखां नेपथ्यलाक्ष्मीलाङ्गने-
नाऽलङ्कृतुमिच्छन्ति । (या तुयं निसर्गलावण्यचन्द्रलेखां नेपथ्यलाक्ष्मीलाङ्गने-
नालङ्कृतुमिच्छन्ति । तदा अ)

(मिश्रितः) भट्टादीति शेषः । अतोऽयं सम्प्रदुर्गतः सदा न स्वात्मसीति भावः ।
भट्टिनीवृत्तम् ॥ २८ ॥

चेटीति । भट्टिनीतिः = इतरासी राशीभिः । विचित्राऽऽभरणैः = वैविध्याऽ-
लङ्कारैः । मण्डिता = विभूषिता, कर्मपात्रप्रयोगः ।

सीतेति । हृदये = मीमांसा परिचारिका प्रति सम्बोधनपद्धतिदं प्रयुज्यते । तदुक्त-
माशरण—हृदये ! हृदये ! हृदये ! मीमांसा चेटी सतीति ? इति । स्नेहसुखा =
स्नेहेन (वात्सल्येन) सुखाः (मोहसुखा) ।

चेटिकेति । चेटिका = दासी । या = अन्वाः निसर्गलावण्यचन्द्रलेखां = क्लिष्टरोग-
(स्वसाधेव) लावण्यं (सौन्दर्यम्) यस्याः सा निसर्गलावण्या, सा चाऽसी चन्द्र-
लेखा (चन्द्रलेखालङ्कारः), ताम् । अलङ्कितुमिच्छन्ति प्रयोगः । नेपथ्यलाक्ष्मीलाङ्गनेन =
नेपथ्यलाक्ष्मीः (भूषणरचनाऽऽविजनितास्ता) सैव अलङ्कृतं (विद्धि, अलङ्कृतं वा)

(प्रवेश कर)

चेटी—(परिचारिका) राजकुमारी । राशिभोजे जादा सी है कि 'पुत्री सीताकी
अन्तर मनने लकर विविध अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करो । जिससे कि उनके मुखपरमणी
जानमके साथ देखें ।

सीता—परिचारिके ! मेरी माताई जिसतरफ स्नेहसे बोधसुख हो रही है ।

चेटिका—ओ ॥ समझते हो अलङ्कृतपूर्व चन्द्रलेखके कष्टक भारकी भूषणादि
जनितधोभा रूप अलङ्कृतसे अलङ्कृत करनेकी इच्छा भरती है ।

अपि । तत्र मुक्ताकेला चन्द्रमिमे सरसेहा,
 दशनकिरणलक्ष्मीरचकृष्योत्सनालक्षणा ।
 कुक्कुटवदकद्रोणीकन्दरायां वहन्ती,
 तरलबहुलमिष्टा दुग्धधारेण खलि ॥ २६ ॥
 (अहं मुहं मुहलेहा चन्द्रमिमे सखेहा
 दशनकिरणलक्ष्मी कच्छतोद्गलखिखी ।
 कुक्कुटवदकद्रोणीकन्दराए वहन्ती
 तरलबहुलमिष्टी दुग्धधारे ञ्च दिह्ती ॥)

सदृशकल, गच्छामो निजगृहमेव । (ता आचञ्च, गच्छामो निजगृहमेव)
 रामः—(सविवादम्) कथं नयनपथमतिक्रान्तैश्च कान्ता ? ।

शेषः । 'आकल्पयेयौ नेपथ्यं अतिकर्म प्रसाधनम् ।' इत्यमरः । स्वभावसुन्दरी त्वं
 चन्द्रमूकपद्ममादिनाऽलक्ष्मिपद्ममयाऽ, अतस्ताः मुग्धा इवेति भावः ।
 प्रकृतिमुन्वाः सीतायाः कृते नेपथ्यविधानस्य आचरणकर्ता प्रतिपादयति—
 असीति । अपि । तत्र मुक्ताकेला चन्द्रमिमे सरसेहा, दशनकिरणलक्ष्मीः लक्ष्म-
 ण्योत्सनालक्षणा, इति कुक्कुटवदकद्रोणीकन्दरायां वहन्ती तरलबहुलमिष्टा दुग्धधारेण-
 खलि । अपि = हे सीते !, सचञ्चलस्या, मुक्ताकेला = चन्द्रमरेका, चन्द्रमिमे = इन्दु-
 मण्डले, सरसेहा = प्रसवित्री, खलिषा वहनरेका चन्द्रमण्डलसदृशीति भावः । एवं
 च दशनकिरणलक्ष्मीः = दन्ताऽल्लसोमा, अचञ्चलोत्सनालक्षणा = अमरचन्द्रिका-
 गुल्फा, = अचञ्चला, इति = चक्षुः, कुक्कुटवदकद्रोणीकन्दरायां = कुक्कुटवदक-
 (लपकवक्षस्य) या प्रोक्षी (भौकाकारा वनरचया), आचामां 'दोषे'ति मान्ना
 कयातेति भावः तस्याः कन्दरायां (गुहायाश्च) वहन्ती (रचन्दमाना) । तरल-
 बहुलमिष्टा = तरला (चञ्चला) बहुलमिष्टा (अधिकमायुरा), दुग्धधारेण = पयो-
 धारेण, असीति शेषः । स्वभावसुन्दरस्य लक्ष्मणीरस्य कृतिमनुपमास्तरपरिधानेन
 किमिति न किमुवाप्ति ते मातर इति भावः । नेपथ्याल्लक्ष्मः । मालिनीवृक्षम् ॥ २७ ॥
 रात इति । कान्ता = वज्रमा, सीतेति भावः । वयनपथं = नेत्रमार्गं, ह्योपरता-

हे राजकुमारि ! आपकी मुखरेखा चन्द्रमण्डलके समान है, दशनकिरणोद्धी श्रीमा
 मियेक पौदगीके छहक है और इति नीलकमलके पतेकी शोभीके मयभासमें बहती हुई
 चञ्चल और अधिक मधुर दृष्टी नाराजे दुस्त है ॥ २९ ॥

इलक्षिण पचारिण, अथने अचनमे ही चर्ये ।

रामः—(खेदके साथ) किछतरा मुखरी नेत्रमार्गते और ही होतई ।

(पुनः सप्रत्ययम्)

अथाधिरस्तु भूयोऽपि मम लोचनयोरेवम् ।

दिवसेऽन्तर्हिता नक्तं चन्द्रिकेव चकोरयोः ॥ ३० ॥

कथमप्यः—आर्य, इयमाधिरस्ति ।

रामः—(सहर्षम्) कथं पुनः प्राप्ता प्रेयसी । (विवेकम्) न तावन्मम किमप्यन्यदभिसन्वाद्य तविदमुच्छं वत्सेन । (उच्यते) यत्स, केयमाधिरस्ति ।

कथमप्यः—

मुग्धस्य केलिचिजितस्मरत्वापयच्छे-

मित्यर्थः । ममवचोः पद्या मपयवयवस्तम् । 'अहंभूतभूययामावय' इति समासा-
न्तोऽप्रत्ययः । अतिक्रान्ता = कङ्कितवती ।अथाधिरस्तिवति । इयं ममलोचनयोः भूयोऽपि, दिवसेऽन्तर्हिता चन्द्रिका नक्तं
चकोरयोरेव आधिरस्तिवत्त्वम्भवः । इयम् = पृथा, सीतेत्यर्थः । मम = रामस्य, लोच-
नयोः = नेत्रयोः, नक्तं इति शेषः भूयोऽपि = पुनरपि, दिवसे = दिने, अन्तर्हिता =
तिरोहिता, अन्तर्ह्यनुरेति शेषः । चन्द्रिका = कौमुदी, नक्तं = रात्रौ, चकोरयोरेव =
चन्द्रिकायाधिराधिरुगस्येव, अम इति शेषः । चकोरी च चकोरश्च चकोरी, तयोः ।
'पुमान्निष्ठा' इत्येकशेषः । आधिरस्तु = आविर्भवतु, दिवाऽन्तर्गतं गता चन्द्रिका यथा
वहधुवयमास्तस्य चकोरी मुखवति लवैवेयं सीताऽपि पुनर्दोषोक्ततामुपेत्या मामा-
नन्दयतिवति साध । जगोपमाऽऽह्वारः । अमुमुमुमुत्तर ॥ ३० ॥कथमप्य इति । इयम् = पृथा, कथमप्य आर्या = पूजया, सीतेति भावः । सन्धि-
साधनार्थं भवत्येते ।राम आर्याऽधिरस्तीति ममसिद्धस्य इयं प्रदर्शयति—राम इति । प्रेयसी =
मित्रतमा, सीतेति साधः ।

सम्प्राप्तामयं वर्णयति कथमप्यो मुग्धस्येति । ननु ! मुग्धस्य केलिचिजित-

(पितृ नाशपूर्वकम्)

दिनमेवमुपय चान्वी रक्तमेवैते चकोरीके समये आविर्भूतं होती है उत्तीतरह
यह (सीता) मेरे नेत्रोंमें प्रकट हो ॥ ३०-अ

कथमप्य—आर्य ! प्रकट हो गई है ।

राम—(हर्षके साथ) मेवतो कैते पितृ प्राप्त होवर्ह ! (विस्मय) मित्रव हो किती
पूतरे मित्रयो कथ्य करके दास व्यवसये ऐसा नहीं कहा है । (क्वि स्वरसे) यह कौन
प्रकट हो गई है ।

कथमप्य—हे आर्य ! स्मरत नीर लोचनो हो कामदेवकी वसुधैवकुर्वी नीतदेवकी

रातन्वती रुचिमतीस सुधाकरस्य ।

रागोद्भूता स्फुटमुदञ्चिततारकभीः

सम्प्राप्तिरस्ति ननु काऽपि प्रतिपद्येव ॥ ३१ ॥

पद्यः—वत्स, एवमेवत्, तथा हि—

कृत्वा मधुयकमलामकिलां तिलोकी-

सम्प्रापयते: सुधाकरस्य रुचिमतीवऽऽतन्वती रागोद्भूता स्फुटम् उदञ्चिततार-
कभीः सम्प्राप्तिरस्ति प्रतिपद्येव आधिरस्तीत्यन्वयः ।

ननु = हे शर्व !, सुधस्य = सुधस्य, 'सुधः सुधरसूदयोऽस्तिपमः । केति-
विमितसम्प्रापयते: = केवया (कीदृशेन, कमापासेनेति भावः) विमिता (परा-
मिता) समप्रापयति: (कामकमुकयति:) मेव, तस्य । तारकस्य सुधाकरस्य =
चन्द्रमसः, कथयिन्भावकस्य वा । रुचि = कान्ति, प्रपद्ये वा । तन्वती = अन्वयं,
किमावितेषमभिधम् । रातन्वती = विस्तारपन्ती, रागोद्भूता = रागेण (कोहितेन,
दिनकरकरजमितेनेति शेषः । अनुरागेण वा) उद्भूता (युक्ता) । स्फुटं = स्पष्टं,
पमा स्थापना । उदञ्चिततारकभीः = उदञ्चिता (प्रदक्षिता) तारकायां (नक्ष-
त्राणां, तारकयोः = मेघकनीभिर्धोवा) भीः (क्रोमा) यया सा । तादृशी सम्प्राप्तिः =
साधयेका, काऽपि = अनिर्विह्वलमयेवा, प्रतिपद्येव = स्वयंकरा कमेव, प्रति वृत्तो-
सीति, फलपदपूर्वभावात् 'इह संमत्ता'मिति शालो: 'संज्ञायां भुवभुविभासितहित-
दिवम्' इति सूत्रं, 'अर्धपदव्यत्यस्य सुम्' इति सुम् । 'अथ स्वयंकरा । प्रतिपद्ये
व वर्णवे'त्यमरः । आधिरस्ति = प्रादुर्भवति । अत्र श्लेषरसोपराधाभारऽङ्गक्षिप्तमेव
साधुरः । पद्यस्तिलोकीं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

कृतेति । अतो भगवान् भरविन्दवन्तः अक्षिकां तिलोकीं मधुयकमलां कृत्वा
अन्तःमनुसृष्टिनामिसरोजबोधकीसूक्ष्मं वृत्तानिम् अम्भोविधेः पद्मं विसतीत्यन्वयः ।

अतो = विप्रकृष्टस्थानस्थितः, भगवान् = देववर्तपक्षः, भरविन्दवन्तः = कमल-
बालम्बः, विकासकत्वादिति भावः । अक्षिकां = समस्ता, तिलोकीं = तिलुरनं, मधुय-
कमलां = मधुव्रानि (विकसितानि) कमलानि (पद्मानि) यस्यां सा, रागः ।

चन्द्रमाको वा किसी नर की कामिकी अतिशय ही कौकनेबाजी रागसे (कलियासे वा
ननुरागसे) युक्त म्भलरूपसे चञ्चवींशी वा नेवींशी प्रतिलिपीकी भीमाकी प्रदर्शित करने
वाली सम्प्राप्ति, कीर्त स्वयंकर करनेकी विधि मधुव नपूके समान प्रकट हो रही है ॥ ३१ ॥

राग—वत्स । यद् ठीक है । जैते हि—

ये भगवान् कमलधाम्ब (सूर्य) सब कोकीके कमलकीकी निकलितकर विष्णु भगवान्के

अमोघिषेर्विनासि गर्भमस्तविषाणीम् ।

अस्तःप्रसुप्तहरितामिसरोजबोध-

कौतुहलीय भगवानरविन्दकण्ठः ॥ ३२ ॥

कथमप्य-आर्य, हरयताम्-अथसीषन्मुकुलितशरा इव गरान्तभोगः ।

शम्भ-एवमेतत्-इदानीं हि-

प्राचीमात्मन्मनाने घनतिमिरचये बान्धवे कथकीनाम्

कृत्वा = विनाश, अस्तःप्रसुप्तहरितामिसरोजकोशकौतुहलीय = अस्तः (अम्यन्तरे, हरिदेहाऽम्यन्तरे इति भावः) प्रसुप्तं (विप्राणां, विनीकितमिति भावः) बन्धु हरितामिसरोजं (विष्णुनाभिकमण्डलम्) तस्य बोधः विद्यासमम्), तस्मिन् कौतुहली इव (कौतुहली इव उत्कण्ठित इवेति भावः) । इदानीं = सामान्यं सम्भ्याकाश इति भावः । अमोघिषेः = समुद्रस्य, गर्भस्य = अन्तरं, विनासि = प्रविशति । सुप्तं हरि-नाभिकमण्डलं विद्यासहितमुत्कण्ठित इव समुद्रान्तरं प्रविशतीति भावः । अमोघे-त्येवाऽऽहकारः । अस्ततिलोकं कृतम् ॥ ३२ ॥

कथमप्य-इति । गरान्तभोगः = दगभस्य (आकाशस्य) वरभोगः (परि-पूर्वता) । ईषन्मुकुलितशरा इव ईषत् (किञ्चित्) मुकुलितः (विकसितः) शरः (कौटिल्यम्) यस्य सः ।

शम्भो कथमोक्तिं समर्पयते-प्राचीमिति । कथकीनां बान्धवे घनतिमिरचये प्राचीम् आत्मन्मनाने, स्वैरिणीनां वैरिणि नाशिकरमिकरे च प्रतीचीं सम्प्राप्ते, अर्ध-इवामोघकार्यैस्तद्विमित विद्याम् अन्तराकं काकिणीजमुत्कण्ठामितकमण्डलस्यम्-सन्धोद्गमेन विधात इत्यन्वयः ।

कथकीनां = पुण्डरीकाक्षः, अभिसारिणीनामिति शेषः । पुण्डरीकवर्णी कथकम-सती कुण्डलेश्वरी । इत्यमरः । बान्धवे = बन्धु, तदाहरस्यस्य शोषकत्वादिति भावः । शरको घनतिमिरचये = निविद्याऽन्धकारसमूहे, प्राचीं = पूर्वविद्याम्, आत्मन्मनाने = भावयति सति, 'यस्य च भावेन भावककणम्' इति सप्तमी, एवं परमांशवि । एवं च स्वैरिणीनां = कुलदामास्य, अभिसारिणीनामिति शेषः, स्वैरेवितुं शीकमसि

शरीरके नीतर स्थित नाभिकमण्डली विकसित करलेमें उत्कण्ठितके समान शीकर इव समेव समुद्रके नीतर प्रवेश कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

कथमप्य-पार्थ । वैदित । यह आकाशमण्डल कुछ काकिनासे युक्त हो रहा है ।

शम्भ-यह शीकर है । क्यों कि इससमय-

कुलदामोंके समुद्र शरक बन्धकारसमूहके पूर्वविद्याकी नीर कुलदामोंके वैरी कथ-

सम्प्राप्ते च प्रतीचीं दाशिकरनिकरे वैरिणि स्वैरिणीनाम् ।
अर्धशानोपकारार्थकटिकमिध दिशामस्तारात् विद्यते
कालिन्दीजङ्घान्यामिश्रमलजलस्यन्दसन्दोहमैत्रीम् ॥ ३३ ॥

(पुनः सूर्यमण्डपस्था दर्शयन्)

एतत्कोककुटुम्बिनीजनमनःशल्पं, चकोरजङ्घना-

वाक्ता ताः श्वैरिण्यस्तासाम्, सारङ्गीत्ये निनिः । 'दातिपविश्रज्जले छिद्रविशिष्ट-
कलसि प्रक्षयम्' इति परिभाषया 'स्वाधीरेरिणो'रिति वृद्धिः । वैरिणि त्रिणी, मकालेन
समूहस्यप्रदर्शनादिति भावः । ताराणे दाशिकरनिकरे च = चन्द्रकिरणसमूहे च,
प्रतीचीं = पश्चिमदिशा, संप्राप्ते = समाप्तादिते, तथा च शर्भरवासोपकारार्थकटिक-
मिध = अर्धम् (अर्धभागः) स्वासोपस्थः (कुम्भापायणः) एवम् तत्, एवं च अर्धम्
(अर्धभागः) कटिकः (सूर्यकान्तमणिः) एवम् तत्, ताराजमिव, विशाल-
राजं (दिङ्मध्यभागः) कालिन्दीजङ्घान्यामिश्रमलजलस्यन्दसन्दोहमैत्रीं = कालि-
न्दीजङ्घान्यायोः (यमुनाजङ्घान्योः) मिश्र (संगमे प्राप्नुवन्) योऽन्तर्गतस्यम्-
सन्दोहः (चिर्मलकलिकप्रवाहसमूहः) एवम् मैत्रीं = सख्यं, सारथमिति भावः ।
विद्यते = करोति । सूर्यस्याप्रसाचकगमनाद्याम्नां तमस्तोमे संज्ञाते, प्रतीच्यर् चोद-
येन चन्द्रमसि प्रकाशमाने कुम्भद्रष्टृपात्रावहवमिश्रमिव विगन्तराजं यमुनाज्या-
जङ्घान्योर्मिश्रितकलप्रवाहस्य सारथं सजतीति भावः । उपसाञ्चकारः । अथवा वृत्तं,
तल्लक्षणे यथा—'समैर्माणां त्रयेण त्रिभुनियतिमुत्तासमशरी कीर्तितेभ्यम् ॥ इति ॥ ३३ ॥

चन्द्रोदयं वर्णयति—युतदिति । कोककुटुम्बिनीजनमनःशल्पं, वदितयोः 'चको-
राजङ्घनाचक्रोदिकपातयोः उद्गाटिनीं वृद्धिका, इत्यस्याजपि स्मरतरोः नवाञ्चक्रो'
आर्जोऽजासो मेघसीसाभोशाममन्त्राञ्चक्रो सुगन्ध एतत् सुधाञ्जोः ययुः विजयत
शुक्लवपुः । कोककुटुम्बिनीजनमनःशल्पं=कोकस्थ (चक्रवाकस्थ) कुटुम्बिनीजनस्थ
(कमलिनीमण्डकस्थ, सूर्यान्ताञ्जलामनसमये समुद्रःसत्पाकमतिदीपमण्डके
कोकस्य कुटुम्बिनीजनत्वं बोद्धव्यम्) सङ्गा—कोककुटुम्बिनीजनायां (चक्रवाकचक्र-
वाकीरूपाणां जनानाम्) भोजनसर्वं (मानससत्कुटुम्बं) चन्द्रोदयकाले कोकदम्पतीयां

किरण समूहके पश्चिम दिशाको प्राप्त होनेपर भावा काका पक्षरवांश और भावा सम्यकसे
तुल्य दिशाकोका मण्डपमाला, गङ्गा और यमुनाके मिश्रित रूप निर्धक जगत्के प्रवाहसमूहका
सांक्षेप व्यक्त कर रहा है ॥ ३३ ॥

(फिर शर्भके शरप संगीतेरे दिखति हुए)

चक्रवाककी कुटुम्बिनी (कमलिनी) के मनके मण्डप, परस्पर मिश्री हुई चकोरीके

चञ्चकोटिकपटयोर्घटितयोश्चूडामादिनी कुञ्चिका।

वृक्षस्यापि तवाङ्कुरः स्मरतरोराद्रागिस्तां प्रेयसी-

मानोद्दामगजाङ्गुयो विद्ययतेऽमुष्यं सुधांशोर्वपुः ॥ ३६ ॥

कथमपः—

कञ्चोत्कलितपट्टविपुरहरशिरः स्वःस्रधन्तीमृगालं

कर्पूरसोदजालं कुसुमशरवधूतीधुमङ्गारगाम् ।

मियो विनोदोऽयमकिनीमण्डलस्य च मियोऽस्ति त्वेन चञ्चवपुषः मानाभरणरूपस्य
मण्डलेयम् । चञ्चितयोः = मियो मलितयोः । चकोराङ्गुवाचञ्चकोटिकपालयोः =
चकोराङ्गुना (चकोरी) तस्याः चञ्चूकोटी (प्रोदवने) एव कपाटे (वरने),
तयोः । उद्वादिनी (उद्वादनवीणा, चञ्चोदये चकोराङ्गुवद्वादनं कुर्वन्तीति
प्रवादः) । कुञ्चिक = उद्वादनयन्त्रे, आपातो 'चाभी'ति प्रसिद्धम् । वृक्षस्यापि =
मृगसीमृतस्यापि, हरणयनागलेवेति, शेषः । स्मरतरोः = कामकुक्षस्थ । तवाङ्कुरः
नूतनप्रोहः चान्द्राङ्गुतां = वृत्ताङ्गराखा, तावतायां नामकानामिति, शेषः ।
प्रेयसीमानोद्दामगजाङ्गुसंश्रयसीनां (मियतमानां) यो मानः (प्रणयधोपः)
स योद्दामगजाः (मण्डहस्ती) तस्याङ्गुलः (धुभिः), तानितीमृगमामनिवाक
इति भावः । मुष्यं = मुष्करम्, एतत् = हृत्, सुधांशोः = सुधाकरस्य, चञ्चमस
इत्यर्थः । वपुः = शरीरं, मण्डलमिति भावः । विद्ययते = सुखोत्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः ।

अथ कथमङ्कुरः । चान्द्रविकीर्तितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

कथमपञ्चोद्दं वर्णयति—कञ्चोदयेति । कञ्चोत्कलितपट्टविपुरहरशिरः स्वः
स्रधन्तीमृगालं कर्पूरसोदजालं कुसुमशरवधूतीधुमङ्गारगाम् । गुणाञ्जलिचाम्पो । रगा-
नकमकिनी पचपामीमिन्तोः इन्दोः अगममन्त्रम् एतत् चञ्च केनाम् अन्तस्तीर्ण
किञ्चकयसीत्यन्धः ।

कस्तोलेत्यादिः = कञ्चोदये (महातरङ्गेन) चित्तः (मेरितः) कञ्चकृत्
इति भावः पङ्कः (कर्पूरः) चर्मिस्तत् । विपुरहरस्य (सङ्करस्य) शिरसि
(मूर्ति) वा स्वाः स्रधन्ती (स्वर्णवी, आकाशगङ्गेति यावः) तस्या मृगालम्
(चित्तमन्त्रम्) कर्पूरसोदजालं = कर्पूरस्य (चनसारस्य) सोदजालम् (चूर्णित-

चञ्चमरूपं चित्तोक्तो सोदनेनेति चिरं कुञ्चो, एव कामकुक्षं तवीनं चङ्कुर, एव अपराध
काके नायकोटी पितृवसोका प्रणयवीरहज मत्त हायीका मङ्गुल और सुन्दर एव चञ्च-
मण्डल, अकिञ्चक लक्षणके साम प्रकाशित हो रहा है ॥ ३५ ॥

कथमप—महातरङ्गसे चित्तका कलह बृत् हो गया है । एवम् महावेगसे धिरमें बहती
हुई आकाशगङ्गके मृगमन्त्रम्, कर्पूरके चूर्णितचूर्णके द्वारा, कामपत्नीके नविरा पीयेके

पतङ्गकुम्भाच्चिबन्धोर्भागनकमलिनीपत्रपाणीयचिन्तो-

रस्तस्तोषं च केचन किल्लयति जगन्मण्डलं खण्डमिन्दोः ॥३५॥

रामः—यत्स, अन्तमतिप्रसङ्गेन, तदेहि, साकन्तनप्रिवरार्थेनोचित-
कुसुमोपावनेन भगवन्तं गाधिनन्दनमुपास्महे ।

(इति मिथ्यान्ताः सर्वे)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

—

मू०) कर्पूरपूरकमिति भावः । कुसुमसरयवसुसीधुशृङ्गारवाहं = कुसुमसरयवः
(कामपत्न्याः) सीधुशृङ्गारवाहं (मदिरापावपात्रम्) । कुम्भाच्चिबन्धोः = कीर-
बान्धवस्य, इत्यु येन तज्जलवर्धकवादिति भावः । तयामकमलिनीपत्रपाणीयचिन्तो =
ध्यानम् (आकाशम्) एव यत्कमलिनीपत्रं (पद्मिनीदलम्) तत्र पाणीयचिन्तोः
(जलपुपुटसदस्येति भावः) । तावत्तस्येन्दोः = चन्द्रमसः, जगन्मण्डलं = लोक-
भूषणम्, यत्स = इत्थं सर्वं = सकलं, केचन = जनानाम्, साकन्तनप्रिवर-
ार्थेति, न किल्लयति = न ध्वंसयति, चन्द्रमण्डलं सर्वेषां जनानां इत्यपेक्षायां
विस्तारवतीति भावः । अन्तमतिप्रसङ्गः । खण्डरादुत्पत्तिः ॥ ३५ ॥

राम इति । अतिप्रसङ्गेन = अत्यवसरेण, कार्ष्णीचित्तकालाऽतिक्रमणेनेति भावः ।
साकन्तनप्रिवरार्थेनोचितकुसुमोपावनेन = स्नानार्थकालिकदेवपूजनयोग्यपुष्पोपहृतेषु-
त्वर्थः । गाधिनन्दनं = विश्वामित्रम् ।

इति श्रीमत्ताराशकव्यासपात्रोक्तं चन्द्रकलाऽङ्कवार्ता द्वितीयोऽङ्कः ।

—

पात्रोत्पत्तिः (लक्ष्मणः), कीरसमुदके बान्धव, जलघल्लव कमलिनीपत्रको भगवन्तुने तयाम,
लोकभूषण यद् चन्द्रमण्डलं किल्लो अन्तःकरणे सन्तोषको पल्लविव कर्तुं करण है ॥ ३५ ॥
राम — यत्स । नन अनिष्ट शर्जव मतकरो । स्तोत्रिद भागी, तावद्दालके देवपूजन
योग्य फूलोके उपहारके गगनान् विन्वाविनकी सेवा करे ।

(सब निकल पड़ते हैं ।)

इति द्वितीय अङ्कः ।

—

तृतीयोऽङ्कः

(कतः प्रविशति वामनकः)

वामनकः—(आत्मानं विलोक्य । समित्स्मरन्) अहो ! अङ्गानां मे तुङ्गत्वम्, अपि नामेहदौर्लभ्यं सञ्चरता संया द्यारक्षित्वं भव्यते । सङ्कुञ्जो भूत्वा संस्वरिष्यामि । (अहो अङ्गानां मे तुङ्गत्वम् । अयि नाम ईरिष्येहि श्रोहि एव संस्वरन्तेषु नष्टे तुमाराक्षित्वं भव्यमिति । तां कुञ्जो भविष्य संवरितसम्) (तथा करोति)

(प्रविश्य)

कुञ्जका—वयस्य वामनक, इदानीं संस्वरगुणसंयुक्तोऽसि त्वम् ।
(वयस्य वामनक, वामि संस्वरगुणसंयुक्ते सि तुम्)

वामनकः—कयमिष (कहे विष)

कुञ्जका—अथममेव वामन इदानीं पुनः कुञ्जत्वं प्राप्तः । (वयसं ज्ञेय वामनो वामि तण कुञ्जत्वं गते)

वामनका—(सकोपम्) अये मूर्ख, कयमात्मनः कुञ्जत्वं परस्मिन्ना-

वामनक इति । तुङ्गत्वम् = उच्चत्वम्, 'उच्चत्वमाद्युच्चतोऽग्रोऽभिज्ञतस्तुते' इत्य-
मरः । भव्यते = काय्यते ।

कुञ्जक इति । कुञ्जकम् = गङ्गावयम् ।

वामनक इति : द्यारक्षित्वं भव्यमिति = द्यारक्षित्वमभ्ये (अतीवशोर्ध्वमाग-)

(मज्जन्तः कः वीना प्रवेश करत है ।)

वामनकः—(वीना)—(अपनेको देखकर : आश्चर्यसे साथ) अहो ! मेरे अङ्गोंकी कैसी लज्जा है ! ऐसे अङ्गोंसे यहाँ पर प्रजन करूँगा तो द्यारक्षित्वं दूट जायगा । इतकिए कुञ्जका शीघ्र प्रजन करूँगा । (वीना ■ करत है ।)

कुञ्जक (कुञ्जका)—(प्रवेशकर) विश वामनक । वयसमप सङ्कुञ्जणोंसे संयुक्त हो गये हो ।

वामनक—कैसे ?

कुञ्जक—तुम पहले वीने में इस समय फिर कुञ्जके भी हो गये ।

वामनक—(कोपसे साथ) अरे मूर्ख ! कैसे अपनी कुञ्जका बुझते पर आरोपित करते

रोपयसि । ननु त्वमेव कुञ्जकः । सया पुनर्द्वारिखरभङ्गशङ्कितेनात्मनि
कुञ्जत्वमारोपितम् । (अप मुक्ता, कहां असको कुञ्जकणं परमि आरोपेसि । नं
तुमं केव कुञ्जको । मए तण कुञ्जरोसिहत्तभसद्धिदेण अपमि कुञ्जकणमारोपिम्)

कुञ्जकः—(विहस्य) कथं वितस्तिमात्रेण सभाङ्गेन द्वारिखरं
नञ्जयते । (पुनः सकोपम्) अरे अलीकवाचात्, केन तव कथितमहं कुञ्जक
इति । (कहां विवस्तिमेतएव तुह अङ्गेण कुञ्जरोसिहत्तं भजिस्सहि । चरे
आलीकवाचात्, केन तुहं कहिदं महं कुञ्जको सि)

धामनकः—नन्वनेनैव दृष्टवृषभककुदसद्वेगेन पृच्छस्थितेन भांसस्तन-
केनोद्वाहितेन । (नं इमिणा जेव दृष्टिवुसईकददसरिसेण पुट्टदित्थेण संसत्तव-
एण संवाहिण)

कुञ्जकः—(विहस्य) अये मतिशून्य, कथमयं भांसस्तनकोऽपि पुनः
सौभाग्यलक्ष्म्या उपधानगेन्नुक् । (अप मदिसुण्ण, कहां इयो संसत्तवको वि
तण सोइत्तकत्थीए उवहावगेणुको)

मद्वे) द्वाहितेन (सभातकत्वेन) ।

कुञ्जक इति । वितस्तिमात्रेण = वितस्तिता (द्वापसाङ्कः) मात्रा (प्रभाषम्)
पस्य तए, तेन । 'अङ्गुले सकमिहे स्वाहितस्तिह्वावसाङ्कः । 'इत्यमरः । अङ्गेद =
वेदाभ्यधेन । नञ्जयते = भर्त्स करिष्यते, 'अलीकवाच' इति भासोः कर्मणि कृद् ।
अलीकवाचात् = निप्यावाचात् ।

धामनक इति । दृष्टवृषभककुदसद्वेगेन = दृष्ट । (दर्शयुक्त) यो वृषभः (वली-
वर्गः) यस्य ककुदसद्वेगेन (एकव्योर्थभाष्यस्याङ्गस्थेय) । उद्वाहितेन = उद्वा-
हितेन । भांसस्तनकेन = मांसपिन्नेन ।

कुञ्जक इति । मतिशून्य = दुर्गिरहित । उपधानगेन्नुक् = उपधाईकनुक्,
सौभाग्यलक्ष्म्या आधारभूत इति भासः ।

हो ! तुम हो कुञ्जके हो । मैं तो द्वारिखरके दूतनेके भवते कुञ्जका वन गया हूँ ।

कुञ्जक—(ईसकर) मिसे भरके तुम्हारे भङ्गते सेते द्वारिखर बाणा ? (फिर
कोपके साथ) अरे दूठा बकवास करने लगे ! किससे तुम्हें बतलवा कि मैं कुञ्जका हूँ ।

धामनक—रखी दर्शयुक्त सौंदर्य के ककुदके छात्र पीठने विचमान कादयेव भांसके
कोपके ने ।

कुञ्जक—(ईसकर) अरे दुर्गिरहित । सेते यह मांसक जेकहा है ! यह तो सौभाग्य
लक्ष्मीका आधारभूत है ।

वामनकः—(सप्तहय) धरे, शनैर्जीर्य, आस्माद्विशामान्तमुर्या-
रिणां सौभाग्यवृत्तान्तमाकर्ष्य भर्ता कोटिपतिः । (कटे, धनिजं-काय, वात-
रिणां अन्तेऽरवारिणं सोहृन्मनुत्तममाकर्ष्यन्तं मेघं कुम्भिरि)

कुम्भकः—अलं भौरुवेन, इदानीं व्यामृष्टे वर्तते भर्ता । (यलं
कीर्तयिष्य, दार्णि धावपरमि वधवि मत्त)

वामनकः—न खलु न खलु, अथ किं कस्मापि प्राचुषिकस्य सहर्षे-
रगमनं प्रतिपादयन् माह्वमरुहये वर्तते । (न हुं न हुं । अथ किं कस्मापि
प्राचुष्यस्य महसिजो आगमनं पदिवारुहयो वाहिरमन्त्रे वधारे)

कुम्भकः—हा हवाः स्मः । (हा हृहृहृ)

वामनकः—किमिति (किमिति)

कुम्भकः—ननु प्रथममेवैकेन सहर्विणा पाह्वमरुहयेनोपदिष्टोऽयं रा-
जाऽधिनिमीलनै रात्रीर्यमयति । इदानीं पुनरेनोपदिष्टोऽन्तःपुरमेव परि-

**वामनक इति । अन्तःपुरवारिणां = शुद्धान्तगामिनाम् । 'तद्वधुवरोधे : वामन-
कमकिरातकोपवाऽऽभिरा' सकार कुम्भायाः । 'हृत्कुम्भोऽन्तःपुरादीनां राज्ञोऽन्तः
'पुरसप्त'मादयवधेयम् । कीटिपतिः = कोटं करिष्यति अन्तःपुरवारिणां सौभाग्यं
करिष्येति-यथा 'सम्भादपिच्यतीति भावा ।**

कुम्भिक इति । व्यामृष्टे = चिन्तनमकने, 'योगाऽव्यामृष्टमिच्छेत्' इति भावा ।

**वामनक इति । प्राचुषिकस्य = अतिथे । प्रतिपादयन् = प्रतीकनाम् । 'वाह्वमरु-
हये = मोक्षार्थं हिमये ययने इति भावा ।**

कुम्भक इति । अविमिमीलयैः = भवभरोमीक्यैः, 'योगाऽव्यामृष्टमिच्छेत्' इति भावा ।

वामनकः—(पाह्वमरुहये स्मय) धरे । धरि-योधी । इमरे-वैते अन्तःपुर (रमिनाम्)
नै रत्ने वाकोक सौभाग्यवृत्तान्तं वृत्तकर यन्तु कोट-करि ।

कुम्भकः—करवेको बकरव नहीं । इस समय प्रभु व्यामृष्ट हैं ।

वामनकः—नहीं जी नहीं । महाराज काब किसी भक्तिवि महर्षिके आगमनकी प्रतीक्षा
करते हुए (राट कोटि-हृय) काहरके भजनमें हैं ।

कुम्भकः—इमकोम मारे गये ।

वामनः—धर्मो ?

कुम्भकः—जैसे ही-कह मर्षि पाह्वमरुहये के बपदेश करने कर-रहा मर्षिको मूढ-
कर (योगाव्यामृष्ट) सारी राटें बिता देते हैं । जब फिर इसी बपदेश पाकर मन्त्रमुह

हरिष्यति । ततः किमयमस्माभिः क्षणक इव कर्पटपेटकैः करिष्यति ।
(न पश्यं जेष्ठा एककेण महेशिणा जम्बवक्षणेण उवदिट्टोऽसौ रात्रा अचिन्तीक-
जेहिं स्तिष्ठो गमेदि । दाणिं उण ह्मिणा उवदिट्टो अन्तेसुरं जेष्ठा परिहरिस्सहि ।
उवो हि एवो अज्जेहिं सवणो ज्व कम्पवपेद्वहिं करिस्सहि)

वामनकः—सत्यमेतत्, यद्ययं महर्षिरस्माकं राक्ष उपदेशार्थमागतो
भवेत् । अयं पुनर्हरणमुद्देशनार्थम् । (सत्त्वं एवं, अहं इत्यो महेशो व्याज-
रण्णो उपदेशसत्यं आशब्दो भवे । इत्यो उण हरणमुद्देशनत्वम्)

कुम्भकः—किमस्य महर्षेर्होममिधूमरयामलितलोचनस्य हरश्चाप-
र्शनेन, तत्तर्कयामि क्षत्रियब्राह्मणोऽयमिति । (किं इतरत् महेशिनो होम-
मिधूमसामक्षिप्रलोचनस्य हरश्चापदर्शनेन । सा तर्कयामि क्षत्रियब्राह्मणो इत्यो सि)

वामनकः—(विहस्य) कथं तनुरिष मतिरपि ते वध्नः, यदेवं तर्क-
यंसि सत्यं क्षत्रियब्राह्मणोऽयमिति । (कथं उण ज्व मदीहि तुहं वज्जुनी उजं एण्व
सत्तर्कयंसि । सत्त्वं क्षत्रियब्राह्मणो इत्यो सि)

शेषः । वामनसि = वामनसि । वामनकः = वामनाक्षुः, विगल्बज्जेषादिति भावः ।
कर्पटपेटकैः = क्षीणवस्त्रमन्त्रकृमिः । अस्त्राद्योर्वया वस्त्रमन्त्रयामो नाऽप्यवकतर,
सथा राज्ञोऽप्यस्माकमावकतरा न भविष्यति, वृत्तिप्लेदोऽस्माकं सम्भवेदिति भावः ।

वामनक इति । हरणमुद्देशार्थम् = किमकारुणिकलोकाप्यर्थम्, जगदमिष-
हरिति शेषः ।

कुम्भक इति । होमाऽमिधूमरयामलितलोचनस्य = होमस्य (उपवस्य) योऽ-
ग्निः (भगवा) सस्य चूमेन (अग्निपयणेन) स्वामंक्षिते (स्वामीकृते) कोचने
(विभे) कस्य, तस्य । ईके = किं अवीक्ष्यमिति भावः । क्षत्रियब्राह्मणः = पूर्व
क्षत्रिया एवाब्राह्मण इति भावः ।

वामनक इति । वामन = कुम्भिका ।

हो ज्ञोर्देते । जीर्णवस्त्रादीन् वस्त्राणांते क्षणकं समानं रात्रा इत्यनेनोक्ते न्यायः करोति ।
वामनक—ये महर्षि हरारे राजाहो, उपदेशो हि किय भावे होमे हो मह-स्य है । पर
मे हो महदेवकीहो भजुकी देवनेके किय मायेके ।

कुम्भक—होमाऽग्निः के पुनसे क्याम भेवसके इव-वर्षादिने कायेकी वज्जुकी देवनेके
क्या ! ये किनार-कसता हू कि ये क्षत्रिय ब्राह्मण हैं ।

वामनक—(ईतरत्) कैते शरीरकी तरब दुम्भारी कुम्भिकी येही हो महर्षी, जो देवा
विष्णु-करते हू । अन्तेसुर ये क्षत्रियब्राह्मण हैं ।

कुञ्जकः—सत्कोऽप्यनर्थः सम्भाव्यते यत् किञ्चित् चिरत्नपस्याकर्षितो-
ऽयं तीव्रं प्रेक्षमाणः क्षत्रियब्राह्मण भ्रजुमतेरस्माकं राजर्षे राज्यं गृहीतुमा-
गत इति । (ता को वि क्षणको सम्भाव्यति किं किं चिरत्नपस्याकर्षितो सो
तिव्यं पेशकमानो क्षत्रियब्राह्मणो ब्रजुमदिणो ब्राह्मणं शरसिणो रज्जं गृहीतुं आगमो सि)

वामनकः—शान्तं पापम् ; ईदृशं मा जल्प, अयं हि चिरत्नपस्याप-
रितोषितस्य ब्राह्मणो वाचा क्षत्रियत्वं परिहृत्य ब्राह्मणत्वं प्राप्तः । (सन्तं
पापम् । ईदृशं मा जल्प । अयं हि चिरत्नपस्यापरितोषितस्य ब्राह्मणो वाचाप्य क्षत्रि-
यत्वं परिहृतिम् ब्राह्मणत्वं परो)

कुञ्जकः—कथं तनुरिव मतिरपि ते वामनी, यदीदृशालीकलोकमुत्ता-
न्तेऽपि प्रत्याप्यते, यदि कस्यापि वाचा क्षत्रियो ब्राह्मणो भवति तर्हि मम
वाचा त्वमपि ब्राह्मणो भवसि । (कथं तणुं य मदीवि दुह वामनी किं परिस-
भलीभलीभ्रमुत्तते वि पतिव्याभदि । यद् कस्वदि वाचाप्य क्षत्रियो ब्राह्मणो होइ ता
मह वाचाप्य दुमं वि ब्राह्मणो होसि)

वामनकः—अरे आलिश, कथं तव गोमुखस्य भगवत्कृतमुत्सुखस्यापि

कुञ्जक इति । कोऽपि = अनिर्वाण्य । **तीव्रं** = तीक्ष्णम् । **ब्रजुमतेः** = सरकबुद्धेः ।
राजर्षेः = ब्रह्मकृतेति साकः ।

वामनक इति । शान्तं = निवृत्तं, भवेदिति शेषः । **जल्प** = विवाहितः ।

कुञ्जक इति । वामनी = कर्वा, भ्रजुमतेति साकः । **ईदृशः** = अथैकमेकमुत्तान्ते-
ऽपि = पुनरावृत्तिव्याजबोवन्तेऽपि । **प्रत्याप्यते** = विरक्ष्यते ।

वामनक इति । आलिश = सुलभ, 'अथे मृदुममाजानसुलभैरेववालिशः । 'इत्य-

कुञ्जक—तब कोई अनर्थ होनेको सम्भावना है, जो कि बहुत समयको तपस्यासे
आकर्षित वे तीक्ष्ण बुद्धिवाले क्षत्रियब्राह्मण, हमारे सरकबुद्धि राजाके राज्यको प्रदान
करनेके लिए आये हैं ।

वामनक—वाप विद्वत् हो । ऐसा मत करो । वे चिरत्नपस्यासे परितोषित
ब्राह्मणोंको वाचोंसे क्षत्रियत्व छोड़कर ब्राह्मण हो गये हैं ।

कुञ्जक—कैसे खरीदको तरह तुम्हारी बुद्धि भी बेची हो गई है, जो कि मेरी बुद्धि
लोकब्रह्मान्तमें भी विवादात्तर रहे हो । किसीकी वाचोंसे क्षत्रिय भी ब्राह्मण होता हो तो
मेरी वाचोंसे तुम भी ब्राह्मण होये ।

वामनक—अरे मूर्ख ! वेको समान मुखाके मुखमें और भगवान् ब्राह्मणोंमें भी

नास्त्यन्तरम् । (अरे कानिष्ठ, कहां तुह गोमुहस भचकरो चतुमुहस बि पतिव
पान्तरम्)

कुञ्जकः—क्यायं कुसुमाङ्गणस्तत्किमस्य चापचिन्तया । (वह हूमे
सुखदहानो हा किं इनस चापचिन्ताए)

वामनकः—अस्ति कारणं, तस्य पार्श्वे तत एव गृहीतचापविधौ द्वौ
रुद्रियकुमारौ वर्तन्ते, ताभ्यां दर्शयिष्यति आपमिति । (अस्ति कारणं, तस्य
पार्श्वे ततो जेव्व गहिक्कनामविष्वा रोवि अतिअकुमार पदन्ति । तां दंसहसपदि
आमं ति)

कुञ्जकः—तच्छुद्धारायोऽयम् । (■ शुद्धासक्तो हूमे)

वामनकः—अथ किम् ? (अह ह)

कुञ्जकः—तत्कथय, तावम्, अस्मिन् अक्षीकगुणपारोपेण ननु मम
पापमुत्पन्नं न वेति । (ता कहेहि पावः हमरिस अक्षीकगुणपारोवेण नं महापावं
उत्पन्न पा वेति)

वामनकः—पापमिति किं भश्यते, ननु महापापमुत्पन्नम् । (पावं ■
किं भणीकदि ? पा महापावं उत्पन्नम्)

महः । गोमुहस्य = गोविधं शुद्धं यस्य स गोमुहस्तस्य दूरभासस्तत्त्वयोः । चतु-
र्मुहस्य = महापावः । भचकरो = भेदः, 'अन्तरस्यकाङ्क्षाऽवधिपरिधानाऽन्तर्बिभेदा-
वर्धे' इत्यमरः ।

कुञ्जक इति । शुद्धाऽऽसक्तः = निर्दोषाऽभिप्रायः । **अस्मिन्** = विद्यामित्रे **अक्षीक-**
गुणपारोपेण = मिथ्यावोधपारोपेण, 'अथे राज्यमपहर्तुमावत' इत्याकारकेवेति
भावः । **तत्त्वं** = रहस्यम् ।

क्या नन्तर (पक्ष) नहीं है ।

कुञ्जक—यदि वे शुद्ध भावण हैं तो उन्हें प्लुष्टी चिन्तासे क्या महत्त्व है

वामनक—कारण है, उनके समीपमें लब्धते चतुर्विधा प्राण करनेवाले दो वधिव-
कुमार हैं । वे उन्हें ही वनु विस्तारयि ।

कुञ्जक—तब ये शुद्ध भावणवाले हैं ?

वामनक—और क्या ?

कुञ्जक—तब कहो, इनमें विद्या दीव कयावेसे मुझे पाप शुद्ध या नहीं ।

वामनक—पाप ही क्या कहते हो ? अरे ! महाराज प्रत्यक्ष हुआ ।

कुम्भकर्कः—भरे भूर्ख, न जानासि बर्मस्य सस्यम् । सम्बन्धित्वने परिहालयचनानि न पापकारणानि भवन्ति । (भरे सुकृत्, न आणासि बर्मस्य तस्य । संबन्धित्वने परिहालयचनानि न पापकारणानि)

वामनकः—कथं पुनरयं तव सम्बन्धित्वनः । (कथं उन्-इमो तुह सम्बन्धित्वनो)

कुम्भकर्कः—भरे, न जानासि, अस्यापि द्वौ कुमारौ । अस्माकमपि द्वे कुमारिके । तत्कर्क्यामि सम्बन्धित्वनो भविष्यतीति । (भरे, न आणासि । अस्स वि देपेण कुमार, अहमां ■ दोमि कुमारी । ता तवकेमि सम्बन्धित्वनो भविस्सति ति)

वामनकः—(विहस्य) कथमस्माकमीदृशो पुत्र्यम् । (कथं आह्वानं हरिसं पुत्र्यम्)

(वेपथ्वे)

ताडहिना झटिति ताडितताडकेन

रामेण पद्मरमणीय-विशोचनेन ।

वामनक इति । सम्बन्धित्वनः = वरपत्नीवजनः, अनेन आभ्यङ्गवृत्तं सूचयते ।

आट्टहिमेति ।—अर्ध-कुसिकम्पुमुनिः ताडहिना झटिति ताडितताडकेन पद्मरमणीयविशोचनेन प्रीतिप्रसन्नध्वरेण सल्लसणेन रामेण सकम्प हतः पत्नीवजनः कथम् = पद्म, कुसिकम्पुमुनिः = कौशिकमुनिः, विरचामित्रप्रकीरिति-सम्पः । **ताडहिना** = ताडकस्य कर्मसूचकधात्रिणा, झटिति = क्षीग्रम्, अनापासेनैवेति अन्वः । **ताडितताडकेन** = ललिता (निहता) ताडका (ताडकस्या राक्षसी) येन, सेन । **पद्मरमणीयविशोचनेन** = कमलपुन्दरनगनेन, पद्मे इव रमणीये विशोचणी पश्य,

कुम्भकर्कः—भरे भूर्ख ! तुम बर्मका तस्य नहीं जानते हो । सम्बन्धीवजने परिहाल (विहस्य) ने वचन पापके कारण नहीं दीते हैं ।

वामनकः—वे कैसे कुम्भकर्के-सम्बन्धीवजन हुए ?

कुम्भकर्कः—भरे ! नहीं जानते हो । इनके धी-धी कुमार हैं, इनके पौधों भी दो कुमारियाँ हैं । इसविषय मैं संभावना करता हूँ कि वे सम्बन्धीवजन होंगे ।

वामनकः—(हँसकर) इसारा देना पुण्य कहाँ ?

(वेपथ्वे)

वे कौशिक मुनि ताडकपरी, श्रीम ताडकाको काली-बाणे, कमलोंके प्रसन्न-पुन्दर

कीडाशिकपञ्चधरेण स-सकमणेन

‘सार्क’भुविः कुशिकसुत्तुरितोऽयमेति ॥ १ ॥

आमन्त्रकः—(सहर्षविस्मयम्) अहो, या कित्त सकललोकमीषणा
राक्षसी तटिंकेति श्रूयते साऽनेन यदि ताहिता तत्त्वमिन्द्रचापारोपण-
मपि सम्भाष्यते । तवेहि । इमं कर्णसुधारसं भट्टिनीभ्यः समर्पयामः ।
(अहो, या किर सकललोकमीषणा राक्षसी तावदिति सुनीमदि सा इमिना जह
ताहिता ता इमस्मि इन्द्रचापारोपणं वि श्रम्भावीमदि, ता एहि । इमं कर्णसुधारसं
सहिष्योणं सम्पद्य)

(इति निष्क्रान्तौ)

(इति प्रवेशकः)

(ततः प्रविशति रामलक्ष्मणानुगतौ दिशामित्रः) ।

सेन । कीडाशिकपञ्चधरेण = केसिकाकपञ्चधासिणा, सकलमणेन = कक्षमणसंहितेन,
साक्षसेन रामेन = रामचक्रेण, ‘सार्क’ एवेन योने ‘सहस्रुकेऽग्रधान’ इति दृष्टीया
‘सार्क’= सह । इतः = मक्षिमन्त्राने, सार्धविनष्टिकस्तसि, । एति = शत्रावृद्धति ।
अतोऽस्याऽस्तियेः प्रत्युद्गमवादिकः सत्कारः कर्तव्य इति । सेनोऽर्चः । वसन्ततिरुक्तं
‘वृषम् ॥ १ ॥

आमन्त्रक इति । सहर्षविस्मयम् = आमन्त्रकचर्चपर्वपूर्वकम् । सकललोकमीषणा =
‘सर्वलोकमयङ्करी । तत्त्व = तर्हि कर्णसुधारसं = मोक्षानुत्पत्त्यर्थं, कर्णान्धदायकं ‘वृषा-
वृत्तिमिति भावः । भट्टिनीभ्यः = राज्ञीभ्यः ।

प्रवेशक इति । प्रवेशकलक्षणं यथा—

‘प्रवेशकस्तुहासोक्ता मीषाप्रमथोक्ता ।

‘अङ्गद्वयाऽन्तर्विहीयः’ सेनं निष्क्रमणे यथा ॥ इति ॥

‘देवीते’ अङ्कः, कीडाशे’ काकपञ्चको’ चारण’ हात्वेवाले, ‘कक्षमणसुक्त’ रामचक्रेणोक्ते’ सार्क’
अर्च आरम्भे ॥ १ ॥

आमन्त्रक—(इहं और भावार्थकं सत्य) आश्चर्य है । श्री-सर्वलोकमीषा मयङ्कर तावदा
मयवी राक्षसी छुनी जाती-ही, धसे श्री-हन्त्रीने मारदायक है तो हमने मर्यादेवके खु-
कालोभी संकल्पना की या सक्ती है । इसलिए भावो । इस कर्णान्धदायको रानियोधो
समर्पण-करें ।
(दोनों निकलते हैं ।)

(इति प्रवेशकः)

(अलग्गर राम और लक्ष्मणसे अनुगत विषयामित्र प्रवेश करते हैं ।)

विश्वामित्रः—(आह्वया दर्शयन्) वत्स रामभद्र,

एतत्तर्क्य चक्रवाकहृदयवाग्भासाय तारायण-

भासाय स्फुरदिन्दुमण्डलपरीहासाय भासा निधिः ।

विकान्तःकुचकुम्भकुङ्कुमरसम्भासाय पङ्केरुहो-

त्तासाय स्फुटवैरिकैरवचनभासाय विद्योतते ॥ २ ॥

शेषं विष्कम्भके गयेति कथनेन वृत्तस्य = भूतस्य ताटकाद्वनस्पत्यं कर्मा-
स्य इति भासास्य = न विष्कम्भस्य प्रगुणैर्विदाहादिकस्य च कर्मास्यस्य विद्व-
त्तयाद्ये प्रवेशको बोध्यः ।

एतद्विति । भासा निधिः चक्रवाकहृदयवाग्भासाय तारायणभासाय स्फुरदिन्दु-
मण्डलपरीहासाय विश्वामित्रकुचकुम्भकुङ्कुमरसम्भासाय पङ्केरुहोत्तासाय स्फुट-
वैरिकैरवचनभासाय विद्योतते एतत् तर्क्येत्यम्वयः ।

भासा = प्रमाणा, निधिः = भाकर, सूर्य इत्यर्थः । चक्रवाकहृदयवाग्भासाय =
चक्रवाकाणां (कोकपक्षिणाम्) हृदयाऽऽभासनाय (मांससारभासनाय), रात्रौ
वाग्भासाः स्वमिषया विमुञ्चन्ते अतः प्रभात उदयाभासर् सूर्यस्ताम्रभासपटीति
भासा । 'तादर्थ्यं चतुर्थी भास्या' इति तादर्थ्ये चतुर्थी । तारायणभासाय = तारा-
यणस्य (नक्षत्रमण्डलस्य) भासाय (तिरोधानाय) स्फुरदिन्दुमण्डलपरीहासाय =
स्फुरत् (प्रकाशमानाय) यद् इन्दुमण्डलं (चन्द्रमण्डलम्) तस्य परीहासाय
(उपहासाय, स्वकेतसा स्थापनायेति भासाः) । पङ्केरुहोत्तासाय, 'अपसर्गस्य-
भ्यमसुप्त्ये बहुवच' इति शीर्षाभ्यः । विश्वामित्रकुचकुम्भकुङ्कुमरसम्भासाय =
विश्वामित्राणां (विश्वारूपनादिकाणाम्) ये कुचाः (स्तनाः) स्य कुम्भाः (ककशाः)
तेषु कुङ्कुमरसम्भासाय (कारमीरजद्वनिधेयनाय, स्वकिरणकीदृस्येन रजना-
येति भासाः) । पङ्केरुहोत्तासाय = कमलविकासाय, पङ्के रोहन्तीति पङ्केरुहानि,
चतुर्पदपूर्वाकाद् 'श्च प्राबुर्भाव' इति भातोः 'इगुपच्योप्रीकिरः क' इति कमलपदा-
प्रत्यये कृति बहुवच' इत्यमृक् । 'पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः ।

विश्वामित्रः—(अस्त्रकिणे दिशो देह्य) वत्स रामभद्र ।

प्रमाणोंके भाकर (सूर्य) चक्रवाक पक्षियोंके हृदयशी भागभासन देनेके लिए, तारा-
यणको तिरोधान करनेके लिए, वनस्पते हुए चन्द्रमण्डलका उपहास करनेके लिए, विश्वामित्र
कुचकुम्भकुङ्कुमरसंभासाय के कुचका बहुवचने केसरका रस रसनेके लिए (काकिमा केकानेके लिए),
कमलोंके विकासदेके लिए और विश्वामित्र कुचकुम्भ कुङ्कुमरवचनशी प्रगुणित करनेके लिए भी
प्रकाशित हो रहे हैं । यह देखो ॥ २ ॥

रामः—(अजलि बद्ध्वा)

शाखयन्तमरविम्वनानि, शाखयन्तमभितो मुखानि ।

पाखयन्तमप कोककुक्षानि, ज्योतिषां पतिमहं महयामि ॥ ३ ॥

विश्वामित्रः—(स्वगतम्) अपि नाम मयोपनीयमाने यस्सरामभद्र-
सचिरादेव जनकस्तनूजया सम्भावयिष्यति ?

कृष्णमणः—आर्य, परम्—

एकैकं शाखामुक्तासाय । स्फुटैरिहैरवयवत्रासाय = स्फुटं (विकसितम्) यत्,
वैरिहैरवयवं (सत्रुमुदस्यूहः) तस्य शाखाय (भोत्ये, सङ्कोचभावेति भावः) ।
विश्लेषते = प्रकाशते । पृथक् = इदं, भासां भिन्नेर्विश्लेषमिति भावः । तर्कय-
विचारय, परयेति शब्धः । अत्र कम्पाञ्जलारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

शाखयन्तमिति । अहम् अरविम्वनानि शाखयन्तं, मुखानि धमितः यत्क-
ण्ठम्, यय कोककुक्षानि पाखयन्तं ज्योतिषां पतिं महयामीत्यन्वयः ।

महं = रामचन्द्र, अरविम्वनानि = कमलसमूहान्, शाखयन्तं = विशालवन्तम्
उपवेण शिखायन्तमिति भावः । मुखानि = लोकां, धमितः = समन्तात्,
शाखयन्तं = शोधयन्तं, एकत्रेणोद्गासयन्मिति भावः । यय = जननारं, कोक-
कुक्षानि = पक्षवन्तसमूहान्, पाखयन्तं = रक्षन्तं राम्या विलुप्तान् कृष्णकान् तत्का-
ल्याभिः संयोजनेन रक्षन्तमिति भावः । तदर्थं ज्योतिषां प्रधानां, पतिं = स्वामिन्,
सूर्यमिति भावः । महयामि = पूजयामि । स्वाभासावृत्तम् ॥ ३ ॥

विश्वामित्र इति । अपि वामेति सम्भावनावाच्यम् ।

कृष्णमणः पञ्चविकासं वर्णयति—वाचयति । यावत् प्रयातकस्यः वीरनिजे-
श्रेष्ठस्य कोकद्वीपमतिक्रम्य इतिविम्बम् अम्बरवणिग्दीवीपपथे न्यस्यति । तावत् अरव-
उपतिं सूर्यं कर्तुम् इव पञ्चाकरेण स्वयम् कण्ठविकासपङ्कजकरम्यस्ता कक्षीः पुर-
श्चान्यत इत्यन्वयः ।

रामः—(अजलि बाँधकर)

मे कमलमोको विकसित करने बाँके, लोकोँकी चारों ओर लम्बक बनानेवाले और
बिन्दुके रूप पक्षपादोंकी संयुक्तकर रक्षा करनेवाले महपति (सूर्य) की पूजना हूँ ॥ ३ ॥

विश्वामित्रः—(राम ■ राम) झुंझसे लगे बने वस्त्र रामभद्रको बचक लीम ही पुत्री
(सीता) से क्या संभावित करोगे ?

कृष्णमणः—आर्य । देखिय ।

वाचपीरनिधेः प्रभातसमयः श्रोतृभूत्य लोकावस्थो-
भाणिष्यं रविचिम्बसम्बरवणिग्धीधीपथे भ्यस्यति ।

तावत्कर्तुमिदस्य मूल्यमुचितं पञ्चाकरेण स्थम्
लक्ष्मीर्लभयिकासपङ्कजकरन्यस्ता पुरः स्थाप्यते ॥ ४ ॥

विश्वामित्रः—(सहर्षमात्मयत्) अथे वत्स लक्ष्मणेनैव दत्तमुत्तरम् ।
देवताधिष्ठितानि ॥ सुगन्धवचनानि भवन्ति ।

वाचः = यथा प्रभातसमयः = प्रातःकालः, पीरनिधेः = बलनिधेः, श्रोतृभूत्यर्थः ।
श्रोतृभूत्यर्थः = विष्णोः, लोकावस्थोभाणिष्यं = लोकस्थानाः (भिल्लेभ्याः) माणिष्यं
(भोगरत्नं, मणिदिशेभ्यः), रविचिम्बं = सूर्यमण्डलम्, सम्बरवणिग्धीधीपथे =
सम्बरम् (आकाशम्) एव वणिग्धीधीपथा (पण्यभूमिः), तस्मिन् । भ्यस्यति =
स्थापयति, पण्यभूम्येनेति शेषः । तावत् = तदा, कस्य = रविचिम्बस्य सम्बर-
वणिग्धीधीपथस्येति शेषः । उचितं = योग्यं, मूल्यं = मूल्यार्थं, 'सूर्यं दत्तोऽप्य-
चक्रव' इत्यमरः । कर्तुम् इष्टं = विधातुम् इष्टं, पञ्चाऽऽकरेण = तद्वर्गेण, पञ्चसमूह-
पुष्पेण, पञ्चाकरस्तोत्रोऽङ्गीत्यमरः । स्वयम् = आत्मनैव, लक्ष्मीकालपङ्कजकरन्य-
स्ता = लक्ष्मीः (प्रातः) विकसलः (प्रफुल्लता) येन तत्, तावत् परपङ्कजं (कमलम्)
सदृशं करः (इत्यः) तस्मिन्पुष्पा (स्थापिता) । लक्ष्मीः = कोमा, मूल्यभूतं
यत् वा, पुरः = भग्ने, स्थाप्यते = भ्यस्यते । सूर्योपसममन्तरमेव कमलविकसलः
संवात इति भावः । अथ रूपकोलोचनोरेकाजवाः सुगन्धेनैव सङ्गरः । कार्मुकविही-
रितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

विश्वामित्र इति । उत्तरं = प्रतिवाचनं, 'प्रसन्नराषणम्' अवकस्तत्त्वज्ञा सम्भाव-
यिष्यतीत्याकारकपरमस्य, एतदितिरल्लोके प्रभातसमयो विरवामित्रः, पीरनिधेः =
दत्तत्वात् पुष्पङ्कजा रविचिम्बं = रामचन्द्रम्, सम्बरवणिग्धीधीपथे = लक्ष्मणपुष्पे
यथा स्थापितवान् । तदैव पञ्चाऽऽकरेण = समकेन, लक्ष्मीः = लक्ष्मीर्लभयिकास
पुरः स्थाप्यते इत्यं दत्तमुत्तरमिति भावः । सुगन्धवचनानि = अमौल्यवाक्यानि, वत्स-
वचनानीति भावः ।

पण्यभूमिर्लभयिकासपङ्कजकरन्यस्ता माणिष्यं सूर्यमण्डलको आकाशरूप
पण्यभूमिर्लभयिकासपङ्कजकरन्यस्ता माणिष्यं सूर्यमण्डलको आकाशरूप
पण्यभूमिर्लभयिकासपङ्कजकरन्यस्ता माणिष्यं सूर्यमण्डलको आकाशरूप
पण्यभूमिर्लभयिकासपङ्कजकरन्यस्ता माणिष्यं सूर्यमण्डलको आकाशरूप
पण्यभूमिर्लभयिकासपङ्कजकरन्यस्ता माणिष्यं सूर्यमण्डलको आकाशरूप

विश्वामित्रः—(सहर्षं साव मन ॥ मन) अरे । वत्स लक्ष्मणेनैव दत्तमुत्तरम् ।
सर्वोक्ति वाक्यलोके वचन देवतासे नामित इति है ।

रामः—(मुनि प्रति) मगधम् , बहुनरकरिषुस्त्रमरजितापि राजधानीयं कथं तपोवनभूमिरिव प्रशान्तपावनी विभाज्यते ।

विश्वामित्रः—क इह विस्मयः ? नन्मिह जलकाः प्रतिवसन्ति यस्याऽयं भगवान्याह्वयत्कथो गुहः ।

रामः—सोऽयं मगधानस्य गुह्यैः किञ्च योगीश्वरः इति ख्याते ।

विश्वामित्रः—वत्स, स एवायम् ।

पादोपजीवनाद् भागोः प्रबोधमुपलभ्य यः ।

अभूद्योगीश्वरक्यातेः सद्यः पद्ममिध शिरः ॥ ५ ॥

राम इति । बहुनरकरिषुस्त्रमरजिता = बहुनरः (अधिकः) नरः (मनुष्याः) करिषः (हस्तिनः) तुरङ्गमाः (मरणाः) तैस्त्रजिता (सत्तापराजः, सकुल्लेखि भावः) । प्रशान्तपावनी = मकान्ता (काश्चित्परिपूर्णा) पावनी (पावयित्री) यः । विभाज्यते = विभिन्यते ।

विश्वामित्र इति । जलकः = विदेहराजः । पादोपजीवनाद् भागोः मद्रर्षिः, मगधानादीयोगिराजः । यत्र मगधादी योगिराजस्य पादोपजीवनाद् भागो मद्रर्षिस्तन्निव्यो विदेहराजो जलकस्य प्रतिवसति तस्या राजधान्यास्तपोवनभूमिमाधरे को विस्मय इति भावः ।

किरवामिधो वाज्जलकस्य कर्मकति—पादोपजीवनादिति । भागोः पादोपजीवनात् प्रबोधम् उपलभ्य यः पद्मम् शिरः इव योगीश्वरक्यातेः सद्यः अभूद्विदम्भवः ।

यः = राजाजलकस्य, भागोः = सूर्यस्य, पादोपजीवनाद् = चरणोपाग्रवाद्, चाल-परिचरणादिति भावः, पद्मे किरणस्यवति । प्रबोधं = ज्ञानं, पद्मस्य विकसितम्, उपलभ्य = प्राप्य यः = वाज्जलकस्य, पद्मं = कर्माकं, शिरः इव = सधस्या इव, योगीश्वरक्यातेः = योगीश्वरेति प्रतिबोधः, सद्यः = सदैवम्, भागव इति अर्थः । अभूत् =

राम—(मुनिसे) मगधम् । जनेको मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे व्याप्त होदेपर भी यह राजधानी तपोवनकी भूमिसे तरह कितकर प्रशान्त और पवित्र करकेवाणी मादम् ५६ रही है ।

विश्वामित्र—हमें क्या जाबर्द है ? यहाँ महादाम जलक रहते हैं, वे मगधम् वाज्जलकस्य विस्मये गुह हैं ।

राम—वहाँ महर्षि इनके गुह हैं, जो योगीश्वर कहे जाते हैं ।

विश्वामित्र—वे वही हैं ।

सैते सूर्यकी किरणसेवाते जलक विकसित आकर जोनाथे प्राप्त करता है, वैसे ही वे सूर्यकी पादसेवाते जल मातकर 'योगीश्वर' वैसी प्रतिबिम्बे प्राप्त किए हुए हैं ॥ ५ ॥

तदेहि, राजभवनमुपसर्पामः (इति निष्क्रान्ताः) ।

(नेपथ्ये)

पयोभिः सिन्धुतां बहलविलसत्कुङ्कुमरसैः ।

प्रसूनेः कीर्यन्तां परिमलमिलहोलमधुपैः ।

घटुष्कैः पूर्वन्तामभिरललसन्मीकिकगणै-

मुदा पौरस्त्रीभिर्नगरपथरध्याङ्गणभुजः ॥ ६ ॥

विश्वामित्रः—भूतसस्मद्भ्यागमनसानन्वस्य शतानन्वस्य दामन-

संवातः । रविकरसर्पाद्विकासं प्राप्य कमलं यथा लक्ष्म्या आश्रयो भवति तथैव यो
बाह्यकल्पः सूर्यचरणपरिवरप्राप्त्यान् प्राप्य योगीश्वरैरितिप्रसिद्धेराचारो जात इति
माधः । तत्र खलेष्वेकपोरहास्त्रिमासेन सहस्रः । अतुष्टुमृत्तम् ॥ ५ ॥

पयोभिरिति । पौरस्त्रीभिः मुदा नगरपथरध्याङ्गणभुजः बहलविलसत्कुङ्कुम-
रसैः पयोभिः सिन्धुतां, परिमलमिलहोलमधुपैः प्रसूनेः कीर्यन्ताम्, अभिरल-
लसन्मीकिकगणैः घटुष्कैः पूर्वन्ताम् इत्यन्वयः ।

पौरस्त्रीभिः = नागरिकनारोभिः, मुदा = हर्षेण, नगरपथरध्याङ्गणभुजः = नगर-
पथस्थ (पुरमार्गात्) रध्याङ्गणभुजः (प्रतीक्षीच्छ्वरपुमजः) । बहलविलसत्कुङ्कु-
मरसैः = बहलम् (अधिकं यथा तथा) विलसन्ता (क्षोभमानाः) कुङ्कुमरसैः
(कम्पयित्वा) येन, तैः । तादृशा पयोभिः = अलैः, सिन्धुताम् = उदयन्ताम् ।
परिमलमिलहोलमधुपैः = परिमलेन (सुगन्धेन) मिश्रताः (संगम्यन्तः) होल-
मधुपैः (चञ्चलभ्रमराः) येन तैः । तादृशैः प्रसूनेः = पुष्पैः । कीर्यन्तां = मन्थिष्य-
न्ताम् । दृष्टे च अभिरललसन्मीकिकगणैः = अभिरलं (घनं यथा स्यात्तथा) लसन्ता
(क्षोभमानाः) मीकिकगणैः (मुक्तदायिनी) येन तैः । तादृशैः घटुष्कैः = गृध्र-
विलेपैः, मार्गस्वविभामनिकेतनैः । पूर्वन्तां = पूर्वाः क्षिपन्ताम् । विश्वामित्रसद्वि-
स्तृतादर्थं पुरमार्गः संक्षिपतामिति माधः । सिन्धुरिणीवृत्तम् ॥ ६ ॥

विश्वामित्र इति । अस्मदभ्यागमनसानन्वस्य = अस्माकमभ्यागमनेन साकन्व-

स्तद्विदं जातो, राजभवनमें पके । (सब निकलते हैं ।)

(नेपथ्यमें)

नगरकी किर्वाँ हर्षपूर्वक पुरमार्गकी श्रुतीकी और नहनोंके प्रवेसोंकी प्रचुररूपसे
क्षोभमान केहररंगोंसे युक्त नक्षत्रे विकसित, सुगन्धके कारण चञ्चल भ्रमरोंसे युक्त फूलोंसे
निर्झर्य करे और मिथिभ्रमरोंसे क्षोभित श्रोतियोंसे मकाशित्र गृध्रविलेपोंसे पूर्ण करे ॥ ६ ॥

विश्वामित्र—निरूप्य ही यह हमारे आनेसे मानवित्त कलायन्त्रके सत्पक्का संचार

परिस्पन्दः । (विलोक्य) अहो अस्म्य रमसातिशयो यद्यं कृत्तमपि स्मार-
परिष्कारं पुनरप्यादिशति ।

(प्रविश्य)

अतानन्दः—भगवन्, अभिवाद्ये ।

विश्वामित्रः—सौम्य, आयुष्मान् भूयः ।

अतस्तान्दः—अयमसौ जनको राजा भगवन्त्वं प्रतीक्षते ।

विश्वामित्रः—(विलोक्य) अये, स एष जनकः,

अङ्गैरङ्गीकृता यत्र यद्विभिः ससभिरवसतिः ।

स्व (नामभ्युत्पत्त्य) । अतानन्दस्य = तन्नामकस्य गौतमगोत्रस्य अन्तर्गुह्य-
त्वेति भावः । वाक्यपरिपस्वम् = पदसमूहसंज्ञाः । रमसातिशयः = इषौत्कर्षः,
रमसो इषं वेगयोः' इति विष्णुः । आदिशति = आह्वाययति ।

अतानन्द इति । अभिवाद्ये = नमस्करोमि ।

विश्वामित्रो जनकं वर्जयति—अङ्गैरिति । यत्र यद्विभिः ससभिरवसतिः अङ्गै-
रङ्गीकृता यत्रो राज्यलक्ष्मीः योगविद्या च वीर्यप्रीत्यम्बकः ।

यत्र = यस्मिन्, जनक इति भावः । यद्विभिः = यत्संख्याकैरङ्गैः, यस्याः पद-
ज्ञानि यथा—

'सिक्का कण्डो व्याकरणे सिद्धं उपोषिषं गतिः ।

कृत्वोविभितिरित्येतौ पदज्ञौ वेद् उच्यते ॥' इति ।

ससभिः = ससंसंख्याकैरङ्गैः, राज्यलक्ष्म्याः ससाङ्गभिः यथा—

'स्वाम्यमात्यसुहृन्नेत्राह्वुराकलावि च ।

राज्याङ्गानि मकुतया कौराणां भोजयोऽपि च ॥' इति ।

हे । (देखकर) अहो ! इनके इर्षका कानून ऐसा है कि फहरमें परिष्कार करने पर जो
फिर करनेके लिए आज्ञा दे रहे हैं ।

(प्रवेष्टकर)

अतानन्द—भगवन् ! मैं अभिवादन करता हूँ ।

विश्वामित्रः—सौम्य ! आयुष्मान् बनो ।

अतानन्द—वे महाराज जनक आज्ञा प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

विश्वामित्र—(देखकर) अरे ! वे वे जनक हैं—

विन (जनक) में घः (विद्या, कर्म, व्यवहार, निष्कर्म, धर्म और उपाधि), ताव
(स्वामी, यन्त्रालय, सुवर्ण, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और वन) और अठ (वन, नियम, जाति,

अथी प्र रात्र्यलम्बोश्च योगविद्या च दीन्यति ॥ ७ ॥

(ततः प्रविशति जनकः)

जनकः—(कृताञ्जलिर्भूत्वा)

य। काञ्चनमिवारमानं निक्षिप्याग्नौ तपोमये ।

कर्णोत्कर्षं गतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥ ८ ॥

(उपसृत्य) भावन् , अयं ते समीहितसम्पन्नतासमुत्तमारामः प्रपानः ।

अङ्गमिः=अहसंस्पर्शकेरुः, योगविद्याया अहममि यथोक्तमि पतञ्जल्युक्तमि-
'बह्मिपमाऽऽस्यशान्तामममवाहारधारणाध्यातसमाधयोऽष्टावङ्गमी'ति । अङ्गैः =
अवयवैः, अङ्गैः कृता=अभ्युपगता, अथी=वेदविद्या, रात्र्यलम्बो=रात्र्यलम्बो, योगविद्या
च = रात्र्यलम्बोश्च च, दीन्यति = प्रकृतये । महाराजे अनेके अङ्गसहितो वेद,
सप्ताङ्गोपेता रात्र्यलम्बोऽहमिहसिता योगविद्या च विद्योत्तम इति भावः । अत्र
पदान्तरमलङ्कारः सोदाहरणं तत्त्वचरणं यथा 'अध्याकोके—'पदान्तरं विद्या-
यां स्तुः अमावेकैकमन्विताः । सत्रं मित्रं विदितं च यत्र राज्ञः भजनम् ॥' इति ।
अनुष्टुप्चतस्र ॥ ७ ॥

य। काञ्चनमिवेति । यः काञ्चनमिव धारमानं तपोमये अग्नौ निक्षिप्य कर्णोत्कर्षं
गतः । अयं सः मुनीश्वरो विश्वामित्र इत्यन्वयः ।

यः = विश्वामित्रः, काञ्चनमिव = सुवर्णमिव, आत्मारणं = एवं, तपोमये = उप-
स्याकृते, अग्नौ = अहने, निक्षिप्य = निष्पाद्य, कर्णोत्कर्षं = कर्णोत्कृष्टतां, पदान्तरे—
अनुष्टुप्चतस्रो मातृशब्दमिति भावः । गतः = प्राप्तः । अयम् = अयः, सः = प्रसिद्धः,
मुनीश्वरः = अक्षिणेष्टः, विश्वामित्रः = तन्माता महर्षिः, अस्तीति शेषः । अत्रोपमा-
रूपकाध्यायेषाणां मिथोऽन्वयेकमा स्थितेः संक्षिप्तलङ्कारः । अनुष्टुप्चतस्र ॥ ८ ॥

उपसृपेति । समीहितसम्पन्नतासमुत्तमारामः = समीहितः (समभीष्टः)

प्रपानावाम, अस्वाहार, वारणा, भवान् चौर समग्रि) अङ्गोऽपि अङ्गीकृत्य वेद, रात्र्यलम्बो
चौर योगविद्या भी प्रकाशित हो रही है ॥ ७ ॥

(तत्र जनकः प्रवेशं करोति ॥)

जनकः—(अङ्गकिर्णोपहार)

यौ तुल्येनैः सङ्गुतं अनेके उपसृपाक्य अग्नौ तपोमये अहने कर्णोत्कर्षं गतः इति ।
ये वैते मुनीश्वर विश्वामित्र ॥ ८ ॥

(तयोपि आह) यमवद् ! अनीष्ट सम्पत्तिकम कृताञ्जली चरयित्वा उपसृपेत्तक्य
आपत्नी वद् प्रपानम् है ।

विश्वामित्रः—राजर्षे, वसुधासुनासीर, सीरस्थल, अत्रतिहतमनोरथो मूयः ।

(इति यथोचिततुपविशन्ति)

अनकः—भगवन्, अञ्जुना सुनासीरसाधारणत्वमचकार्ण मे ।

विश्वामित्रः—कथमिव ?

अनकः—सम्प्रति तदीयामपि पदवीमतीत्य वसे ।

गाधिनन्दन । न नन्दनञ्जम्मा, तादृशः स हरिचन्दनशास्त्री ।

यादृशो मम भवत्पुत्रपद्म-अम्बवन्दनविधिः सुखहेतुः ॥ १ ॥

वाः सम्पदः (सम्पत्तया) पूव कलाः (वक्त्रा) तासां समुद्रमस्य (समुद्रपक्षे) आरामः (उपवनम्) । ग्रामाः नमस्कारः । असीदार्थकमयो भवत्कर्मका ग्रामास्ते विरक्तविति भावः ।

विश्वामित्र इति । वसुधासुनासीर = वसुधायां (वृषिणा) सुनासीर (इन्द्रः) वसुधामयी । अत्रतिहतमनोरथः = अत्रतिहतः (प्रतिवन्दनरहित इति भावः) मनोरथः (अमिच्छा) यस्य स = तादृशः ।

अनक इति । सुनासीरसाधारणत्वम् = इन्द्रसमानत्वम् । मचकार्ण = तिरस्क-रणम् । सम्प्रति-इदानीम् । तदीयामपि = सुनासीरीयामपि, इन्द्रस्थासीति भावः । पदवी = प्रतिष्ठा । अतीत्य = उक्त्वान्तम् ।

अनक इन्द्रावपिस्वोक्त्यै समर्पयते—गाधिनन्दनेति । हे गाधिनन्दन ! नन्दन-ञ्जम्मा स हरिचन्दनशास्त्री तादृशः सुखहेतुः न, यादृशो मम भवत्पुत्रपद्म-अम्बवन्दन-विधिः सुखहेतुस्त्वन्मया ।

हे गाधिनन्दन = हे विश्वामित्र ! नन्दनञ्जम्मा = इन्द्रोपवनोत्पन्ना, वसुधाज्जन्म यस्य सः । स = अमिच्छा, हरिचन्दनशास्त्री = हरिचन्दनाऽङ्कयो देवदूतः, तादृशः = तादृश-विधः, सुखहेतुः = ध्यानम्कारणं, न = नास्ति, यादृशः = यथाविधः, मम = मया-

विश्वामित्र—राजर्षे । वृषिनीन्द्र ! सीरस्थल ! आपका मनोरथ विन्दरहित हो ।

(रक्त मन्दार यथोचित रूपसे बैठते हैं ।)

अनक—नन्दन ! इस समय इन्द्रका समुद्रपक्ष में स्थित विरक्ताकारक है ।

विश्वामित्र—हेतु !

अनक—इस समय इन्द्रकी पदवीकी भी अङ्गन करके रह रहा हूँ ।

हे गाधिनन्दन (विश्वामित्र) ! नन्दनञ्जननयै उत्पन्न यह हरिचन्दन वृक्ष भी ऐसा सुखकारक नहीं है, जैसा कि तुम्हें आपके चरणपुगणके नन्दनकी विधि सुखकारक है तथा-

विश्वामित्रः—अहो ते प्रजयातिशयो यः सहस्रप्रभोवसुखान्मोधि-
निगतोऽप्यस्मात् समगमजन्मनः सुखशीकरान् बहु मन्यसे ।

जगत्—सगवन्, अस्मद्विधानां राज्यराणोपरकचेतश्चन्द्रमसां कुत-
स्त्योऽयं सहजानन्दचन्द्रिकोद्भवः ।

विश्वामित्रः—मैथम्, भोः—

कस्य, भवत्युपराष्ट्रान् कस्य विधिः = त्वत्पञ्चजनकसमुत्पत्त्याऽभिवादनविधानं, कुत-
हेतुः = ज्ञानान्कारणम्, अस्तीति हेतुः । जन्मजन्मप्रसूतो हरिचन्दनानिधानो
देवतासहिमस्य तादृशः सुखहेतुर्न, यादसो ममत्वरणायमनविधिर्मे सुखहेतुरतोऽहम्-
पुणेन्द्रादप्युत्पद्यते इति भावः । अत्र यमकं नाम सप्तम्याऽऽकारस्तत्फलक्यं यथा—
'सत्यर्थे पुमगार्थवाः स्वरज्यक्षयस्यहेतुः । ज्ञेयेन तेनैवाऽऽभूतिर्वमकं विनिवर्त्यते ॥'
इति । स्वायत्ता वृत्तम् ॥ १ ॥

विश्वामित्र इति । प्रजयाऽतिशयाऽऽमेमाऽऽविषयम् । सहस्रप्रभोवसुखान्मोधि-
निगता = सहस्रः (स्वाभाविकः) वा प्रभोदः (आनन्दः), प्रज्ञानम् इति भावः ।
स एव सुताऽमोधिः (ज्ञानवसुसुप्तः), अस्मिन्निमग्नः (कृतमित्तजनः),
तत्त्वैवात्मनस्य साधाम्भ्यानि भूतागुपजीवन्तीति कुतेरिति भावः । अस्मत्समा-
गतत्वममग्नः = मत्तज्ज्ञेत्यर्थः । सुखशीकरान् = आनन्दान्मुक्तान् । बहु लभ-
यिष्म । प्रज्ञानान्दाऽभूतिविनिवर्त्यते ते मत्तज्ज्ञसुखशीकरेषु बहुत्वमायकं मयि
प्रजयाऽतिशयं योतयतीति भावः ।

जगत् इति । राज्यराणोपरकचेतश्चन्द्रमसां = राज्ये (राज्यकर्त्रिणि राज्यभावे
वा) यो राजा (भद्रराजा, रादुरिचेति ध्वनिः) तेन उपरक (रक्तवर्णकृतः, अस्तो
वा) चेतः (चित्म्) एव चन्द्रमा चेत्तं तेषाम् । तादृशानामस्मद्विधानाम् =
अस्मत्सदृशानाम् । सहजाऽनन्दचन्द्रिकोद्भवः = ज्ञानान्दकोमुत्पन्नः राष्ट्रपरके
चन्द्रे चन्द्रिकोद्भवः ॥ । रत्नसंस्कृतितामसमापत्तानां कथं प्रज्ञानान्दाविर्भाव-
इति भावः ।

विश्वामित्र—अहो । यद् नापके प्रेम्णो अधिकता हेतौ किं स्वाभाविकं प्रज्ञानान्दकस्य
महारागमे किमप्य होकर मया हमारे समानमेते वरपन्ना सुखशीकरोंको अधिक मान रहे हैं ।

जगत्—राज्यराजसे उपरक (वा मस्त) चित्कर चन्द्रसे सुख हमारे जैसे लोगोंको
प्रज्ञानान्दक चन्द्रिकता आविर्भाव कैसे हो सकता है ?

विश्वामित्र—प्रेम नहीं । महाराज ।

‘आधातः’ कार्यकस्य अयति करतकं, कर्मोद्धारमावः कर्म-
स्तेजो भाति प्रतापमभिधमचनितले, ज्योतिरास्मीयमस्तः ।

राज्यं सिंहासनयोः साममपि परमं वक्ति पद्मासनयोः-
येषां ते रूपमेते निमिकुलकुमुदानम्बचन्द्रा नरेन्द्राः ॥ १० ॥

आधात इति । येषां कार्यकस्य आधातः करतकं अयति, कर्मोद्धारमावः कर्म-
अयति, प्रतापाऽभिधं तेजोऽवचनितले भाति, आस्मीयं ज्योतिः अस्तमर्हति, सिंहासन-
योः राज्यं वक्ति, पद्मासनयोः परमं वक्तुं भाति ते एते रूपं निमिकुलकुमुदा-
नम्बचन्द्रा नरेन्द्राः (एव) इत्यन्वयः ।

येषां=निमिकुलकुमुदानम्बचन्द्राणां नरेन्द्राणां, कार्यकस्य=कार्यका, कर्मणे प्रमा-
तीति कार्यकं, तस्य ‘कर्मण उक्तम्’ इत्युक्तम् । आधातः=आधातः (गुणत्व)
आधातः (आधातविधम्, कावचिकोऽपरमर्चः) करतकं=करतकं, अयति=
आययति, तथा कर्मोद्धारमावः=प्रमोदकम्, कर्म=कर्म, अयति । प्रतापाऽभिधं=
प्रतापनामकं, प्रतापोऽभिधा यस्य तत् । तेजः=दीप्तिः, ‘तेजः प्रमोदे दीप्तिं च कर्ते
शक्नोऽपीत्यमरः । अवचनितले=भूतले, भाति=प्रकाशते । आस्मीयम्=आत्मस-
म्बन्धि ज्योतिः=तेजः, ज्योतिर्यवर्णो मन्त्रप्रकाश इति भावः । अस्तः=अस्तम्य-
न्ते, भाति=प्रकाशते । सिंहासनयोः=राजाऽऽसनयोमा, राज्यं=राज्यमायं, राज्ञो
मायः कर्म वा राज्यं=तत् । ‘राजाऽस्ते’ इति चतुर्थपदः । वक्ति=प्रतिपादयति ।
पद्मासनयोः=पद्मासनयोमा, अस्तमर्हन्ते पद्माऽस्तम्यन्तं शुद्धीपमासनम् । तस्य
चतुरक्षीतिर्नैदास्तस्य पद्मासनं मुक्तम् । तत्तत्कर्म यथा—

‘ऊर्वोरपरि विम्वत्स्य सम्प्रकाशतले उमे ।

अङ्गुहो च निवन्नीवाक्षस्ताभ्यां ध्युक्तमाचक्ष ।

पद्मासनमिति मोक्षं योगिनां हृदयहृदयम् ॥’ इति ।

(तादृकस्य पद्मासनस्य, श्रीः=श्रीमा) परमे=काष्ठाऽऽरुहे, वक्तुमपि=वक्तु-
मपि, वक्ति=प्रतिपादयति, सूचयतीति भावः । ते=तादृकाः, एते=इमे, पूर्व-
वर्णकाद्याः, निमिकुलकुमुदाऽनम्बचन्द्रा=निमिकुलस्य (निमिकेरवर निमित्तं)

मित्र कोर्गोके भद्रकी प्रत्यक्षाका आधातविधं, करतको नीर कर्मोद्धारमावः, कर्मणे
आयय करता है । प्रतापनामक तेजः, भूतकर्म नीर आत्मसम्बन्धी तेजः, अस्तमर्हन्ते
अपवर्जित होता है । सिंहासनकी शोभा, राज्यका नीर पद्मासनकी काष्ठा, काष्ठाका
आन्तिका प्रतिपादन करती है । वैसे आदिको निमित्तंरूप कुमुदके नानामय के लिए
चन्द्रके मुख मन्त्राज है ॥ १० ॥

शातानन्दः—सत्यमेव । एते हि—

वाराङ्गनाकरतरङ्गितचामरोर्मि-

श्वेताक्षपञ्चशतपत्रिणि राजर्हसाः ।

क्रीडन्ति राज्यसरसि स्वरसं च धीरा

योगीन्द्रचन्द्रसुगमे पत्रि सञ्चरन्ति ॥ ११ ॥

एव कुसुमं (केरवः) तस्य ध्यानम्वाय (आह्लादाय) चन्द्राः (चन्द्रमसः), साधन-
बरेणाः । = राजानः, श्वेति शेषः ? त्रिमिफुलोत्पन्ना राजानो यूयं सत्ताऽस्तैश्चामरा-
नाम्ने योगनाम्ने राज्यवासनकर्मणि चाधनितरसाधारणविचना श्वेति भावः । अत्र
रूपकाऽऽह्वारः । सम्भवा कुसुम् ॥ १० ॥

सातानन्दो विरचामिषोकिं समर्पयते—वाराङ्गनेति । (एते) राजर्हसाः वाराङ्ग-
नाकरतरङ्गितचामरोर्मिरवेताऽक्षपञ्चशतपत्रिणि राज्यसरसि स्वरसं क्रीडन्ति योगीन्द्र-
चन्द्रसुगमे पत्रि च संचरन्तीत्यन्वयः ।

एते = पूर्वोक्त, निमित्तबोधवा इति भावः । राजर्हसाः = राजानः (भूपालाः)
एव हताः (चक्रवर्तिनः), जय स्वरूपकर्त्तव्यासिवाधिर्हसपदेन मिथिकाऽधीदधरेषु
मूपास्तेषु विरक्तपत्रिणवो घोषते । वाराङ्गनाकरतरङ्गितचामरोर्मिरवेताऽक्षपञ्च-
शतपत्रिणि = वाराङ्गनामा (वारसुन्दरीणां, चामरप्रतिष्ठापितामिति भावः) कशाः
(हस्ताः) तैस्तरङ्गिताभि (संघाततरङ्गाभि) चामि चामराणि (प्रकीर्णकानि)
वेचामूर्धन्या (तरङ्गाः) च एव स्वेताभि (शुभकाभि) आतपत्राणि (चत्राणि)
तद्वृषाणि शतपत्राणि (कमण्डलि) सन्ति पश्चिम्तत्, तस्मिन् । एतेषां राज्यसर-
सि = राजकासारे, स्वरसम् = धनमाऽधुरागपूर्वकं, स्वा (लाक्ष्मीया) रसः (अङ्गु-
शात्) यस्मिन् कर्मणि लक्ष्म्या तथा । क्रीडन्ति = क्रीडां कुर्वन्ति एवं च योगीन्द्र-
चन्द्रसुगमे = योगिराजाः (योगिराजाः) एव चन्द्राः (इन्द्राः) तैः सुगमे (सुग-
मल्लोके, पत्रि च = मार्गे च, संचरन्ति = विहरन्ति । राजर्हसा यथा कमण्डलुके
कासारे स्वरसपूर्वकं क्रीडन्ति चन्द्रसुगमे पत्रि च संचरन्ति तथैवैते निमित्तबोधवा
राजानः साधुरागं राज्यसुखोपभोगं कुर्वन्ति पाञ्चपञ्चपादियोगीन्द्रैः उपदिष्टे योग-
पदे च संचरन्ति, भोगयोगवोरुभयोरपि क्वालिमात्र एते निमित्तबोधवा भूपाल-
इति भावः । अत्र रूपकाऽऽह्वारः । अस्मत्तिष्ठकं कुसुम् ॥ ११ ॥

सातानन्द—यह सत्य है । ये शीश—

(ये) राजर्हस, वाराङ्गनामोंके हाथोंसे तरङ्गित चामरोंके तरङ्ग ही श्वेतचन्द्ररूप
रूपकोंसे युक्त राज्यरूप राज्यार्थमें मज्जुरागपूर्वक क्रीडा करते हैं और योगिराजकम चाम्रोंसे
सुगम मार्गमें विहार भी करते हैं ॥ ११ ॥

कथमपः—(अपवार्यं) आवर्ये, राजानोऽप्यमी मन्त्रविद्याचतुर इति चित्रीयते मे चेतः ।

रामः—वत्स, किमिह चित्रम् ? ननु—

मन्त्रप्रख्याप्य तिरयति न यद्यन्न न अप्युमीहे
इत्यत्रमन्त्रद्विपमदमयीपङ्कनामा कथञ्चन ।

लीलाकोशः—इत्यपति न यच्चामराणां समीपः,
स्वीयं ज्योतिः किमपि तदमी भूभुजः स्वीकृत्यति ॥ २२ ॥

कथमप इति । अपवार्यं=केवलं रामं प्रसीति माया । चित्रीयते=विस्मयत इत्यर्थः । अपवार्यं=अनुभवयतीति भावः । 'वमोचतिविश्रिक्तः कथम्' इति अपच ।

मन्त्रप्रख्यापेति । मन्त्रप्रख्याप्य एव न तिरयति । इत्यत्रमन्त्रद्विपमदमयीपङ्कनामा कथञ्चन एव स्मरन्ते न ईहे । लीलाकोशः चामराणां समीपे एव न समपति । अमी भूभुजः स्वीयं तत् किमपि ज्योतिः स्वीकृत्यतीत्यवयवः ।

मन्त्रप्रख्याप्य = आतपप्रख्याप्य, एव = ज्योतिः न तिरयति = न तिरोहितं करोति, वाञ्छादपतीति भावः । **इत्यत्रमन्त्रद्विपमदमयीपङ्कनामा** = इत्यत्र (इयं कुर्वन्त्या) मासदिति पाठे—मासन्त्या (मत्ता सवन्त इत्यर्थः) सादृशा ये गन्धप्रधाना द्विपा (हरिदः) तेषां मद्यः (स्मृतकम्) एव मयीपङ्कः (मरीकर्म) स एव नाम (अभिधानम्) अस्व सा । सादृशः कथञ्चन = लप्यावयव, रासकथमीकमित्यममेति भावः । एव = ज्योतिः, स्मरन्ते = स्पर्शं कर्तुं, अस्मिन्कर्तुमिति भावः । न ईहे = न समर्थो भवति । **लीलाकोशः** = विद्यास्वच्छन्दः, चामराण्यरं = प्रकीर्णकषां, समीपः = वातः, एव = ज्योतिः, न समपति = न साम्यं विद्यति, ओ मिर्वापमपीति भावः । **अमी** = एते, **भूभुजः** = विभिर्बन्धसुता राजाना, **स्वीयं** = सम्यक्, 'स्वामी कुरी' इति आलोचिन्नायां कथमप्यः, स्थायः स्त्री निष्ठायाय' इति स्त्रीभावः । **तत्** = तादृशं, **किमपि** = अभिर्बन्धनीयं, **ज्योतिः** = प्रकाशः, परमतमत्यल्पमिति भावः ।

कथमप—(केवलं रामको मुनाकर) ये कोश राजा होकर भी मन्त्रविद्यायें निपुण हैं, इस बात पर मेरा चित्त आकर्षका अनुभव कर रहा है ।

राम—वत्स । इसमें क्या आश्चर्य है ?

मन्त्रप्रख्याप्य जिस ज्योतिषी आन्ध्रादिस नहीं करती है । हमें ज्ञाने गन्धप्रधाने स्वादी के लक्षण काला मद्यकथ भी भिन्ने छू नहीं सकता । लीलासे पञ्चव चामराण्यु जिते नहीं गुता सकता है; विविधाके से रासवर्ण सम्यक् नीर विभिर्बन्धीय इस परमात्यल्पम ज्योतिषा परिशील्य करती है ॥ २२ ॥

विश्वामित्रः—आग्निस्तोत्रितात्स, राजहंसा इति । सकलकुलजयो-
त्तंसा राजहंसा अभी ।

जनकः—भगवन्, इवमस्मत्प्राप्तीनेषु शोभते न तु भवि कतिपय-
प्रामदिकास्वामिनि ।

विश्वामित्रः—सैत्रं भो,

अवनिमधमिपात्ताः संतुष्टाः पात्रयन्ता

मधमिपतिपदास्तु त्वां विना नापरस्य ।

कीलपन्ति = अन्तरपन्ति । वचनानिना माऽऽपन्त्याते, राजहंसाभीनितमवुध
यत् स्यादुमि न सक्तः । उमवत् आधिभूतभामरानां समीरोऽपि वक्तिर्वापिदुम-
समर्थः, निमिबंसमपुता एते भूपातास्तादृशं परमात्मस्वरूपमवाप्ते उच्येतिः एहि-
कीलपन्तीति भावः । इतरन्तोविदपेववा परमात्मसंज्ञकस्य स्थितिप आधिक्यवर्ण-
मावृत्तिरेकाञ्छकारः । सम्प्राप्तान्ता वृत्तम् ॥ १२ ॥

विश्वामित्र इति । आग्निस्तोत्रितं = बृहस्पतिवचनसदृशमिति भावः । भवि-
स्तोत्रपत्तं पुमाणाग्निरस, 'अप्यन्धकृष्णिकुम्भरवे'त्यम् । 'कील आग्निस्तो वाच-
स्पतिमित्रमित्यधिकः ।' इत्यमरः । आग्निस्तोत्रितं यथा स्वात्तयेति क्षिपादिशेष-
णम् । एहा हे आग्निरस = अत्रिगोत्रेण ।, अत्रितं = योग्यम् आत्त = कथयति ।
सकलकुलजयोत्तंसा = सकलानां (समस्तानाम्) कुलजानाम् (उत्पन्नानाम्)
उत्तंसा (भूजयुताः) इति हंसपक्षे । राजपक्षे तु—सकलस्य (समग्रस्य) को-
(पुष्टिमा, 'गोत्रा कृन् पुष्टिरी पुष्टो'त्यमरः) वलपत्त (मन्त्रकस्य) ।

जनक इति । कतिपयप्रामदिकास्वामिनि = एरिमितपुत्रमामपत्तौ ।

विश्वामित्रो विवेहराजं कर्मकं प्रजसति—अवनिमिति । अवनिपाताः संतुष्टो-
बवि पात्रयन्ताम् । तु अवविपतिपदाः त्वां विना नापरस्य न । हे जनक । यत् कवक-
गौरी तनूनां प्रसूता भूः अयति भवत्तं पुष्टिपुम्पत्तं मिलेय इत्यन्वयः ।

विश्वामित्रः—आग्निरस ! 'राजहंस' एव वाच लोक कवेर्ये । सकल कुलजोके
(जनवा भूभृजलके) हे राजहंस हे ।

जनकः—नापका ऐसा कहना हमारे पुत्रोंके किए हुआ है न ॥ कतिपय कति
गौरीके स्वामी मेरे किए ।

विश्वामित्रः—ऐसा नहीं ।

कील राजा कील मछ ही बहुत पुष्टिको पावन कर हैं, परन्तु राजाको कील भाग
को छोड़कर दूसरी नहीं है । हे जनक । वो कि सोनेके समान पीतवर्णवाली (कन्याको

अमक, कमकगौरी यथ्यसुता धनूजां

अगतिं कुहिलमन्तं भूर्भुवःस्थं धितोमे ॥ १३ ॥

अनकः—भगवन्, नूतनमुषननिर्माणनिष्ठस्य भावतः कियसीयम-
मित्यवधत्तचातुरी नाम, स खलु भवान्यस्य,—

शास्त्राकीकृत्य स्वां इयमसमकोपादणश्चि

सुरश्रेष्ठीभिर्न गगनतलमिती रचयतः ।

अवनिपाताः = भूपारः, अन्ये शब्दा इति भावः । सङ्घातः = सङ्घातः, अवधि =
पृथिवी, पारम्यन्तरं = पारम् । तु = परन्तु, अवधिपतितयः = भूपतिकातिः, एवं
विधा = सवन्तं विधा, अस्त्वय = अस्त्वयस्माद्विपत्तेः, न = नाशितः, काम्यमन्त्रे भूप
सुखं रक्षन्तु परं वास्तविकी भूपतिकातिस्त्वयैव, भूपारमन्त्रस्य वास्तीति भावः । उद्येयं
कारणभूपारमन्त्रपतिः—अवधेति । हे जनक = हे विदेहराज !, यत् = यस्मात्कारणात्,
कनकमौरी = कनकम् (सुवर्णम्) । गौरी (पीता), कनकमौरी दा, पादपी,
तन्वा = तनया, क्षीतामिति भावः । प्रसूता = उत्पत्तिवती, 'स्यार्थकर्मणि'ति
सूत्रेण कर्त्तृणि क प्रत्ययः । भुः = पृथिवी, वयति = कोके, अवन्त = त्वामेव, बुद्धि-
रम्भ = प्रसादतत्त्ववासादित्यं, क्षीतयेति भावः । विप्रेने = पकार, बुद्धिप्रसूतया
कोकोत्तरगुणायनधर्म्यया कन्यया क्षीतया वत्सं बुद्धिभाम्, अतस्त्वमेव वस्तुतः
पृथिवीपतिरिति भावः ।

एव द्वितीयवद्वयसिद्धयन्तरे उत्तरार्द्धपादस्य हेतुमाह्वयार्थहेतुर्लक्षण-
विपर्ययकारः । मादिनी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

जनक इति । मृतमनुष्यमभिर्मानिपुणस्य = मूलने (बचीनय) यत् सुखं (खेदः) तस्य विनाशे (रक्षतायान्) निपुणस्य (प्रवीणस्य) । अभिनवकथन-
चतुरी = अभिनवा (नूतना) वचनचतुरी (वाक्यविद्वज्जना) । सत्यकीकृत्येति ।
असमकोपाऽननदधि इति इति सत्यकीकृत्य गगनतलभिचौ मुरभेनोचिर्वा रचयतः
प्रयत्नरचितं सुधाज्योत् । नामोश्च विष्णुनामं सुधासाक्षात्प्रभवभरितवासहस्य
अभविष्यन्त्ययः ।

कल्पस्य कर्मभेदाद्यै पृथ्वीने भाष्यद्वौ द्वौ सीताकै समान कल्पान्ता विद्या रत्नाय ॥ १६ ॥

अर्थक—नये कौकसी रचनामें शरीर थापको मितनी नये बचनेकी आगुरी है।
 थाप ऐसे है जिसके—मनुष्य कीरसे एक नया इकिको सहाय (विज किन्नेकी
 कृती) बहाकर नाकासक मिति (आकार) में देवप्रतिमे थिपकी रचनाकरनेवाले थाप

सुधासोमोर्मानोऽथ मधमरचितं विम्वयुगलं

सुधासाक्षासासाम्प्रद्वयभरितपात्रद्वयमभूत् ॥ १४ ॥

शतानम्बः—राजर्षेः, सत्यमात्यः, किमुच्यतेऽसौ मगधान्,

त्रिषाङ्गोः स्वर्गोकाद्यभितलपातं रचयितुं

सुभासीरे कोपाद्विकसितपद्मज्यो विकसितः ।

असतकोपाऽङ्गुलविम्बः ॥ असमेन (असमानेन, अनुपमेनेति भावः) कोपेन (कोपेन) अरुमर्षि (रक्तवर्णम्) साक्षी, स्वाम् = आसीत्, ॥ = इति, अका-
कीकृतम् = विम्वलेकनोक्तिं कृत्वा कृत्वा, गगनतलमिषौ = गगनतलम् (आकाश-
तलम्) एव भितिः (कृतम्, विम्वलयीभूतमिति भावः) तत्र, सुरश्रेणीविम्बः =
सुरश्रेण्याः (देवपङ्केः) विम्वम् (आलेख्यम्), रचयतः = विवृणोति, तदेति बोधः
मधमरचितं = मधमं (मधः, मङ्गलेति शेषः) रचितं (विहितम्), सुधासोः =
अद्वयमसः, साधोः = सूर्यस्य च, विम्वयुगलं = मण्डलद्वयम्, सुधासाक्षासासाम्प्रद्वय-
भरितपात्रद्वयं = सुधा (अद्वयम्) स्वमण्डलेनान्वयं च (साक्षा (रक्तद्वयम्) च
वयोः साक्षः (धनः) यो द्वयः (रसः) तेन भरितं (पूर्णम्) पात्रद्वयम् (आभन-
द्वयम्) । अभूत् = सञ्जातम् । नूतनकोकविचारस्य मधुर्वैरिणामिषस्य कोपा-
काङ्क्षिभिरङ्गुलनकुर्विका, गगनतले लेखनाऽऽधारभूता भितिः, नूतनसुरश्रेणी
विम्वलीयपद्मज्योः, पूर्वं च प्रागस्ये चन्द्रमण्डलं सुधाद्वयभरितं, सूर्यमण्डलं च छाया-
इतपूर्णमित्यं नैतन्मण्डलद्वयं विम्वलयनार्थं पात्रद्वयमेवमत्र रूपकाज्जङ्गारः । त्रिषा-
ङ्गो वृत्तम् ॥ १४ ॥

त्रिषाङ्गोरिति । त्रिषाङ्गोः स्वर्गोकाद्यभितलपातं रचयितुं विकसितपद्मज्यो
सुभासीरे विकसितो यदीयोऽसीत् तन्पतिदसकगाराऽऽरम्भरभसो मन्त्रा सुकुलित-
काज्यो सुरस्तोमे भुङ्कितवृत्तमन्त्रः ।

त्रिषाङ्गोः = त्रिषाङ्गस्य सूर्यवर्णोत्पत्त्यस्य साक्षः, विरवामिषप्रत्ययेन ससाक्षिं
स्वर्गोत्पत्त्यस्येति भावः । स्वर्गोकाद्य = स्वर्गोकाद्यत्, भवभितलपातं = भूतक-
विपातं, रचयितुं = विचलितुं, विकसितपद्मज्योः = विकसितं (प्रसङ्गम्) पद्मज्यो
मन्त्रम्) यस्य सा, तस्मिन्, पद्मभितलपाते स्तीति भावः । साक्षो सुभासीरे =

के, मण्डलेन मधमरचितं चन्द्रमण्डलं और सूर्यमण्डलं, नूत और काकाके रसते पूर्ण दो
पात्र हो गये ॥ १४ ॥

शतानम्बः—राजर्षेः । मध मन्त्र कहते हैं । इत मधुर्वैरिणो क्या करें । त्रिषाङ्गो
स्वर्गो पृथ्वी पर विरानेके लिए स्वर्गके चरन शतानम्ब नवीन स्वर्गो रचवाके जिह

यदीयोंऽसौ नभ्यविद्वशनगरम्भरमसः

सुरस्तोमे भक्त्या मुकुक्षितकराब्जे मुकुक्षितः ॥ १४ ॥

संक्षमः—(अथर्व) आर्य, कथमेव-विधं भगवतः प्रतापितभुवनत्रयं तपोऽभिधानं तेजः ।

रामः—अपि न विदितं ते राजर्वरिहम् ?

रोषाभिभूतपुरुहूतपदाभिभूतं,

दृष्ट्वा विशङ्कुमय कोपविपाटलक्ष्मीः ।

इन्द्रे, सतीति शेषः । विकसितः = प्रकुङ्कितः, यदीयः यत्सम्बन्धी, यस्येति भावः । असौ = पूर्वकाशिका, नभ्यविद्वन्तराऽभरमसः = नभ्यं (मृत्युम्) यत् विद्वत्पदं (देवपुरं, स्वर्गं इति भावः) तस्य यत् भारभः (रचनोपक्रमः), तस्मिन् रमसः (वेद्य उल्लाहो वा), सः । भक्त्या = नमुरक्त्या, मुकुक्षितकराब्जे = विभीक्ष्णहस्ताकर्मके, अक्षद्वयवत् इति भावः । तादृशो न सुरस्तोमे = देवसमूहे, मुकुक्षितः = सङ्कुक्षितः । इन्द्रे स्वर्गाभिषङ्कुं, पातयितुमुद्यते सति यस्य सहर्विंशतिप्रसव स्वर्गान्तरं रचयितुमुत्साहो विकसितः पुनस्तस्यैव देवसमूहे प्रपद्ये सति पूर्वोक्त उल्लाहः सङ्कुक्षितः, सतो कोपस्य प्रजापतित्वाविति भावः । अत्र कृपाऽऽकृष्टारः । मितरिणी वृष्टम् ॥ १५ ॥

कथमन इति । प्रतापितभुवनत्रयं = प्रतापितं (सन्तापितम्) भुवनत्रयं (लोकत्रयम्) येन तत् ।

रामो विश्वामित्रमहिमार्गं प्रकाशयति—रोषाभिभूतेति । विशङ्कुं रोषाभिभूतपुरुहूतपदाभिभूतं दृष्ट्वा त्वय कोपविपाटलक्ष्मीः शङ्कुद्वन्द्वीकृतकराभ्युत्तरतिरम्या तस्य दृष्टिः सम्प्राप्ता इव यत् भारी । उपासितेत्पन्थयः ।

विशङ्कुं = तन्मात्रके सूर्यवंशप्रसूतं राजानं, रोषाभिभूतपुरुहूतपदाभिभूतं = रोषेण (कोपेण) अभिभूतः (आसन्नार्गः, गर्वासक्त इत्यर्थः) यः पुत्रवृत्त (इन्द्रः) तस्य पदेन (कर्मणेन) अभिभूतम् (तिरस्कृतम्) । दृष्ट्वा = विचोदय, अयं =

विकसित रमका उत्साहं देवताभोके हाम जीवकर मार्गना करतैपर सङ्कुक्षित ही नयाम् ॥ १५ ॥

कथमन—(केवळ रामको सुनाकर) नार्थ ! यजमान् विश्वामित्रका कोकमयको सन्तप्त करनेवाला, तबत्या नासबाध्य वह कैसा तेज है !

राम—(भूतपुत्र) राजर्षिही वह बात तुम नहीं जानते हो !

विशङ्कुको कीर्ताकय इन्द्रको परगते तिरस्कृत देवधर कथन्तर कोयसे काज कान्ति-

आकुलमलीकृतकराम्बुजराजिरम्या,

सम्येव वृद्धिरमरैर्युपासिताऽस्य ॥ १६ ॥

विरवामित्रः—राजर्षे, अपि तावदरत्नगर्भगर्मसम्भवं कन्धारत्नम-
लाकुलते त्वाम् ?

जमकः—भगवन्, भवत्यसावादधुना जामातुरत्नमस्तद्विरिष्यते ।
(रायमन्त्रेण) (सकौटुक्म्) भगवन् ।

सकलजनविलोकनोत्सवानामय-

मयनं कतरः पुरः कुमारः ? ।

अनन्तरं, कोपविपाटलज्जी = कोपेन (कोपेन) विपाटल (अतिरक्ता) स्त्रीः
(कामिनी) यस्याः सा, जत एव आकुलमलीकृतकराम्बुजराजिरम्या = आकुलमली-
कृता (आमुकुलीकृता, प्रणामकांठे स्तोके संकोचिष्येति भावा) या कराम्बुजराभिः
(इक्षकमक्षपङ्क्तिः, वैशाखमिति शेषः) । तस्या रम्या (मनोहरा), अस्य = विरवा-
मित्रस्य, वृद्धिः = वृद्ध, सम्भ्या [] = सायं वेला इव, यद्, जमरैः = देवैः, उपासि-
ता = पूजिता, सम्भ्यावसपि कृताञ्जली यना उपासते । उपमाञ्जहारः । यस्त-
सिक्तं वृक्षम् ॥ १६ ॥

विरवामित्र इति । रत्नगर्भादर्मसम्भवं = रत्नगर्भा (वृषिणी), तद्वर्मसम्भवम्
(तद्व्यवहारदेवप्रभृतम्) । 'भूतवाणी रत्नगर्भा जगती सागराऽम्बरा ।' इत्यमरः ।
सकलजनेति । सकलजनविलोकनोत्सवानाम् जमनम् जयं पुरः कुमारः कतरः ?
यो वृत्तिमभिमन्युवृद्धिरभिः कल्पसरोः प्रोद्वलीकृतं कल्पवतीकम्बकः ।

सकलजनविलोकनोत्सवानां = सकलजनाणां (सम्पूर्णमनुप्यानाम्) विलोक-
नस्य (दर्शनस्य) उत्सवानाम् (उद्घर्षणम्), जमनम् = आधनम्, अयम् = एषः,
पुरा = पुरः स्थिता, कुमारः = राजकुल, कतरः = कः, कस्य सुता किं देवाभेति भावः ।

भाषे और देवताओंके बोले गये करकमलोंकी पड़िरी मनोहर वनकी वृद्धि को सम्पूर्णको
सर्व देवताओंके कपालमा की ॥ १६ ॥

विरवामित्र—राजर्षे ! रत्नगर्भा (वृषिणी) के गर्भसे उत्पन्न कन्धारत्न (सीता) क्या
जापको भङ्गकरती है ?

जमक—भगवन् ! आपके जन्ममूले इस समक बौद्ध वानरा (रामाद) भी मुझे
भङ्गकर करेगे । (रामको वैष्णव, कौटुम्बिके सात) भगवन् !

सर्वान् जन्तुओंके दर्शनोत्सवोंके आनन्द से पुरःस्थित कुमार कीय है ? को [] वृत्ति-

हरितमणिमयूखहारिणो यः,

कलयति कल्पतरोः धरोद्वलीकाम् ॥ १७ ॥

क्षतामण्यः—अगवन्, अयं च कसरो यः स्वल्पस्त्वैव ।

नीलमीरजदक्षोज्ज्वलकान्तेः-

स्तिके स्फुरति काञ्चनगौरः ।

क्षोचनस्य सुदृशः अथभाभे

सन्निविष्ट इव चम्पक-गुच्छः ॥ १८ ॥

यः = कुमारः, हरितमणिमयूखहारिणः = हरितमणिः (मण्डलरत्नम्) तस्य मयूखः (किरणः) च इव हारी (मनीहरः), तस्य । क्षतामण्यस्य कल्पतरोः = कल्पवृक्षस्य, धरोद्वलीकाम् = मञ्जूरफोमा, कलयति = चारयति । अत्र हरितमणिमयूखस्यैव रामस्य समतापहारकत्वमेव कल्पतरोद्वलीकत्वमेव शिक्षासाध्याप्रकारं च सूचितमिति शेषम् । अथ 'हरितमणिमयूखहारिणः' इत्यत्रोपमा 'कल्पतरोः धरोद्वलीकाम्' कल्पतरी'पत्रं कलितोपमा । तत्रलक्ष्यं सोपाहरणं यथा 'चम्पकशेखरे—'उपमाये च वीलादिपदादये कलितोपमा । रत्नमेतदुपलब्धं यत्ते वीर्यं वीलाऽनुपममयोः ॥' इति उक्ता चैतयोर्द्वयोरलङ्कारयोर्मयोऽन्येष्वप्यस्य स्थितेः संसृष्टिः । उपनिताया वृत्तम् ॥ १७ ॥

काममभमनूय क्षतामण्यः कल्पति—नीलमीरजेति । नीलमीरजदक्षोज्ज्वलकान्तेः स्तिके काञ्चनगौरी यः सुदृशो क्षोचनस्य अथभाभे सन्निविष्ट इव चम्पकगुच्छ इव स्फुरतीत्यन्वयः ।

नीलमीरजदक्षोज्ज्वलकान्तेः = नीले (रत्नमयम्) यद् नीरजदक्षं (कमलपत्रम्) यद्विष उज्ज्वला (निर्मला) कामिताः (शोभा) यस्य सः, तस्य, रामस्मेति भावः । अस्तिके = समीपे, काञ्चनगौरः = सुवर्णपीता, यः = यपरः कुमारः, क्षतामण इति भावः । सुदृशः = सुलोचनायाः, क्षोचनस्य = नेत्रस्य, नीलवर्णविशिष्टत्वेति शेषः । चम्पकाञ्जे = कर्माञ्जे, सन्निविष्टः = निवसः, चम्पकगुच्छ इव = चाम्पेयगुण्यस्तवक इव, 'अथ चाम्पेयचम्पको हेतुगुण्यकः' इत्यमरः । स्फुरति = क्षोभते । मयोपमाऽलङ्कारः । स्वागता वृत्तम् ॥ १८ ॥

मणि (पत्ता) को किरणके लक्ष्म मनीहर कल्पवृक्षके मञ्जूरको शोभाको चारण कर रहे हैं ॥

क्षतामण्य—अगवन् ! नीर ये नीन हैं ! जो इन्दीबे—

नील कमलपत्रके लक्ष्म निर्मल कान्तिवाले इसके समीपमें सोनेके लक्ष्म वीरवर्णवाले को सुन्दरीके नेत्रके सामने आनेके अथभाभाभे इसके अर्थ चम्पकगुच्छके समान शोभित हो रहे हैं ॥ १८ ॥

विश्वामित्रः—नाम्ना तावदुरामसदृशभावेयी ।

जनकः—अहो कर्णामृतम् ।

शतानम्—(निर्बन्ध) भगवन् ,

एतयोरेवमुवाररूपयोः वत्सलस्तद्वज्रसौहृदययोः ।

कामपि स्वजनतां विभावये, कौस्तुभामृतमयुष्मयोरपि ॥१६॥

जनकः—

एतयोः प्रकृतिरम्यरूपयोर्वत्सलस्तद्वज्रसौहृदययोः ।

विश्वामित्र इति । शताना—अभिराजेव, 'प्रकृतमादिभ्य उपसंभवात्' इति सूत्रेण ।

शतानम् इति । निर्बन्ध—रङ्गा, 'विबन्धने तु विभ्वा ईदंताकोकनेचमम् ।' इत्यमरः ।

एतयोरिति । अहम् अक्षररूपयोः उद्भूतस्तद्वज्रसौहृदययोः एतयोः । कौस्तुभामृतमयुष्मयोरपि कामपि स्वजनतां विभावय इत्यन्वयः ।

अहं = शतानम्, उद्धाररूपयोः=सहस्रसौहृदययोः, अतिसममुन्दरयोरिति भावः, 'नक्षत्रोद्गममहो'रित्यमरः । वत्सलस्तद्वज्रसौहृदययोः=वत्सलस्य (प्रकाशमाना) सौहृदसौहृदस्य (स्वाभाविकसौहार्दस्थ) त्रीः (श्रीमा) ययोस्तयोः । एतयोः = कुमारयोः, रामकृष्णयोरिति भावः । कौस्तुभामृतमयुष्मयोरपि = हरिसनिकरयोरपि, असुररूपा मयुष्मा यस्य सोऽसुरमयुष्मश्च इत्यर्थः । कामपि = अति-वर्चनीया, स्वजनताम् = आत्मीयजनतां, विभावये = तर्कयामि । शतानामभिराजया कौस्तुभामृतमयुष्मसौ सादरवसादितौ तयैवैतौ कुमारयपि तर्कयामीति शब्दः । अत्रोपमाऽऽङ्कारः । रमोद्भवाङ्कितम् ॥ १९ ॥

एतयोरिति । प्रकृतिरम्यरूपयोः उपसंभवात्सहजसौहृदययोः प्रत्यगात्मपरमात्मयोरपि एतयोः कौऽपि आन्तरः संक्षिप्तिः स्फुरतीत्यन्वयः ।

विश्वामित्र—एन दोनोका नाम राम मोर कर्मण है ।

जनक—अहो कर्णामृत सदृश मान है ।

शतानम्—(देखकर) भगवन् ।

ये अतिसम मुन्दर मोर स्वाभाविक सौहार्दको सोसले प्रकाशमान — दोनोको कौस्तुभमणि मोर चन्द्रको तरह अनिर्वचनीय आत्मीयता है ऐसा विचार कर रहा हूँ ॥१६॥

जनक—एतयोरपि ही मनोहर सौन्दर्यशक्ते मोर स्वाभाविक सौहार्दको भीमले प्रका-

आन्तरः स्फुरति कोऽपि सन्निधिः, प्रत्यक्षात्मपरमात्मनोरिषाऽश्च
विश्वामित्रः—अथ योगीश्वरमिष्य, ईदृशेषु गभीरेष्वभिनवोदन्ते-
शान्तेषु भवत एव मनो निमज्जति । स्वजनभावे पुनरनयोर्बयमपि साक्षिणः ।

अथकः—तत् किं आन्तरवेत्ती ? ।

विश्वामित्रः—अथ किम् ।

अथकः—(सहर्षं निर्वर्ण्य)

तनुमिषा निर्वृतिचम्पकोत्पत्तौ

सुवर्णनीलारपलकोशकोमलौ ।

प्रकृतिरन्वयः—प्रकृत्या (स्वभावेन) रन्वयः—(भवोदरसीम्नयोः) ।
कमलसौहार्दसौहार्दसिधोः—कमलसम्पत्ति (पद्मासमाया) सौहार्दसौहार्दस्य (स्व-
भाविकसौहार्दस्य) जीः (मोक्ष) पयोस्तयोः । साक्षादपरेत्ययोः—असतोः कुमा-
रयोः रामलक्ष्मणयोरिति भावः । प्रत्यक्षात्मपरमात्मनोरिव—जीवेश्वरयोरिव,
कोऽपि—अनिर्वचनीयः, आन्तरः—आन्तरिकः, बाह्यसादृश्यादिति इति
भावः । सन्निधिः—सामीप्यं, सम्बन्ध इति भावः । स्फुरति—प्रगल्भते । पृथ्वोः
कुमारयोर्न केवलं रूपाविकृतं बाह्यसादृश्यं जीवात्मपरमात्मनोरिषाऽनिर्वचनीय-
मात्मन्तरिकमपि सादृश्यं प्रतीयत इति भावः । रघोःकुलावृत्तम् ॥ २० ॥

विश्वामित्र इति । योगीश्वरमिष्य—योगवत्त्वस्याभ्युपगमात् । एतया सम्बुद्धया
अनन्तस्य योगसाक्षात्प्राप्तौ चोत्पत्तेः । ईदृशेषु, गभीरेषु—गम्भीरेषु, अभिनवोदन्त-
शान्तेषु—नूतनवार्ताकपपलकेषु, प्रत्यक्षात्मपरमात्मसादृश्यप्रयोगरूपेणानन्तर-
रिषति यावः । निमज्जति—निमज्जनं करोति, आन्तरवर्तते इति भावः । अथको
रामलक्ष्मणौ वर्णयति—तनुमिषेति ।

तनुमिषा निर्वृतिचम्पकोत्पत्तौ सुवर्णनीलोत्पलकोशकोमलौ इत्याम् अन्तरवर्ण-
यतिनौ सुवर्णौ लक्ष्मणलक्ष्मणाज्यामी भवौ । इत्यन्वयः ।

रामान् एव दोनौ (राम और लक्ष्मण) का जीवार्त्मा और परमात्मके लक्षण अनिर्वच-
नीय आत्मन्तरिक सामीप्य स्तीकित हो रहा है ॥ २० ॥

विश्वामित्र—हे योगीश्वर (याज्ञवल्क्य) किन्त्य । ऐसे गम्भीर वृत्तान्तकथन पलकों (पोटों
साक्ष्यों) में आपका ही मन निमज्जन करता है । इन दोनोंकी वन्दुता में हम यो साक्षी हैं ।

अथक—तो क्यों ये दोनों भार्य हैं ।

विश्वामित्र—और क्या ।

अथक—(हर्षके साथ देखकर)

सीररको कान्तिसे रन्वय और नीलकण्ठको नीलनेवाले, सुवर्ण और नीलकण्ठके

काहो । वशाभुस्सवदानवक्षिणौ

सुखकणौ लवमम-लवमनामजौ ॥ २१ ॥

(पुनः रामं विदोष्य । सकीर्तयम्)

यथाऽहं निस्सीमोत्सवसुभगभोगे मयकथा-

पद्यातीते चेतः प्रणयिनि रमे पुंसि परमे ।

तथैवाप्रसिन्धु वाहो ! वल्लभल-नीलोत्पलवक्षो-

दरदयामे रामे भयनपक्षीमरगतघति ॥ २२ ॥

तनुविधा = स्त्रीरक्तव्या, निर्जितसमकोलको = निर्जिते (अग्निभूते) चम्प-
कोलके (चाम्पेय नीलकमले) चाम्पा ही । सुवर्णमीशोत्पलकोलकोमलौ = हेमनील-
कमलाऽऽव्यक्तभारावहूतौ, वशा = लोचमाभाय, उत्सवदानवक्षिणौ = उत्सव-
वितरणोद्धारौ, सुखकणौ = सुमङ्गलपुङ्खौ, रेखाकमभ्यनापत्रादिविरसिताविति
भावः । लवममलवमनामजौ स्त इति शेषः । अहो = आश्चर्यम् । अत्र
अतिरेकीयमयोरेकधयाऽनुश्लेषोत्पलकुरः । वल्लभं वृत्तम् ॥ २१ ॥

यथाऽहमिति । अहं यथा निस्सीमोत्सवसुभगभोगे मयकथापयाऽऽतीते चेतः
प्रणयिनि परमे पुंसि रमे; तथैव वल्लभलनीलोत्पलवक्षोदरदयामे अस्मिन्वाहो रामे
भयनपक्षीम् व्यापन्नवति (घति) रम इत्यन्वयः । अहं = जनकः, यथा = तेन
प्रकारेण, निस्सीमोत्सवसुभगभोगे = मितौ । सीमा (अवधिः) परमात्स निस्सीमः
(सीमारहितः, इयमारहित इति भावः) पल्लवलोचन दल्लभः (महा) तेन सुभग-
(मनीषी) भोगः (सुखसाधनकार) मय सः, वसिन् । परमानन्दमय इति
भावः, 'तस्यैवानन्दस्य मात्रामन्याधि सुतास्तुपनीयसी'ति श्रुतेः । एवं च मय-
कथापयाऽऽतीते = सांसारिकवार्ताऽतिश्रान्ते, यद्वा भयपदं जम्पादौत्पलकवर्कं तेन
जम्पाऽऽविहर्ताऽतिश्रान्ते, वाहीकिम् इति भावः । पुनरप्येतद्व्ययविति = मानस-
प्रीत्यास्पद इति भावः, तादृशे परमे पुंसि = तच्छमपुङ्खे, परसारमनीति भावः ।
रमे = परमाऽऽनन्दमनुभवासीति भावः । तथैव = तेन प्रकारेणैव । वल्लभलनीलो-

नीली मरुके सहस्र कौमल्य, नेत्रोके उत्सवदानमे वशा और सुमङ्गलजोडे चम्पक के
कमल और लवके बडे भार (राम) है । वाहव है ।

(फिर रामको वैचर कीतुकपूर्वक)

यै जिस प्रकार वल्लभलव चाम्पक-नेत्रोद्धार पीणवाके, सांसारिक वार्ताकी वशि-
क्रमण करनेवाले और विशिष्ट प्रीतिके आधार परमात्मने परम आनन्दका अनुभव करता
है; वही प्रकार विरसित निर्मल नीलकमलके पत्रके मध्यभागके सहस्र श्यामवर्णवाके दल
भक्त रामकी वैचरि पर परमानन्दका अनुभव कर रहा है ॥ २२ ॥

विश्वामित्रः—(स्वमतम्) उचितमेतत् । न ह्यस्तु लोकलोचनान्त्व-
कः रसिकः शङ्करशिरःशयालोः कलानिघेरपरं तत्त्वम् । (प्रकृतम्)
राजर्षे, ■ एष सौम्वर्योतिरापस्य महिमा ।

जनकः—कः पुनराभ्यां पुत्रवतां मौलिमात्रिक्यमारोपितः ? ।

विश्वामित्रः—

किं शीतांशुमरीचयः, किमु सुरस्रोतस्विनीधीपयः

किं वा केतकसूचयः, किमप्य वा चन्द्रोपकान्तं ययः ।

लवङ्गकोदरदामे = लवङ्ग (निकलत्) जमकं (निर्मलम्) यद् भीलोत्पलदले
(भीलकमलपत्रम्) तर्षोदरम् (मण्यभागाः) तद्विद्य स्थापनः (भीलकर्माः),
तस्मिन् । लविसम् = निकटस्थिते, वाके = कुमारे, रामे = रामचन्द्रे, मय्यपवर्षी =
कोचममार्गं, हभोचरकामिति भावः । आशतवति = प्राप्तवति इति, रामे = परमा-
मङ्गलमुपवर्षीति भावः । एतेन परमात्मसादृश्येण रामस्य परमात्माऽव्यक्तस्य
व्यज्यते । चन्द्रोपकान्तः । सिद्धिर्वाप्युक्तम् ॥ २२ ॥

विश्वामित्र इति । एकाग्रम् = आग्रहम् । लोकलोचनः = लोकप्रियः = जनप्रियः
महर्षोत्पादकः, शीतकरः = हिमः, चन्द्र इत्यर्थः । शङ्करशिरःशयालोः = शिव-
मस्तकप्रतिभा, कलानिघेः = चन्द्रस्य, अर्धचन्द्रत्वेति भावः । तर्षपरं तत्त्वम् = न
मित्रः एवाऽर्थः । रागभक्त्युत्प्रेक्षाचन्द्रादयः सिद्धिर्वाप्युक्तम् अर्थः । अतो न
तत्रैव परमात्मनोऽपि रामचन्द्रस्य न भेद इति भावः ।

जनक इति । आभ्यां = कुमाराभ्यां, मौलिमात्रिक्यं = मुकुटशान्तामिति भावः ।
अकवोः कुमारयोः को जनक इति तत्परम् ।

किं शीतांशुमरीचय इति । किं शीतांशुमरीचयः ? किमु सुरस्रोतस्विनीधी-
पया ? किं वा केतकसूचयः ? यय वा किं चन्द्रोपकान्तं ययः ? इत्यं जातकुलकामिः
विद्विषोक्तं वात्स्यामिः जमितः प्रकृतम् आलोकिताः पत्नीर्तयो विद्वि विद्वि
मौलिमात्रिक्ययः ।

मित्रकामित्र—(मतं दो मम) यद् उचितम् । कोकके देवोकी आजगिदत्त करवेवाले
चन्द्रमा सहृदके शिरसे रहनेवाले चन्द्रो मित्र एवार्थं नहीं है । (हनुमन्) राजर्षे । यद्
अविश्वम् सुरस्रोतको महिमा है ।

जनक—एत दोनोसे पुत्रताम् बचोंमें चीत मुकुटरान् हुमा है ?

विश्वामित्र—क्या ये चन्द्रो कीर्तने है ? अथवा आकाशगङ्गाको भरने है ? वा केतको
पुष्पोंके नाममात्र है ? वा चन्द्रकान्तमिर्वाक्य उक्तम् है ? वर प्रकार मुकुटको मुक्त देव-

इत्थं आसक्तुद्दत्ताभिरभितः सामन्द्यालोकिताः

कान्ताभिरिदिवोक्तसिदिशि दिशि कोऽस्ति यत्कोर्त्तयः ॥ २२ ॥

शामः—वत्स, नूनमर्थं सकलगुणायदावस्तातः प्रस्तूयते ।

लक्ष्मणः—अपि नास भूयोऽपि प्रस्तोष्यते ?

विश्वामित्रः—अपि च ।

किमिति प्रश्ने । सीतांशुमरीचयाः = सीतांशोः (चन्द्रस्य) मरीचयाः (कि-
रणाः) । किमु इति विभक्तिः । सुरकोतदिवोक्तसिदिशि = सुरकोतदिवम्भः (देवभ्रा-
तृभिरिदिवोक्तसिदिशि) । किं वा = अथ वा, केतकसूचकः =
केतकोपुष्पाऽप्रभागाः । अथ वा = यद्वा, किं, चन्द्रोपकानां = चन्द्रोपकानां,
चन्द्रकान्तमभीनामिति भावः । चया = समूहः । इत्यस्य = एतेन प्रकारेण, 'इद-
मस्यसु' इति धनुस्त्ययः 'कुम्भेभ्यः' इति तदन्तस्याऽमवत्यस्य । आसक्तुद्दत्ताभिः =
तत्पञ्चकोतुकाभिः, त्रिदिवोक्तसिदिशि = स्वर्गस्थानानां, देवानामित्यर्थः । कान्ताभिः =
मूर्ध्नि, देवोभिरित्यर्थः । अभितः = समभ्याम् सापन्त्यम् = सामन्द्यपूर्वकम्, आलो-
किताः = चक्षाः, यत्कोर्त्तयः = यद्यस्यासि दिशि दिशि-अतिविश्रं भीमतायां द्विदिवः ।
कोऽस्ति = कोहमे कुर्वन्ति ? यत्कोर्त्तयः प्रतिविश्रं यदाता इति भावः । अतः सु-
खस्योऽऽह्वयः 'यस्यसि यदह्वयः' इति कविप्रसिद्धिमनुसृत्य नीरुपस्थाऽपि पक्षो
अस्त्वयमर्थं बोधय । सार्द्धं विजोषिषं वृत्तम् ॥ २३ ॥

शाम इति । श्वं = मिश्रणेन । सकलगुणाऽवस्तातः = सकलगुणैः (द्वादाश-
विधैस्सकलगुणैः) लवस्तातः (सुकवर्गः) । तातः = पिता, दक्षरथ इति भावः ।
प्रस्तूयते = प्रकर्षेण स्मरते (सुतिविधयः क्रियत इति भावः) ।

विश्वामित्रः पुनर्द्वारं वर्णयति—यत्कोर्त्तयः । यस्य लक्ष्मणस्य दण्डचमि-
मकलाकोष्णकोष्णवितेः दनुर्वेद्युच्यते द्वाभूयस्त्रिदिवोक्तसिदिशि निष्पीते आसक्तुद्दत्त-
स्यः केतके पौकोटीकराङ्कुरभित्तिकराय अजनिपातलकचमयी कण्ठीय आसक्तुद्द-
त्तस्यस्यः ।

वृत्तौते चारौ चोर जालन्दपुत्रं देवी गर्द मिनकी कीर्तिप्रां प्रतिदिशामे कोका करती है ।
रास—यत्स । निश्चय हो मार्गि भव धनुर्वी श्रुतीसे दक्षरथ पिताजी की प्रशंसा कर
रहे हैं ।

लक्ष्मण—अब फिर प्रशंसा करेंगे ?

विश्वामित्र—जीर भी ।

यस्योद्भूतमुज्ज्वलचन्द्रकण्डिमलसत्कोदण्डलीलायितै-
निष्पीते वतुजेन्द्रमध्ववदनाभ्यस्तरीविभ्रमे ।

जम्भीमहाधिपटलसतमयीमात्मन्वते कैवलं

पौलोमीकरजाङ्कुरभ्यतिकरावाकाञ्चलीयं वपुः ॥ २३ ॥

अपि च—

तस्य पद्मचमनाभ्यवर्षप्रोत्तंसमांसकमहामणिमौलेः ।

वक्ष्य = वक्ष्यमस्य । उज्ज्वलमुज्ज्वलचन्द्रकण्डिमलसत्कोदण्डलीलायितैः = उज्ज्व-
ल (नाभिर्भक्तम्) यो मुज्ज्वलः (बाहुदम्भः) तस्य चन्द्रिमा (कोपनलेन) कस्य
(सोममानस्य) यत् कोदण्डं (वतुः) तस्य लीलायितैः (लीलायितैश्चितैः) । इन्द्र-
जेन्द्रमध्ववदनाभ्यस्तरीविभ्रमे = इन्द्रजेन्द्राणां (वानवेन्द्राणां) पारचमनवदना-
(चन्द्रमुज्ज्वले रमण्यः) तासां भूवस्तरीणां (भूकसानां) विभ्रमे (विकसते) ।
निष्पीते = निःशेषेण पानविषयीकृते सति, विनाभिते सतीति भावः । वक्ष्यमस्य
मुज्ज्वलम दानवेन्द्राणां हनवचनमादिना तद्वचनीनां वृत्तिभासे विरोधिते सतीति
भावः । ततः आकाञ्चलीयम् = इन्द्रस्येत्यर्थः । वपुः = शरीरं, केवलम् = एकमात्रं
यथा स्वापकाः । पौलोमीकरजाङ्कुरभ्यतिकरात् = पौलोम्याः (इन्द्राण्याः) क-
जाङ्कुराणां (मलमरोहणानां) भ्यतिकरात् (सम्पर्कात्) । जम्भीमहाधिपटलसतमयीम्
= अक्षेण (रुधिरैः) विपाटलम् (अतिमवरक्तम्) यत् वतुम् (वानम्) सम्मवीक्ष्य
(सत्यरूपम्) । कञ्चली = लोभात्, आत्मन्वते = अवलम्बते, धारयतीति भावः ।
वक्ष्यलेन वचनमध्ववदिना दानवेन्द्रेषु निगृहीतेषु सप्तमाऽभावादिन्द्रः स्वपत्न्या सप्तमा
सह कामकेलिषु नक्तवतादिनैव स्वशरीरे कर्तुं विभर्ति म तु युक्तेनेति भावः । अत्र
भक्त्या दानवेन्द्रपराजयवर्णनाभ्यर्थायोकमलङ्कारः । सार्धकविप्रदीर्घं वृत्तम् ॥ २३ ॥

रामकथनपरिचयमयं वक्ष्यवर्णनमुपसंहरति तस्येति । पद्मचमनाभ्यवर्षप्रो-
त्तंसमांसकमहामणिमौलेः तस्य वक्ष्यवस्थ इमौ काश्चकान्तिपरिभूतमनोजो लौ कुमा-
रतिष्ठन्महः । पद्मचमनाभ्यवर्षप्रोत्तंसमांसकमहामणिमौलेः = पद्मचमन (कमल-
समूहस्य) आभ्यवः (वपुः, विकासकवादिति भावः । सूर्य इत्यर्थः) तस्य
वक्षः (कुक्ष्य) तस्योत्तंसा (भूषणभूताः) मांसकाः (विद्याकाः) ये संदात्मनः

भिनके नाभिर्भूत बाहुदम्भश्चि प्रचण्डतासे, सुन्दर वतुषी चेहाचौसे, देवसुन्दरिषीषी
मृगतामौके विलासके नह होने पर इन्द्रका शरीर केवल इन्द्राणीके नभञ्जकुराँके सम्पर्कसे
हरेपक्ष रुधिरसे अतिरक्तवर्ण मयकष लोभाकी कारण करणा है ॥ २४ ॥

गीत धौ—कदम्बान्धव (सूर्य) के कुक्षके भूषण, विद्याक महत्त्वलाभीव रामाभी

कायकान्तिपरिमृष्टमनोजो ताविनी वृक्षरथस्थ कुमारी ॥२४॥

अनकः—

यद्वाहू धहतः पराक्रमहतां प्रत्यर्षिणीमन्तिनी-

बाहुभ्याञ्जलकालिकासिधं घनुमीर्वीकिण्वरधामिनाम् ।

यद्योर्ध्वमङ्गकर्मकारुङ्गुणप्रोत्तालकोत्ताहृतै-

वैरिणीकलमेकलाकलकलाः पीता इवास्तं गताः ॥ २५ ॥

(वृक्षरथस्थमनोजो मृष्टमः) वेदां लोके (प्रसन्नम) । तस्य = पूर्वाकल्प, वृक्षरथस्थ = वृक्षरथनामस्थस्थ राज्ञः । इमी = पुरोवर्तिनी, अथकान्तिपरिमृष्टम-
नोजो = कायकान्ति (वृक्षरथस्थ) परिमृष्टः (मिरकृतः) मनोजः (काममेव) ।
पाप्मा हो । हो = प्रसिद्धी । कुमारी = पुत्री, यत् इति शेषः । यत्न कालिकेनञ्जलकालिका
स्वामिनामुच्यते ॥ २५ ॥

अनको वृक्षरथप्रतापं वर्णयति—वाहू इति । यद्वाहू पराक्रमहतां प्रत्यर्षिणी-
मन्तिनीबाहुभ्याञ्जलकालिकासिधं घनुमीर्वीकिण्वरधामिनां धहतः । यद्योर्ध्वमङ्गकर्म-
कारुङ्गुणप्रोत्तालकोत्ताहृतैः वैरिणीकलमेकलाकलकलाः पीता इव अस्तं गता
हृष्टमया ।

यद्वाहू = यत्न (वृक्षरथस्थ) वाहू (भुजौ) । पराक्रमहतां = पराक्रमेण
(विजयेन) हृताम् (हानीताम्) । प्रत्यर्षिणीमन्तिनीबाहुः कञ्जलकालिकासिधं =
प्रत्यर्षिणी (सङ्ग्रहात्) वाः सीमन्तिन्यः (रमण्यः) तासु च बाहुभ्यां (वेद्यानाम्)
कञ्जलकालिकासिधं (अक्षयवामनासिधं) । घनुमीर्वीकिण्वरधामिनां = घनुमीर्वी-
(कारुङ्गुणा) इत्याः किनायां (मनायाम्) रधामिनां (कालिकायम्) । धहतः =
धत्तवतः । यद्वाहू विह्वलेषु तद्वमण्यः कञ्जलं न धारयन्ति तदेव कञ्जलं वृक्षरथ
वाहूस्थितकिण्वलेषु स्थितमित्युच्यतेञ्जलकारः । यद्योर्ध्वमङ्गकर्मकारुङ्गुणप्रोत्तालको-
त्ताहृतैः = यत्न (वृक्षरथस्थ) कोणोः (बाह्वोः) योर्ध्वं (भुजौ न हननीयम्,
अक्षयमिति मायः) कर्म (विद्या) अस्तं तत्, कारतं यत्कारुङ्गु (बाहुः), तथैव

ये प्रभाव जन वृक्षरथ महाराजके ये दोनो (राम और लक्ष्मण) शरीरकी शक्तिसे अन्य-
देशकी शिरस्कृत करनेवाले प्रसिद्ध पुत्र हैं ॥ २५ ॥

अनकः—शिव (वृक्षरथ) के बाहु, पराक्रमसे कार्य एवं बाहुनोंकी शक्तियोंके नेत्रोंके
कञ्जलकी शक्तिवाले वृक्षरथस्थवाके नेत्रोंका स्वामिनी वारण करते हैं । शिवके बाहुनोंके
सकल धर्मवाले बाहुनी प्रत्यर्षिणी रूपे भोजाहृतो वैरिणीकी अरिणीके मेघकावन्द दीप
गये की तरह बह ही गये हैं ॥ २५ ॥

अपि च—

इत्येन्द्राग्निजपत्न्या सह सतिष्पकम्भ्य मौर्वीकतां
साकं भूकलेन चापचल्यं दोर्मण्डले विभ्रति ।

पौलोमीकुचकुम्भसीमनि रहः पश्यन्नकाङ्क्षं नभं

धत्ते चेतसि केवलं न ॥ करे कोदण्डमाकण्डलः ॥ २७ ॥

गुणश्च (मौर्व्याः) प्रोक्ताः (उक्ताः) ये स्त्रीकाहकाः (कण्ठकाः) ते । वैशि-
ष्टीकमेतत्कण्ठकाः = वैशिष्टीयान् (रिपुगारीणाम्) कलाः (मयुराः) ये
केवलाकण्ठकाः (कञ्चीकोकादयः) ते, पीता इव = सितीर्णा इव, अस्तम्भ-
भदर्थं, यताः = माताः । वरसिन्धु निपातिष्वेव एककला मेकला परित्यजति
तेषामेव मिश्रितानि दत्तरवधगुर्जरवलेन मसीमन्त्र इत्युल्लेखः । अत्र पूर्वार्द्धे दम्भो-
ल्लेखः, उत्तरार्द्धे हेतुल्लेखः एवं भक्तिविशेषाभ्यां सनुपराकम्भकम्भनाम्भयोर्लक्षणे
वामकद्धारणामात्मनिभावेन संकरः । अत्र गुणपदेनैव कर्तुं कर्तृगुणरूपाभ्यां
प्रतीतौ स्वरूपमपि पुनः कर्तुं कपदसाकण्डलाऽऽविबोधाय बोधयन् । तद्वक्तुं साहित्य-
वर्णने यथा—

‘यदुर्गमविद्म कश्चिद्गुणं कश्चात्सु मयुरादयः । आकण्डलादिबोधात्’ इति । सादृक्-
मिच्छितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

पुनर्दत्तरवधप्रकारं वर्णयति—इत्येति । वक्ष्यं दोर्मण्डले इत्याग्निजपत्न्या सह
सतिषि मौर्वीकताम् आकम्भ्य भूकलेन साकं चापचल्यं विभ्रति आकण्डलः रहा
पौलोमीकुचकुम्भसीमनि नभं नकाङ्क्षं पश्यन् केवलं चेतसि कोदण्डं धत्ते करे तु व-
क्ष्य इत्यम्भयः । कस्य = दत्तरवस्य, दोर्मण्डले = बाहुमण्डले, इत्याग्निजपत्न्या =
इत्यग्नेः (इत्युल्लेखः, मयुरस्येति साधः) जपत्न्या (विजयकण्ठ्या) सह—साकं,
सतिषि = सीमं, मौर्वीकतां = उदावल्लीम् आकम्भ्य = नममिष्या, जपत्नीपदे स्त्री-
कृत्य । भूकलेन = पृथ्वीमण्डलेन, साकं = सह, चापचल्यं = धनुर्मण्डकं, विभ्रति =
धरयति सति, ‘अस्य च भावेन आकण्डलयम्’ इति सप्तमी । आकण्डलः = इन्द्रा,
‘आकण्डलः सहसाद्य मयुरात्’ इत्यम्भरः । रहा = पुकात्ते । पौलोमीकुचकुम्भसी-
मनि = पौलोम्या । (कण्ठाः) कुचकुम्भसीमनि (स्तवकलसामाग्राभ्याम्) नभं =

धिर जी—किं (दत्तरव) के बाहुमण्डले दैत्योद्गी वरकन्दोर्गी साय जीव प्रत्यक्षा
की सीनकर पृथ्वीमण्डले साध धनुर्मण्डलो वारण करमेपा, इन्द्र पक्षाभर्मे इन्द्राणीके
मयोधर कलहोके प्रान्तभागेने किये गये नये नखधतको देखते हुए विजय ही मयु केते ई
बाधर्मे मरी ॥ २७ ॥

तपनकुलशिरःकिरीटकोटिस्तुरवणोत्पलकुलसकलस्य तस्य ।

दशरथनुपतेरिमौ मृगाङ्गप्रतिमसुरेणमुखाभ्युजौ कुमारौ ॥ २८ ॥

विश्वामित्रः—अथ किम् ? ।

अनकः—अहो ! धन्यता दशरथस्य, यस्य द्वे अपि तनयावतोकन-
शीतले दशौ ।

मूर्धनं, मृगाङ्गः = मकरजतकर्म पिङ्गम् । परपन् = विशोकमन्, केवलम् = एकमात्रं,
कैतसि = मित्रे, कोदण्डं = मनुः, वसे = धारयति, चिन्तयतीति भावः । करे तु =
इत्ये तु, न वसे = नो धारयति । यस्मिन्वशरथे महारथे इन्द्रादिविजयभिषं
ज्वाकता न भक्तुवति पुष्पीकलमं अनुमंजकं न धारयति सति देशराजः सपत्न्याः
भावात् सपत्न्या समं रहः कामकेलिं विद्वजनुर्मंजकं चिन्तयत्येव न पुनः करे मुखा-
लीति भावः । अत्र सहोक्तिरुद्धारः । पार्श्वविच्छेदितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

दशरथवर्णनं समाप्य रामकथनपरिचयं प्रसीति—

तपनकुलेति । तपनकुलशिरःकिरीटकोटिस्तुरवणोत्पलकुलसकलस्य तस्य दश-
रथनुपतेः मृगाङ्गप्रतिमसुरेणमुखाभ्युजौ इमौ कुमारौविश्वामित्रः ।

तपनकुलेत्यादिः = तपनकुलस्य (सूर्यवंशात्) याः शिरः किरीटकोटयः (मस्त-
कमुकुटाभ्यन्तराः) तासु स्तुरव (विकस्य) परं अणोत्पलकुलम् (रत्नकमल-
मुकुलम्), तस्य, लज्जया तत्सदृशस्त्वेष्यः । तस्य = तादृशस्य, प्रसिद्धस्येति
शब्दः । दशरथनुपतेः = दशरथाऽऽकृष्यनुपतेः । मृगाङ्गप्रतिमसुरेणमुखाभ्युजौ =
मृगाङ्गः (वज्रः) प्रतिमा (प्रतिकृतिः) यस्य तत् मृगाङ्गप्रतिमं (चन्द्रसरस्वम्)
सुरेणं (सुन्दरम्) मुखाभ्युजं (वक्ष्यकमलम्) वयोस्ते, तादृशौ । इमौ = एतौ,
मिच्छन्वर्तिनौ । कुमारौ = बालौ, रामकथनपरिचयः । एत इति शेषः । अत्रोपमा-
उद्धारः । पुष्पिताया वृत्तम् ॥ २८ ॥

अनक इति । धन्यता = पुण्यवता । धनं कथमा कथ्यते, धनमप्ये कथ्येति यत् ।
'मुकुटी पुण्यवाग्धम्य' इत्यमरः । धनस्य भावो धन्यता । इतौ = मेघे । तनयाभ्य-
कोकमन्नीतले = तनययोः (पुत्रयोः, रामकथनपरिचयि भावा) अवकोकनेन (वृक्ष-
नेन) शीतले (शीते, तापहरिते इति भावा) ।

सूर्यवंशके मस्तकस्थित मुकुटोके अग्रभागेनैवोचित रत्नकमलके मुकुटके तद्वत् एव
महारथके दशरथ चन्द्रमुख सुन्दर मुकुलमलकले नैवो पुनरिति ॥ २८ ॥

विश्वामित्र—और क्या ।

अनक—अहो ! महाराज दशरथ धन्य है, जिसके दोनो भेन पुत्रवर्धनसे शीतल हैं ।

सत्तामन्त्रः—विरोधः ।

विश्वामित्रः—तनुं दिश इति वक्तव्यम् ।

सत्तामन्त्रः—तत् किमन्यावपि कुमारौ दशरथस्याङ्गं भूषयतः ?

विश्वामित्रः—अथ किम् ? । यौ तनुं भरतशत्रुघ्नौ प्रतिविम्बाविम
रामलक्ष्मणयोः ।

सत्तामन्त्रः—नूनममी श्रद्धाश्रद्धाचरुभागानां विज्ञाताः ।

जगन्महः—दशरथ-भाषयैयानां च ।

विश्वामित्रः—एयमेतत्, अथधिः खलु माम्भवतां राजा दशरथः ।

जगन्महः—महात्मवतां च ।

विश्वामित्रः—तत् किमस्माभिर्वक्तव्यताम्, मयसोर्महिम्नि भवन्तावेव
साक्षिणौ ।

जगन्महः—कतरोऽहं दशरथस्य सहिमाभोगमनुमधितुं कस्यार ह्य
सागरस्य ?

सत्तामन्त्र इति । द्वितीया च = विभागौ च, पादार्थद्वयमपीति भावः । अथ शत्रु-
घ्नद्वयभागानाम् = अथ शत्रुघ्ननामकस्यैवः चरुभागानाम् (दृश्यमानानां, पादसंज्ञकानां-
मिति ज्ञातः) ।

विश्वामित्र इति । जगन्महः = सीमा ।

जगन्मह इति । सहिमाभोगः = सहिम्नः (महात्मस्य) आभोगस्य (परिपूर्णताम्)

सत्तामन्त्रः—त केवल नेत्र वल्कि दोनों दिग्गज भी (शीतल हैं) ।

विश्वामित्रः—चारों दिशाएँ देखा कहना चाहिये ।

सत्तामन्त्रः—तब क्या और भी हो कुमार दशरथको शीतलो प्रकट कर रहे हैं ?

विश्वामित्रः—और क्या ? भी कि राम और लक्ष्मणके प्रतिविम्बके सङ्घट भरत और
शत्रुघ्न हैं ।

सत्तामन्त्रः—निश्चय ही वे सब अथर्व-शक्त जादुके परमात्मोंके विभाज हैं ।

जगन्महः—दशरथके भाव्योंके भी (विभाज हैं) ।

विश्वामित्रः—बहु ठीक है । महाराज दशरथ भाग्यवान्भी सीमा (हृद) हैं ।

जगन्महः—महात्मा राजे पुरुषोंकी भी (सीमा) हैं ।

विश्वामित्रः—बहु समझे क्या कहा जाय, आप दोनोंकी महिमामें आप ही दोनों साक्षी हैं ।

जगन्महः—मैं तात्पर्य बताने होकर शत्रुघ्नके समान वक्तव्यकी महिमाकी परिपूर्णताका
अनुभव करवेके लिए सीमा हूँ ?

विश्वामित्रः—शोभन्त एव विनयमधुराणामधरीकृतात्ममहिमानः
कथं सत्यविधुरा अपि वाचः । अथवा समुचितमेवैतत् । अतः—

अश्विमान् वक्षरथः स हि राजा

राममिन्दुमिष कुम्भरगात्रम् ।

लोकलोचनविगाहनशीलां

त्वं पुनः कुमुदिनीमिष सीताम् ॥ २६ ॥

उपमन्यः—(अथवा) इन्दुकुमुदिनीदृष्टान्तेन किमपि संविधानं सूचितं
मगत्या !

कासार इव = सर इव ।

विरामित्र इति । अधरीकृतात्ममहिमायाः = अपहारीकृतस्वमहिमायाः । सत्य-
विधुरा = तत्परहिताः, मित्राभूता इति भावः ।

अश्विमिति : हि स राजा वक्षरथ इत्युच्यते इव सुन्दरगात्रं रामं अश्विमान् ।
श्रीं पुनः कुमुदिनीम् इव लोकलोचनविगाहनशीलां सीतां अश्विकानित्यन्वयः । हि =
वाक्, सः = प्रसिद्धः, राजा = वृषः, वक्षरथः इत्युच्यते इव = चन्द्रम इव, सुन्दरगात्रं
मनोहरशीरं-रामं = रामचन्द्रं, अश्विमान् = उत्पादितवान्, 'अनी प्रादुर्भावे' इति
जातोत्पत्तिर्भावितगम्यत्वेन सकर्मकत्वेन 'अश्वरथे'ति कृत्प्रत्ययः । कुमुकामयौ
वायव्यमिति प्रसुमितवत् । कवचस्तु लोकेऽपि बहुलं प्रसूयते । त्वं = भवान्,
पुनः कुमुदिनीम् इव = कैरविनीम् इव, लोकलोचनविगाहनशीलां = लोकलोचनेषु
(अवभवेषु) विगाहनं (प्रवेक्षणम्) शोके (स्वभावाः) वस्याः सा, तां, सीता-
यांऽद्विष्टमेव अमलव्याऽऽकर्षिणीमिति भावः । वक्षरथीं सीतां = त्वमिच्छां तनयां,
अश्विमान् = उत्पादितवान् । अनेकुलमसम्भरत्वं रामस्योत्पादकत्वेन वक्षरथस्य
सायरसत्त्वत्वेन च कुमुदिनीसरस्या लोकेलोचनार्कषिकत्वाः सीताया उत्पादकत्वेन
अमलव्या कासारसाग्रये स्वच्छं तथा चाऽनितरसामान्ययोः सीतारामकपयोपपत्त्ययो
उत्पादकत्वेन अमलसरयवोर्लोकऽतिशायी महिमागम्यः । वक्षरथा वृषम् ॥ २५ ॥
उपमन्य इति । किमपि चन्द्रवक्त्रेणाऽवस्थितमिति भावः । संविधानं =

विश्वामित्र—दिनकरी मनोहरमनोमी अथवा महिमाकी नून अथवावाणी नसत्य
वाणिनी नो शोभित हो होती है । अथवा श्व समुचित हो है । वयोहि—

उस महाराज वक्षरथने चन्द्रके सहज सुन्दर भरीरथके रामकी और आपने कुमुदि-
नीके सहज जोगीके यैसीको वाङ्मय करनेवाको शोभाको उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

उपमन्य—(कैव रामकी अनाकर) चन्द्र और कुमुदिनीके दृष्टान्तसे मगत्याये किसी
दूतरी हो गतकी सूचना की है ।

रामः—(सज्जनकोपम्) अलमलीलापितया ।

जनकः—(स्वमतम्) कथमनया भङ्गया किमपि सूचितं मुनिना । सत् किमेनेन शमसवरावदेन विस्मृतमेव शाश्वतं घट्ट । (प्रकाशम्) अगच्छ, अनेन भगवतो चक्रकमनीयेन वाग्बिस्वासेन त्रितीयेनेन हर-कर्मकेन किमपि कौतुकितोऽस्मि ।

विश्वामित्रः—(स्वमतम्) कथमनया परिपाटय हरथापारोपय-सुजावयति । भयसु । (प्रकाशम्) राजर्षे, साधु स्मारितोऽस्मि । अतीव मे कौतुकं वृषभकेतुकासुकातलोकने । तेन तवानयनायादिरयन्तं पुरुषाः । अथवा, किमन्यैः, रामभद्र एवादिरयताम् ।

जनकः—(तवित्थम्) अगच्छ ! कथं सुख इव दुःखसुखमपि राम-भिन्दुकिरीटकासुकातयनार्थमादिरासि । न जानासि किम् ?

वृषभः, स्तोत्रारामयोः मिथः प्रणयिताकप इति तात्पर्यम् ।

राम इति । अङ्गीकाऽऽकावितया = मिथ्या भावितया ।

जनक इति । भङ्गया = कठोरया । किमपि = स्तोत्रारामविषयकं वृषभेति भावः । रत्नसङ्घर्षदेन = हर्षपराधीनेन । 'रामतोपेगाहर्षयोः ।' इति वित्तः । सा-म्भवं = सम्मुखमिति ।

विश्वामित्र इति । परिपाटया = कृतकमेव । आदिरयन्ताम् = आज्ञाप्यन्ताम् ।

जनक इति । सुखः = सुख । 'सुखः सुखरसुखयोः ।' इत्यमरः । दुःखसुखं =

राम—(मन्त्रकोपपूर्वक) विश्वामित्र मत् करे ।

जनक—(मन ही मन) कैसे इस वक्षोकिसे मुनिने किसी वाक्ये सूचित किया है । इसलिये क्या वे हर्षके अर्थात् होकर विश्वामित्रे भक्तों को मूक हो गये ? (मुनाकर) भगवन् ! इससे विश्वामित्रे सङ्कट भाषने इस वक और सुन्दर वचनविद्यार्थसे मैं अनिर्बचनीयस्वते कोटकपूर्ण हूँ ।

विश्वामित्र—(मन ही मन) वे किस प्रकार इस परिपाटीसे शिवभक्त बचानेकी वाक्यो प्रकाशित कर रहे है । भङ्ग्या (मुनाकर) राजर्षे ! आपने मुझे ठीक स्मरण कराया । मुझे शिवभक्त देखतेपे नतिष्ठत ही कोटुक है । इस कारणसे उसे जानके किम पुरुषोंकी भाषा सीखिए । अथवा औरोका क्या प्रबोधन है ! रामभद्रको ही वाचा सीखिए ।

जनक—(आश्चर्यपूर्वक) आप क्यों अक्षों तरा दुःखसे रामको भी शिवभक्त जानके किम जाना दे रहे हैं । क्या नहीं जानते हैं !

एतत्तद्वुर्बिगाहं तुहिनगिरिमयं कार्मुकं, यमञ्जे
मौर्वीं दर्बीकराणां पतिव्यधिमुतानायकः सायकः ।
वेर्द्वैःअन्तमौलेर्नतमपि यदभूदुन्नतं कार्मुकाणां
वाण्याम्नोवृष्टये च विपुरासुराधामैशमन्यैश्चभासोत् ॥३०॥

एतत्तद्वुर्बिगाहं तुहिनगिरिमयं कार्मुकं = इन्दुमिरित्कार्मुकऽऽमयनार्थम् = इन्दुकिरीट-
(सिमा), तस्य कार्मुकानमनाऽर्थम् (धनुरानयनार्थम्) ।

अमुसंहारं सूचयति—एतच्चविति । एतत् तद्वुर्बिगाहं तुहिनगिरिमयं कार्मु-
कं, यमञ्जो दर्बीकराणां पतिः मौर्वीं, उदधिसुतानायकः सायको जज्ञे । यत् चन्द्रमौले-
द्वेर्द्वैः नतमपि कार्मुकाणां उन्नतमभूत्, विपुरासुरासां वाण्याम्नोवृष्टये वेत्त-
मपि ऐश्वर्यं आसीदित्यर्थः । एतत् = इदम्, सामवनवित्ययभूतमिति भावः ।
एतत् = प्रसिद्धं, दुर्बिगाहं = दुर्माकमिति भावः । तुहिनगिरिमयं = हितालयमि-
मितं, कार्मुकं = धनुः, यम = धनुषि, दर्बीकराणां = सर्पाणां, पतिः = स्वामी, वासु-
किरिति भावः । मौर्वीं = ज्वा, उदधिसुतानायकः = उदधिसुतायाः (समुद्रदुहिता-
कन्या इत्यर्थः) नाथकः (पतिः, विष्णुरित्यर्थः) । सायकः = बाणः, 'करे जदरो च
सायकः' इत्यमरः । जज्ञे = जातः । एतत् = कार्मुकं, चन्द्रमौलेः = सितवसः, वेर्द्वैः =
वासुदेवैः, नतमपि = प्रक्षीकृतमपि, अत्यन्तवमपीति भावः । कार्मुकाणाम् = अन्त्ये-
कं धनुषम्, उन्नतम् = उन्नतं, प्रासोक्त्यर्थमिति भावः । अमृतम् = संजातम् । एवं
च विपुरासुरासां = विपुरासुरसुन्दरीणां, वाण्याम्नोवृष्टये = अमुककन्यया,
वेत्तमपि = तादृशं सवपि, ऐश्वर्यम् = इन्द्रसम्बन्धि, आसोत् = अधवत् । ऐश्व-
र्यं सत्त्वा वृद्धिं कृतवान् तथैवेदं हरकार्मुकमपि प्रोक्तं सविपुरासुरस्य वनेन
तत्सुन्दरीणां प्रवृद्धिं ककारेति भावः । अत्र विपुरासुरमधार्म्यं हरकार्मुके वासुके-
हृतावस्थं भगवतो विष्णोः सामकस्य च सर्वनासुराद्याऽऽकारसत्कथनं यथा—
'कोकाऽतिसयसमस्तिकर्म्ममोवाचमुच्यते ।

यद्वाऽपि प्रसन्नत्वाञ्जं मृतां करिषं भवेत् ॥' इति ।

एवं च नतमभुवत्तम्, ऐश्वर्यमन्यमित्यर्थः च । इी विदोद्याभासौ च, इत्यने-
तेषामीकात्रयाऽऽमवेतेन सङ्गः । कायरावृत्तम् ॥ ३० ॥

अत्र बह्वुर्मात्रं विनाशय पर्वतते निर्मितं धनु ई, चित्तये उपरान वासुकी मल्लभा
मीर मकरात् विष्णु बाण इव वे । नो कि भगवान् शिवजीके वरुणजीके नत होकर मी
मीर धनुजीके उन्नत हुआ वा एवम् विपुरासुरकी सुन्दरीपीके अमुककनी वृद्धिके विष्णु
शिववत् होता हुआ मी शम्भुजीके उन्नत दत्त गया था ॥ ३० ॥

विश्वामित्रः—जानामि ।

सेवायात्समस्तसेचरकरकीडावल्लखासर-
श्रेणीभारुतपानपीननिषिद्ध्यापन्नगाकर्षिणा ।

गाढाकुञ्जनजृम्भमाणतुहिनस्यन्वैर्यदीपैः श्रमः

सम्पत्कः पुरचैरिणाऽपि, तदिदं शंकेन्द्रसारं धनुः ॥६१॥

जनकः—तत्कथमस्यानयनाय रामायादिरासि ?

विश्वामित्रः—न केवलमानयनाय, किन्त्यानमनाय (रामं प्रति) धत्स,

विरचामितोऽपि द्रव्यनुर्णयति—सेवाऽऽप्यतेति । सेवाऽऽवात्समस्तसेचरकर-
श्रेणीभारुतपानपीननिषिद्ध्यापन्नगाकर्षिणा पुरचैरिणाऽपि यदीपैः
गाढाकुञ्जनजृम्भमाणतुहिनस्यन्वैः श्रमः सम्पत्कः, तत् इदं शंकेन्द्रसारं धनुरित्यन्वयः ।

सेवाऽऽप्यतेत्यादिः = सेवायै (परिचर्यायै) आधावाः (भागताः) ये समस्ताः
(सकलाः) सेवकाः (देवाः, से चरतीति, 'सत्यस्ये कृति ययुक्ताम्' इत्यल्लुक्) तेषां
करकीडाभिः (इस्तकीडवै) चरन्ती (प्रचरन्ती) वा चामरश्रेणी (मकरिक-
पङ्क्तिः) तस्मा मादतपातेन (वायुपातेन) पीनः (पुरुः) निषिद्धः (धनः) यो
क्यापकः (गुणकः सर्पः, बाधुकिरिति भावः) तनाकर्णतीति तन्वीकस्तोन,
तादमेन पुरचैरिणाऽपि = विपुरस्तधुनाऽपि, दरेणाऽपीत्यर्थः । यदीपैः = यदनुः—
सम्पत्पङ्क्तिः, गाढाकुञ्जनजृम्भमाणतुहिनस्यन्वैः = वायुम् (वायु) एव आकुञ्चयत्य
(भागमयम्) तेषां जृम्भमाणाः (उत्पद्यमानाः) ये तुहिनस्यन्वा (हिसम्प्रवाहाः)
ते । श्रमः = आयासाः, अनुराकर्षणजम्प इति भावः । सम्पत्कः = परित्यक्तः । तत् =
सामर्थ्यम्, इदम् = प्रकृतवर्ण्यमात्रं, शंकेन्द्रसारं = शंकेन्द्रस्य (पर्वतश्रेष्ठस्य, हिम-
करस्वेति भावः) सारभूतं (स्थिराऽस्तभूतम्), धनुः = कार्मुकम्, अस्तीति शेषः ।
रूपकाऽन्वयः । सार्वकविभीकितं वृत्तम् ॥ ६१ ॥

विरचामित्रः—मै जानवा हूं ।

तेषांसे विर जाने हूय समस्त देवदाभीनी इत्यादिदानोंसे चकमेवाभी चामरपङ्क्ति
वायुपाते पुरु और यय मयवाक्य सर्प (बाधुकि) यो कीचनेवाके दिवनीने मो भिन्न
धनुके इत्यापूर्वक कुकावेसे वल्लख दिनप्रवाहोंसे श्रम कीया । पीता यह हिमकरपर्वतके
सहस्र सारकय धनु है ॥ ६१ ॥

जनकः—उन भाप कैसे वस धनुको जानेके विर रामकी जाया देते हैं ?

विरचामित्रः—कनेके विर हो मही कुकावेके विर मो मै (जाया देता हूं) ।

व्यवृत्तां परिकरः । इदं च

मारीचमारीचतुरं सुबाहोः अपवारणं ताटकाताडनं धनुः ॥ ३१ ॥

न्यस्यतां क्षम्यकरे ताटकाताडनं धनुः ॥ ३२ ॥

अनकः—कथमसम्भावनीयमेवोक्तमयमिति ?

विश्वामित्रः—कथमिति न विवितं ते । अनेन हि—

प्राप्य आपनिगमानितः कमान् सम्प्रताप्य विश्वामित्रिणाचक्षतम् ।

विश्वामित्र इति । परिकरः = यन्त्र, नारम्भो वा । अस्मात्परमौ परिकरी इति
लिकाम्बलेषः । व्यवृत्तां = क्रियताम् ।

मारीचेति । मारीचमारीचतुरं सुबाहोः अपवारणं ताटकाताडनं धनुः कथमप्यने
न्यस्यतामित्यन्वयः । मारीचमारीचतुरं = मारीचस्य (तदात्म्यस्य राजसस्य) मार्चो
(माणिक्यस्याभ्युपगम्ये मारः, मारस्य भावः कर्म वा मारी, तस्याम् ।) चतुरं
(मरीचम्) पूर्वं ननुसारकमित्यर्थः । सुबाहोः = तन्नामकस्य राजसस्य, अपवारणं =
विचारणलाभनं, सारमेनेति भावः । पुनश्च ताटकाताडनं = ताटकायाः (तद्विना-
शाय राजस्याः) ताडनम् (क्षात्तस्यामयः), ताडनं, धनुः = कर्तुं, कथमप्यने
कमान्नुज्जहसे, न्यस्यतां = सम्प्रेषतामित्यर्थः । मारीचमिचारकः सुबाहुताटकाधाल-
कमाध्वं रामो न त्वया प्राकृतवाक्यकुरुष्वन्वा वृत्त्य इति भावः । अनुकम्पितम् ॥ ३२ ॥

अनक इति । असम्भावनीयं = संभावनाऽनर्हम् ।

विश्वामित्र इति । से = तव, 'विवितमिति पदेन योगे 'कथं च कर्तुमाने' इति
यत् । विवितं = ज्ञातं, 'विद्वज्ज्ञान' इति धातोः 'मतिवृद्धिपूर्वाभ्येवरणे'ति क्तः ।
रामस्याऽसाधर्म्यं कर्म प्रकाशयति—प्राप्येति । इत्तः कमान् आपनिगमान् प्राप्य
विश्वामित्रेः मित्राचरणं संप्रताप्य दक्षिणेन (अनेन) असम्भावनीयमस्तरकण्डिकां गुह-
रुक्षिणीकृतेस्तप्यतः ।

इतः = अस्मात्, भविति भावः । 'पञ्चम्यास्तसिक्त' इति तसिक्तः, इदं इत्तं
इतिभावेण । कमान् = अनुकमान्, आपनिगमान् = अनुवर्तमान्, अन्वेषण-
मायेन कुरुष्वन्वयः । प्राप्य = आगच्छ, कथमप्यने विवितः = वार्त्तः, मित्राचरणम् =

(रामदे) वत्स । वत्स करो । यद्

मारीचको मारनेको कियामे चतुर, सुबाहुते विचारणका साधन और ताटकाके भस्मि-
का साधन धनु अक्षमणको शायमे दे हो ॥ ३१ ॥

अनक—भाप कैसे नहीं हो सकता बाको वात कर रहे है ।

विश्वामित्र—यद् बाकी कैसे बात-न हुआ ।

अस्मदीयमन्तराद्यन्वितादक्षिणेन शुक्लक्षिणीकृता ॥ ३३ ॥

कनका—(विस्मय । निःश्वस्य च) भगवन् ! अस्त्येतां, किन्तु

मारीचमुत्तररजनीचरचक्रचूडा-

चञ्चन्मरीचिचयचुम्बितपादपीठः ।

अथाभवद्विफलबाहुबलावलेपो वीरः

सहाङ्गमुकुटाञ्जलचाकरोऽपि ॥ ३४ ॥

राजसाह, संभ्रमाप्य = इत्येत्यर्थः । इक्षिमेन = निपुणेन, युद्ध इति शेषः । अनेनेति पूर्वलोभान्तर्भावम् । रामेनेति भावः । अस्मदीयमन्तराद्यन्विता = अस्मदीयमन्तराद्यन्विता (अन्वितित्यन्वयः) रक्ष्यक्रिया (पाठनकृतिः, राजसाहदिकृतोपदेशस्य इति शेषः) । शुक्लक्षिणीकृता = गुरवे (आचार्याय, मन्त्रमित्यर्थः) इक्षिणीकृता (रक्ष-
यक्षिणात्वेन स्मरितित्यर्थः) । मत्तोऽनुक्रमाद्युक्त्यधीत्याऽनेन रामेण अद्वुहितवर्गे
विष्णाऽनुक्रमाद्युक्त्यान् बाणैर्वापाद्य मन्त्रमन्तराद्यन्विता शुक्लक्षिणा विष्णुका, मत्तोऽयं
रामः सामान्यवाक्यद्वयान्त्वमेतस्य इति भावः । रथोद्धतायुधम् ॥ ३३ ॥

इदमप्युक्तं प्रतिपादयति—मारीचमुत्तरेति । मारीचमुत्तररजनीचरचक्रचूडा-
चञ्चन्मरीचिचयचुम्बितपादपीठो वीरः सहाङ्गमुकुटाञ्जलचाकरोऽपि ध्वज विफल-
बाहुबलावलेपोऽभवदित्यन्वयः ।

मारीचमुत्तरेत्यादि = मारीचः (लघुशब्दः राजसः) शुक्लः (प्रकाशः) वेपथं
ते, साहकः ये रजनीचराः (निशाचराः, राजसा इत्यर्थः) तेषां चक्रं (मण्डलम्)
तत्त्व चूडायाः (शिरोभूषणस्य) चक्रं (प्रकाशमानम्) यो मरीचिचयः (शिखर-
समूहः), तेन चुम्बितं (सम्बद्धमित्यर्थः) पादपीठं (चरणभ्रातृस्थानम्) यस्य
सः । सहाङ्गो राजसमन्वितऽऽलङ्करो वीरः—सहाङ्गमुकुटाञ्जलचाकरोऽपि
चक्रमङ्गमुकुटा (चक्रोत्तरा, साहक इत्यर्थः) तस्याञ्जलः (पथः, कैलास इति
भावः) यस्य चाकरोऽपि चाकरोऽपि, स्वमुखाभ्यां कैलासाञ्जलचाकरो राजसोऽ-
पीति भावः) । अथ = अस्मिन्, हरद्वयमित्यर्थः । विफलबाहुबलावलेपः = विफलः

मुक्तेः कथमुक्तं अनुवर्तते पादः, बाणोऽपि राजसोऽपि मारकः, इव युद्धनिपुण रामने-
मुक्ते पदरक्षणम् अन्वयिष्या दे दी ॥ ३३ ॥

कनक—(विचार कर निश्वासापूर्वक) भगवन् ! यह है । परन्तु मारीच नादि
राक्षसोंके मण्डलके शिरोभूषणके प्रकाशमान किनसमूह चिकके पादपीठको चक्राक्षित
करके है और चिचयके कैलासको भी दिखाने वाले, देखे और रामके भी विषुवक
मण्डल यह अनुवर्त चिह्न ही गया ॥ ३४ ॥

विश्वामित्रः—किमेतावता ? नन्वस एव राममादिशामि (रामं प्रति)
वत्स, उत्तिष्ठ । कुसुदिनीकान्तकलाकिरीटकामुंक्षरोपजप्रवीणतया सम्प्री-
याथास्मान् ।

जगन्नाथः—(स्वगतम्)

यस्य क्वाता अगति सकले निस्तमिच्छा तपस्वी-
मिच्छोत्कण्ठः कथमिह भवेदेव गाथेस्तनूजः ।
बाहो रामः, किमपि गहनं कार्मुकं चन्द्रमौले,

(विष्णुः) बाहुबलस्य (तुल्यसत्तेः) सकलेषु (सर्वेषु) यस्य सः तादृशोऽनमत्त-
भम्बुः, अनुसन्महाऽस्यचेरिति भावः । मारीचादिरजनीचरचक्रपूजामभिर्हाराञ्चक-
थाहलोऽपि शक्यो वदन्तु भक्तुमि निस्तमस्तुल्यलोऽभूत्तदा मारीचधातुके रामे
सहीयः सन्दीहो नाऽनुत्तरूप इति भावः । वत्सगतितुल्यं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

विरवामित्र इति । कुसुदिनीकान्तकलाकिरीटकामुंक्षरोपजप्रवीणतया = कुसुदिनी-
काम्नाः (चन्द्राः) तस्य कला (भागः) किरीटे (मस्तके) वत्स सः, सह्य इत्यर्थः ।
तस्य कार्मुकं (भद्रः) सतिम् रोपणे (उवाचग्नाने) प्रवीणतया (निपुणतया) ।

जगन्नाथः स्वगतत्वेन रामविष्णवे विचिकित्सति वक्ष्येति । यस्य सकले अगति
निस्तमिच्छा तपस्वीः क्वाता, एव गाथेस्तनूज इह कथं मिच्छोत्कण्ठो भवेत् ? रामो
बाहो, चन्द्रमौले । कार्मुकं किमपि गहनं, तेन मे शिरःशक्तिः शुद्धः शीघ्रोऽरोहं
कलयतीत्यन्वयः । यस्य = गाथेस्तनूजस्य, म्दर्वैर्विरवामित्रस्येत्यर्थः । सकले =
समस्ते, आशि = लोके, निस्तमिच्छा = जगन्नाथरहिता प्रकाशक्षमभेदि भावाः ।
तपस्वीः = तपोव्रतशीलः, क्वाता = प्रसिद्धः । पूजः = समीपतरवर्ती सः, रामेः =
सदाशयस्य रामवैः, तनूजः = पुत्रः, सहर्षिर्विरवामित्रः । इह = रामस्य दरभक्तुरात्मन-
निपते, कथं = केवप्रकारेण, मिच्छोत्कण्ठः = मिच्छा (अनुसन्महा) उत्कण्ठा (उत्क-
टिका) यस्य सः । तादृशो भवेत् = भवतु, संभावनायां लिङ् । विरवामित्रस्यो-
त्कण्ठया मिच्छाकपया नो भ्राम्यमिति सावः । परं रामः = रामचन्द्रः, बाहो =
आश्वासनवदस्तः, चन्द्रमौलेः = शिवस्य, कार्मुकं = भद्रः, किमपि = अनिर्वचनीयकथं,

विरवामित्र—एतेषे क्वा । मे शरीरे रागद्वे भावा इता ह । (रामसे) वत्स ।
बाहो । चन्द्रमौले (शिव) के चतुर्थी प्रत्यया चदानेनें निपुणता दिक्काकर हने प्रसन्न करो ।

जगन्नाथः—(मन ही मन)

विष्णुको संपूर्ण विस्मये प्रकाशपूर्ण तपोव्रतशी प्रसिद्ध है । ये याचिपुत्र भगवान् विरवा-
मित्र, इस विषयमें कैसे मिच्छा उत्कण्ठकाके होंगे ? परन्तु राम चन्द्रके हैं, शिवचतु भवि-

दौष्टारोहं कलयति मुहुस्तेन मे चित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥

(पुनः पृथिवीमालोक्य)

रतिरिव जगन्नेत्रानन्दिनी नन्दिनी ते,

कुसुमसार इवार्थ रूपसारः कुमारः ।

यदि तु घनुरपीदं प्राप्तमेतस्य हस्तं

कुसुममयमिव स्वात्सम्भृतः सम्प्रदायः ॥ ३५ ॥

शतानन्द—राजर्षे, किमेतन्मूढ इव मुहुर्मुहुरालोकसे, अनुवर्त्तस्व

घटनं = बुद्धिबाह्यमिति भावः । तेन = कारणेन, मे = मयः, चित्तवृत्तिः = जगत्-
करणवृत्तिः, मुहुः = चारं चारं, दोष्टारोहं = मेढ्राऽऽरोहणं, कलयति = भ्रमयति, इत-
स्तद्वत्त्वमेव चित्तवृत्तिर्नैकप्राप्तव्यमिति अत्रतीति भावः । मन्वत्प्रज्ञावृत्तम् ॥ ३५ ॥

रतिरिवेति । जगन्नेत्राऽऽनन्दिनी रतिरिव ते नन्दिनी, अर्थं कुमारः कुसुमसार
इव रूपसारः । एवं धनुः पतस्य हस्तं प्राप्तं कुसुममयम् इव स्वात्सव्यं यदि तु सम्प्र-
दायः संसृज्य इत्यन्वयः ।

(हे पृथिवि !) जगन्नेत्राऽऽनन्दिनी = जगन्नेत्राणाम् (लोकनयनाया) आन-
न्दिनी (आनन्दोपायिका) । रतिरिव = कामप्रियेव, सुन्दरीति भावः । ते = त्व
नन्दिनी = पुत्री सीतेति भावः । अस्तीति शेषः । एवं च—अर्थं = निकटवर्ती,
कुमारः = बालः, रामचन्द्र इति भावः । कुसुमसार इव = कुसुमेपुरिष, काम इवे-
त्यर्थः । रूपसारः = रूपे (सीतेवै) सारः (सौष्ठव्यार्थः) । हस्तं = मूर्तं, धनुः
हरकालुङ्कम्, पतस्य = कुमारस्य, रामस्य । हस्तं = कर्, प्राप्तम् = प्राप्तवितं स्तु,
कुसुममयम् इव = पुष्पनिर्मितमिव, कामोपायभाष्येणार्थः वेति भावः । रपायति =
भवेत्पतेत्, तु = तर्हि, सम्प्रदायः = सम्प्रदायः, रते। कामपरिग्रहार्थं, कामस्य च
कुसुमसारस्यमित्येवं रूप इति भावः । संसृज्यः = पाकितः, स्वादिति शेषः । जगत्-
नैऽऽलङ्कारः । आतिशयोक्त्यम् ॥ ३५ ॥

शतानन्द इति । अनुवर्त्तस्व = अनुसर ।

नवनीय रूपते गहन है, इस कारण मेरी मनोवृत्ति इस विषयमें बहुरात्र दोषाऽऽरोहण
कर रही है ॥ ३५ ॥

(फिर पृथ्वी की ओर देखकर)

लोकनेत्रोकी आनन्दिनी जगन्नेत्राणी रतिके समान भावकी पुत्री है । वे कुमार (राम)
पुष्पसार (कामदेव) के समान रूपमें खेच हैं । यह धनु इवकी हाथमें प्राप्त होकर पुष्प-
निर्मितके सप्रज्ञ हीनगी तो संश्रवण सुरक्षित होगा ॥ ३५ ॥

शतानन्द—राजर्षे ! क्यों अनन्तानके समान बहुरात्र देखते ही रहते हैं, यहवृत्ति

महर्षेर्वचनम् ।

जनकः—(प्रथमम्) अनुवृत्तमेव, (रामं प्रति) वत्स, अनुवृत्तीयतां
शुद्धवचनम् । (राम कृपाम् परिहरं वञ्चति)
(प्रथितम्)

मतीहारी—जयतु जयतु देवः, कोऽपि माष्टमो देवस्य वर्षानाधी
भारदेशे तिष्ठति सत् किं प्रवेक्ष्यताम् । (जेडु जेडु देवो । कोवि वदामी देवस्य
इत्यपत्नी दुष्कारदेवस्मि विवृदि । ता किं पवेक्ष्यतु)

जनकः—आः, इदमपि किं जनकः प्रष्टव्यः ।

मतीहारी—सुधा (इति निर्गत्य तेन सह प्रथितम्)

जनकः—प्रथम्, प्रणम्यसे ।

मुनिः—राजम्, सुमतिर्भूयाः ।

जनकः—(स्वगतम्) अन्त्यादरीयमाशीःपरिपाटी । अयत्तु । (अग्रमम्)
मुने इदस्यताम् ।

मुनिः—सन्नेदशहरः सन्त्यस्मि ।

जनक इति : मासीःपरिपाटी = मासीर्वाप्यइति । अन्त्यादरी = सन्त्यस्मि,
कोविदिकमेति भयः ।

मुनिमिति । सन्नेदश = दृष्टा, सन्नेदं दृष्टीति, 'दृष्टेदशुत्तमेऽम्' इत्यम् ।

वचनम् अनुवर्तनं कोविदः ।

जनकः—(सुखाकर) अनुवर्तनं ही करणं हूँ । (रामसे) वत्स । शुद्धवचनका पालन
करो । (राम वदन्तर परिहरं वञ्चते हूँ) ।
(प्रवेष्ट कर)

मतीहारी—महारामको वयं ही वयं ही । कीर्तं गच्छाम महारामके वशीनके किं
दरते उपलित है । क्या उन्हें के मार्ग ?

जनक—भीहूँ । वह बात भी क्या वक्तव्ये पुत्रवेधो है ?

मतीहारी—अच्छी बात है । (देता करकर निष्कर्षकर चनेके साथ प्रवेश करती है ।)

जनक—माधव । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।

मुनिः—राजम् । आप वचन मुनिवाके हों ।

जनक—(वयं ही वयं) मासीर्वाप्यही वह प्रणामी दूसरे ही वचनी है । वचनम् ।
(सुखाकर) मुने । यहाँ निराश्रित ।

मुनि—मैं सन्नेद के भावा हूँ ।

जनकः—कस्य ? कीदृशो वा सर्वेशः ?

मुनिः—

पीत्वा कञ्जकफाकिमानमभिलं यमापाकनारीदृशां

नीत्वा स्फीतयद्योऽद्वासमहसा लोकत्रयं शुभताम् ।

अच्छीर्षा परितैरनेकविभ्रयैरथापि यः सेवते,

हे वैदेह ! स कामदम्बपरशुरत्नामेतवाभवते ॥ ३७ ॥

जनकः—(स्वगतम्) अहो ! गर्वाङ्कुरस्य वक्रता । भवतु । (प्रकाशम्)
किं सत् ।

सन्देशोपासकं कुरुते—पीतेति । हे वैदेह ! यः यमापाकनारीदृशां अस्मिन्
कञ्जकफाकिमानं पीत्वा स्फीतयद्योऽद्वासमहसा लोकत्रयं शुभतां नीत्वा यथापि
अनेकविभ्रयैः परितैः अश्लीलं सेवते, स कामदम्बपरशुरः स्वाम् पतय्य आभासते
इत्यन्वयः ।

हे वैदेह = हे विदेहराज वनक !, या = कामदम्बपरशुः, यमापाकनारीदृशां =
यमापाकाः (यजिया राजानः) तेषां नारीदृशां (यद्वनयनायां), अस्मिन् =
कञ्जके, कञ्जकफाकिमानम् = कञ्जकफण्डलं, पीत्वा = निरीय, अस्मिन्प्राकां
इत्येव विषयानां सकारीणां मन्त्रेभ्यः कञ्जकमपनीयेति भावः । स्फीतयद्योऽद्वास-
महसा = स्फीतयद्यः (सुदृढचित्तिः) एव योऽद्वासः (उच्छेदस्थितम्) तस्य महसा
(वेकसा), लोकत्रयं = भुवनत्रितयं, शुभतां = शुभकतां, नीत्यर्हमेवम् । नीत्वा =
प्राप्य, अथापि = अत्रुतापि, अनेकविभ्रयैः = वक्रसंप्रपञ्चैरिति भावः । परितैः
अश्लीलैः, अश्लीलं = अङ्कुरं सेवते = परिचरति । सः = तावत्, कामदम्बपरशुरः =
कामदम्बिभुजपरस्वभः, रथापि = सकलम्, पतय्य = हर्ष, अश्वमानधकारं वचनम्,
आभासते = लक्षयति । सत् उपलब्धोक्तमङ्कुरः । तावुं कथिषीदितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

जनक इति : यद्योऽङ्कुरस्य = यद्योऽङ्कुरस्य वक्रता = कुटिकता । सत् =
जायापणम् ।

कथञ्च—किं यत् कथञ्च कथा सन्देशः ?

मुनिः—हे वैदेह ! यो राजाश्रीको नारियोंके जेनोंके सव कञ्जकी कजिया पीकर
सम्पत्तिरित्थम् अद्वासमेके सेवते तौनों कीर्षोंको सकेर यमापक मत्त भी अनेक वक्र और
सम्पत्तिसे समस्त आचरणोंसे मन्त्रेयकी सेवा कर रहा है, वह परशुरामज्य परशु (तर्फी)
आपकी वक्र करता है ॥ ३७ ॥

जनक—(मन ही मन) अहो ! गर्वाङ्कुरकी कैसी वक्रता है ! जनका (शुभाकर)
वदन्त्या ।

मुनिः

कस्मैचिद्देहि कम्पां नरपतिविश्वे, धीर्धमायुर्लभस्व,
 व्यावर्त्तस्वः प्रियान्ताः पुरमघनधनुः कर्षभासापपापात् ।
 नो चेदभ्योऽस्युपायस्तव कलुषमसीपङ्कसंसातनाया-
 मस्मद्विस्तारिधाराऽञ्जवद्वलपयाः पूरदुरावगाहः ॥ ३८ ॥

अनङ्कः—(विहस्य) तन्मयापि प्रतिसन्देशः कथनीयस्तस्य ।

तमेव सम्यक् प्रकाशयति—कस्मैचिदिति । कस्मैचित् नरपतिविश्वे कम्पां
 देहि । धीर्धमं भाग्यं कलम्ब । पुरमघनधनुः कर्षभासापपापात् नः अत्रिधाम् व्याव-
 र्त्तस्व । नो चेत् तव कलुषमसीपङ्कसंसातनायाम् अस्मद्विस्तारिधाराऽञ्जवद्वलपया-
 पूरदुरावगाहः कम्पाः उपपादः अस्तीत्यन्वयः ।

कस्मैचित् = अविज्ञातनामयेदाम्, नरपतिविश्वे = राजकुमारस्य, कम्पां = कुमा-
 री, सीतामित्यर्थः । देहि = वितर, हरधनुराकर्षणकर्म पत्रं विनैवेति भाषा ।
 न धीर्धमं = विस्तीर्णम्, भाग्यः = बीजितकाष्ठं, कलम्ब = प्राप्नुहि, पुरमघनधनु-
 र्कर्षणकर्मपापात् = पुरमघनस्य (सहरस्य) यजुः कर्षणं (कासु) कानमनम्)
 तस्य अन्वयः (कीर्तनम्) तेन अनितात् पापात् (कर्मपात्), 'व्यावर्त्तस्वेति
 एवमेव यो 'जगुप्साविराजप्रमादाऽर्धानां पतन्मनसः' इति पञ्चमी । नो चेत् = त-
 मेन न कुर्वामि । तव = मन्त्रतः, कलुषमसीपङ्कसंसातनायां = कलुषस्य (पापस्य)
 यो मसीपङ्कः (कण्डकलेपः), तस्य संसातनायाम् (मृच्छाकनक्रियायाम्), अस्म-
 द्विस्तारिधाराऽञ्जवद्वलपयाः पूरदुरावगाहः = अस्माकं, परसोरिति शेषः विस्तारिणी
 (विस्तारवती) या धारा (अग्रभागः) सेवाञ्जलं (प्राप्तभागः) तस्मिन्नाङ्कः
 (अधिकः) यः पयःपूरः (कलमवाहः), तस्मिन् दुरावगाहः (अधिकप्रवेशः),
 तादृशः, कम्पाः = अवयव, उपपादः = प्रतीकारः, अस्ति = विद्यते । कस्मैचिद्राजसूयमे
 कम्पां समर्पय, हरधनुराकर्षणकर्मपापात्पापविवर्त्तस्वेत्येतन्मसीपङ्कसमिमर्शं, त्वं न
 सीकुप्रायेणमद्योपरदुष्टावगाहा कचवद्वली सवेदिति भावः । अङ्कपरा वृत्तम् ॥ ३८ ॥

अनङ्क इति । प्रतिसन्देशः = सम्यक्प्रतिक्रियेति भावः । परदुरामात्र प्रतिसन्देशं

मुनिः—किंती रात्रकुमारकी कम्पा दीविद और दीर्घ भाग्य प्राप्त । विनधनुके कर्षण-
 भाषणकर्म इत्यनेन विनिव पापसे हट् काहय । नहीं तो भाषके पापस्य मसीपङ्कको काष्ठिद
 करनेसे हमारी विस्तीर्ण वृत्तको धारके अधिक बलप्रवाहसे भाषका भवेगाह्व करना
 नहीं दुरावगाह है ॥ ३८ ॥

अनङ्क—(ईश्वर) तव भाषको मेरा भी प्रतिसन्देश कर्ने कर्ता चाहिये ।

मुनिः—कीदृशोऽसौ ?

जनकः—

त्वं मित्रं मम आमदन्त्यपरशो ! येनैतवाभाष्यसे,
सम्प्रत्येव यथाप्रतिश्रुतमिदं कन्या मया दीयते ।
तेनैव स्वयमेव पूर्वादिधनुर्धोरियवोऽसम्पदो
आमातुः पुरतस्त्रिरात्र भवता धाराजलं त्यज्यताम् ॥१६॥

प्रतिश्रुतमिति—त्वं मित्रमिति ।

हे आमदन्त्यपरशो ! त्वं मम मित्रं, येन यत्तु आभाष्यसे । सम्प्रत्येव सवा यथाप्रतिश्रुतम् इदं कन्या दीयते । तेन इह स्वयम् एव पूर्वादिधनुर्धोरियवोऽसम्पदो आमातुः पुरतः भवता धिरात्र धाराजलं त्यज्यतामित्यन्वयः ।

हे आमदन्त्यपरशो = हे भार्गवपरवध !, त्वं = मया तु मम = मत्कृत्य, मित्रं = सखा, येन = कारणेन, यत्तु = इत्, यद्यप्यप्यप्रकारं वाक्यम्, आभाष्यसे = कथ्यसे, सम्प्रत्येव = अद्यैव, मया = जनकेन, यथाप्रतिश्रुतं = प्रतिश्रुतमवतिष्ठत्यम्, पूर्वा-
प्रतिश्रुताऽनुसारमिति भावः । इयम् = एषा, कन्या = कुमारी, सीतेति साहः । दी-
यते = विदीर्यते, इदं वाक्यार्थं कथं मया स्वदुहित्वा सम्पन्नं इति भावः । तेन =
कारणेन, इह = अस्मिन्स्थाने, स्वयम् = आत्मना, एव = आत्मैव, पूर्वादिधनुर्धोरि-
वोऽसम्पदः = धनुर्धो (शिवस्य, 'कृषाद्भूरेतः सर्वज्ञो धूर्जटिर्लोक्योदितः ।' इत्यमरः)
धनुषः (कामुकस्य) धीरेण (पुरम्भरा, भारवहनसमर्थेति भावः) दोः सम्पत्
(बाहुसम्पत्तिः) मस्य, तस्य । तावत्तस्य आमातुः = दुहितृपतेः, पुरतः = अग्रे,
भवता = भवता, धिरात्रनेति भावः । धिरात्र = धिरात्रकल्पवृक्षम्—

'धिरात्र धिरात्रात्र धिरात्रात्रात्रिकार्यार्थका ।'

इत्यमरः । धाराजलं = परवधोऽस्माकरूपं सलिलं त्यज्यताम् = विहृत्ययम् ।
हे रामपरशो ! भविरात्रेव मदीयमाता स्वदीपधाराजलार्थमपनेषतीति भावः ।
पर्यायोक्तमङ्गादः । शार्दूलमिषिर्निर्गुणम् ॥ १७ ॥

मुनिः—वह कैसा है ?

जनकः—हे आमदन्त्यपरशो ! तुम मेरे मित्र हो, जिससे मैं तुम्हें ऐसा कहता हूँ ।

अभी ही मुझसे प्रतिश्रुति अनुसार वह कन्या दी जा रही है । इसकारण नहीं स्वयम्
काकर शिवधनुषी धारण करनेमें समर्थ रामाश्वके नामे तुम धिरात्रकल्पवृक्ष धाराजलका
परित्याग करो ॥ १७ ॥

मुनिः—तथास्तु । (इति निष्कान्तः)

जनकः—आक्षिप्तोपक्षिप्तस्तावदयं आभक्ष्येन निबद्धोपानशस्तु-
जिह्वः ।

शतानन्दः—किमेतावत् ? अतिगम्भीरभुजसारकासारकैरवारम-
स्तु रामः ।

विश्वामित्रः—राजर्षे, के पुनरमी परितः स्फुरन्मणिसौख्यः पर-
सहसा हरयन्ते ।

जनकः—

श्रीकण्ठकालुङ्कनिरस्तभुजापकेषा
मामादिगन्तजगतीपतयः किलामी ।

जनक इति । हे आक्षिप्तः = हे कलानन्द । शताभक्ष्यस्य अक्षिप्तोत्पन्नत्वात्
आक्षिप्तपदप्रयोगः आभक्ष्येन = परशुरामेन, अभक्ष्येन एतत् प्रुमात् आभक्ष्यपदो-
पयोगः 'मामादिभ्यो णम्' इति धञ् । विषकोपागतस्तुजिह्वः = शब्दकोपाद्विषयः । कण-
विह्वः = शब्दमस्तः ।

शतानन्द इति । अतिगम्भीरभुजसारकासारकैरवारमः = अतिगम्भीरा (अति-
जडगम्भीरा, दुरवगाह इति भाषा) भुजसाराः (बाहुकण्डम्) अ एष कासारः (सर),
तस्मिन् कैरवारमः (कुसुमोद्यामकण्ड), अनेन शमयित्वेनैव आभक्ष्यकोपा-
गतामिहोपकण्डं व्यज्यते ।

विश्वामित्र इति । परा सहसा = सहसा च परे, सहस्राजिह्व इति भाषा ।
'राजद्वारादिषु परेषु' इति सहस्रपदस्य परविधातः । 'पारस्व्यप्रवृत्तिभि च संज्ञा-
वाप्तिभि सुट्' ।

श्रीकण्ठेति । श्रीकण्ठकालुङ्कनिरस्तभुजापकेषा अमी मामादिगन्तजगतीपतयो-
स्तम आभक्ष्येन किमपि व्यभिचरमानाः कादिभिश्चदानि नरेन्द्रपुत्रा रुद्धमिह किमे-
त्यन्वयः ।

मुनिः—येता ही हो । (येता कलकर पाडे हैं ।)

जनकः—शतानन्दजी । परशुरामजीने अपने शीपानककी शकाका नविर्माण किया ।

शतानन्दः—इतनेसे क्या ? अतिगम्भीर बाहुकण्ड रूप ताकनमें कुसुमीके व्यानकर-
राम हैं ।

विश्वामित्रः—राजर्षे । पारों ओर मणियोंके शीघ्रित झुड़कने के शब्दोंकी संख्यामें
शून्य सिद्ध है रहे हैं !

जनकः—विश्वामित्रे जिनके बाहुकण्ड के बड़े दूर हो गये हैं ऐसे ने अनेक विश्वामित्रोंके

अभ्यर्चनां मम किमप्यभिषर्त्तमाना

रुद्धसि कानिचिद्वहानि नरेन्द्रपूजाय ॥ ४० ॥

विश्वामित्रः—वत्स रामचन्द्र, तवेष्टामेष परमतां कौतुकमस्माकं पूरय ।

(रामो विश्वामित्रं प्रणम्य निष्क्रान्तः)

जगज्—आक्षिप्तः, अपरिशीकृतसन्निवेशस्य वत्स रामस्य भवता प्रत्यनन्तरीभूयताम् । आदिशब्तां ककुक्षी च करकक्षितकमलमाकाशा जानक्याः स्वयंवराङ्गणावतरणाय ।

भीकृष्णकालु' कनिरस्तमुजाऽवकेपाः ॥ भीकृष्णकालुकिण (शिवधनुषा) निरस्तः (विदारितः) भुजाऽवकेपाः (बाहुबलहर्षः) वेष्टां ते । भस्मी = पूते, तामाभिगन्तः जगदीपतवः ॥ भवेकदेशभूपाकाः, मम = जानकस्य, अन्वयार्थः = प्रार्थनां, 'किञ्चिद्विषयवर्षस्यस्य चिन्तनेनेयं निविक्रमधरा समकक्षिण्यतां जीमन्ति' रिप्याकारिका-मिति भावः । किमपि = केवाऽपि प्रकारेणेति भावः । अभिषर्त्तमानाः = अनुसरन्तः सन्तः, कामिभिद्वहानि ॥ कतिचिद्वहानि, 'कालाऽव्यमोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीयाः । नरेन्द्रपूजा = राजसत्कारं, रुद्धसि = स्वीकृत्यमिति, किलेति मिश्रणे । वसन्तः शिखरं वृक्षम् ॥ ४० ॥

विश्वामित्र इति । पूजाभेदः = राजाभेदः, 'वह्नी चाऽप्यवरे' इति वही ।

जगज् इति । अपरिशीकृतसन्निवेशस्य = अपरिशीकृतः (अपरिचितः) सन्नि-
वेशः (स्वाकशिरोधः) यस्य, तस्य । प्रत्यनन्तरीभूयतां = निरन्तरवर्तिना सूयता-
मिति भावः । करकक्षितकमलमाकाशाः = करकक्षिता (हस्तान्वृता) कमलमाका-
(पद्मका) यवा, तस्याः । स्वयंवराङ्गणाऽवतरणाय = स्वयंवरावतरोपस्थानाय ।
'अङ्गुलं चत्वारः अङ्गुलि' इत्यमरः ।

राजपरां मेरी प्रार्थनाकी किसी प्रकारसे स्वीकार कर कुछ दिनकर राजसत्कारका महत्त्व कर रहे हैं ॥ ४० ॥

विश्वामित्र—वत्स रामचन्द्र ! तब तुम इनके ही सामने इनकी-ही कौतुकमयी पूजा करो ।

(राम विश्वामित्रकी प्रणाम कर जाते हैं ।)

जगज्—महानन्दजी ! रामचन्द्रजीकी पक्षोंके आधमिश्रेण परित्यक्त नहीं है तस-
फिय भाव इनके साथ ही है : हाथमें कमलमाका केन्द्र सीताकी स्वयंवरस्थापनें अवतीर्ण
करायेके फिर ककुक्षीकी जाका वीथिय ।

शतानम्—सथास्तु । (इति निष्पन्नः)

(प्रविश्य)

कम्बुकी—अस्तु वैवः, अनुष्ठित एव देवादेशः ।

विश्वामित्रः—(विवेक्य) (सहर्षम्) आः, कथमुत्तमेव रामचन्द्र-
यशःपताकाकेतुद्वयेन हरकोद्वयेन, (पुनः सविस्मयम्) अये,
राधयेण सिद्धमापि किञ्चायं कीलयेव नमितो हरचापः ।
वृत्तुस्तस्यैव यस्य समस्तावभवेऽपि नमितो गुणघोषः ॥ ४१ ॥

अथमगः—अगवन् ! एवमेतत्, तथाहि—

पूर्वा एव पुरारिचापकपटच्छत्राचलाग्रामणी-

गूढानेकगुहागभीरकुडूरस्फारप्रतिश्वानिभिः ।

विरामित्र इति । रामचन्द्रयशः पताकाकेतुद्वयेन = रामचन्द्रयशःपताकायाः
(रामकीर्तिप्रसरस्य) केतुद्वयेन (यशोभारव्ययेन) । उत्तमतमेव = उत्तमतमेव ।
हरचतुर्भुजं प्रतिपादयति—राधयेनेति । सिद्धमापि राधयेन अथ हरचापे कील-
येव नमितः किं । यस्य यन्त्रेऽपि नमितो गुणघोषः समस्ताव वृत्तुस्तस्यैव-
अथ । सिद्धमापि = बाणेनापि, राधयेण = रामचन्द्रेण, नमस् = पुनः, हरचापम्
किञ्चन, कीलयेव = नवापासेनैव, नमितः = आरोपितः, किमेति शिखरे । यस्य =
आरोपितस्य, हरचापस्य, अन्त्रेऽपि = आकाशेऽपि, नमितः = आरोपितः, गुणघोषः =
ज्वालिनाह, कीर्तिविमलसारूपः कथो वा । समस्ताव = सर्वतः, दूरं = विष्कृष्ट-
प्रदेशम्, उत्तसति = आविर्भवति । रामचन्द्रस्य हरचतुर्भुजो व्यामितादो न केवलं
भूतलोके, अपि तु ज्योतिर्मण्डलमपि व्याप्नोतीति भावः । स्वागातावृत्तम् ॥ ४१ ॥

उपमनः औत्तिकेति समर्पयति—पूर्वा एवेति । पुरारिचामकपटच्छत्राः

शतानम्—रेता ही हो । (रेता कदकर बाते हैं ।)

(प्रवेष्टकर)

कम्बुकी—महाराजकी जय हो । महाराजकी आकाशका पावन किया गया ।

विरामित्रः—(दैर्घ्यपूर्वक) भीड़ ! शिख्र प्रकार रामचन्द्रकी उत्तमतमेव-
अन्त्रेऽपि समान शिवभनु घटती तथा । (फिर आश्चर्यपूर्वक) नरे !

राज्य हीन भी रामचन्द्रने इस शिवभनुकी नवापास ही कटा किया, शिवकी
आकाशमें भी पहाचारे गई मत्स्यकाकी जति दूर तक फैल रही है ॥ ४१ ॥

उपमनः—अगवन् ! आपका कहना सही है । कि—

शिवभनुकी कपटसे प्रच्छन्न दिमाकन पर्यन्त शत्रु अनेक कन्दरीके गम्भीर शिखरी

मौर्वीभूतभुजङ्गराजबहनभेणीविसर्पवृन्तः—

प्रारब्धार्थयथाऽप्रचरितस्तद्दोष्याधातधोवैविशः ॥ ४२ ॥

अनकः—आः ! किमुच्यते, दिशः पूर्णा इति ? तनु

पुतैः श्रीकण्ठकोट्यङ्गवृन्तमौर्वीमयै रथैः ।

चिरात्प्रतिज्ञया साकं पूर्णो भव्य मनोरथा ॥ ४३ ॥

कथामणीगुहाऽनेकगुहागामीरङ्गद्वरफारप्रतिष्ठाभिनिः मौर्वीभूतभुजङ्गराजबहनभेणी-
विसर्पवृन्तः प्रारब्धाऽऽर्यवत्प्रचरितस्तद्दोषीः ज्याऽऽवातधोवैः विद्या पूर्णा एवेत्यन्वयः ।

पुराऽऽदिवापेत्वादिः = पुराऽऽ (सिक्ख) वापस्य (धनुवः) कपटेन (लुकेन)
कृत्वा (प्रवृत्तः) यः लब्धकामाभ्युपैः (सर्वतः श्रेष्ठः, हिमाख्य इति भावः) तस्य
गुहाः (गुहाः) यः लब्धकामाभ्युपैः (बहुकामाभ्युपैः), तस्य यावि गभीरङ्गद्वराणि
(गभीरनिक्षिप्राणि) तेषु स्तारं (प्रचुरं, यथा स्वात्तया) प्रतिष्ठापयति (प्रति-
ष्ठापयति) इति तन्मूर्तिरिति । 'ज्याऽऽवातधोवै' विद्यास्य विशेषणम्, पूर्णमन्वय-
वि । मौर्वीभूतेत्यादिः = मौर्वीभूतः (धनुर्वीभूतः) यो भुजङ्गराजः (सर्पराजः,
सेव इति भावः) तस्य वा बहनभेणी (मुकुपर्विः) तस्या विसर्पवृन्तः (प्रचलति)
यानि वृन्तंति (वृन्तानि) तैः प्रारब्धाः (उपारब्धाः) वा कार्ययन्तः प्रारब्धाः
(कार्ययन्तः = पूजयन्तः शमयन्ति भावः, वा वृन्तः-प्रारब्धतयः = कीर्तिकर्तव्यम्) ता-
मिः सरसैः (तुष्यैः) । ज्याऽऽवातधोवैः = धनुर्वीभूतऽङ्गवृन्तवृत्तैः, दिशः = आकाशः
पूर्वा एव = पूर्वा एव, सम्पत्तिरिति शेषः ।

कैतवाऽपह्नुतिरङ्गद्वारः, सोदाहरणं लब्धकामं यथा—'कैतवं व्यसज्जमानाये ज्यावा-
वैर्निधुतेः पदैः । निर्यामिन् शमनाराधाः कान्तादन्वयादन्वयवात् ॥' इति । शार्दूल-
मिहिरितं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

पुतेरिति । श्रीकण्ठकोट्यङ्गवृन्तमौर्वीमयैः पुतै रथैः चिरात् भव्य प्रतिज्ञया साकं
मनोरथाः पूर्ण इत्यन्वयः ।

श्रीकण्ठकोट्यङ्गवृन्तमौर्वीमयैः = श्रीकण्ठकोट्यङ्गवृन्तः (सिक्खवृत्तः) वृन्त-
(वृन्तः, कृतवृत्तीति भावः) वा मौर्वी (ज्या) तस्यैः (वृत्तवृत्तैः) । पुतैः =
सकलदेवाऽऽदिभूतैः रथैः = रथैः, चिरात् = बहुकालात्, कृतवृत्तिरिति शेषः । भव्य =

प्रचुरतासे प्रतिष्ठापित होनेवाले अत्यन्तवृत्त वृत्तनामकी मुकुपर्विसे निकले हुए वृन्तोंसे
प्रारम्भ कार्यकी यथाऽप्रचरितपोंके मुख्य जगत्के आकाश वृन्तोंसे विचार्य पूर्ण हो हो गई ॥

भव्य—मोह । विचार्य पूर्ण हो गई यह क्या करते हो ।

किन्तुभी कम्पनी दुष्टों दुई प्रत्यक्षासे उलक दन कम्पनीसे बहुत समकसे हो गई मेरी
प्रतिज्ञासे साथ साथ अधिकार भी पूर्ण हो गया ॥ ४३ ॥

प्रतीहारी—(कम्पुकिं प्रति) आर्य, परम परम श्रौतृक्षम् । सीता-
रामाभ्यां मिलित्वा पुनर्हरिचापारोपणं समप्रीक्रियते । (भक्त, पेक्क पेक्क
केम्पुक्षम् । सीताएनेहि मिलिन्न उग हरिचापारोपणे समप्रीक्रियन्ति)

कम्पुकी—(सकौक्षम्) कथमिव । (विधुरन, विहस्य च) जां, छातम् ।

करकिस्सलयलीलाचारं चण्डीशचापे

वशास्यतनयेन स्वेरमाकुम्भमासे ।

रससरसविकासी सीतया पुङ्गितोऽसौ

कुवलयदक्षवामश्यामकाश्रितः कटाक्षः ॥ ४४ ॥

अनङ्गस्य, मतिज्ञः = साध्याऽभिधाधिक्या वाचा, 'साकमिति सहार्थकेन परैव
कीर्त्तये' 'सद्युक्तेऽप्यर्थाने' इति दृष्टीया । साकं = सह, मनोरथः = अभिकाशः, सीतो-
द्गृहसम्पादनरूप इति भावः । पूर्णः = पूरितः । सहोदिरकटाक्षः । अनुपपन्नसम् ॥

प्रतीहारीति । समप्रीक्रियते = सककीक्रियते, सीतारामाभ्यां मित्रोऽनङ्गकेनैव
अनुपासनेनैव हरिचापारोपणं पुनः समप्रीक्रियते इति भावः ।

करकिस्सलयेति । वशास्यतनयेन चण्डीशचापे करकिस्सलयलीलाचारं स्वेरम्
माकुम्भमासे (सति) सीतया रससरसविकासी कुवलयदक्षवामश्यामकाश्रितः अस्मै
कटाक्षः पुङ्गित इत्यन्वयः ।

रससरसवयतेन = वसरससुषुषा, रासेनैवयते । चण्डीशचापे = शिवचक्रुनि, कर-
किस्सलयलीलाचारं = करः (हस्तः) किस्सलयम् (पल्लवम्) इव, 'उपमितं स्यामा-
विभिः सामान्याऽप्यर्थाने' इति समासः । करकिस्सलयस्य लीला (विलासः), तया
वाप (मनोहरम्) यथा स्वात्मनेति विधायितेकम् । स्वेरं = द्रष्टुं यथा स्वात्-
या । माकुम्भमासे = माकुम्भमासे सति, 'यस्य च भावेन भावकणम्' इति
समुप्री । सीतया = वाचयन् । रससरसविकासी = रसेन (अनुपासे) सरसः
(भार्यः) एव च विकासी (पञ्चकः) । कुवलयदक्षवामश्यामकाश्रितः = कुवलय-

प्रतीहारी—(कम्पुकीते) आर्य । श्रौतृक्ष इति इति । सीता और राम मित्रं
कर दिवचक्रुने नारीपक्षे समथ कर रहे है ।

कम्पुकी—(कौपुके ताव) कैते ? (विवाहकर और हलकर श्री) हों, न्यायः
परकने साध हाथी कीलसे कुवलयपूर्वक इत्यादि अनुसार रामचन्द्रके शिवचक्रुने
सीतनेपर सीतावे अनुपासे आर्य और मनुष्य नीचकमनी एताने साध स्वायच्छि-
वावे करसली चतुर्मुखे योनिव किवा ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणः—भावन, अत्यदुभुतं वर्तते । नन्ययम्—

मिन्वन्निद्रां सुरारे, सकलभुजधृतां स्नानयन् शौर्यवर्षे,
किन्वन् दिक्कुम्भिकर्णाञ्जलचलनकलां, कम्पयन् कूर्मराजम् ।
कार्यरक्षाधाराभीरः प्रलयजलधरध्यानधिकारधीर-
राक्षसः कृष्यमाणत्रिपुरहरधनुर्मङ्गभूराविरसि ॥ ४३ ॥

शङ्कानां (श्रीकोटलवज्जाणाद्) दाम (साक्षा) तद्विष रक्षामिच्छन्ति । रक्षामकम्प-
विः, रक्षामा कस्तिर्यस्य सः) । असौ = पृथ, कदाचः = अथाप्युत्पन्नकथः, करः,
पुच्छिः = प्रकुर्वन्तेव योच्छिः, समग्रीकृत इति भावः । रामेन इत्यनुपपन्नायस्येव
भवे सति सीतया श्रीकोटलवदलपुतिः कदाचकम्प सः समग्रीकृत इति भावः ।
कम्पमाञ्जहारः । शक्तिनीधुचम् ॥ ४३ ॥

कम्पनो यदुदाहृतं वर्णयति—मिन्वन्निद्रां मिन्वन्, सकलभुज-
धृतां शौर्यवर्षं स्नानयन्, दिक्कुम्भिकर्णाञ्जलचलनकलां किन्वन्, कूर्मराजं कम्प-
यन्, कार्यरक्षाधाराभीरः प्रलयजलधरध्यानधिकारधीरः कृष्यमाणत्रिपुरहरधनुर्म-
ङ्गभूः राक्षसः नाविरस्तीत्यन्वयः । सुराश्रेः = विष्णोः, श्रीरक्षाधरमुत्तरेति भावः ।
निद्रा = शयनं, मिन्वन् = निवारयन्, सकलभुजधृतां = सकलवर्णां (समस्तानाम्)
भुजधृतां (बाहुसाक्षिणां, वीरशामिति भावः), शौर्यवर्षं = वीर्यवर्षं, स्नानयन् =
स्नानं कुर्वन्, दिक्कुम्भिकर्णाञ्जलचलनकलां = दिक्कुम्भितां (दिग्गजानाम्)
बाहि कर्णाञ्जलानि (श्रीजाञ्जलाः) तेषां चलनकलां (संचलनक्रियाम्),
किन्वन् = परिहरन्, पृथ च कूर्मराजं = कम्पयतां, पुष्पिण्याधारभूतमिति भावः ।
कम्पयन् = कम्पितं कुर्वन् । कार्यरक्षाधाराभीरः = कार्यस्य (पूज्यस्य, आदर्यमानो
भीरामवाङ्मयेति अर्थः) रक्षाधरा (धर्मसया) भीरः (सम्भीरः) । प्रलयजल-
धरध्यानधिकारधीरः = प्रलयजलधरस्य (कम्पाञ्जलेष्वस्य) यो धीरः (कम्पः)
सस्य विक्षारेण (विरस्कारेण) धीरः (सम्भीरः) । कृष्यमाणत्रिपुरहरधनुर्मङ्गभूः
कृष्यमाणं (कम्पमाणम्) यत् त्रिपुरहरधनुः (शिवकामुकम्) तस्य यो भङ्ग-
(मोहयन्) लभूः (लभुषः) । राक्षसः राक्षसः = राक्षः इत्यङ्गुलितकम्पः

कम्पनं—मननम् । अविश्रय नाशय हो रहा है । यह—

भयवान् विन्नुषीं निद्रासी शयन हुआ, सकल वीरोंके शौर्यवर्षको स्नान यभावा हुआ,
विष्णुवर्षके कर्णांशुके संचलनकला विरस्यो मितवत हुआ और कम्पयराजको कम्पित
करता हुआ नापंकी प्रकृतये गम्भीर, प्रकृतयेके शम्भुको भिन्नतर भर वीर, शक्ति वी
शिवधनुके दूरमेव उत्पन्न राक्षसव्य नाविभूत हो रहा है ॥ ४५ ॥

मतीहारी—

त्रैलोक्यं ब्रह्मपद्मं गिरिगभीरुगुहासुतजाप्रसिद्ध-

रुपातोष्मीलकण्ठस्तनितप्रतिरघोद्वगारपूर्यमाणं ।

ब्रह्माण्डे भज्यमाने बहुविकटकटकारप्राग्भारभीमो

ऽहो ! भज्यन्ब्रह्मन्दीर्घरघुपट्टणकार उद्वगच्छति ॥ ५६ ॥

(त्रैलोक्यं तद्ब्रह्मन्तो गिरिगहिरगुहासुतजगन्तसीह

प्राग्भारभीमलकण्ठस्तनितप्रतिरघुद्वगारपूरिज्यमाणं ।

ब्रह्माण्डे भज्यमानो बहुविकटकटकारपन्भारभीमो

अहो ! भज्यन्तब्रह्मन्दीर्घरघुपट्टणकारो उद्वगच्छे ॥)

शब्दः । आभिरस्ति = प्रभुर्भवति । अथ बहुहाङ्कार आक्रमणविभावः, तस्य विन्वा-
पकतोद्दीप्यविभावाः, तस्य कर्षणमनुभावाः, दुर्घाद्वपश्च व्यभिचारिभावाः, मिश्रणः
स्वादिभावाः । इत्थं च सामाजिकेभ्यः सुतरसो व्यज्यते । एतद्वराहपद्म ॥ ५५ ॥

त्रैलोक्यमिति । अहो ! त्रैलोक्यं ब्रह्मपद्मं गिरिगभीरुगुहासुतजाप्रसिद्धरुपातो-
ष्मीलकण्ठस्तनितप्रतिरघोद्वगारपूर्यमाणे ब्रह्माण्डे भज्यमाने बहुविकटकटकारप्राग्भार-
भीमो भज्यन्ब्रह्मन्दीर्घरघुपट्टणकार उद्वगच्छतीत्यन्वयः ।

अहो = आश्चर्यम् । त्रैलोक्यं = त्रिलोकीं, स्वर्गमर्त्यपातालकास्मिकामिति भावः ।
ब्रह्मपद्मं = भविकामम्, व्याप्नुयन्मिति भावः । गिरिगभीरुत्वादिः = गिरिगभीरु-
गुहासु (पर्वतगभीरुगुहोऽसु) प्राक् सुताः (निद्राणाः) परत्वात्जाग्रतः (जाग-
रुण्यार्थं प्राप्नुयन्तः) वे सिंहाः (सुगोत्राः) तेषां रघोर (भूरि) उन्मीलकण्ठ
(उन्मीलयन्ति) वापि कण्ठस्तनितानि (गच्छन्त्याः, गर्जनञ्जनय इति यावत्) तेषां
वे प्रतिरवाः (प्रतिस्पर्धयः) तेषामुद्गारेण (उद्गमेन) आर्प्यमाने (तस्माद्
सिञ्चमाने) । ब्रह्माण्डे = संसारे, भज्यमाने = आभज्यमाने सति, बहुविकटकटकार-
प्राग्भारभीमः = बहुविकट (अतिदुःखभयानकः) यः कटकारः (कटदिति शब्दः)
तस्य वा प्राग्भारः (विस्तारः), तेन भीमः (भयानकः) । भज्यन्ब्रह्मन्दीर्घरघुप-
ट्टणकारः = भज्यन् (भज् प्राप्नुयन्) भज्यन्ब्रह्मन्दीर्घरघुः (दीर्घकर्तृकम्) तस्य यः
उद्वगच्छति (उद्वगच्छति) सा, उद्वगच्छति = उद्वग् भवति । बहुविकटकटकारि-

मतीहारी—नाथयं है । त्रैलोक्यको व्याप्त करता हुआ, पर्वतकी गभीर गुहाओंमें
सीधत बसे हुए सिंहोंके प्रभुपूत कर्षण जघ्नोंकी प्रतिस्पर्धियोंके उद्गमसे भी हुए ब्रह्माण्डके
अन्य क्षेत्रोंपर अतिदुःख वयानक ब्रह्मण्डे विस्तारसे भज्यन्तः उद्देशके विषयमुक्त शब्द
मन्त्र ही रहा है ॥ ५६ ॥

कञ्जुकी—परय कोतुफम्—

श्रीहामम्मगुणाङ्गमौलिधनुषं स्त्रीतार्पितां वक्षसा

विभ्राणं कमलशयनं निमग्नहं शृङ्गारधीरभिषयोः ।

रामं श्रीवक्त्रशाव्याश्रितमुसं भूमीभुजां पश्यतां

श्वेतः श्लोचविषादविस्मयमुदासूर्मीः समाश्लिङ्गति ॥४७॥

(प्रविश्य)

कोकीं पश्येति, ततः मुखाः सिंहा आस्रति गर्वन्ति च' मन्त्राणं च समेत इवेति
साधः । कञ्जराक्षसम् ॥ ४६ ॥

श्रीहामम्मगुणाङ्गमौलिधनुषं स्त्रीतार्पितां कमलशयनं वक्षसा
विभ्राणं शृङ्गारधीरभिषयोः निमग्नहं श्रीवक्त्रशाव्याश्रितमुसं रामं पश्यतां भूमी-
भुजां श्वेतः श्लोचविषादविस्मयमुदासूर्मीः समाश्लिङ्गतीत्यन्वयः ।

श्रीहामम्मगुणाङ्गमौलिधनुषं = श्रीहमा (श्लोक्या, अनापासेनेति साधः)
मन्त्रम् (आमर्दितम्) गुणाङ्गमौलिः (चन्द्रसेखरस्य) धनुः (कामुकम्) वेन,
सम् । स्त्रीतार्पितां = ज्ञानकीर्त्यस्ताम् । कमलशयनं = परमाकां, वक्षसा = उरसा,
विभ्राणं शरीरवन्तं, शृङ्गारधीरभिषयोः = राखुसाहृथाविभागरसल्लस्योः निमग्नहं =
स्वसद्वनम्, आभारस्यानमिति साधः । पूर्वं च श्रीवक्त्रशाव्या = कञ्जराक्षसस्याव्या,
श्रीवक्त्रं श्रीवक्त्रः, शब्दे चम् । 'पुरोदय इह' इत्यप्रत्यये तु श्रीवक्त्रः । श्लोचविषादमुसम् =
अववतवदनं, तादृशं रामं = रामचन्द्रं, पश्यतां = निरीक्षयतां, भूमीभुजां = राज्ञां,
'कुविकारादपि' इति स्त्रीषि भूमीभुजम् । भूमीं मुक्षन्तीति भूमीभुजस्तेषाम् +
श्वेतः = चित्तं, कर्तुं । श्लोचविषादविस्मयमुदा = कोपकेवाऽभ्यर्च्यहर्षणां, तत्र चापा-
कर्मणे स्वसाक्षिप्रतिहतैः श्लोचः, स्त्रीतार्पितेनैराव्याश्रितम्, अनापासीवमस्य रामस्य-
कोकाऽतिशयाविशिष्टमर्दनाश्रितम्, श्लोचयोः स्त्रीतारामयोर्वैवाहिकसम्बन्धसम्मा-
वधानाद्युपपत्तिरित्यवयवं भावसाङ्ख्यं श्लोचम् । पूर्वं च तादृशां भावनायां, ऊर्मीः =
तत्रागम्, समुदास्रति साधः । समाश्लिङ्गति = सम्बन्धयति । रामपरममर्दनाश्रित-
चित्तं कोपकेवाऽभ्यर्च्यहर्षणं भवतीति भावः । तादृकचिन्तितं वृत्तम् ॥ ४७ ॥

कञ्जुकी—कोतुफ देविर—

जन्मायास इति शिवधनुषे शिवनेत्रादे, स्त्रीतार्पितां कमलशयनीं मायवी काशीं
धारण करनेश्वरे, शृङ्गारकर्म्यो भीरु धीरकर्म्यो के आभार स्नान भीरु कर्म्यासे भगोदुष्ट-
श्रीवैष्णवे रामको देखनेवाले राजाभोक्ता चित्त कोय, श्वेत, भावर्षं भीरु एवं इन मायवी
पश्यतांको आश्लिङ्गन कर रहा है ॥ ४७ ॥

(प्रवेक्ष्य)

प्रतापम्—राजर्षेः, विषीद वा प्रसीद वा, इयं यमाष्टमध्यायवर्षे ।

अथावस्थी कलिताङ्गुलीकिसलयैराकर्ण्यमाकर्षतो-

न अर्धङ्गुरतां गता रघुशिशोर्भग्नं धनुर्ध्वजे ।

माहङ्गुरतरङ्गितो ज्वगिरमृतं कण्ठेऽस्य दीर्घवज्र-

शङ्करस्तु अकार तारतरङ्गः शब्दाद्वितीयं जगत् ॥ ४८ ॥

असकः—कथं पुनरेतापतीमतिभूमिमवगाहमानोऽपि बल्लो रामभद्रो
भवता न निवारितः ।

प्रतापम् इति । विषीद = विषादमनुभव, धनुर्ध्वजवर्णमिति शेषः । प्रसीद
वा = प्रसन्नो भव वा, विरकाङ्गितयोग्यतामावृणोतीति शेषः ।

अथावस्थीमिति । कलिताङ्गुलीकिसलयैः अर्धङ्गुर आकर्ण्य आकर्षतो रघु-
शिशोः भूः अङ्गुरतां न गता । ध्वजे = धनुः भागम् । अस्य कण्ठे माहङ्गुरतरङ्गितो
ज्वगिः न जगत्, तु तारतरङ्गः अस्य दीर्घवज्रङ्कारो जगत्, शब्दाद्वितीयं अकार-
तत्त्वम् ।

कलिताङ्गुलीकिसलयैः = कोमलकरसापकलयैः, अथावस्थी = शौर्षकताम्,
आकर्ण्य = आकर्षणम्, आकर्षतो = गमयतो, रघुशिशोः = रघुकुलमात्मकस्य, राम-
स्तेष्वर्थः । भूः = मयनरोमराशिः, अङ्गुरतां = कुटिलतां, न गता = प्राप्ता । ध्व-
जे = ध्वजस्य, धनुः = काष्ठिकं, अर्ध = अर्धवृत्तम् । अस्य = रघुशिशोः, कण्ठे =
कण्ठे, माहङ्गुरतरङ्गितः = अभिमानतरङ्गितः, ज्वगिः = जगत्, न जगत् = संभ्रातः,
तु = परन्तु, तारतरङ्गः = वायुमन्त्रकण्ठः, अस्य = रामस्य, दीर्घवज्रङ्कारः = दीर्घ-
(अक्षरः) ध्वजः (कर्णिकस्य) शङ्करः (दमित्यनुकृतिकारः), अर्धङ्कः । अ-
स्य = कोमलं, शब्दाद्वितीयं = अर्धे (अक्षरी विभवे) अद्वितीयं (द्वितीयपरहितम्)
महुराजपरिपूर्णमिति भावः । अकार = कुतवान् । जगोपमाजङ्कारः । सार्धकलि-
श्रीतिष्ठं वृत्तम् ॥ ४८ ॥

अवध इति । प्रतापवीर्य = पुनश्चरितमात्रम्, अतिभूमिम् = अतिक्रमणकोटिम्,

कलापम्—राजर्षेः । आप विषण्ण हो या प्रसन्न हो, बैसा देखा है, बैसा वर्णन करता है ।

पङ्क्तौके सङ्गठनं सङ्गठनं कलिताङ्गुलीके कलाके सङ्गठनं प्रत्यक्षाद्ये कान्तक दीर्घवर्णके
राममात्म (राम) श्री यौग्यौ द्वितीय नदी इति, पर विषयानु द्वे वया । इत्ये कण्ठे
माहङ्गुरते शक्ति कण्ठ नदी इति, परन्तु वायुमन्त्र और अकार रामसे द्वे गमे ध्वजे
शङ्करते, कोमल शब्दमे अद्वितीय अर्ध दिवा ॥ ४८ ॥

असक—अस राममाहके पदा एक कनेको अकार दीर्घपर श्री भाषणे स्त्री विचारण
नहीं किया ।

शास्त्रानन्दः—कथञ्कारं वारयामः १

वायुस्वरतुल्यस्वच्छताश्चिरकरः शोणाम्बुजाकाशति

कौसल्यापितृमङ्गलप्रतिसरो षत्सस्य दोःकान्दः ।

किञ्चिच्चक्षुः, तावदेव हि दक्षज्वणीशस्यपोषकः

अथैकार्णवमग्नमेतदक्षितं जातं त्रिलोकीतकम् ॥ ४६ ॥

बभ्रुषाकर्मणमात्रस्य कर्तव्यत्वे सङ्गस्य व्यापारमिति भावः । अस्याहमात्मोऽपि = प्रविशन्मपि ।

मार्ग्याऽवसराऽभ्यां प्रतिपादयति—मायदिति । यावत् कम्पुकताम्बुऽक्षि-
कम्पु कोलाऽवसमाह्वऽऽकृतिः कौसल्याऽर्पितम्बुक्यसितसः वासस्य हो कम्पु-
किञ्चित् चक्षति, तावदेव पुनश्च भक्तिं प्रियोक्षितं कृतकम्पिज्ञापरोक्तम्बुम्बु-
मौसरां वासमित्यप्यथा ।

वाचत् = यस्मिन्समये, कम्बुकलाम्बुनाऽङ्घ्रितकरः = कम्बुकलाम्बुनेन (सेन्दु-
भिन्नेन) ङ्घ्रितः (पूजितः, विहित इति भावः) कवा (हस्ता) यस्य सः । सो-
नाऽम्बुनाऽङ्घ्रितः = सोनाऽम्बुस्य (रत्नकम्बुस्य) गलस्य (दन्तस्य) इव
आकृतिः (आकारः) यस्य सः । पुनः कौसल्याऽर्पितमङ्गलप्रतिसरः = कौसल्याया
(इक्ष्वाकुभक्षिण्या) ङ्घ्रितः (समर्पितः) मङ्गलप्रतिसरः (कम्बुकाञ्चनरहस्तसूत्र-
म्) यस्य सः । 'वा कम्बुसमये हस्तसूत्रे प्रतिसरोऽङ्घ्रिताम् ।' इत्यमरः । तादृशो
कम्बुस्य = वाचस्यमानवस्य, रामस्येति भावः । श्लोः कम्बुलः = बाहुदण्डः, 'भुजबाहु-
प्रवेष्टोदोऽस्मिन्मरः । किञ्चिद् = ईषत्, चञ्चति = चञ्चति, चतुराकर्षणाऽर्पमिति सेवा ।
सावदेव = तस्मिन्समये एव, एतत् = इदम्, अलिङ्गं = समस्तं, त्रिखण्डितकं =
त्रिकोणितपीतलं, दलम्बण्डीकचापोऽङ्गकम्बुस्यैवाऽर्पयमानं = कृत्स्नं (कटवत्)
बलम्बण्डीकचापं (हरधनुः) सस्मादुपलब्धम् (उद्गाह्यम्) यः कम्बुः (जम्बुः) स
एव पक्षः (जङ्घिणीयः) अर्णवः (समुद्रः), तस्मिन्मयं (विमलम्), ज्ञातं =
ज्ञायकम् । वाचद्वेषापाकर्षणाऽर्पं रामभुजदण्डं किञ्चिन्वितस्तस्मिन्नेव समये
धर्मस्तमेव जगत्तत्पदकरकातुर्द्वेयतशम्भ्याहं संवातमतो विचारनकादमे वाऽम्बा-

आवाज—हम कैसे रोके ?

अथ एक तैत्तिरीये ऋषिर्देवता वाका, रत्नकर्मण्यै रण्यक्ये सङ्गत्र भास्कारवाका नीर
श्रीसुखासे समर्पित मन्त्रक रत्नसूत्रसे सम्बन्ध वाता रायमन्त्रा वाङ्मरण्यं कृष्ण ही यथा.
यसी सयय समस्त वैद्योन्म, द्यूते ह्यम- शिवधनुते गह्वर अम्बरकम एक सङ्गत्र्ये कृष्ण ही
यथा ॥ ५६ ॥

जनकः—तद्वत् क्षत्रातिपातेन, वाच्यतामनुमतिर्नैव ततो विन्नामित्रस्य
जानकीरामभद्रयोः पाणिसङ्घटनाय ।

ज्ञातानम्—

सद्यो विबहुमानेन धनुषैव पिनाकिना ।

ननु सङ्घटितौ पाणी जानकीरामभद्रयोः ॥ ३० ॥

तदूर्ध्वलालवमणयोरेव पाणिसङ्घटनाय भगवानभ्यर्चनीयः ।

विन्नामित्रः—अस्त्वेतत्, परन्तु—

पाणीक्ष्णककम्प्यानां पीडयद्भिः सहानुजैः ।

वित इति मायः । अत्र क्त्वाऽतिप्रयोक्तिरुद्धारः, सोदाहरणं सकलकर्म यदा
कालादोक्ते—‘अक्त्वाऽतिप्रयोक्तिः स्वात्मगतकार्यकारणे आतिवृत्तिः सर्वं द्वेष्ट । अत्र
अत्रापि परम ते ॥’ इति सादृक्त्विकीकृतं वृत्तम् ॥ ४९ ॥

जनक इति : काकऽतिपातेन = समप्रपातेन । अनुमतिः = अनुज्ञा ।

एव इति । सद्यो विबहुमानेन पिनाकिनो धनुषा एव जानकीरामभद्रयोः
पाणी संघटितौ ननु इत्यन्वयः । सद्यः = संपदि, विबहुमानेन = विरिष्मता, कोदने-
नेति शेषः । ‘सम्पद् संघट्टमानेने’ति पुस्तकान्तरपाठस्य सम्पद् = समीचीनं यदा
स्वात्मा, संघट्टमानेन = संरिष्मता, रामकलेन सममिति शेषः । पिनाकिना =
हस्तैः, धनुषैव = कातु‘केनैव, जानकीरामभद्रयोः = सीतारामकस्योः, पाणी =
हस्तौ, संघटितौ = संरिक्तौ, ननु = एव, ‘अत्राज्यधारणांशुशान्मुनयाऽमन्त्रने
ननु ।’ इत्यमरः । अत्र विबहुमानेन कथं संघट्टिताविति विरोधस्तत्परिहारस्तु विब-
हुमानेन हरबनुषा, जनकस्य प्रतिज्ञापूर्वः सीतारामयोः पाणी संघट्टिताविति । अतः
एव विरोधाभासाच्छङ्काः । अनुपदुःखम् ॥ ५० ॥

पाणीनिष्ठि । अक्षकम्प्यानां पाणीन् पीडयद्भिः धनुजैः सह मे रामभद्रः सीतायाः
पाणिपीडनम् इच्छतीत्यन्वयः ।

जनक—इस अरण्य में समस्त विनाशकारी अश्वत्थकटा मर्दों हैं । सीता और रामके
पाणिग्रहणके लिए विनाशिवानुमतिकी अनुमति मागिए ।

सत्समम्—वाच्य विवदित होनेवाले फिरनुने ही सीता और रामके हाथोंकी
संपदित कर दिया ॥ ५० ॥

इसकिम क्रमिका और स्वयंके ही पाणिग्रहण करनेके लिए मयवाग्ले अन्वर्त्ता
करनी पाविए ।

विशमित्र—यह हो, परन्तु—

मेरे रामभद्र, जनककी मन्त्र कथाओंसे पारकीने विवाहके साथ सीताके पाणिग्रहणके

सीताया रामसद्वी मे पाणिपीडनमिच्छति ॥ ४६ ॥

जनकः—(सहर्षम्) कथं माण्डवी-भुतकीर्तिभ्यां भरत-राजपुत्रयोरपि परिणयमनुसन्धत्ते भगवान् ?

विष्णुमित्रः—अथ किम् ?

जनकः—तद्गृहीतमिदमभिरोक्षरमाकाङ्क्षन्तुमं भगवतः । सपाम्पश्यत् । समीहितं निष्पादयामः ।

(हति निष्पन्नतां सर्वे ।)

इति तृतीयोऽङ्कः ।

—

अमरकल्पानां = अमरकल्पमारीणां, ऊर्मिकाञ्जरीनामिति भावः । राक्षस-
कराः, दीवयन्ति = संश्लिष्यन्ति, अनुजैः = अश्वैः, लक्ष्मणादिभिरिति भावः ।
सह = समं, मे = मन, रामय्यः = रामवत्सः, सीतायाः = मैथिल्या, पाणिपीडनं =
हस्तसंहारम्, इच्छति = वाञ्छति । रामो आपुभिः सममेव स्वविचारं कामयत
इति भावः । अनुदुःखम् ॥ ५१ ॥

जनक इति । अनुसन्धत्ते = अन्विष्यति । आकाङ्क्षन्तुम् = अनुजापुष्पम् । अभि-
रोक्षरं = शिरोभूषणे, विमलस्वर्णैः अयसीभासः समीहितम् = अभीष्टम् ।

इति श्रीशेखराक्षरमैत्रीलायां धनुराक्षरभिरुपायां मधुकराक्षर-
व्याख्यायां तृतीयोऽङ्कः ।

—

अङ्कादङ्कं करते हैं ॥ ५२ ॥

जनक—(सहर्षम्) भगवान्, क्या माण्डवी और भुतकीर्ति के राजा भरत और
लक्ष्मणा भी विवाह कराना चाहते हैं ?

विष्णुमित्र—और क्या ?

जनक—उन भगवान्का आकाङ्क्षा शिरोभूषणमें प्रवेश कर दिया । अतः माण्डवी
आभीष्टार्थको निष्पन्न करें ।

(सब बाहर जाते हैं ।)

इति तृतीय अङ्कः ।

—

चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये ध्रुवा गीत्यते)

मणिमयमङ्गलवीपो जनकनरेन्द्रस्य मण्डपे भवति ।

चण्डागिलोऽपि प्राप्तो यस्मिन् विफलात्मनो भवति ॥ ६ ॥

(मणिमयमङ्गलवीपो जनकनरेन्द्रस्य मण्डपे भवति ।

चण्डागिलो वि पतो यस्मिन् विफलमनो होइ ॥)

(पुनर्नेपथ्ये)

अरे अग्निपाः, अपसरत स्तोचनपथान् । नन्वयम्—

कुर्वन् कोपादुष्यन्नविकिरणसटत्पाटस्तैर्द्विपातै-

रद्यापि क्षणकचट्युत्तरुधिरसरितिलक्ष्मणं कुठारम् ।

नेपथ्य इति । ध्रुवा = गीतिविशेषः, तत्कालमुक्तं राजसोखेन—

‘मयमिति पात्रविशेषात्मकामाजिकजनमनांसि रञ्जयति ।

चण्डागिलोऽपि च स्ताम्भादयविधाने ध्रुवा गीतिः ॥’ इति ।

मणिमयेति । जनकनरेन्द्रस्य मण्डपे मणिमयमङ्गलवीपो भवति, यस्मिन् प्राप्तः चण्डागिलोऽपि विफलाऽग्रतो भवतीत्यन्वयः । जनकनरेन्द्रस्य = जनकनरे-
ण्डस्य, मण्डपे = हौसे, मणिमयमङ्गलवीपः = रत्ननिर्मितमामूलिकप्रतीकः, उदकसि-
दीप्यते । यस्मिन् = मणिमयमङ्गलवीपे, प्राप्तः = समायातः, चण्डागिलोऽपि =
प्रचलनादुत्ति, विफलाग्रतः = निष्फलप्रसवः, मणिमयवीपनिर्वाप्य इति शेषः ।
भवति = वर्तते । अथ मणिमयमङ्गलवीपत्वेन तस्य चण्डागिलत्वेन परस्परामस्य
मङ्गलत्वं भवत्येव च तस्य सार्वावस्थं दुष्प्रदायादाऽग्रतोऽपि वैफल्यं च भवत्येव ।
आथा (भार्या) वाति ॥ १ ॥

नामद्वयं वर्तयति—कुर्वन्ति । कोपादुष्यन्नविकिरणसटत्पाटस्तैः इतिपातैः

(नेपथ्ये ध्रुवा गीति गार्ह्ये वाती ॥)

अहाराज जनकनरेन्द्रादयै रत्ननिर्मित माहकिकदीप जगता है, जिसमें चण्डोई
मयम द्वा मी (वीर प्रवाचेन) निष्कल हो जाती है ॥ २ ॥

(फिर नेपथ्यमें)

अरे अग्निवो । नेपथ्यमिति इदं वाच्ये । ने—

श्रीमते अटकी नार्ह्ये वाती ॥ विकिरणोत्ते समान काक इतिपातोते वाज मी कुठार
की क्षणिकमूर्ति स्तुत रत्नमयीवी पारते मणिरिक करते हुए फिर मी कोकोपमयी

तयैर्भिः प्रसासपातैः पुनरपि भुवनोत्पातमासूचयद्भिः

मर्जन्मौर्वीकश्चापस्त्रिभुवनविजयो ज्ञानदम्भः समेति ॥२॥

(सत्यं प्रविशति आसद्यन्तः)

प्रामाण्यम्—(सादीर्घं परिक्रम्य) अहो ! वृद्धता जनकस्य ! यत्पुं
 मृत्पापारोपणेन कन्धस्थानं प्रतिजानीते । (परमुं विलोक्य)

सकलनृपकटोरकचटपीटीबहसगल्लधिरौघयौतसाव ।

अथऽपि कृतारं चक्रकण्ठमुत्तमविरसतिस्विकारं कुर्वन् पुनरपि भुवनोत्पातम्
अभ्युत्थयतिः सीतैः निम्नवासपातैः गर्भग्रीवैश्चक्षपाः त्रिभुवनविजयी कामदुग्ध-
समेतीत्यन्वयः ।

कोपाय=कोपाय, उपाय=विचित्रमसदापाठकै=उपायः (उपायः) रविचित्रः
(उपायः) सदा= (उपायः) इव, मोक्षविचित्रमसदा विचित्रमसदा विचित्रमसदा (उपायः)
उपायविचित्रमसदा इव पाठकाः (उपायः), तेः । तदासौद्विपाते=नवनमिचित्रैः,
नद्यापि=अमुनापि, कुतश्च=पुनश्च, उपायविचित्रमसदा विचित्रमसदा=उपायः
(उपायः) कथंयः (उपायः) अमुना (विचित्रः) वा कथिरसति (उपायः)
नदी) तथा सिद्धा (उपायः) वादा (उपायः) वसिष्ठस्य । कुतश्च=विचित्रः
मुच्यते=अमुनापि, अमुनापि=कोकोपदम्, पादुचयति=प्रकाशयति,
सीमा=उपायः, निचित्रमसदा=निचित्रमसदा, उपायविचित्र इति शेषः ।
अमुनापि इति उपायः । गर्जामौर्विचित्रः=गर्जामौर्विचित्रः (उपायः) वास्तव्यः
इति शेषः) मौर्वि (उपायः) वसिष्ठस्य गर्जामौर्विचित्रः, नद्युतयति समसाज्ज्या
वपुः । गर्जामौर्विचित्रः वापः (उपायः) पदम् उपायः वा विमुचयति वपुः=कोकोपदम्
विचित्रः, तादृशो वास्तव्यः=पदुपायः, समेति=समुत्समागच्छति । वापः कुतः
विचित्र इव पदाज्ज्यावतीवमानोपेवाज्ज्याः । उपायविचित्रम् ॥ २ ॥

नामदम्भ इति । सत्योप-सगर्भं यथा स्यात्तथा । अस्ति जानीते-अस्ति जानीतेति ।

सकलेति । सकलानुपपत्तोरप्यधीती बद्धलगाकानुधिरौघभौतभारोः सप्तबन्धिनः

सूचित करनेवाले तीन मिथ्यासंप्रदायोंसे उपकथित, गर्वन करती हुई प्रत्यक्षापने बलबोले विवेकाएँ, विमोक्षविधेय प्रत्यक्षापनी सामने आ रहे हैं । २६

(तब परशुराम प्रवेश करे हैं ।)

मानसूचक—(अर्धपूर्वक भूतकर) नहीं। कमजोरी पैदा दिखाई है। जो नि. य. विन. पत्रों पर उद्योगों के सम्बन्धान्तरों की प्रतिक्रिया करते हैं। (परामर्शों के कर)।

सकल राजानोंके हज़ोर कठलानोंसे वर्षाक सिरे ■ वनिरसमूहसे मिलनी भाव

तद्विद्मज्जनकं जगद्विधत्ते परशुरथं जगदग्निमन्त्रस्य ॥ ३ ॥

(विमृश्य)

अवित्रोऽर्जुनमुजविपिने, ज्वलितस्तुत्रेषु नृपतिर्वंशेषु ।

निमिक्तुककमलकलापं कोपयन्त । किं पुनः स्पृशसि ॥३॥

(पुनर्विचिन्त्य) अजगदग्निमन्त्रोपेक्षया । मनोरथोपनीतजामाष्टमुजकला-

मस्य अर्थ परशुः तत् इत्थं जगत् जगन्नकं विधत्त इत्यन्वयः ।

सकलेशादिः = सकलः (समग्रः) दे मृपाः (राजानः) तेषां करोराः (कति-
चाः) याः कन्धीषः (शक्त्यानां) साम्यो बहून् (बहु यथा स्वात्तया)
गच्छन् (अयम्) यो अवित्रीषः (रक्तसमुद्रः) तेन भीता (प्रकाशिता) भूता
(जगन्नागाः) यस्य सः । जगदग्निमन्त्रस्य = जगदग्निमन्त्रस्य, परशुरामस्येवार्थः,
ममेति शेषः । अर्थ = निकटवर्ती, परशु = परश्वक्त्रः, तत् = मसिद्धम्, इवम् = एतत्
अयम् = कोकम्, अजगद = जनकराज्यं, विधत्ते = विधास्यति, 'कर्तमानसामीप्ये
कर्तमानवद्वा' इति कट् । पुनितान्नाष्टयम् ॥ ३ ॥

विमृश्य = भावयित्वा ।

अवित्र इति । हे कोपाश्वक । अर्जुनमुजविपिने उचितः, तुत्रेषु नृपतिर्वंशेषु
ज्वलितः पुनः किं निमिक्तुककमलकलापं स्पृशसीत्यन्वयः ।

हे कोपाश्वक = हे कोपाश्वके, माममेति शेषः । अर्जुनमुजविपिने = कार्तवीर्यबाहु-
वने, उचितः = उत्तमः, जगत्तरे तुत्रेषु = उत्तरेषु, नृपतिर्वंशेषु = अवित्रनरेभ्यः,
अथवा नृपतया (अवित्रनरेभ्यः) एव वंशः (वंशः), तेषु । ज्वलितः = प्रज्वा-
लितः, स्पृशसि शेषः । पुनः = पुनः, किं = किमर्थं, निमिक्तुककमलकलापं = निमि-
क्तुकम् (निमिक्तुपत्रं) एव कलकलापः (पद्मसमुद्रः) तम् । स्पृशसि = आशु-
शसि, दाहाऽर्थमिति शेषः । विपिने प्रातोद्यमस्य वंशेषु प्रज्वलितस्य तत्र मल्को-
राग्नेः दाहार्थं निमिक्तुककमलकलापं स्पृशसि इति भावः । अत्र कृपाकलङ्कारः ।
आर्था कति ॥ ३ ॥

पुनरिति । अस्मिन् = निमिक्तुके, उपेक्षया = अथदेकया । अर्थ = जनकः, मनो-

वीरं त्वं हे, परशुरामका वंश परशु मसिद्ध इति भीकरी मन्त्रेण त्वं देवा ॥ ३ ॥

(विचार कर)

हे वंश कोपाश्वक । हे कार्तवीर्यके बाहुवने उत्तम इत्या और जगत् राजवंशोंमें प्रज्वा-
लित हुआ, तब फिर वही कोपाश्वक कलकलापके समान निमिक्तुककी स्पर्श करता है ॥ ३ ॥

(फिर विचार कर) हमने क्या कहा नहीं करने चाहिए । वह निमिक्तुके अश्वीश

नक्षेत्रपुल्लितः स्वस्वयम् । तवादि-सन्दिग्धमनेनास्मत्परशोः—(त्वं भिक्षु
२१९५ ॥ पश्यति) अहो अस्य दुरवलेपः ।

यस्योद्यमोदधाराऽश्रकदक्षितगलदुष्टादुष्टादुष्टादुष्टा-

प्रोद्गच्छत्तद्वारनिबद्धितनयोन्मीलवर्कौद्युजाकः ।

यमापाकः कार्यधीर्यः दुरपुरसुहृता पुष्पिताशोकशाकि-

आमि दत्वापि चित्ते निजपुरसुहृता शोकशाकी बभूव ॥२॥

नक्षेत्रपुल्लितवासात्पुन्यवकाऽवकेपुल्लितः = मनोरक्षेपवर्तितः (इच्छामाधितः) चो
यमापा (बुद्धिपुत्रितः), भाविनी किवास्तान्निषेध प्रयोगः, राम इति भावः) सत्य
पदपुन्यवकं (बाहुसक्तिः) यस्य अयकेपेन (गर्वेण) पुल्लितः (पुर्विनीतः) ।
अस्य = अयकस्य, दुरवलेपः = दुष्टो गर्वः, पुल्लेजकेपो दुरवलेपः, 'पुष्पिताशोक' इति
इति समासः ।

यस्योद्यमिति । अस्य उद्यमोदधाराऽश्रकदक्षितगलदुष्टादुष्टादुष्टादुष्टाप्रोद्गच्छत्तद्वार-
निबद्धितनयोन्मीलवर्कौद्युजाकः यमापाकः कार्यधीर्यः दुरपुरसुहृता चित्ते
पुष्पिताशोकशाकिआमि दत्वा अपि निजपुरसुहृता शोकशाकी बभूव इत्यम्वयः ।

यस्य = यस्य परशो, उद्यमिद्वारिः = उद्यम (प्रोद्गच्छत्) पद धोरधारान्तरं
(अयकद्वाराऽश्रकदक्षितगलदुष्टादुष्टादुष्टादुष्टा) तेन दक्षितं (चित्तम्) अत एव गच्छत् (पश्यत्) बह्वारु-
सात्तासदृशं (पुन्यवकपदसदृशं) ततः प्रोद्गच्छत् (प्रोद्गच्छत्) चो रक्षवासाधितः
(अक्षिरसन्ततिसमूहः) तेन चित्तम् (अन्तिभूतम्) नयोन्मीलकः (नृत्योद्य-
मानस्य) अर्कस्य (सूर्यस्य) वंद्युजाकं (किरणसमूहः) येन सः । ततः यमा-
पाकः = यमापाकः, कार्यधीर्यः = अर्जुनः, दुरपुरसुहृता = स्वर्गसुहृता, चित्ते =
चित्ति, पुष्पिताशोकशाकिआमि = पुष्पितास्य (सतरावकुसुमस्य, प्रकुलस्येति
भावः) अशोकशाकिनः (अम्बुकुलस्यः) आमि (असम्), दत्वापि = दित्ति-
धीर्यः, पुन्यवकादुष्टादुष्टादुष्टादुष्टा रक्षवासाधितवापुष्पितव्यमिति भावः । निजपुर-

यमापाके गच्छत्ते नक्षेत्रपुल्लित हो रहा है । कैसा कि इसने हमारे परशुको सम्बोध
मेवा है—'त्वं भिक्षु २१९५' इत्यादि फिर पढ़ते हैं । अहो । इसका कैसा दुष्ट गर्व है ।
चित्त मेरे परशुको प्रकट अयकद्वारा नीचे चित्त हीकर पिरते हुए आकाशद्वारा हमारे बाहुले
अस्य रक्षकद्वारे नये उद्यम हुए पूर्वके किरणसमूहको लीचनेवाला रामा कार्यधीर्य,
स्वर्गकी सुन्दरियोंके चित्तमे पुष्पित अशोककुलकी आमिलकी देकर भी अपने अहर्षको
सम्बोधियोंके फिर शोकद्वारे गका ॥ ५ ॥

अथ च—

वेनावप्यत नर्मदाभुजिषहः संख्ये च कङ्क्रेपर-

रुक्मस्मिभिरमज्ज्यर्जुनमुज्ज्वलीयहो मण्डलम् ।

कङ्कलीनयनामुपूरमिवतः खेकन्ति यत्कीर्तय-

स्तत्प्रादुर्भास्युर्ममाद्यभुजा यन्नाडकं मुञ्जति ॥ ३ ॥

मुञ्जति = स्वनगरमुन्मरीनां, सोकमाली = सोकमण्डितरी, यन्मू = संख्या । अत्र
विरोधाभासाऽप्यङ्करो न्यङ्कः । अङ्करोऽप्यङ्कः ३ ५ ॥

वेनाऽवप्यतेति । वेन नर्मदाभुजिषहः संख्ये कङ्क्रेपरस्य अवप्यत । अर्जुनमुज्ज-
्वलीयहो तद् मण्डलं वसिष्ठ निरमज्जत् । यत्कीर्तयः कङ्कलीनयनामुपूरमिवतः
खेकन्ति । तद् प्रादुर्भास्यं मम परशुः अथवा चाराखले मुञ्जतीत्यन्वयः ।

वेन = अर्जुनमुज्जमण्डलेन, नर्मदाभुजिषहः = रेशाजकप्रवाहः, वेना = नर्मदा
सोमोदवा मेककम्वधः ।' हृत्पमरः । संख्ये = संग्रामे, कङ्क्रेपरस्य = राक्षस-
जन्मवतः = बहः । पुरा नर्मदादीरे लक्ष्याभिः समं क्रियतो दक्षकम्परस्य सङ्क-
वाहुतः कर्तवीर्येण नर्मदाजलप्रवाहो निरुद्धः, ततः कोपात्कम्पेन दक्षामवेन साकं
सङ्कमुज्जस्य संग्रामो जाता, परवात्कर्तवीर्येण राक्षसस्य बह इति वीराणिकी कथाऽ-
त्राभ्युत्पन्ने वा । अर्जुनमुज्ज्वलीयहो = कर्तवीर्यबाहुतासिनी, तद् = नर्मदाजलप्रवा-
हस्य राक्षसस्य च विरोधके, मण्डलं = समूहः, वसिष्ठ = मम परशु, निरमज्जत् =
निर्मज्जनं कृतवात्, जलमगाविति भावः । यत्कीर्तयः = यद्य (अपरशुः) कीर्तय
(यतासि), कङ्कलीनयनामुपूरमिवतः = कङ्कलीनां (अनिपटकमानाम्) नय-
नाभ्युत्पन्नस्य (अभुजकप्रवाहस्य) मिवतः (वृद्धात्), अत्र 'अपादाने चाग्नीय-
स्यो' इति अपादाने तसि । खेकन्ति = खिद्यन्ति, तद् = प्रसिद्धं प्रादुर्भास्यं = प्रादुर्भा-
स्यं नर्मदाजलप्रवाहस्य राक्षसस्य बाहकोऽर्जुनमुज्जमण्डलस्य विनासकः कङ्कलीनयन-
जलमसारकरचेति भावः । कर्त = पुरीवर्ती, सम = आमदम्यस्य, परशु = कुट्टना,
अथवा = सम्यसि, चाराखले = चारा (तीक्ष्णाऽग्रमणिः) पूव बलम् (वीर्यम्),
मुञ्जति = त्यजति मज्जति । मुञ्जति मुञ्जान् मज्जन्तं इति भावः । चार्तुर्कवि-
कीर्तितं दृश्यम् ॥ ३ ॥

वीर की—विश्वे नर्मदाके जलप्रवाहो वीर संग्राममें राक्षसको मी बह कर दिया,
कर्तवीर्यके दृष्ट सङ्क बाहुतांका वेना समूह भी निप (मेरे परशुमें) दृष्ट मया । निपको
कीर्तय वसिष्ठ निपको अमुप्रवाहके बहानेसे खेकती है, प्रसिद्ध वेना यह मेरा परशु
अथी नोके पानीको मज्जित करता है ॥ ३ ॥

(विनोद) कथमयं शतानन्दशिष्यस्तावद्व्यायनः ।

(प्रविश्य)

तावद्व्यायनः—भगवन्, अभिवादन्ये ।

आमदम्भ्यः—आयुष्मान् भूयाः । कथय तावत् । अपि नाम मण्डु-
प्यायययजमानस्य निवृत्ता हरिपापारोपणमद्या ।

तावद्व्यायनः—निवृत्ता ।

आमदम्भ्यः—(सहर्षम्) निवृत्ता ?

तावद्व्यायनः—भगवन्, निवृत्ता सहैव चापेन ।

आमदम्भ्यः—(सत्प्रभम्) किमास्य, सहैव चापेन निवृत्तेति ।

तावद्व्यायनः—अथ किम् ।

आमदम्भ्यः—स्फुटं कथय तावत् किं वृत्तमिति ?

तावद्व्यायनः—कस्यचिद्—

अक्षण्डचण्डिमोदण्डभुजदण्डनिपीडितम् ।

भगवन् ! भृगुमार्तण्ड ! भग्नं भग्नशरासनम् ॥ ७ ॥

आमदम्भ्य इति । शीवि = प्रत्यक्षोक्त्ये विपातः । विवृत्ता = अपमता ।

भृगुमर्तं योतयति—अज्ञप्तेति । भगवन् । भृगुमार्तण्ड ॥ अक्षण्डचण्डिमोदण्ड-
भुजदण्डनिपीडितं भग्नशरासनं भग्नमित्यन्वयः ।

भगवन् = पदविधैरव्ययसम्भक्त, भृगुमार्तण्ड = भृगुवंशसूनुं, अक्षण्डचण्डिमोद-

(देखकर) केते यह अतानन्दका शिष्य तावद्व्यायन ना क्या ।

(प्रवेश कर)

तावद्व्यायन—भगवन् ! अभिवादन करता हूँ ।

आमदम्भ्य—विरजीव हो । यह वतकाजी । तुम्हारे मुखीके सबतालीके विषयसे
आदीपणकी मन्त्रा मिट गई है क्या ।

तावद्व्यायन—मिट गई ।

आमदम्भ्य—(हँसते साथ) क्या मिट गई ।

तावद्व्यायन—भगवन् ! बहुतों साथ ही मिट गई ।

आमदम्भ्य—(चक्रीके साथ) क्या क्यूँ हो ? बहुतों साथ ही मिट गई ।

तावद्व्यायन—नोट क्या ।

आमदम्भ्य—साथ नहीं, क्या ही गया ।

तावद्व्यायन—किरीके

अथवन् । भृगुवंशसूनुं । पूर्वं चण्डकसे अक्षत भृगुदण्डके विरोधित कीकर विषयसे
हूँ क्या ॥ ७ ॥

आमद्वयः—(एकोनम्) कस्य ?

ताम्ब्यायनः—

सुबाहुमारीचपुरस्तरा अमी

निष्ठाचराः कौशिकयज्ञभातिनः ।

करो स्थिता यस्य

आमद्वयः—कलम्, अतः परं ज्ञातः सखु सखानामग्रणीनिष्ठाचर-
भागिनीः ।

ताम्ब्यायनः—(एकताम्) कथं द्वाकठेन अनुभूतमिति प्रतीतं
संगता ? भवतु तावत् ।

अमद्वयविधीकृतम् = अमद्वयः (पूर्णः) वामनिष्ठा (पञ्चदशम्) सैनोद्वयः
(उद्वतः) को सुकदम्बः (बाहुदम्बः) तेन निवीकृतम् (जातम्) । 'समर्थं
सकलं पूर्णममद्वयं स्वाद्वयमके' इत्यमरः । अर्गोद्वयस्य = अर्गस्य (द्वाकठं) द्वाकठं
(चापः), अर्गं = समिधम् । अनुभूतम् ॥ ७ ॥

आमद्वय इति । कस्य = पुत्रस्य, भुवद्वयेनेति वीचः । अनुभूतं सूचयति—
सुबाहुमारीचपुरस्तरा अमी निष्ठाचरा यस्य करो
स्थिताः, अर्गोद्वयस्य प्रथममयमद्वयः ।

कौशिकयज्ञभातिनः = विरामिप्रमसम्भस्यकीकाः, सुबाहुमारीचपुर-सतरा =
सुबाहुमारीचपुरसतरा, सुबाहुमारीचपुरसतरा इति भावः । अमी = पुरातनकाक-
वर्तिनः, निष्ठाचराः = राक्षसाः, यस्य = ताम्ब्यायनविषयया रामस्य, परशुराम-
पुत्रो नु—राजपत्येत्सर्गः । करो = भावीन्ये, स्थिताः = संवृताः, इत्यर्गोद्वयस्यः ।

आमद्वय इति । अर्गं = पूर्णम्, अतः परं कथयस्याऽऽपश्यकया नाजसीति
भावः । कलम् = दुर्जनानाम् । अग्रणी = अग्रगण्य इत्यर्थः । अर्गं भवतीति,

आमद्वयः—(दोषपूर्णः) कितने ?

ताम्ब्यायनः—

विरामिप्रमसम्भस्यकीकाः सुबाहुमारीचपुर-सतरा अमी निष्ठाचरा यस्य करो
स्थिताः इति ॥ ७ ॥

आमद्वयः—नत करो, एतके नवन्दर नाम किना कि नद दुर्जनोक्त आमद्वय
राक्षसाभीर राक्षस होता ।

ताम्ब्यायनः—(मन ही मन) राक्षसे नु हीन विचः किस प्रकार मगनापने पेश
समय किना ? नन्दा ।

जामदग्न्यः—(जलौघम्) अथमिदानीम् ।

सृपशतमुकुमारकण्ठनालीकदनककाकुसलो मे परवधो मे ।

वक्षवदनकठोरकण्ठपीडिकदनविदग्धतां वधातु ॥ ३ ॥

(विधुरम्) अथवा—

यः कर्ताऽर्जुनभूषणः सुमुतमुजासासासहस्रभिर्द्वौ

दम्भोलेनिगिरिकूटपाटनपटोः शौण्डीर्वतो लज्जते ।

‘सत्यद्विषे’त्यादिना द्विष, ‘अग्रामाभ्यां वसतेर्णो वाच्य’ इति गत्यर्थः । निष्ठावह-
ग्रामणीः = राज साध्विपः, राजन् इति भावः । ‘ग्रामणीर्नोपिसे पुंसि द्विषु मेहेऽपिसे
द्विषु ।’ इत्यमरः । तापक्यायम् इति । प्रतीतं = ज्ञातम् ।

सृपशतेति । सृपशतमुकुमारकण्ठनालीकदनककाकुसलो मे परवधो वक्षवदन-
कठोरकण्ठपीडिकदनविदग्धतां वधातिरथम्वयः ।

सृपशतमुकुमारकण्ठनालीकदनककाकुसलम् = सृपशतस्य (राजशतस्य, बहुधा
राजानिति भावः) मुकुमाराः (कोमलाः) याः कण्ठनास्यः (कण्ठमोरमेवात् गण-
नास्यः) तासां कदने (मारणे) या कका (मिथुणता) तस्यां कुसलम् (पट्टम्) ।
मे = मम, परवधः = कुठारः । वक्षवदनकठोरकण्ठपीडिकदनविदग्धतां = वक्षवदनस्य
(राजवदनस्य) कठोराः (वृक्षाः) याः कण्ठपीड्याः (यत्नमदेकाः) तासां कदने (वृक्षे)
विदग्धतां (प्रदीप्यताम्) वधातु = धारयतु । पुनिष्ठामाह्वयम् ॥ ५ ॥

पुनः स्वपरहं रक्षामते—यः कर्तेति । अर्जुनभूषणः सुमुतमुजासासासहस्रभिर्द्वौ
कर्ता यो गिरिकूटपाटनपटोः दम्भोलेः शौण्डीर्वतो लज्जते । परेतमानसदनद्वारा तस्य
पुत्रस्य मे कुठारस्य वक्षकण्ठकण्ठककुलोकाण्डाऽऽवशीत्यग्नये का रक्षावेत्यम्वयः ।

अर्जुनभूषणः सुमुतमुजासासासहस्रभिर्द्वौ = अर्जुनः (कर्तृशीर्षः) सप्त
भूषणः (वृक्षः) तस्याऽर्जुनता (आभरणकया) भुजाः (बाहवः) एव साक्षाः
(विरपाः) तासां लक्ष्यं (वक्षसती) तस्य द्विषा (वेदनम्) ‘कर्तेति वक्षस-
पदेन बोधाय’ न कोकाऽप्ययविद्वज्जलार्थभूनाम्’ इति कर्मणि षष्ठी च । ‘अथो भुजा ।
द्वयोर्बाही करे’ इति मेदिनी कोसाक्षीलिङ्गयणि भुजासप्तः प्रामाणिकः । कर्ता-विधा-

जामदग्न्यः—(कोरके लाभ) पर भवी—

सैक्यो राजाभीक्षो मुकुमार (मुकारम्) कण्ठनालियोंको विनष्ट करनेकी सकासे
विपुल मेरा परहू राजनके कठोर कण्ठोंके छेदनमें विपुलताकी धारण करे ॥ ५ ॥

(विचार कर) अथवा—

कर्तृशीर्षक वृक्षों मरुतुत गज्जक हजारों साक्षाभीक्षो कटयेनाम् यो (परहू)

तस्यैतस्य परेतदाजसकृन्नाः कुठारस्य मे

का श्लाघा दशकपञ्चकठकदशोकाष्टापञ्चोक्त्यादि १ [१०]

(पूर्वविधिन्य) तथाप्यनुचितमुवास्तिमुमेतस्मिन् कृताग्रसि रक्षसि ।
तद्विदानी

वृत्तिपस्याभ्युपेक्ष्यै कृत्वा कोट्युपमं हसम् ।

महापञ्चम्या वृद्धो लङ्कातङ्काय आथकाम् ॥ १३ ॥

वा, व=अम कुटारा, गिरिकूटपादपयो=गिरिकूटस्य (पर्वतसमुद्गतस्य) पादमे (विश्व-
 स्मै) पयोः (कुसुमकस्य) । दम्भोजोः=अज्ञस्य, 'दम्भोजिरागिर्हो'रित्यमरः । औष्णी-
 र्वतः=अङ्गुष्ठारात्, कञ्जते=अपते, दम्भोजिवा गिरिकूटपादमे यथाऽङ्गुष्ठारात्-
 चिक्रमप्रवृत्त्याऽक्सरः प्रातो न मन्वा तथाऽङ्गुष्ठवित इति मन्वेति साधः । परेतराक-
 लद्वन्द्वः=पश्चिम (कोके) द्वाः (महाः) इति परेता (मेताः) तेषां रात्रा
 (स्वाभी) असराजः, तस्य सदनस्य (गुहस्य) द्वारः (प्रतीक्षारमृत्तस्य) । क्षी-
 द्वाह्वारं प्रतीक्षारं इत्यमरः । तस्य=साहस्यस्य, पयस्य=अतिसमीपवर्तिनः, मे=
 मम, कुटारस्य=परतो, दक्षकण्ठकण्ठकण्ठकीकाभ्याऽऽकलीकण्ठमे=दक्षकण्ठस्य (दक्ष-
 कस्य) कण्ठः (महाः) एव कण्ठोकाभ्याः (सम्भास्तम्भः) । तेषामागतौ (पश्चि-
 त्) तेषाः कण्ठमे (क्षेत्रे) । कः=कीदृशी, द्वाभ्य=प्रतीक्षा, व कञ्जीति भावः ।
 चार्धकविर्धितं दध्नुः ॥ १० ॥

पुनरिति । तथाऽपि = इसकण्ठकण्ठज्येदे मङ्गुलारस्य रक्तामः उभावेऽपीति भावः । कृताऽऽगतिः = कृतम् (निहितम्) भागः (अपराधः) येन, तस्मिन् । अपराधकानिनेति भावः । रक्षति = राक्षसे राक्षस इत्यर्थः । उदासितुम् = औदासीन्येन वर्तितुमिति भावः ।

दक्षिणत्वेति । दक्षिणतः अगस्त्यैः । अन्धे महर्षेः कोङ्कने कृत्वा महाभयमनादभ्यु-
 क्तः । इत्याप ज्ञापयामि त्वम्भवा । दक्षिणत्वं = दक्षिणदिगमस्य, अगस्त्यैः = अगु-
 स्तयः, अन्धे = अन्धरे, महर्षम् = महर्षिणा कृतम्, सत्तुहीपातिरिति किमिति यावत् ।
 कोङ्कनं = सहायकवेदमन्त्रिणैः, कृत्वा = विद्याय, महाभयमना = मय्यद्विषयः, सहाय-
 योक्तृमूले विदारयन्ति निपुण भज्जके नृहृदये कथाया हे । ययरावभयमन्धे शारभूत सप्त
 मेरे वराहके रावणके कण्ठरूप कण्ठो रश्मिनीको खण्डित करदेवैः क्वा वधका हे । ॥ १० ॥
 (फिर विचार कर) तबपरि इस भयरावी राजसके दिवदने कथासीन होने अत्युचित
 है । इसपरि नवी—

[illegible]

(इति साठोप परिचयमिति)

सायकवायन—(स्वगतम्) दिष्टया स्वसित क्षमिष्युवाच ।

(नेपथ्ये)

अहो नियोगिनः, कृतविवाहसङ्गच्छपोः सीतारामचन्द्रयोः स्वस्तिवाच-
निका द्विजा आहूयस्ताम् ।

आमवन्त्यः—परित्यज्य, सकोपम्) आः शङ्कन्धो, कथमसीकदश-
कच्छकीर्तिदानेन प्रतारितोऽस्मि । मन्ययमन्यः कोपि जलकजाभावा ।

सायकवायन—भगवन्, भय को वापराधः ? व्यर्थोक्त एव संग्रहय

कथम् यस्य सः, साहसो बह्वन्धमग्निः, छद्वाऽऽवृण्वन् = छद्वाऽऽपवृण्वन्, वापराधो
धौव । सङ्गच्छः समुद्रसोकोत्तरं प्राविस्थतेषु सङ्गच्छ कोङ्कमेवहमे कोङ्कमे निर्माप
कच्छा बहविति भावः । कथयाम्य भूमि कृत्वा परदुरासः स्वविवाहार्थं समुद्रसोक-
पुरम्तरं कोङ्कमेव निर्मितवानिति पौराणिकी कथाऽऽमुसम्भेवा ॥ ११ ॥

सायकवायन इति । दिष्टया = साम्नेन, जल्पयमिदम् । स्वस्ति = कथयाम्य, 'स्व-
स्तिस्त्वविनासिनामे'ति विकृतम् । रावणे प्रति परदुरात्मकोपयोजनवानिषं जनि-
कथयाम्यऽस्मात् ।

नेपथ्य इति । नियोगिनः = कार्यनियुक्ताः पुरुषा । स्वस्तिवाचनिका = स्वस्ति-
वाचनकारिणः । आहूयस्ताम् = आकार्यस्ताम् ।

आमवन्त्य इति । आः = कोपयोजकमप्यमिदम् । शङ्कन्धो = शङ्कानवाध,
धमग्निः साहसस्य वापराध एव न तु मङ्गलमाह्वय इति भावः । जलकजाकच्छ-
कीर्तिदानेन = सिन्धुपारात्मपञ्चोक्तिरनेन । प्रतारितः = धञ्जितः । रावणेन बहुयुक्त
कृत इति मदीया आम्निरुक्त्वा जनितेति शब्दः ।

सायकवायन इति । आम्निरुक्त्वा जनितेति, दृष्टकण्ठेन चक्षुः क्षमिष्यमिति कथित-

(येका कदकर गर्भे साय परिचयन करते हैं ।)

सायकवायन—(मन ही मन) मागसे क्षमिष्युक्त्वा कथयाम्य ह्यम् ।

(नेपथ्यमें)

अहो ! काम करनेवालों ! सीता और रामचन्द्रके विवाहके सम्बन्ध परित्यापन
करतेवाले साहसीको पुकारो ।

आमवन्त्य—(ओर कर, कोपपूर्ण) ओम् । शङ्कन्धे वायन ! छद्मरुद्धमें रावणकी
कीर्तिके दानसे मैं ठगा गया हूँ । नरे ! यह और ब्रूयता ही जलकजा नामक (साँकर) है ।

सायकवायन—जगद्वन् ! मेरा क्या अपराध है ? वाचा ही कदमे पर जलमे भी

अन्तः, मयापि संभ्रान्तम् ।

आमन्त्र्य—तन्निशोर्षं तावत् कथय ।

तामन्त्रयन्—

आराग्रवर्तिनः

प्रतापलेशस्य गताः परामर्शम् ॥ ८ ॥

(तत्रैव अमन्त्रयन्निष्ठा ४१७ पुनः पठति)

आमन्त्र्य—ऋः पुनर्यं मारीचध्वजः ?

तामन्त्रयन्—

ये ऋष्यशृङ्गध्वजरागधुवः कुमारः

सञ्ज्ञिरे दशरथस्य बधून्मम ।

मिति भावः । संभ्रातं = संभ्रमः कुतः, तथा च भवान्नयमान्ते प्रतिपाद्ये न व्यधा-
नीति भावः ।

आमन्त्र्य इति । निशोर्षं = संशुद्धं, कथय = वृद्धि, स्वोर्षं पूरयेति भावः ।

तामन्त्रयन्—सुधाक्षित्वादिपूर्वोक्तं पूरयति—आराग्रवर्तिनः इति । आराग्रवर्तिनः
प्रतापलेशस्य (यस्मै स्थिताः सन्तः) परामर्शं गताः इत्यन्वयः ।

॥ (कौशिकप्रज्ञातिनः सुधाक्षुमारीचपुरःसरा अग्नी निशाचराः यस्य = रामस्य)
आराग्रवर्तिनः = आरस्य (आरस्य) अग्ने (पुरोभागो) कर्तव्ये (विद्यते) तन्वीक-
सरस्य, राक्षसस्य प्रतापलेशस्य = विजयलक्षस्य, (यस्मै स्थिताः सन्तः) परामर्शं =
निवाहं, गताः = गताः । वैश्वस्य वृत्तम् ॥ ८ ॥

रामोत्पत्तिं वर्णयति—ये ऋष्यशृङ्गेति । दशरथस्य बधून्मम आर्यशृङ्गध्वजराग-
धुवो ये कुमारः संज्ञिरे । तेषां मयमा मिथुनः कुशिकराजतनून्ममिन्द्र । सर्वं रामो-
मित्रः कुमार इत्यन्वयः । दशरथस्य = तदात्म्यस्याऽयोध्याधिरथस्य, बधून्ममन्वली-
ध्वजे, ऋष्यशृङ्गध्वजरागधुवः = ऋष्यशृङ्गस्य (तदात्म्यः) आर्यशृङ्गधुवः (इन्द्र-

वर्तिनो वैने-मी अरवावी श्री ।

आमन्त्र्य—तत्र तन्वी वाच तदाभी ।

तामन्त्रयन्—बाणके अग्रभागमें रहनेवाले परामन्त्रके वक्ष्यतीं होकर निवाहकी
मात्र की गयी ॥ ८ ॥

(कौशिकप्रज्ञातिनः आदि भाग वक्ष्यित पद्यो है ।)

आमन्त्र्य—यह मारीचकी दमन करनेवाला कौन है ?

तामन्त्रयन्—दशरथकी मन्त्रियोंने ऋष्यशृङ्गके इन्द्रवंशसे होनेवाले विश्व कुमारीको

तेषामयं निरूपमः प्रथमः कुमारो

रामाभिधः कुक्षिकराजतनूजशिष्यः ॥ १२ ॥

आत्मदम्भ—(क्षमं विभाव्य, सामर्थ्यम्)

... पुर्यर्षाः सुरसिद्धकिञ्चनरैर्यस्यचक्रमं वक्रतां

प्राप्ते यत्र विधातरीष तरसा तिस्रोपि दग्धाः पुरः ।

सङ्गमं यदि रामवेण क्षिप्रता अण्डीपतेः कार्मुकं

पाकोलजाः) । ये, कुमाराः = पुत्राः, सक्षत्रिरे = उत्पादिताः । तेषां = संख्यातानां ।
कुमाराणां मध्ये, प्रथमः = आद्यः, निरूपमः = उपमाद्वितः, आसाधारण इति साधः ।
कुक्षिकराजतनूजशिष्यः = कुक्षिकराजः (कुक्षिकभूष, गाभिरिति भावः) तन्मूलाः
(चिरवासिन्नाः) तन्मूल्यः (तदन्तेवासी) । अयं = निरुद्धवर्ती, रामाभिधः = रामाभि-
विभावः, कुमारः = पुत्रः, अस्तीति शेषः स एव मारीचवसन इति भावः । अस्मत्-
सिद्धकं वृत्तम् ॥ १२ ॥

आत्मदम्भ इति । विभाव्य = विस्तृत ।

पुर्यर्षा इति । सुरसिद्धकिञ्चनरैः पुर्यर्षाः तिस्रोऽपि पुरः विधातरीष वच वक्रतां
प्राप्ते त्यक्तमं दग्धाः । अण्डीपतेः तत् कार्मुकं क्षिप्रता रामवेण तरसा भग्नं यद्वि-
त्सर्गलोकात्प्राप्तम् ।

सुरसिद्धकिञ्चनरैः = सुरः (देवाः) सिद्धाः (देवयोगिविभोधाः) किञ्चनराः
(किन्पुरुषाः, देवयोगिविभोधाः) नराः (मनुष्याः), तैः । पुर्यर्षाः = वधतिष्ठ-
नीयाः, तिस्रोऽपि = तिसंख्याका अति, पुरा = पुर्यः, (पुनरागार्य इति भावः) । विधा-
तरीष = विधौ इव, यत्र = यस्मिन्, अण्डीपते इति भावः । वक्रतां = कुक्षिकरा-
प्राप्ते = आसादिरे लप्ति, त्यक्तमं = तन्मूल्यपेक्ष, पुनपदिति भावः । दग्धाः =
अस्मीकृताः । अण्डीपतेः = गौरीकृष्य, हृदयेत्यर्थः । तद् = दास्य, कार्मुकं = चक्रम्,
क्षिप्रता = वक्रवेण, रामवेण = रामकृपेण, तरसा = वक्रेण, भग्नं यद्वि = वक्रितं वेत् ।

पेदा किया । वनमें पड़के और अनुपम (बेबीडू) विश्वामित्रशिष्य वे राम नामक कुमार
(मारीचवसन) हैं ॥ १२ ॥

आत्मदम्भ—(कुछ समझ-वक्र विचार कर, बौद्धिक) देवता, सिद्ध, किन्नर और
मनुष्योंसे अतिविश्रमणीय सीनों पुरिवा मायके समान विष भक्तिके वक्र होवेपर कमल-
बोकर (एक ही बार) बच गई । अण्डीपते वच भक्तों का एक रामने यदि वक्रते
हीन विचार है... ..

सायकपायनः—(स्वगतम्) किमभुन्ता वक्ष्यति ।

आमदम्भः—

तन्ममं कुलमेव तर्कय रघोर्मन्त्रकथापद्यसि ॥१६॥

सायकपायनः—संरब्धोऽयं भगवन् । तस्मिन् वृत्तान्तमुपाध्यायस्य कथयामि ।

(इति निष्क्रान्तः)

आमदम्भः—(निवेद्य) अस्मिन्प्रविधाद्भक्तस्तथा तर्कयामि स

सायकपायन इति । वक्ष्यति = कथयिष्यति, 'वक्ष परिभाष्य' इति आलोचनम् । निष्क्रान्तेति एवं श्रुत्वा राते मति परस्परामस्य कथनोत्पत्त्यास्तद्वत् सायकपायनस्यैव एकतोक्तिः ।

परस्परामः रत्नोक्तं पुरयति—उत्पन्नमिति । तत् सन्ध्याधाराभसि रघोः कुलम् पृथ ममं तर्कयेत्प्रत्ययः । तत् = तर्हि, सन्ध्याधाराभसि = सन्ध्याधारा (सन्ध्या-रथस्य) धाराभसि = धारा (लक्ष्मणाः) पृथ ममः (वक्ष्य) तस्मिन् । रघोः कुलं = रघुकुलं, पृथ, ममं = निम्नम्, इति, तर्कय = विचारय । पृथस्य रास-स्वाभ्यासेन सर्वं रघुकुलमेव स्थाप्यकथनं करोमीति भावः । उपसाञ्जहारः । चार्त्तकथिष्येति वृत्तम् ॥ १६ ॥

सायकपायन इति । संरब्धः = कुपितः । उपसाञ्जहार = वेदैकदेशाध्यापकस्य अकारणस्येति भावः । उपेयाञ्जीयतेऽस्मादिति उपान्यासः, 'हृदयेति चम् । उप-आयककथनाद् मनु—

'धृदयेन तु वेदस्य वेदज्ञान्यपि वा पुनः ।

वेदध्यापयति हृदयेमुपाध्यायः स उच्यते ॥' इति ।

आमदम्भ इति । ममः = लोभः, चार्त्तकथः = चार्त्तकथा, पूर्वविचारान्तरमर्थ इति भावः । 'मुग्धः सुखरमुग्धो' इति मरः ।

सायकपायन—(मन ही मन) मन वे तथा कथये ।

आमदम्भः—जी मेरे चर्खा जोहने वाली मैं तर्कय ही कर दूँगी वनखो ॥१६॥

सायकपायन—(मन ही मन) मैं कहति कुपित हो गये । वक्षति वृत्त वृत्तान्तको उपान्यासके कहता हूँ ।

(यथा लोचनं नास्ति ।)

आमदम्भ—(देखकर) अब देवादि महान्कर्त्तव्य-कारण-कारके मैं विचारता

यस्य रामः सानुज इति (सहर्षम्, निर्वर्ण्य) मर्षमुग्रः सत्यं जनो यदेनं
काम इति वक्तव्ये राम इति अरुपति । (पुनर्निर्वर्ण्य)

सौम्यं मन्नादपि प्रययति प्रीतिमर्षं, पुनः
मेत्तारं मन्नादिमप्यधरयत्युद्दामदोःकीदितम् ।
मुग्रत्वं मन्नादिमौक्तिकानिमोऽप्युत्कर्षमात्मभवे
मृत्तैस्तत् किमसौ रसैर्विरचितः गङ्गादधीराद्भुतैः ॥१४॥

शमस्य सौम्यविकं कर्णयति—सौम्यंमिति । सौम्यं मन्नादपि प्रीतिमर्षं
प्रययति । उद्दामदोः कीदितं पुनः मेत्तारं मन्नादिमपि अधरयति । मुग्रत्वं मन्ना-
दिमौक्तिकानिमोऽपि उत्कर्षम् आत्मभवे । तत् असौ भूतैः गङ्गादधीराद्भुतैः
रसैः विरचितः किस्तिन्नव्ययः ।

सौम्यं = मनोरमत्वं, मन्नादपि = कामादपि, प्रीतिमर्षं = प्रेयसोत्कर्षं, काम-
प्राप्तिरूपमिति भावः । प्रययति = प्रकाशयति । सौम्यं रासोऽयं कर्णद्वया-
ऽऽपवादक इति भावः । उद्दामदोःकीदितम् = उद्दामं (महत्) यत् कीदृशितं
(बाहुवीहा, भुजविह्वल इति भावः) । पुनः = त्रिपुरनगरीनां, मेत्तारं = मेतुं, बाह-
वमिति भावः । मन्नादिमपि = कामादात्रमपि, महावेपथवीति भावः । अधरयति =
कधरं करोति, तिरस्करोतीति भावः । असौ किमे कपर्दिनमप्यतिशेत् इति
भावः । मुग्रत्वं = बाळत्वं, मन्नादिमौक्तिकानिमोऽपि = किमसेकरमाकण्डवपि,
उत्कर्षं = प्रकर्षम्, आत्मभवे = आत्मयति । मार्षे चाऽयं बाळः पाङ्करोत्तरं बाळ-
कण्डमप्यभिममतीति भावः । निष्कर्षं व्ययति—भूतैरिति । तत् = तस्मात्कारणात्,
असौ = रघुकुमारो रामः, भूतैः = सृष्टिमजिः, गङ्गादधीराद्भुतैः = रत्नुत्साहविभ-
वस्यापिभावकैः, रसैः, विरचितः किं = मिमितः किमु । गङ्गादधीराऽयं मन्नादि-
मौक्तिकानिमोऽप्युत्कर्षमात्मभवे, मन्नादिमौक्तिकानिमोऽपि विरचितः किमसेकरमाकण्डव-
मार्षवातिमणेन पाङ्कसुतस्य च रसस्योत्पादकता व्यज्यत इति भावः । तथा चाऽ-
ग्रेयसामनुपसेवसाऽऽविषयवर्णनगृह्यतिरेकाऽकङ्कतः । मार्षककिरीडितं वृत्तम् ॥

है कि नारके साम ये ही राम है : (इन्हें साम, देखकर) यह लोक नर्चमूल है की कि
इसकी 'काम' कहनेके स्थानमें 'पाम' कहता है । (फिर देखकर) (वसका) सौम्य, काम-
हन्ते की औपचारिक कर्णको प्रकाशित कर रहा है, स्वयं पाङ्करोत्तरं, त्रिपुरनगरीनांके
बाहव लहरकी भी मूल भना रहा है, बाळभाव, लहरके मलकविषय बाळभन्नेसे भी
उत्कर्षका नामय कर रहा है । इस क्षणमें यह बाळ भूतिमान् गङ्गा, नीर, नीर-
मयवृत्त रम सीमों रसोंसे भना है क्या । ॥ १४ ॥

(ततः प्रविशती राम-उल्लसौ)

सूचकः—(सकौतुकम्)

मौखीं धनुस्तनुरियं च विभर्ति मौखीं,
 बाणाः कुशास्त्रं विकसन्ति करे, सितायाः ।
 धारोऽज्यवसाः परशुरेण कमण्डलुम्,
 शरीरशान्तरसयोः किमयं विकाराः ? ॥ १४ ॥

आर्य, किं पुनरियं मङ्गलश्रवणोत्सुकं चित्रमिव स्फुरति ?

आमन्त्रणं कर्णयति—मौखीमिति । धनुः मौखीम्, इमे तनुज मौखीं विभर्ति ।
 करे बाणाः कुशास्त्रं विकसन्ति । सितायाः धारोऽज्यवस एव परशुः कमण्डलुम् । तत्
 शरीरशान्तयोः अयं विकाराः किमित्यन्वयः ।

धनुः = कामुके, मौखीं = गुणं, 'मौखीं ज्या विविनी गुण' इत्यमरः । विभर्ति =
 धारयति आरोपितगुणं धनुर्धरैश्च इति भावः । इयं = भिक्षवर्तिनी, तनुज = शरीरं
 च, मौखीं = सुअमयी मेकला, विभर्ति । एवं च करे = हस्ते, बाणाः = शराः, कुशा-
 स्त्र = दण्डम्, विकसन्ति = लोभन्ते । तथा सितायाः = सितम् (शुक्लम्) ज्यः
 (शीघ्रम्) यस्य सः, तादृशः 'किंवाऽयम्' इति पुस्तकास्तरपाठे सितम् (लोचनम्)
 ज्यम् (अश्रुभागः) यस्य स इत्यर्थो बोध्या । धारोऽज्यवसः = धाराधाम (अश्रु-
 धारा) परशुरेण, धारया = अश्रुधाराया, कमण्डलुमिव सज्यवसा (देवीपूजानः) ।
 एव = भविभिक्षवर्ती, परशुः = कुटारः, कमण्डलुम् = कुण्डो च, 'लक्ष्मी कमण्डलुः'
 कुण्डोत्पन्नः । विकसतीति शेषः । निगमयति—तत् = वस्त्रात्कारणात्, शरीरशान्-
 तयोः = शरीरशान्तिर्दस्याविमात्रयोः रसमिश्रयोः, ज्यं = पुरोवर्ती ज्यः, आम-
 न्त्रय इति भावः । विकाराः किं = परिणामः किम् । आरोपितमौखीकेण धनुषा
 बाणैः परशुणा च शरीरसस्य मौख्या मेकलाया कुण्डैः कमण्डलुना च शान्तरसस्य
 च परिणामः प्रतीयत इति भावः । अत्र शरोऽज्यवसाः । वसन्तिस्त्वर्थे वृत्त्य् ३१५
 आर्षेति । मङ्गलश्रवणोत्सुकं = मङ्गलश्रवणौ भावता (देवः) वर्तितव्यम् । चित्र-
 मिव = आलेख्यमिव ।

(एवं राम शीरं ज्यमन प्रवेष्टुं शरते हैं ।)

कथनम्—(अनुद्वेगं साध)

धनुः प्रत्यक्षादौ और वह शरीर मौखी मेकलाको धारण कर रहा है । शरमें एव
 और कुछ घोषित हो रहे हैं । शरीर कोइलाकी मोक्षमें समस्तक यह धनु और जम्भाराही
 कमलक कमण्डलु भी है । इस कारण शीर और शान्त रसके ये परिणाम हैं क्या ॥ १५ ॥
 आर्य ! ये क्या मङ्गल श्रवणोत्सुक चित्रके सुवाच प्रकाशित हो रहे हैं ?

रामः—वस्तु, न विदितं ते, नन्वयं स भगवान् भार्गवः—
 वेपथ्यं श्रीःश्रमहीधरस्य शिखरं, देयं धरित्रीतलं,
 मत्प्रमथितिकण्डवप्यनविधिक्रीडाविधेयोऽनुधिः ।
 जेयस्सारकसूदनो युधि, करकोडाकुठारस्य च
 क्लेशं यस्य बभूव हृदयपतेरुद्दामदोःकाननम् ॥१५॥
 कथमयः—तर्हि विस्मयनीयशीतोऽयं भगवान् ।

राम इति । ते = तव, 'विदितं'मिथेति 'मदियुक्तिपूर्वार्थेस्वरचे'ति कप्रत्ययान्त-
 पदेन योमे 'कस्य च कर्त्तार' इति पठ्यते ।

परशुरामं वर्णयति—वेपथ्यमिति । यस्य श्रीःश्रमहीधरस्य शिखरं वेपथ्यं, धरित्री-
 तलं देयम्, अनुधिः मत्प्रमथितिकण्डवप्यनविधिक्रीडाविधेयः, युधि तारकसूदने
 जेयः, हृदयपतेः उद्दामदोः कापयं करकोडाकुठारस्य क्लेशं बभूवैत्यन्वया । वस्तु =
 परशुरामस्य, श्रीःश्रमहीधरस्य = श्रीःश्रमपर्वतस्य, शिखरं = शृङ्गं, वेपथ्यं = वेपथ्यं,
 'जिघा'मिति पाठात्तरेऽन्वयेऽन्वयेऽर्थः । बभूव, पुंश्च परमाऽपि । धरित्रीतलं = भूतलं,
 देयं = दानयोग्यम् । अनुधिः = समुद्रः, मत्प्रमथितिकण्डवप्यनविधिक्रीडाविधेयः =
 मत्प्रमथं (नृतनम्) च चित्तिजम् (भूमिपाकम्, समुद्रतोऽन्तेन विधीयमानमिति
 भावः) तैव दण्डनविधिः (दण्डकरणविधानम्) स एव श्रीका (जेठा), तस्या
 विधेयः (वधोत्पत्तिः), पुरा कथमपाय भूमिं प्रदाय स्वभावेन समुद्रस्य किमर्थं
 भागं तोष्य स्ववासार्थं परशुरामो नृतनं भूमिजम् विमिश्रयामिति पौराणिकी
 कथाऽन्वयेऽनुसन्धेया । युधि = संग्रामे, तारकसूदना = तारकजित्, कार्तिकेय
 इत्यर्थः । जेयः = जेतव्यः । हृदयपतेः = कार्तवीर्यस्य, उद्दामदोः कापयम्-महामु-
 र्धनं, करकोडाकुठारस्य = मज्जविद्यासपरवधस्य, 'जिघा'मिति कृत्यप्रथमान्तपदेन
 'कृत्यानां कर्त्तरि षे'ति वैकल्पिकी चठि, एवे तुदीमाऽपि । जेयो = जेतव्यं, बभूव =
 बभूवत् । शोऽयं भगवान् भार्गव इति परशुरामस्य परिचयः प्रतिपाद्यते । कार्त्तिक-
 विधीयते इत्यम् ॥ १५ ॥

कथमय इति । विस्मयनीयशीलः = विस्मयनीयं (विस्मयचोक्तम्) शीते (स्व-
 भावः) यस्य सः ।

राम—वस्तु । महीं जानते ही, ये भगवान् भार्गव हैं—विमल श्रीःश्रमहीधर
 शिखरं (शीत) वेपथ्यं वा, भूतलं देयं वा, समुद्रं नवा भूमिजम् वनाक्षरं दण्डं देतेही
 श्रीकाका विधेयं वा, युद्धं तारकजेठा (कार्तिकम्) जेतव्यं ये और हृदयपति (कार्तवीर्यं)
 च विद्याक बाहुन मिलके हृदयविद्या परशुका जेयनीयं वा ॥ १५ ॥

कथमय—तव भगवान् परशुराम नानर्थं करवेके किट बोध स्वभावपाठे है ।

रामः—विष्मन्नीयशीतानां शिलाभगिरिति वक्तव्यम् । अयं हि—
एकः स्वर्णमहीधरां चित्तिमिमं स्वर्णकण्डूनि यथा
शम्भोर्गं प्रतिपाद्य करपपुमौ न स्वात्मने श्लाघते ।
किञ्च कौञ्जगिरिं गिरीशतनयस्याभिरुशक्तिशतं
विबुध्या बाणगणैश्शरद्वयो वैद्यक्यमाशम्भते ॥१७॥

राम इति । शिलाभगिः = बुद्धात्मन् ।

जामदग्न्यस्वाश्रुपमां शान्तीरतां प्रतिपादयति—एक इति । एकः स्वर्णमही-
धरा इति चित्तिं स्वर्णकण्डूनि एकां गां यथा करपपुमौ प्रतिपाद्य स्वात्मने च
श्लाघते । किञ्च गिरीशतनयस्य भाविकशक्तिशतं कौञ्जगिरिं बाणगणैर्विबुध्या
उदारद्वयः (कर्) वैद्यक्यम् काष्ठमन्त्र इत्यन्वयः । एकः = अद्वितीयः, जामदग्न्य
इति भावः । स्वर्णमहीधराः = सुवर्णकरपुत्रपर्वतोपेतं—स्वर्णमस्ति चेन्न ते स्वर्णः,
कर्णमादिभ्योऽङ्ग इत्यन्वयः । स्वर्ण महीधराः (पर्वताः) पत्न्या, तामिति
चित्तिविशेषणम् । इमं = बुद्धिसिद्धिर्ता, चित्तिं = पृथिवी, स्वर्णकण्डूनि = एक-
मुवर्णविषाणोपेताम्, एकसु = एकम्, गां यथा = धेनुमिव, करपपुमौ = स्वय-
पर्वतं, शरद्वयं विषाणोमत्वात्स्वाम्येऽधिकारान्तविषयः । प्रतिपाद्य = दत्त्वा,
स्वात्मने = निबुद्धये, 'शकायुक्स्वात्मपां शीघ्रयताम्' इति चतुर्थी । न श्लाघते =
न शङ्कसति । किञ्च, गिरीशतनयस्य = काष्ठरपुत्रस्य, कार्तिकेयस्येति भावः । भावि-
कशक्तिशतम् = भाविका (भा = समस्तात्, विद्वा = मद्रता) या सक्तिः (कस्य,
कस्यित्येव इति भावः), तथा शतं (किञ्चित्प्रमितम्) कौञ्जगिरिं = कौञ्जपर्वतं,
बाणगणैः = काष्ठद्वयैः, विबुध्या = मित्या, उदारद्वयः = उच्चतविद्या सन्, वैद्यक्यं =
कर्मज्ञानमिदम्, श्लाघते = जयत्यमते । कार्तिकेयसक्तिमतिं कौञ्जपर्वतं स्व-
शरमिकरैर्विबुधैर्वारद्वयत्वेन जामदग्न्यो कर्ता भवतीति भावः । सादृक्त्विकी-
कितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

राम—जामदग्नं करनेके किए बौद्ध स्वयत्न शक्तिके पथवाद् बरभूता गिरीमणि हैं,
ऐसा कहती बाण्डर ।

नवीति ३—

अद्वितीय (श्री-बरभूताम्) सुवर्ण सम्पत् पर्वतोसे कुछ इस पृथ्वीको एक सुवर्ण शक्ति
नकसुता एक नामकी तरह करव नबिही वैकर आत्मशलाभा नहीं करते हैं । और श्री-
कार्तिकेय की शक्ति से कुछ कौञ्ज पर्वतको बाणसमूहसे विकर करके श्री उदारविद्या
शोभेसे जम्बाका भवत्यमन करते ॥ १७ ॥

(उभ परिणामः)

रामः—(अक्षति वदन्) भगवन् ! भृगुकुलशिरोऽक्षरशिरःखण्डक !
यस्य वासुदेवस्य ये परमोन्नतिरमणीयपरिणामः प्रपन्नमः ।

ब्रह्मदम्भः—समरविजयी भूयाः ।

रामः—भगवन् , भृगुकुलमौलिभाणिमन् , अतुल्यहीनोऽस्मि ।

भार्गवः—(स्वगतम्)

(लक्ष्मणम्) रामे चन्द्राभिरामे विनयवति शिखौ किं प्रकुप्यतिमार्ज
(विदुष्य सङ्कीर्णम्) हुं चापं चन्द्रमौलौत्सपल्लमतिरसाधिकुण्डं वमन् ।

राम इति । भृगुकुलशिरोऽक्षरशिरःखण्डक = भृगुकुलस्य (भृगुवंशस्थ) शिरः
शिरःस्य (शिरोभूषणस्य) शिखण्डक (काकपत्रस्थानीय) । परमोन्नतिरमणीय-
परिणामः = परमोन्नतिः (उत्कृष्टाऽभ्युदयः) एव रमणीयः (मनोहरः) परिणामः
(परिणामः) यस्य सा, तादृशः । प्रपन्नमः = नमस्कारः ।

राम इति । चन्द्राभिरामे विनयवति शिखौ रामे अतिमार्ज किं प्रकुप्य किमि-
त्येकवचनस्याभ्युदयः । चन्द्राभिरामे = चन्द्रः (इन्द्रः) इव अभिरामः (सुन्दरः)
इति चन्द्राभिरामस्तस्मिन् , तादृशे । विनयवति = विनीते, शिखौ = बाले, रामे =
रामकण्ठे, अतिमार्ज = अत्यर्ज, प्रकुप्य = मकोपं कुत्वा, किं = किं प्रयोजनं, भविष्य-
सीति शेषः । एतेन कठना प्रोत्तिता ।

हुं चापमिति । हुं चापकमतिः अतो चन्द्रमौलो चापस्य इन्द्रवन्धं वमजेति द्वितीय-
वचनस्याभ्युदयः । हुमिति कोपयोजकमध्ययम् । चापकमतिः = चापकपुङ्क्तिः अतो =
अर्धं, राम इति भावः । चन्द्रमौलो = चन्द्रवंशस्थ, शिखरेत्यर्थः । चापं = अङ्गु,

(दोनो परिणामन करति हैं ।)

राम—(नक्षति वाक्ये) भगवन् । प्रपन्नमं शिरोभूषणत्वात् । मै मार्जि साय
परमोन्नतिकं मनोहर परिणामं हुं प्रपन्नमं कर्ता हुं ।

ब्रह्मदम्भ—हुं विजयी मनो ।

राम—भगवन् । भृगुकुलमौलिभाणिमन् । मै अतुल्यहीनम् ।

भार्गव—(मन ही मन)

(कवचापूर्वक) चन्द्रमुख्य सुन्दर और विनयसम्पन्न वाक्य राममें ज्यादा कोप करते
हैं ।

(निवार कर कोपपूर्वक) ओह ! चन्द्रक इतिवाक्ये इन्हीं विनयपुत्री भृगुवंशके
अपान लोक दिया ।

(पुनः साधुश्लेषम्) बाला वैद्यव्यदीर्घा जनकमुपसृता नाहंतीत्यं मद्व्यात्
(पुनर्विचिन्त्य, सामर्थ्यम्)

आः । शान्तो मे कुठारः कथमयमधुना रेणुकाकण्डक्षत्रुः ॥ १६ ॥

(अन्तरम्) दाशरथे, इदमस्मी मे त्वयि सदाचारानुसारिणी वामधृतिरेव ।

इष्टवर्त्त = रसाकण्डम्, इवेति शेषः । 'इष्टमलम्' इति पुस्तकान्तरस्यः साधी-
मान्साठस्तदर्थस्तु इष्टमिव भवत्वा, णञ्जुस्तदया । वमज्ज = अन्नवान्, अन्नमस्य
शान्तकर्त्तृवदधनुर्मलस्य परोक्षत्वात् 'परोक्षे सिद्' इति सिद् । दधनुर्मलकत्वाद्वास्तव्ये
परशुरामस्य कोपमुक्त्यो दण्डबुद्धयवतारः ।

पुनरिति । साधुश्लेषं = संकल्पमिति । क्षिराक्षिशेषमिवम् ।

वालेति । बाला इत्यं जनकमुता मद्व्यात् वैद्यव्यदीर्घा नाहंतीति सुधीवचरण-
स्याज्जयः । बाला = बालिका, इयम् = यथा, जनकमुता = जानकी, सीधेति भावः ।
मद्व्यात् = मदायुधात्, परशुकपादिति शेषः । वैद्यव्यदीर्घा = विधवात्वमतावेर्धं,
विद्यतोपधो यस्याः सा विधवा, तस्या भावो वैधव्यं, तदीर्घा, प्राप्नुमिति शेषः । न
अहंति = योग्या न अवति । जानकया बालमाधनद्वयमे रामे परशुरामस्याज्जं
कथनाऽऽदिर्भावाः ।

आ इति । आः । रेणुकाकण्डक्षत्रुः कथं मे कुठारः अधुना कथं कान्त इति
पुनर्वचरणस्याज्जयः । आ इति कोपसोपक्रममयम् । रेणुकाकण्डक्षत्रुः = रेणुकायाः
(तद्व्यापाया सम्भावाः) कण्डक्षत्रुः (गकाज्रातिः, विजुर्जमवने राज्ञ्या अनेककथा-
सिति भावः) । कथं = निकटवर्ती, मे = मम, कुठारः = परशु, अधुना = अन्वयति, कथं =
केन प्रकारेण, कान्तः = क्षान्तितम्यः, दण्डवापारमिवृत्त इति भावाः । वस्तीति
शेषः । सुदवापण्डेवने रामेऽपि मदीयोऽयं कुठारः कथं विवृत्तदण्डस्यापार इति
भावः । रकोकेऽस्मिन्कथनाकोपोपताकपात् साक्षर्या सचकलाज्जयेया । अन्तरा-
ध्यायः ॥ १८ ॥

प्रकाशमिति । वामधृतिरेव = वचनव्यापार एव, सतरविजयदी भूया इत्यात्मवक
समाधाराऽनुसारी वचनव्यापार एव, न ॥ मे त्वयि सरीरमशोभितिरुद्धमेति भावः ।

(चित् कथनापूर्वक) गच्छिन्न वद सीता मेरे भवते वैद्यव्यदीक्षाः पावेको दीप्यतर्ही है ।
(चित् विचारकर, कोपके साथ) ओह ! रेणुका का कण्डक्षत्रु वह सीता परशु कपी
कपी शान्त ॥१६॥ रहा है । ॥ १८ ॥

(अनुवाद) दाशरथे ! तुव पर अन्तःपारका अन्तःकरण वामधृतिः वद मेरा वचन
व्यापारमात्र है ।

रामः—(विह्वल) मनोहृतिस्तु कीदृशी ?

भार्य्यः—

चण्डीशकामुं कविमर्धविधर्ममान-

दर्पावलेपसविशेषविकासभाजोः ।

बाह्योस्तवाहमधुना मधुना समाने-

रशययामि रुधिरैः कठिं कुटारम् ॥ १६ ॥

रामः—स्मात्, निम्नानुग्रहयोः स्वाधीनोऽयं जनः; परं ते कोप-
नीजं शालुमिच्छामि ।

राम इति । मनोहृतिस्तु = मानसम्भाषारस्तु ।

कोपाऽनुसारिणो मा भवतो हृतिमाह—चण्डीसेति । चण्डीशकामुं कविमर्धविधर्म-
मानदर्पावलेपसविशेषविकासभाजोः एव बाह्योः मधुना समानैः रुधिरैः मधुना
अहं कठिं कुटारम् आशययामितीत्यन्वयः ।

चण्डीशकामुं केत्यादिः = चण्डीशस्य (शिवस्य) कामुकस्य (मधुना) विसर्गः
(भक्त्यम्) तेन विधर्ममानः (समेधमानः) यो दर्पावलेपः (गर्वसम्बन्धः)
तेन सविशेष (साधिक्य) यथा एवावयवो विकासः (प्रकुलता) तं भक्त्यः
(आभयतः) इति लक्ष्योः, तादृकयोः । लव = भक्त्यः, रामस्येत्यर्थः । बाह्योः =
सुत्रयोः, मधुना = बाह्येण, समानैः = सदृशैः, निमिषैरिति भावः । रुधिरैः = रक्तैः,
मधुना = स्रवसि, अहं = आर्य्यः, कठिं = कठोरं, कुटारं = परशुम्, आशययामि =
परिवशामि, हरकामुं कभञ्जननितर्पणविकसितबोस्तवाह्योरुधिरैणाहमिदानीं स्व-
परबन्धं परिवशाम्येतद्वशी महीमा मनोहृतिरिति भावः । अत्रोपमाऽनुकूलः ।
वसन्तसिद्धं कृतम् ॥ १६ ॥

राम इति । अयं जनः एव मादव्यः, अहमिति भावः । निम्नानुग्रहयोः = दण्ड-
मसादयोः, स्वाधीनः = आत्मानन्तः, अहं वृत्ते मसादे च विधेयं अचण्डीनोऽस्मीति
भावः । कोपनीजं = कोपकारणम् ।

राम—(ईश्वर) और मानसम्भाषार केता है ।

भार्य्य—शिवचण्डी लोकनेत्रे बड़े हुए गर्वसम्बन्धसे रुचिसे प्रकुल कुटारै बाहुनों
के मधु (स्रव) के स्रव रुधिरोंसे इस समय मैं कठोर परशुकी सेवा करता हूँ ॥ १६ ॥

राम—यह जन आपके वृत्त और प्रसन्नके विषयमें अभीत है, परन्तु मैं आपके
कीचक कारण आजमा चाहता हूँ ।

भार्गवः—तव कथं निरपराधोऽसि ?

रामः—

मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवेदिष्यः ।

अगच्छतरमनेवेक्ष्यमममयत करोमि तिम ॥ २२ ॥

भार्गवः—आः, कथं रे बन्धुरिणं नारायं विधास हृदयं मे शीत-
सायसि । तदसमनेन । (हृत्पश्यन्) ।

हे राम ! कामरिपुकार्मुकमर्मघात-

सञ्जातपातक ! तवैव कठोरवारः ।

सीताकरम्पतिकरप्रतिकूलकण्डुः ।

पुरवेदिष्यः = निरपराधोः, शिवस्वेत्यर्थः । कार्मुकं = धनुः, मया = एतेन, स्पृष्टम् = स्पर्शितं, वा = अथवा, न स्पृष्टं = नाऽऽस्पृष्टं, किञ्चिदेव स्पृष्टमिति भावः । नवैवागम्यते, हे भगवन् ! इदं = पुरवेदिकार्मुकम्, आत्मना एव = स्वतः एव, मममयत्वं विनयेति भावः, अममयत = अग्रम् । एतादृशे न्यतिकरे जाते, किं, करोमि = विदुषामि, साहमिति शेषः । अतिजीर्णत्वात्मया स्पृष्टमात्रं धनुः एव एव भगवतोऽविशेषिक्यमेव न मदीयोऽपराध इति भावः । अत्रुभुङ्क्ष्वप्यम् ॥ २१ ॥

भार्गव इति । आः = कोपद्योतकमममयमिवम् । बन्धुरिणं = जीवन्मृतिकं, शरीरकमसि = शीतलं करोषि, 'तच्छकरोति तदाचष्टे' इति निगन्ताद् । इत्यनुभू-
तमोत्तरं विषयोपेतं त्वदीयमेतद्वचनं चम्बुनदिवधनारायसद्वचमिति सत्ययोर्ध्वन-
नोरे न्यायोपाधिक्यार्थाऽङ्गकारः ।

हे राम इति । कामरिपुकार्मुकमर्मघातसञ्जातपातक हे राम ! कठोरवारः सीता-
करम्पतिकरप्रतिकूलकण्डुः विषयकम् । एव कुतः तव एव कथं पुरा दिवसोत्पन्नम् ।

कामरिपुकार्मुकमर्मघातसञ्जातपातक = कामरिपेः (मयुनाजितो शिवस्वेत्यर्थः)
कार्मुकस्य (धनुः) को मर्मघातः (भक्षणम्) तेष सञ्जातः (सम्पन्नम्)
पातकः (पापम्) यस्य साः, तत्समुद्धी । तावत् हे राम = हे रामकण्ठ !, कठोरवारः =
कठिनाग्रभागा, सीताकरम्पतिकरप्रतिकूलकण्डुः = सीताकरस्य (चानकीपत्नेः)

भार्गव—तव पुन केषे निरपराध हो ।

राम—हे भगवन् । शिवपुत्रा स्वर्ग मेरे दिया वा नहीं दिया, वह अपने नाम हू
कहा । मैं क्या करूँ ॥ २२ ॥

भार्गव—ओह ! क्यों रे । बन्धुमित्र नारायण की रक्षार मेरे हृदयकी दीर्घ कर
दरे हो । ऐसा करवा नहीं करिए । (परकुटी कटकाट) । शिवपुत्रो भोवते पातक

कण्ठं पुरा विशन्तु निष्कलनाः कुठाराः ॥ २२ ॥
तत्प्रवीरो भव ।

शेषः—

हारः कण्ठं विशन्तु यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः,
क्षीर्णा नैकाग्र्यधियस्तु वा कलशं वा अर्धं वा ।
सम्प्राप्तो ध्रुवमिव सुखं प्रेतभर्तुर्भुवं वा,
यज्ञा तज्ञा भवन्तु न कथं प्राज्ञयोगे प्रवीराः ॥ २३ ॥

प्रतिकूलस्य (परस्परमेकनश, सीतापाणिग्रहणस्येति भावः) प्रतिकूलान्धुः ।
(विरोधसम्बन्धी), अत एव निष्कलनाः निर्द्वेषः, एवमन्धे, कुठारः परशुः, तेषां
एव भवत एव कण्ठं = गण्ठं, पुरा = पूर्व, 'विशन्त्यापानिके पुरा' इत्यमरा । विशन्तु =
प्रविशन्तु । भक्तविरक्तकं दृष्टम् ।

तदिति । प्रवीराः = सुभटाः । मङ्गलो वीराः, 'कुठासिमावप' इति समासः ।

हार इति । हारो यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः कण्ठं विशन्तु । कलशं वा अर्धं वा
क्षीर्णा नैकाग्र्य धियस्तु । इव भुवं सुखं वा प्रेतभर्तुः सुखं संप्रस्थातुः । यज्ञा तज्ञा
भवन्तु । कथं प्राज्ञयोगे प्रवीरा मेवमन्धः ।

हारः = सुभटमाख्यं, विवाहोचितमिति भावः । यदि वा = अथ वा, तीक्ष्णधारः =
निक्षिप्ताग्रमात्रा, कुठारः = परशुः, सम्प्राप्तोचित इति भावः । कण्ठं = पण्ठं,
विशन्तु = प्रविशन्तु । विशद्वेष्यत्वं वा परशुग्रहात्मसुभवातीति भावः । कलशं वा =
कलशं वा, अर्धं वा = तीर्थं वा, यज्ञं वेति भावः । क्षीर्णा = वरीणां, नैकाग्र्य =
नवधामि, अधिपूर्वकसुधामोर्ध्वे 'उपास्यन्पादस्य' इत्याचारस्य कर्मत्वम् ।
अधिवस्तु = अधिवासं करोतु, अस्माकं मार्गं सीमान्योचितं कलशं भवनचोरसु-
सदन्तु, वैधव्याद्यनलं सुखान्तु वेत्यभिप्रायः । इह = अस्मिन्लोके, भुवं = दिवसम् ।
अधिकलान्धव्यतीति भावः । सुखम् = आनन्दं, यज्ञा सुखं = आनन्दपूर्वकं, भुवं =
विवाहपूर्वमीयं नवधामिसेवमित्यर्थः । वा = अथ वा, प्रेतभर्तुः = परैराजः, नमरा-
जस्येति भावः । सुखम् = आनन्दं, संप्रस्थातुः = अन्तर्गत्यम् । यज्ञा तज्ञा भवन्तु =

शुभः ॥ २१४ ॥ कठोर लोचना, सीताके पाणिग्रहणक प्रतिकूल और निर्द्वेष वह परशु
मुद्गारे ही गले पर पड़े प्रवेश करे ॥ २२ ॥

इस कारण लक्ष लोचन नवकल्पन करो ।

शेषः—हार वा तीक्ष्ण लोचना परशु कण्ठमें प्रवेश करे । कलश आ पण्ठ (गण्ठ)
निर्द्वेष नैकाग्र्य रहे । समकीय इस लोकमें अधिकाग्र्यधारी भावार्थ वा परराजका सुख
देवे । और वीरों को सीधे परशु समकीय नाक्यों से तीक्ष्ण नमकमर नहीं करे ॥ २१५ ॥

आमदन्त्या—आः, कथं आम्हपि प्रणतिपात्रं ब्राह्मणमात्रमिव मन्वसे
(पुत्राः सामर्थ्यम्)

जानीये नहि आम्हन्त्यमपि मे ! यदीर्घदोःकम्हन्-

गम्हन्त्यस्त्वित्वाहुना एणभुवि स्कन्देन मन्वोअसा ।

माआसीदुभुजसम्पदं मम कथं वक्खाहुसाराविति

कुहेनोअसतमेहि शङ्करकम्हन्त्यस्तं विधातुः शिरः ॥ २४ ॥

आम्हन्त्यस्त्वित्वाहुना एणभुवि स्कन्देन मन्वोअसा—आम्हन्त्यस्त्वित्वाहुना, एणभुवि=विषयेषु भवत्सद्विषयेषु, प्रतीक्षायां सुखदायां, मन्वोअसा=मन्वोअसा, अस्माकमनुकूलं प्रतिकूलं वा भवतु एवं न कथं ब्राह्मणेभ्यः शीर्षं मयसंविप्याम इति आशयः । सम्प्रदायान्ता वृत्तम् ॥ २३ ॥

आम्हन्त्य इति । आ=आर्ग्यम्, एणभुविति=पुत्रिणीं चमिपरहितो कुर्म्यस्तमिति आशयः । प्रणतिपात्रं=प्रणाममात्रभाजनम् ।

जानीये इति । २ । एणभुवि यदीर्घदोःकम्हन्त्यस्त्वित्वाहुना मन्वोअसा 'मम वक्खाहुसाराव' भुजसम्पदं कथं न वक्खासीत्' इति कुहेन स्कन्देन शङ्करकम्हन्त्यस्तं विधातुः शिरः उद्धृतम् येहि, (तादृशम्) आम्हन्त्यमपि अपि नहि जानीये इत्यन्वयः ।

२=अमादरशोकं सम्बोधनपरमिहम् । एणभुवि=भुजसदेवो । यदीर्घदोःकम्हन्त्यस्त्वित्वाहुना = यस्य=मम परद्वारामस्य, शीर्षम् (आपतम्) यदीर्घदोःकम्हन्त्यस्त्वित्वाहुना (वाहुनावाङ्मुखसुगमम्) तेन आस्त्वित्वा (पराजितो) बाहु (मुखो) यस्य, तेन । अतएव मन्वोअसा=मन्वम् (अपमम्) भोज (वहम्) यस्य, तेन । मम=स्कन्दस्य, वक्खाहुसाराव=मुखाऽनुकूलम्, भुजसम्पदं=बाहुसम्पत्तिः, कथं=केन प्रकारेण, न वक्खासीत्=न वक्खात्, इति=विषया मम मुखपदं वक्खात्, यत्तद्वक्खाहुसाराव इति मम भुजस्य कथं न समुत्पादितवान्, येन भागिनि समं समरे अयं लभेयेति विचार्य, कुहेन=कुपितेन, स्कन्देन=गुहेन, शङ्करकम्हन्त्यस्तं=लोकपालिस्थापितं, विधातुः=वृत्तम्, शिरः=मस्तकम्, पक्षम् इति आशयः । उद्धृतम्=अविनयपूर्वकं विधातिलोकम् । येहि=इदित्यम्, तादृशं आम्हन्त्यमपि नहि=

आम्हन्त्य—आः । कथं मुझे भी प्रणामपात्र सामान्य ब्राह्मणों समान जान रहे हो ।

(शिर शीर्षके ताव)

अरे ! भुजसम्पत्ति विषयके शीर्षं बाहुसम्पत्ति पराजित शीर्षक मन्व तेमनाके काचित्कर्मने भरे मुझे के भुजस बाहुसम्पत्ति का कभी नहीं विमर्श किया' ऐसा सोच कर शिवजीके रूपमें रहे मने ब्रह्मजीके मस्तकको अभिनयपूर्वक देखा, आम्हन्त्य आभी यही जानते ॥ १ ॥ २४ ॥

(पुनः स्वार्थम्) किमात्म रे किमात्म ? । 'न' धर्मं प्राप्नोषु प्रवीराः' इति । कथं क्षत्रियजातिवर्धितो प्राक्षणाजतिं लुपाम मन्मसे । सदिशनी-
माचयोः का गरीयसीति सङ्ग्रामतुल्यं निर्णेष्यते ।

पुनः—

भो मरुत् ! भवता समं न चरते सङ्ग्रामवार्तापि नः,

सर्वे हीनवक्ता वयं, वल्लवतां यूयं स्थिता मूर्खनि ।

लक्ष्मणः—जासदग्न्य, एवमेतन् ।

मार्गम् नमि, यदि जानीये ॥ न बोधति । क्वाकिङ्कलापराधस्य विबाहुः पञ्चमं
मिरो हरिश्चत्वा स्वकरे स्थापितवानिति पौराणिकमाकवागमत्राज्जैः अनुसन्धेयम् ।
आवेपनायकपुरः । सार्वभौमिकवित्तं वृत्तम् ॥ २२ ॥

पुनरिति । आत्म = भाषसे । लुपाम मन्मसे = लुपकजानानीये, 'मन्मकर्मन्मनादरे
विभाषाऽपानिषु' इति चतुर्थी । आचयोः ॥ मम तव च । का=कतरा वातिः, प्राक्षणा-
जातिः क्षत्रियजातिर्वैति मावः । गरीयसी = शुक्तरा । सङ्ग्रामतुल्यं = युद्धवद एव ।
निर्णेष्यते = निर्णयं करिष्यति ।

भो मरुति । भो मरुत् ! भवता समं नः सङ्ग्रामवार्तापि न चरते । सर्वे वयं
हीनवक्ता । यूयं वल्लवतां मूर्खनि स्थिता इति पूर्वाह्नेस्माज्जयथा ।

भो मरुत् ॥ हे प्राक्षणा । भवता समं = स्वया सह, वा = अस्माकं, क्षत्रियभक्त्यु-
त्पन्नानामिति भावः । सङ्ग्रामवार्तापि = युद्धप्रवृत्तिरपि, न चरते = न शुभ्रते, सङ्ग्राम-
वार्ताया अपि संघटनायोगात्का कथा सङ्ग्रामस्येति भावः । अत्र हेतुसाह—सर्वं
इति । सर्वं = सकला, वयं = रामादयः, क्षत्रियवात्सुल्लवता इति भावः । हीनवक्ता =
मन्दबुद्धयः । एतद्देवरीत्येन—यूयं = भवन्तः, जासदग्न्यादयो प्राक्षणा इति भावः ।
वल्लवतां = कक्षिणपक्षावा, मूर्खनि = सिरसि, स्थिता = व्यवस्थिता, अतश्चत्वा
सह मदीय सङ्ग्रामवार्ता न संभवत्ये । इति पूर्वार्द्धार्जः । लक्ष्मणः सोऽप्यहं रामोऽपि

(सिर मीमपूर्वक) अरे । क्या कहते हो, क्या कहते ॥ । 'क्षत्रियेण प्राक्षणांमे हीनवक्ता
मन्दबुद्धयः नह्यं करोते ।' क्षत्रियवर्धिते सर्वं कर केते प्राक्षणावादिषो लुपके चरावर वाच
रहे ही । इस कारण अभी हम दोनोंको अद्वितीयोंमें कीय ली वाति मेवसी है शुद्धदुष्म
ही इस बात का निर्णय कर केयें ।

पुनः—हे प्राक्षणा । जलके साथ हमकीगोंकी युद्ध करतेकी बात भी योग्य नहीं है,
क्योंकि हम सबों मन्द बुद्धिवाले और आप वल्लवपक्षोंमें मूर्खन-हैं ।

लक्ष्मण—आपद=बड़ी । यह डोक है ।

एवमारीकवचाम्बयप्रजयिनां कजाधमानामिमां

वुर्वाभा प्रविशन्ति मे अक्षययोर्धिक् सन्नगोत्रे कृपाय् ॥२६॥

रामः—अक्षसिद्ध क्षीरकण्ठे कठोरकोपतया, तत्त्वम्यताम् ।

आमदम्बः—आ, कियुक्तये क्षीरकण्ठ इति । विषकण्ठः स्वल्पसौ ।

क्षमणः—भगवन् ! शितिकण्ठशिष्येण विरोधतः क्षतव्यम् ।

पशुः । बहिर्सीद् = मो दितितवान्, तस्य=ईसाऽमात्यस्य, पशुः = पुरा स्थितम्, उज्ज्वलितम् = विकसितं कणम् । किं तदुज्ज्वलितमित्यत आह—वदिति । अथ भारीकवचाम्बयप्रजयिनां = ॥२६॥ (विषः) एष कवचः (उदरकवचः, रक्षाकवचमिति भावः) यस्य सा, मूलकराज इति भावः, तस्य योऽम्बः (वंशः) तस्मिन् प्रजयिनां (प्रजयकताम्, अर्थाऽर्थमिति शेषः) भारीकवचाभरणपर्याप्तमूलकराज-वंशोत्पन्नामिति भावः । तदस्यानां कजाधमानां = बुद्धवृत्तिधर्मा, लक्षमणसदस्या-नामिति भावः । इसाः = ईश्वरः, बुर्वाभा = पुरुषव्य, 'यस्मादेकगुणमि'त्याकारिका इति भावः । मे = मम, एकविक्रितिवार्धं पूर्वा निःशक्तिपरे कृतवतः पराशुरामस्येति तत्परम् । अक्षययोः = अक्षयोः, मुक्तिः स्त्री लक्षणं लभ 'इत्यमरः' प्रविशन्ति = प्रवेष्टुं कुर्वन्ति । अत एव कप्रयोधे = कप्रियवंशे, कृपा=दया, धिक् = इतीह कप्रिय-योत्रे कृपाया सोऽस्तीर्तनम् । पुरा पराशुरामे निःकृपाऽऽवरणप्रवृत्ते त्वयं वंशोद्भूतः सौदासरीलेऽरमकपुत्रो मूलकाऽभिधानो राजा स्त्रीभि रक्षितः सन्नारीकवचाभ्रि-कवचप्रभावेति पौराणिकमात्म्याममनुसन्धेयम् । सातृकविभीक्षितं कृत्तम् ॥ २६ ॥

राम इति । क्षीरकण्ठे—तत्त्वम्यमिति कुसुदास इति भावः । ॥ = अक्षसिद्ध, उज्ज्वल इत्यर्थः ।

आमदम्ब इति । विषकण्ठः = गरकाकः, कटुमायित्वादिति भावः ।

क्षमण इति । शितिकण्ठशिष्येण = सीककण्ठऽभेवातिना, विषकण्ठे क्षीर-कण्ठस्तत्र गुरुत्वमुक्त्याऽन्यथेति विषकण्ठे ते गुरुताग्यात्तयाऽहं क्षमण्य इति भावः ।

कवच (रामा मूलक) के वंशमें जयच लक्ष्मणवोका मे दूषित, वचन मेरे कर्मानों प्रवेष्ट कर रहे हैं । अक्षियवंशमें वचको विस्तार है ॥ २६ ॥

राम—एत बुर्वाभरे वच्येवर कठोर कोष नहीं करना चाहिये, एत कारण कर्मा कीविय ।

आमदम्ब—भोह ! 'इश्वरी' यह क्या कहे हो । यह विषकण्ठ है ।

क्षमण—ममन् ! शितिकण्ठशिष्य भाषको एत बात पर विशेष रूपसे क्षमा करने चाहिये ।

आमदम्ब्यः—आः, कथं विचकण्ठनामसान्धेन त्वमपि मे शुभः ।

कण्ठमणः—(निहस्य) अन्यामिसन्धानेन मयेवमुक्तं यत् किल—

किरोटमधिकद्वेऽपि बाळे प्राळेयरोचिषि ।

क्षितिकण्ठस्य किं चित्ते घञ्ते कोपाङ्कुरः पद्मम् ॥ २७ ॥

अथास्तवन्तेवासीति विशेषतः श्रुत्युमर्हति ।

आमदम्ब्यः—(स्वगतम्) अहो ! अस्य क्षत्रियवदोर्वाक्यरिपाटीपाट-
पम्, मयत्तु । (प्रक्षराम्) तदिदं क्षान्तमेव मया, अयं तु न क्षमते प्रकृति-
कठोरः कुठारः । शीलं न वेत्ति कथमस्य,

आमदम्ब्य इति । आः = कोपाक्षितिकण्ठस्योत्कण्ठमयमिदम् ।

कण्ठमण इति । अन्त्यामिसन्धानेन = अग्निप्राधान्येनेति भावः । तदेवाग्नि-
सन्धानं प्रदर्शयति—किरीटमिति । बाळे प्राळेयरोचिषि किरीटम् अधिकद्वेऽपि सित-
कण्ठस्य चित्ते कोपाङ्कुरः पद्मं घञ्ते किमित्यन्वयः ।

बाळे = मिश्री, अर्थकम्प इति भावः । प्राळेयरोचिषि = हिमाञ्जौ, कण्ठमसी-
त्वर्थः । 'प्राळेयं मित्रिकान्ते'ति 'रोचिः स्रोत्रिकमे वलीधे' इत्यप्यमरः । किरीटं =
किरीटैश्च, अधिकद्वेऽपि = आकद्वेऽपि, सितिकण्ठस्य = वीरकण्ठस्य, मित्रस्ये-
त्वर्थः । 'तमः कपर्दी श्रीकण्ठः क्षितिकण्ठः कण्ठकट्टम् ।' इत्यमरः । चित्ते = आकाशे,
कोपाङ्कुरः = क्रोधमरोहः, पद्मं = स्थानं, घञ्ते किं = चारमसि किं, नो धारयसीति
भावः । बाक्यमग्रे बोधस्वरूपेण स्वपूर्वावस्थितेऽपि यथा कण्ठः कोपाङ्कुरस्त्वाम्यो
न भवति तथैव सचिक्रम्येन त्वयाऽपि मम बाक्यस्य वचने श्रोत्रो न विधेय इति
भावः । कमुत्कट्टम् ॥ २७ ॥

आमदम्ब्य इति । वाक्परिपाटीपाटर्षं = वचनकामकीलकम्, प्रकृतिकठोरः =
प्रकृत्वा (स्वभावेन) कठोरः कठिनः 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंक्रामाकम्' इति एतान्ता,
लङ्ता समासः ।

आमदम्ब्य—ओह ! विचकण्ठ नामकी तमसासे तू मी येरा शुभ हुआ ।

कण्ठमण—(हँसकर) इन्हें ही जमिनापसे मैंने ऐसा कहा है । जो कि बाक्यमणके
अपने किरीटके कण्ठ होने पर मी शिवजीके चित्तमें क्या कीपाङ्कुर लगान केला है ।
आज तब शिवजीके चित्त ॥ इसलिय आप निरीक्षणः करना करनेके लिए बोध्य है ।

आमदम्ब्य—(मन ही मन) अहो ! इस क्षणिक बाक्यका ऐसा वचनकामकीलक
है । जन्मा (जनाकर) मैंने कहा ही की परन्तु स्वभावकठोर यह परन्तु क्षमा नहीं
करता है । इसका शीक कैसे, प्रम नहीं मान रहे हो ।

क्रीडाविनिर्मितसुदुर्मदोर्विकास-

निःशेषराजकवचस्य परःशयस्य ।

कीलाखकीकलकचैः परितो विविच्य

येन द्विष्यपि विदुषे पृथिवी निवर्त्तते ॥ २५ ॥

(पुनः सामर्थ्यम्) कथमस्य हरःस्त्वावपरशोः शीलस्यपरिशीलितं ते ?

यत्र नममति सङ्गराज्यमुप दुर्धरधाराम्बल-

स्वपरशुशीलं कर्तव्यं—क्रीडति । क्रीडाविनिर्मितसुदुर्मदोर्विकासमिश्रो-
वात्मकवचस्य परःशयस्य (अस्य शीलं कथं न वेत्सीति पूर्वेण वाक्येन सम्बन्धः)
कीलाखकीकलकचैः परितो विविच्य येन द्विषाऽपि निवर्त्तते पृथिवी विदुष इत्यन्वयः ।

क्रीडाविनिर्मितेत्यादिः । क्रीडया (खेलया, बन्नापासेनेति भावः) विनिर्मिता
(विहितः) सुदुर्मदः (अतिमदकुट्टमदोपेतः) दोर्विलासः (अजडता) यश्च
तत्, तादृशं पन्थासेनं (समस्तम्) शयनं (शयनसमूहः), तस्य भयः (हिंसा)
क्रीडाविनिर्मितः सुदुर्मदोर्विलासनिःशेषराजकवचो येन, तस्य । सावकस्य पर-
शयस्य = कुटारस्य, शीलं कथं न वेत्सीति पूर्वपक्षवाक्येन सम्बन्धः । कीलाखकी-
कलकचैः = दधिराडस्थिकेलैः, कीकलं कुक्ष्यमस्ति चेत्यमरः । परितः = सर्वतः,
विविच्य = म्यान्व, येन = परकयेन, द्विषाऽपि = द्वाभ्यां प्रकारान्पामपि, 'संस्थापा-
द्विषाऽर्थे वा' इति धामन्यवः । निवर्त्तते = कर्णप्रधोपेता, पृथिवी = भूमिः, विदुषे =
कुटा । येन परकया सकलव्यवसंहारेण। अविद्येर्भाषणवैयर्थ्यशून्यैश्चिकर्षाभ्यां प्रका-
शभारेण दधिराडस्थिकेलान्पान्पा रक्तगुह्यकृष्णाऽऽकवचं त्रयमुक्ता पृथिवी निवर्त्ततेति
भावाः । वसन्ततिष्ठत् कुक्षम् ॥ २६ ॥

दुवदिति । ते = स्ववेति भ्रमः, 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविषयाणां चक्षुषेण' इति
मिममात् पक्षः । अपरिशीलितम् = अपरिचितम् ।

परशुशीलं वर्णयति—यत्र कामतीति । यत्र सङ्गराज्यमुप क्रमति दुर्धरधाराम्ब-

दुष्टमदकुलं न। दुर्विलासवाके समस्त राजानीका यत्र अवावाच हा करीवाके पर-
वा शीलं कति दुर्म यही मान रहे ही ।

कोट्टः दृष्टी और केहीसे चारों ओर व्याप्त करने जिस परशुने दोनों प्रकारोंसे
दृष्टीसे निवर्त्त (अतिव बलसे—बाधन, वैयर्थ्य और शून्य इन दोनों वन्तीसे युक्त कवचा
कोट्टः दृष्टी और केहीसे अर्थ, तलेन और काकी) कल काकी ॥ २६ ॥

(निरःशयपूर्ण) कति दुर्मने निवर्त्तके प्रत्यक्ष रूप वल परशुने शीलका परिशीलन
नही किया ।

जिसके समस्तभूमिमें मात्र दोजेडर दुर्धर धाराकाके पूर्णिक अतिव कर्णोर्ध्व अर्थसे

आमदम्भ्य—आः, कथं रेणुकादृष्टान्तेन धर्मं विध्वंसति । भवतु ।
(प्रकाशम्) अये क्षत्रियपोत ! अहमिह निरपराधे भवति नृपा परव्यव-
पातेन, त्वत्वं मे प्रकुपिकठोरभाविषं भवत्कण्ठमेव शादयति कुठारः ।

(नेपथ्ये)

अये आमदम्भ्य, कथमतिप्रगल्भसे, त्विदमिदानीं भवच्छासनाय
शरासनमानीयसे ।

आमदम्भ्यः—(विहस्य) कथमयं जनकः ? (उच्चैः) अये यक्षध-
रक्यशिशु ! किं भवतः शरासनेन ? पद्मासन्तमेवावत्प्रभवस्य । (पुनः
सोपश्रवम्) ।

आमदम्भ्य इति ! विध्वंसि = ताडयति । 'अथ ताडये' इति चातोर्कम्, सम्भ-
सारणम् ।

नेपथ्य इति ! अतिप्रगल्भसे = अतिसमपाठने पर्यपसि, भवच्छासनाय =
स्वदम्भनाय ।

आमदम्भ्य इति । उच्चैः = तारस्वरेण ; वाक्प्रवक्तव्यविधाय = वाक्प्रवक्तव्यवाक्ये-
वातिम्, अनेव सम्प्रयोगेन त्वं योगविद्यापर एव न तु कीरधर्मेभिर्वदस्य पर इति
सौम्यते । शरासनेन = शत्रुपा, शरा अस्यन्तेऽनेनेति शरासने, तेषां, 'करणाधिकरण-
योगे'ति करने समुत्तः पद्मासनं = चतुरसीतिसंख्यकेषु योगास्त्रास्त्रादिष्वप्यसनेभ्यस्त-
ममासनं, वक्ष्यन्ते यथा—

‘कूर्चोत्परि विन्यस्य सम्यक्पातके जने ।

अङ्गुली च निषङ्गीचाहस्ताभ्यां म्लुक्कमाधया ।

पञ्चासममिति श्लोकं योधिना हृदयजम् ॥’ इति ।

सोपश्रवम् = सोपश्रवम् ।

आमदम्भ्य—मीह ! पर किं प्रकारसे रेणुकाके दृष्टान्ते मेरे मार्मस्पर्शमें ताडन
करता है, अम्भ्या । (मुताकर) मेरे क्षत्रियवाक्क ! निरपराध मुझारे ऊपर म्भर्मे ही
परव्यवहारकी नाशककटा नहीं है, इसलिये वह मेरा परव्यवहारसे ही कठोरकारी
मुझारे गलेकी ही विष कर देता है ।

(नेपथ्ये)

मेरे नायकदम्भ ! नाथ बहुत ही विठारे विद्या रहे हैं, इस कारण नाथकी दम्भ
देनेके लिये बहुत कष्टा जाता है ।

आमदम्भ्य—(हँसकर) क्या ये वक्ता हैं ! (ऊँचे स्वरसे) मेरे नाथरत्नशशिन् !
नाथको बहुत ही प्रबोधन है ! नाथ पद्मासन का ही नाथकम्भय सोचिए । (फिर)

सुप्ताकं भोः सुप्रदितबहुम्यस्तपद्याकण्डा
 मिष्योत्कण्डा किमिति समिति क्षत्रियभोत्रिपानाम् ।
 तेऽभ्ये चक्रकरतलछलचण्डनिर्मितशायरा-
 धौतादासिद्विपमवमसीपङ्कपुराः प्रवीराः ॥ ३० ॥
 तद्वत् भवता, एतावेष तावत् क्षत्रियप्रवीरौ निर्वापयामि ।

सुप्ताकमिति । भोः सुप्रदितबहुम्यस्तपद्याकण्डाः । क्षत्रियभोत्रिपानां सुप्ताकं समिति किमिति मिष्योत्कण्डा । चक्रकरतलछलचण्डनिर्मितशायराधौतादासिद्विपमवमसीपङ्कपुराः तेऽभ्ये प्रवीरा इत्यन्वयाः ।

भोः = हे, सुप्रदितबहुम्यस्तपद्याकण्डाः = सुप्रदितानि (सुसम्भवाणि) बहुनि (नक्षत्राणि) स्वस्वानि (स्वापितानि) यानि पद्याकानि (पद्यानीकानि), तानि समिति वस्मिन् सः, 'अर्वाभाविम्योऽय' इत्यवस्थया । तावत् = कण्डः (गण्डः) येषां ते, तत्तन्मोचने । हे पद्मवीजभूषितकण्डवेशा योगान्वासिन इति भावः । क्षत्रियभोत्रि-
 पानां = क्षत्रियेषु (राजान्येषु) भोत्रिपानां (वैदिकानाम्) सुप्ताकं = भवता, समिति = संग्रामे, किमिति = किमर्थं, मिष्योत्कण्डा = मुषोत्कण्डिका, निष्कण्टी-
 स्तुक्कमिति भावः ।

हे वैदेहा । अन्धभो योगाऽभ्यासिभः तत्राऽपि क्षोभिता अतो सर्वथा संग्राम-
 विषयकोऽमिहापो निरर्थक इत्याह्वयम् । तर्हि समिति के वीरा इति पूच्छं समवति-
 रोऽन्य इति । चक्रकरतलेत्यादिः = चक्रत् (चक्रम्) यत् करतलं (हस्ततलम्)
 तद्विभक्तम् (संचक्रत्) चण्डाः (तीक्ष्णः) यो निर्द्विषः (सङ्गः) तस्य चारा
 (अग्रभागः) तया भीक्षः (प्रचक्रितः) अरातीनां (सज्ज्याम्) द्विषत् (हस्ति-
 नाम्) मयः (दानजलम्) पृथ संक्षीपङ्कः (कञ्जलकर्मणः) तस्य पुरः (प्रवाहः)
 वैहेते । ते च तावताः अभ्ये = अपर पृथ, न भवन्त इति भावः । प्रवीराः = महा-
 वीराः । अत्र कृपकाऽङ्कुराः । मन्दाकामता वृक्षश्च ॥ ३० ॥

तद्वत्सिति । क्षत्रियप्रवीरौ = राजान्यमहावीरौ, समलक्षणाविति भावः । निर्वा-
 पयामि = निर्वाणौ करोमि, हन्मीति भावः ।

छपदातके ताव) पद्मवीजोक्षी माणाकी गळेंतें बारण करतनाके हे महावीर ! क्षत्रियोर्ते वैदिक होकर भाषकी फिर क्यों तुझमें बूढमूढ फलकता हो रही है ? चक्रकर तलमें चण्डी कुट्ट प्रचण्ड वृक्षानी मोकते अनुगजीके मध्वकर्ण कञ्जलकर्मणके प्रवाहकी धौते-
 वाके हे दूसरे ही महावीर हैं (जाय नहीं) ॥ ३० ॥

इस कारणसे आपनी मानसबलता नहीं है । इन दोनों क्षत्रिय महावीरोंकी ही क्षम्य कर देता हूँ ।

(पुनर्मेव)

अये आम्बदम्ब, कथं दद्या रामभनससुहृदस्य जनवन्नेस्तनयोऽपि
रामदुर्गावोऽसि संकृतः ?

आम्बदम्ब—कममम्माक्षिरसः ? (कञ्चो) अये दत्तानन्द, कथय
रायत्, इवमेवं विधं रामाभिधानं कस्मादुपात्तम् ? मगदतो गौतमाह
गोत्रभिदो वा ? (नेपथ्ये)

अये क्षत्रियापुत्र ! निजजननीकष्टतयावहितकुठार, कुसाङ्गार, कथं
तपस्तुक्कमाक्षिरसमपि क्लृप्तं कलङ्कयसि ?

कामदम्ब—आः, पाप ! कुरुपांसन ! पांसुतापुत्र ! कथं शृणुणामग्रे
तपस्तापहर्षं भवत्यसि ?

पुनरिति । रामभनससुहृदस्य=समः (सामितः, अन्तरिमिदमभिष्ट इति भावत्)
एव धनं (दम्बम्) तेन सहृदस्य (सुहृदस्य) । रामदुर्गाः=साम्प्रतिद्विजः ।

आम्बदम्ब इति । उपात्तम् = गृहीतम् गौतमात् = स्वपितुः । गौतमः कोवाकुलः
सन् इन्द्रादितो स्वपत्नीसहस्यो ह्यापात्तापाणमयी चक्रेत्यर्थस्य ध्वनेः आम्बदम्ब-
स्य स्वमिचारिणीपुत्रत्वं ध्येयते । गोत्रभिदः = इन्द्रात् ।

नेपथ्य इति । क्षत्रियापुत्र = चक्रवर्तीपासुत, परशुराममात् रेषुकाया क्षत्रिया-
त्वादिप्रसूतिः । निजजननीकष्टतयावहितकुठार = निजजनन्याः (स्वमात् रेषुका-
या) कन्दे (पक्षे) चारादितः (हननार्थं नवितः) कुठारा (परशुः) येन, तप-
स्तुते । तपस्तुक्कम् = तपस्तपस्योन्मत्तम् । कलङ्कयसि = कलङ्कितं करोषि ।

कामदम्ब इति । पाप = पापमस्वाश्रयति पापः = पापी, तत्सम्बुद्धौ, 'कर्त-

(पित नेपथ्ये)

अये कामदम्ब ! एत क्वारते साम्प्रतिकं वनसे चतुर्दश अम्बदम्बिके पुत्र होकर मो
जाय कैते आन्तिमें दरिद्र बन गये हैं !

कामदम्ब—वना ये आक्षिरस (कृताम्ब) हैं ? (कञ्चो स्वरसे) अरे कृताम्ब !
मैं तो बरकानो, यह ऐसा आम्बिनामक पदार्थ पुनने कितने पाया ? भगवान् गोत्रमते
पामा ! भगवान् गौतमसे ना दखते ? (नेपथ्ये)

अये क्षत्रियापुत्र ! अपनी माताके कन्दमें परशुका मदार करनेपाके ! कुसाङ्गार !
तुम कैसे तपस्यासे कलत आक्षिरस वंछको भी कलङ्कित कर रहे हो ?

कामदम्ब—मोह पापिन् ! बंधकण्डू ! खेरिणीतत्व ! कैते भार्यकी आगे तपस्याके
आम्बदम्बकी श्रुति कर रहे हो !

राम।—अथयम्, सकललोकविरुद्धात्मिन् भृगूणामङ्गिरसां च कुक्षम्,
तपोविशेषस्तु भर्गोशिष्यस्य । अत एव विज्ञापयामि—

तपः शान्तं चेतः, स्फटिकमणिमालापरिकरः

कुशाः कुण्डो दण्डः, सततमुदवासासभिरतिः ।

मुनीनामेतद्भः समुचितमुद्गमं न वचनं

न वक्रभ्रमरज्जो न शरधनुषी नाऽपि परशुः ॥ ३१ ॥

साविभ्योश् इत्यम् । कुक्षपासन = वक्रकलङ्क । पाशुकाशुज = स्वेतिनीतनय । भृगु-
णां = भृगोः गोषाभ्यस्तामि पुमांसो भृगवस्तैश्च, भृगुवंशोत्पन्नानाम्, अस्माकमिति
शेषः । अत 'अप्यन्धकदृष्टिमुद्रमश्चे'ति सूत्रेण मातृस्वराभ्यो बहुव्रीहे 'अचिपुशुकुत्त-
वसिङ्गोतमाऽङ्गिरोस्परचे'ति कृत् । अन्धवसि = भूयवसि ।

राम इति । भर्गोशिष्यस्य = सिवाऽन्तेवासिनः, 'इयं स्मरहरो मम' इत्यमरः ।

तपः शान्तमिति । चेतः तपःशान्तं, स्फटिकमणिमालापरिकरः, कुशाः कुण्डो
दण्डः, सततम् उदवासासभिरतिः । मुनीनां न एतत् समुचितम्, उद्गमं वचनं न
(समुचितम्), वक्रभ्रमरज्जो न (समुचितः) शरधनुषी न (समुचिते) पराशरणि
न (समुचितः) इत्यमरः । चेतः = चित्तं, तपःशान्तं = तपसा (तपस्वरणैव)
शान्तं (शान्तिसम्पन्नम्), स्फटिकमणिमालापरिकरः = विमलमणिमालाव्याहृ-
तः, 'वज्राऽऽस्मौ परिकरौ' इति त्रिकाण्डशेषः । कुशाः = वृक्षाः, कुण्डो = कम-
ण्डलुः, कुरुपात्रविशेषः । 'अक्षौ कसभद्वयः कुण्डो'त्यमरः । दण्डः = कण्टः, पद्म-
वासस्यग्रीवि इति भावः । एते च—सततम् = अनन्तरम्, उदवाऽऽवासासभिरतिः =
उदवाऽऽवासे (= पर्जन्याकाकपतिकासरण्ये) विरतिः (तत्परता) । मुनीनाम् =
मूर्खीणां, नः = दुष्प्राकम्, एतत् = इयं, पूर्वोक्तं तपःशान्तचेतस्यविक्रममिति
भावः, समुचितम् = उपयुक्तम्, एतद्व्याप्तिकेभ्येन उद्गमम् = उद्गतं, तीक्ष्णमिति
भावः, तादृशं वचनं = साक्षितं, न = न समुचितं, वक्रभ्रमरज्जो = स्फटिकादिहोमविकाराः,

राम—अथयम् । मार्गं और आङ्गिरस इन दोनोंका कुछ तप लोगोंमें प्रसिद्ध है,
कसभर भी तपस्याविशेषसे शिवस्त्रिय परशुरामजीका कुछ तप लोगोंमें प्रसिद्ध है । इसीसे
विज्ञापन करता हूँ ।

विश्व तपस्वरणसे शान्त स्फटिकमणियोंकी मालाको केनेमें दण, कुश, कमण्डलु,
दण्ड और निरन्तर पर्जन्याकापतिकासरण्ये तत्परता भाव से मुनियोंको यह वचित है न कि
तीक्ष्ण वचन, न स्फटिक भूषिकर और न बाण और शत्रु इसी प्रकार परशु की वक्ति
करी ॥ ३१ ॥

(पुनः सन्निवृत्तम्) भवानेव साध्विचारयुः ।

कम् परशुरमुनये ? कुत्र गोत्रं पवित्रं ?

कं घनुरिदमुनम् ? निर्मलं कुत्र शीलम् ? ।

वनसमरकराका कुत्र नाराचहेका ?

कुशकिसलयलोका कुत्र वा पर्णशाखा ? ॥ ३२ ॥

आमदम्भ्यः—कथमन्यमिव मां प्रणतिपात्रं भुनिमात्रं सन्वसे ?

न = न समुचितः, इत्यमेव—परशुरूपी = बाणकार्मुके, न = न समुचिते, उपसंह-
रति—परशुरवि = परश्वयोऽपि, न = नो समुचितः, मुनीश्वरे भवतो मुनिवोर्ग्यं तपः
ज्ञानचेतस्सादिकमेव परिग्राह्यं न तु कटुभाषिताप्रवृत्तिः चरित्रजनपरिग्रहदोषो
म्यवहार इति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यं—कं परशुरिति । (हे मुने !) अद्यपि परशुः क ? पवित्रं ते
गोत्रं कुत्र ? उदग्रम् इदं वनः क ? निर्मलं शीलं कुत्र ? वनसमरकराका नाराचहेका
कुत्र ? वा कुशकिसलयलीला पर्णशाखा कुत्रेत्यन्वयः ।

हे मुने ! इति सन्वोधनपदम्पदाहार्यम् । लघुभुः = लघुभक्तकृपा, परशुः =
कुशरः, क = कुत्र, एतद्वैपरीत्येन पवित्रं = पूतं, ते = तव, आमदम्भवसेति भावः ।
गोत्रं = कुलं, 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलाद्यभिजनाऽन्वयी ।' इत्यमरः । कुत्र = क, एत-
द्वोक्तवृत्तमिति भावः, एवं परशुरपि । उदग्रम् = उन्मत्तम्, इदं = निकटस्थं, वनः
कर्मणः, क = कुत्र, एतद्वैपरीत्येन निर्मलं = कलहूरहितं, शीलं = पवित्रचरितं, 'भुञ्जी
शु चरिते शीलम्', इत्यमरः । कुत्र = क । वनसमरकराका = वनसमरे (भयङ्कर-
मुद्गे) कराका (कलेश) नाराचहेका = नाराचहीना, कुत्र = क, वा = अथवा, कुशकिस-
लयलीला = कुशानां (रमणीयम्) क्लिप्तकानां (फलवानाम्) लीला (विलासः,
विमर्षाद्यर्थमिति शेषः) यस्यां सा । शाखो पर्णशाखा = उदगः) कुत्र = क । अतः
अन्योऽन्यस्तसमरोद्यमचिकीर्षतां भवानिति भावः । अत्र विपरीतवृत्तः, टङ्गकाना-
मुदाहरणं च यथा चन्द्राकोके—'विषमं वधलीलिताद्देकाऽन्वयकल्पनम् । कावलि-
तीव्रतयाः सर्पाः कावली चम्पूभूषणः ॥' इति । माछिनी वृत्तम् ॥ ३२ ॥

आमदम्भ्य इति । प्रणतिपात्रं = प्रणामभाजकम्, लभित्वाद्दीनमात्रमिति भावः ।

(शिरः प्रामर्शं पूर्वम्) अथ ही निवार कोमिद ।

हे मुने ! नमस्क परशु कहाँ ? और पवित्र आपका गोत्र कहाँ ? उदग्र यह वन कहाँ ?
और निर्मल शील कहाँ ? वनहट्ट कुहाँ कटीर नाराचवजकी लोका कहाँ ? और कुहाँ
और परश्वोके विलासते सम्पन्न पर्णशाखा ही कहाँ ? ॥ ३२ ॥

आमदम्भ्य—कैसे मुझे भी अन्य प्रणामपात्र नमस्कारके समान बात रहे हो ?

स एव जामदग्न्यः कथयन्—

धुण्यवचकठोरकण्ठविगलन्तीलासधस्तासदि-

भिर्धुंसाभिषवस्य कृतशिरसां केसान्कुसान्कुर्वतः ।

पृष्ठान् रक्तजलाञ्जलीन् पितृगणो यस्य कर्णं विस्मितः

सन्तोषेण जुगुप्सया करुणया चासेन हासेन च ॥ ३३ ॥

तद्वत्समिधानीमपि—

कृत्वा त्रिःसप्तकृत्यः समिति विद्यासनं पूर्वमुर्वपितीनां

कृत्वात्यस्तसकृत्यः पुनरपि कर्णं दुर्मवानां नृपाणाम् ।

जात्रमयीरुधं वर्जयति—धुण्यवचेति । धुण्यवचकठोरकण्ठविगलन्तीलासधस्तासदि-
भिर्धुंसाभिषवस्य कृतशिरसां केसान् कुसान् कुर्वतो यस्य पितृगणो रक्तजलाञ्ज-
लीन् पृष्ठान् सन्तोषेण जुगुप्सया करुणया चासेन हासेन च कर्णं विस्मित इत्यन्वयः ।

धुण्यवचेत्यादिः = धुण्याः (धूर्जिताः) वधूनां (वधिवानाम्) ये कठोरकण्ठः
(कठिनगलाः) सेभ्यो विगलन्ती (प्रस्रवन्ती) या कीलाकधारासदि (रक्तप्रवाह-
नदी) तथा भिर्धुंसः (निष्पावितः) अभिषवः (स्नायम्) येन, तत्प । कृतशिर-
सां = कुशानि (क्षिप्रानि) वामि किरन्ति (मूर्ध्ना), सेवास्य । केसान्ज्याकान्,
कुसान् = दर्भान्, कुर्वतः = विद्वधतः, अस्व = मम, पितृगणः = विद्यादिपूर्वजसमूहः,
रक्तजलाञ्जलीन् = सोणिताञ्जलीन्, पृष्ठान् = आश्रयान्, सन्तोषेण = सप्रसीमा-
जमितया प्रीत्या, जुगुप्सया = हिसादसंभजमितया कृपया, करुणया = कर्मपुर्वता-
जमितया कृपया, चासेन = चक्रमुत्तमत्रिभुवर्गोत्प्रेन भयेन, हासेन च = वृष्टिजति-
तेन यद्वा स्वर्गजजननपराक्रमावतिशयविभोक्तव्यवितेन हास्येन च । कर्णं = कश्चि-
न्मार्कं, 'काष्ठाञ्ज्वनोदरमग्नसंयोग' इति द्वितीया । विस्मितः = विस्मयमुक्तः, संवा-
त् इति लेखः । आर्द्रकविकीरिते वृष्टम् ॥ ३३ ॥

कर्तव्यं निरूपयति—कृत्वेति । पूर्वं समिति उर्वपितीनां त्रिसप्तकृत्यो विद्यासनं

नै वद् जामदग्न्यः कृ—

धूर्जिता धनिर्वाके कठोर कण्ठोले यद्वाही पूर्वं रक्तजलाञ्ज्वलीसे स्नान करनेवाळे, अडे
गवे किरावे केसोव्ही कुक्ष वनानेवाळे निरु मेरे पितृगण रक्षावर्जिर्वाको वरुण करते
सन्तोषसे, धुण्यसे, दयासे 'चाससे नीर हासवसे भी कुक्ष समवे एक भावार्थजुक्त हो
गये थे ॥ ३३ ॥

तस्य नासको खोद दे, मयी मी—

मधुके पुत्रने रक्थीस वर, राजावर्गका संहार कर फिर मी हुक मयवाळे, राजाभोक्त्र

निर्माय कमापतीनां प्रतिस्तरद्वयैकतमेकतमाङ्गैः-

कापाकीमकभाणां कृतिरिति भगवतो मेरवस्वार्थयसि ॥३॥

पमः—

प्रसीद त्वं, रोषाद्विरम, कुच मे चेतसि गिरं,
चिरं यच्चायासैर्बहुभिरिह चारेर्जितमभूत् ।

इत्या पुनरपि दुर्मन्दायां सुपाणय भण्यत् सप्तकृत्यः कथं कृत्वा प्रतिस्तरद्वयैः
कमापतीनाम् उत्तमैः उत्तमाङ्गैः आगतो मेरवस्य कापाकीम् अचमाकां कृतिरिति
कर्त्तव्यमीत्यन्वयः ।

पूर्व = माक, समिति = संस्मारे, उर्ध्वपतीनां = श्रुतीनां, विस्तृतकृत्यः = एक-
विस्तिष्ठनं, विस्तारणं = हिननं, कृत्वा = विधाय, पुनरपि = सुपोऽपि, दुर्मन्दायां =
दुर्पोद्बन्धायां, सुपाणां = राज्ञां, अपरम् = अन्यम्, पूर्वविलक्षणमिति भावः । सप्त-
कृत्यः = सप्तवारं, 'संस्काराणां विद्याभ्यासवृत्तिराजने कृत्यसूच' इति कृत्यसूच । कथं =
कथं, कृत्वा = विधाय, प्रतिस्तरद्वयैः = प्रतिवृत्ताङ्गैः, कमापतीनां = राज्ञां, उत्तमैः
उत्कृष्टैः, उत्तमाङ्गैः = निरोभिः, अगताः = पेशव्यादिसंभ्रमस्य, मेरवस्यभ्यस्त-
राजपुत्रस्य, मेरवायेति भावः, 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमाश्रित्यैवाद्यां बहुप्रेते'ति
निबन्धादुत्पद्यते नदी । कापाकीं = मरकपाधमयीम्, अचमाकां = राजाचमाकां,
कृतिरिति = कीमत्, अर्पयामि = समर्पयिष्यामि, 'वर्तमानसमीप्ये वर्तमानवद्' इति
सविश्वक कर्त् । अहं पुनरपि पारसप्तकं वाप्य दुर्मन्दाय सुपतीम् इत्या तन्मुच्यमाकां
मगातो मेरवाय समर्पयिष्यामीति भावः । सप्तवारं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

शमः पुनः पञ्चशतमं प्रसादयितुं यत्ते—प्रसीदिति । हे शत्रुतिक्रम ! त्वं प्रसीद,
रोषाद् विरम, चेतसि मे चिरं कुच, विषम् आपासैः बहुभिः चारैः यत् यत्कृतं
वित्तम् अभूत्, तत् कित्तो वित्तम् इव पतन्निव चारे विष्कोभतरलं शुभा भा हाह-
वेत्यन्वयः ।

हे शत्रुतिक्रम = हे शत्रुचक्रवर्त्तक !, त्वं, प्रसीद मसजो मय, अतो रोषात् =
कोपात्, 'विरमे'ति पदेन बोधे 'शत्रुत्साविरामप्रसादाभ्यामाशुपसंस्कारणम्' इति
पक्षमी । विरम = विरहो भव, एवं च चेतसि = चित्ते, मे = मम, चिरं = वाणीय,
अनुचरान्मिकांमिति भावः । कुच = निवेदि, निवेदीति भावः । अभिरं = बहुभाकं

सप्त वारं वचनं प्रतिवृत्तं आकृतं राजाकोके उत्तम चित्तो मगात् मेरवकोके मरक-
पाधमयी अचमाकां सप्तवारं समर्पितं कर्त्ता हं ॥ ३४ ॥

शमः—हे शत्रुचक्रवर्त्तक ! आप प्रसन्न हो, शीघ्रसे विरह हो, चित्तमें मेरी वात्
कथनी । शत्रु अन्वयक चक्रवर्त्तक प्रवर्त्तीति भीरु कर्त्त यत् की कालने यत्तः पूर्वं चरितको

पक्षोद्धृतं, वित्तं कितव इव विचोमतत्थं

तदेतस्मिन्वारे क्लृप्तिकथं । मा हारय मुखा ॥ ३५ ॥

जामदग्न्यः—कथं रे हारयिष्यामि ? (निश्चय) अथवा—

किं नाम बाम्बम्बरपण्डितेषु युष्मासु वाणी। प्रचुराः प्रसुजे ।

बाप्मान् रिपुप्राणहराम्भवीवान् सर्वेऽपि यूयं सहिताः सहम्बम् ॥ ३६ ॥

रामः—किमन्यैः, नन्वहमेव हरशरासनारोपणोपनीतज्ञानकीकरकि-

बाप्मान्, बाप्मान् किंवाविशेषनमिदम् । बापासेऽप्यपत्नी, बाप्मान् = बन्धिका, बापैः = पत्नीभिः, यद्, पक्षोद्धृतं = पक्षः पूर्णं बरितं, मितं = स्वापत्नीकृतम्, नमून्, सत् = पक्षोद्धृतं, कितवः = कृतकृतं, 'पूर्वोऽप्यदेवी कितवोऽप्यपूर्वो कृतकृतसमः । इत्यमरः । वित्तम् इव = धनम् इव, एतस्मिन् = अस्मिन्, वारे = अवसरे 'मित्रहन्तः वसतो वारौ' इत्यमरः । विचोमतत्थं = विचोमेन (मन्त्राणां प्रयोगेन) एतत् (वचनम्) यथा स्वावस्था । मुखा = मूर्ध्नि, मा हारय = नो विनाशाय, सर्वं धाव्यमासा-
त्यधिकारैः बहुवारैश्च सञ्चितं पक्षोद्धृतमस्मिन्वसरे बाष्पकवातिवचनप्रदक्षिणं मा विनाशं नैकीरिति भावः । अत्रोपमाश्लक्ष्णः । मिकरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

किं नामेति । बाम्बम्बरपण्डितेषु युष्मासु प्रचुरा वाणीः किं नाम प्रसुजे ? सर्वेऽपि यूयं सहिताः (सन्तः) रिपुप्राणहरान् महीमान् बाम्बान् सहम्बन्तिवचनः ।

बाम्बम्बरपण्डितेषु = वार्ता (वाणीनाम्) समूहः (वाक्पङ्क्तयः) तस्मिन् पण्डित-
ताः (कुशाह्वयः), सेवु । बाप्मान् युष्मासु = भक्त्युत्तमादिभिः भावः । प्रचुराः =
वाणीः, वाणी। = वाचा, किं नाम = किमर्थं, प्रसुजे = प्रसुजस्मि, सर्वेऽपि = सकल-
अपि, यूयं = रामादयः, सहिताः = समवेताः । सन्तः, रिपुप्राणहरान् = अयुप्राणहरान्,
महीमान् = मत्स्यपण्डितः, बाप्मान् = सरान्, सहम्बं = सर्वतः । बाष्पकवातिवचन-
प्रदक्षिणवदपि युष्मान्बाम्बानैश्च विप्रावधिभ्यासीति भावः । इन्द्रकला वृत्तम् ॥ ३६ ॥

राम इति । हरेत्वाभिः = हरशरासनस्य (शिवकायुक्तर) आरोपणेन (सञ्जी-

स्वाधीनं किंवा वा, सर्वे मुबारो मेरे बनकी वंवावा रे क्लीतरह इत्यारं बाष्पकवाते विनाश-
मत् करे ॥ ३५ ॥

बाम्बम्बर—क्यों रे । मैं कैसे विनाश कराऊंगा ? (विचार कर) अथवा—

बचनोंके नाशकरनेमें पण्डित तुमकोगोते अधिक बात क्या कहें ? तुमकोन तुमके
सब रहने होकर वनके प्राणोंको हरण करनेवाके मेरे बाणोंको सब छोड़ ॥ ३६ ॥

राम—भीतीका क्या प्रयोग है ? मैं ही शिवकलाके कथानेने प्राण जीवोंके हस्त-

स्तस्यलीलानिहितकमलमालिकाभिलक्ष्यपदलकोलाहलसङ्गीतययःपरिम-
लेन कलःस्थलेन सहिष्ये ।

आमवगम्यः—

ईदमत्यक्तपुराणचापद्वयमप्रोद्भूतगर्भोदति-

क्यप्रस्थं कतरा, स मे तव मुदः सोढुं न शक्तः करान् ।

मुदादिद्वयप्रदाद्वयवतः पद्मासनात्सादर्-

कमेनेन) उपनीता (भ्राता) ज्ञानादी (सीता) तस्याः करौ (हस्तौ) किञ्च-
करौ (पङ्कजे) इव, तान्मां क्षीकृता (विहासेन) निहिता (स्वाप्तिता) वा कल-
कमालिका (पङ्कजम्) तस्यां भिलक्ष्य (संगम्यमानम्) यत् न किपदलं अमरस-
मृदा) तस्य कोलाहलः (कलकला) एव संगीतं (गानम्) तदेव ययः परिमलः
(कीर्तिसुराण्यः) परिमलेन । तद्वत्तेन अकलपकेन = तदात्मकेन । अन्यस्याऽ-
पराधाऽभावाद्दमेन मयत्तदुक्तान्मांसासहिष्य इति भावः । अत्रैवपदेन अन्ययोग-
व्यवस्थेः सूच्यते ।

ईतेति । ईदमत्यक्तपुराणचापद्वयमप्रोद्भूतगर्भोदति क्यप्रः त्वं कतरा ? स तव
मुदः मे करान् सोढुं न शक्तः । मुदाद् इद्वयप्रदाय् भागवतः पद्मासनाय् कौमिल्ले
मन्वा)राधमयात् अर्द्धौ तव सादरम् अवाचय किञ्चैवमवतः ।

ईदमत्यक्त्यादिः = ईदमे (कियेन) त्यक्तः (मुक्तः) पुराणः (प्राचीनः, कीर्त-
इति भावः) वा चापः (यन्त्रः) तस्य द्वाभौ (कलकलयम्) तेन प्रोद्भूताः (लघु-
लक्ष्म) दो गर्भः (अलयेन) तेन वा उदतिः (उदतता) तया अम्रः (अमृतता),
कीर्णद्वयपुर्भावेनेन अर्द्धोदक इति भावः । तद्वत्तत्त्वं, कतरा = का, किं कतुम्—
सः = निष्ठातमिकम् इति भावः, तव = मयत्त, मुदः = मनुविवाचाचौ, दिवासित
इति भावः । सोम्ये, मेन्वातद्वयस्य करान् = वागान्, सोढुं = मर्षितुं, न शक्तः
न समर्थः, मनुर्विकाचार्थे विष्ठातद्विकमलवदुक्तः = कौमिल्लोऽपि मन्वात्तद्वय-
समर्थः किं पुनस्तन्मिति भावः ।

कौमिल्लस्यात्मापुधमर्षनाऽभ्यामर्ष्य प्रतिपादयति—मुदादिति । मुदात्-नीताय्,

कलकोले विहासेन स्वापित क्यकमालेन संगत होमिवाके अमरसमृद्धे कोलाहल संगीत-
मौर्तिसुराण्ये वृत्त वरःस्थले सह शृंग ।

कामद्वय—विमलीते परित्यक्त कीर्ण मनुकी सोढनेते कतन्त एवके कौमिल्लते
माहुल तुव कीव हो ? तुम्हारे प्रह (विवाचिच) मी मेरे वाणीको सहवेमें समर्थ नहीं
है । लघुल और कमील वर कौमिल्ले मयदान् मन्वाकीते विष्ठातमिकमीने मेरे नाराचौके

ममाराचभयादयाचत किञ्च आक्षीं तन्नू कौशिकः ॥ ३७ ॥

रामः—(स्वयम्) क्वं भगवन्तं विश्वामित्रमधिक्षिपति ? तवतः परं न सहिष्ये । (प्रकराम्)

ईशस्य कपुराणचापवक्षनघोषभूतगर्वोदति-

ज्यमोऽहं कतरः स ते मम गुरुः सोऽहं न द्यक्तं वारान् ।

तुष्टविष्टवरप्रदाङ्गवचतः पद्मासनात्सद्वरं

त्वन्माराचभयादयाचत किञ्च आक्षीं तन्नू कौशिकः ॥ ३८ ॥

(इति पदव्यत्यासेन पुनः श्लोके पठति । पुनः साटोपम्) अये आमदम्य,

उपासकमेति शेषः । अत एव इष्टवरप्रदावकात्, भगवतः सार्धैर्धर्मसम्पन्नात्, पद्मासनात् = कमलासनात्, मङ्गल इति भावः । कारकत्वं विवक्षाऽधीनत्वात् 'अकथितं चे'ति कर्मत्वाद्भावात् । द्वितीया, कौशिकः = विश्वामित्रः, कुशिकत्वात्पुनः पुमानिति 'अव्ययवकबुद्धिः कुशवश्चेत्यम् । सम्माराचभयात् = मध्यमवेदनभीतेः, 'मन्दरेडभास्तु नाराचा' इत्यमरः । सर्वलोहमयः वरविशेषो वाराचः । आक्षीं = आक्षानसम्बन्धिनीं, तन्नू = तारीरं, 'क्षिपां भूर्तिस्तनुस्तनु' इत्यमरः । अयाचत = याचित्वात् । किमेति सम्भावनायाम् । मङ्गलवचनं निमित्तमाक्षौशिकः पितृमहं आक्षानसरीरमयाचतेति भावः । अत्र कौशिकस्य आक्षानसरीरयाचनाऽसम्भवेऽपि सम्भ्रमस्तत्कथनादुक्तिव्योक्तिरलङ्कारः । आर्द्रकविक्षी-
कितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

राम इति । अधिक्षिपति = निन्दति ।

ईशस्य केति । गुरुनिन्दामसहमाधो रामः पूर्वार्धे 'त्वमित्यस्य स्थाने 'अहम्' इति पदं 'स ते तमे'त्यत्र 'स ते ममे'ति पदानि निवेश्योत्तरार्धे च 'अद्वित्यस्य स्थाने 'त्व'इति पदं निवेश्य प्रत्ययकृत्वेन तमेव रखोक्तं पठति । अतः प्रामेयं व्यस्यत्-
पूर्वत्वात्निगद्यन्वाक्यादमेतत्प्रथमम् ॥ ३८ ॥

इतीति । पदव्यत्यासेन = सम्यपरिवर्तनेन । साटोपं = साहजिकं पद्मा वना ।

अथवा भादरपूर्वकं आक्षानसरीरको याचना कीं थी ॥ ३७ ॥

राम—(मन ही मन) क्यों मैं भगवान् विश्वामित्रकी भी निन्दा कर रहे हूँ ? तब कारण क्या इससे अधिक नहीं चढ़ेगा । (सुनकर)

'ईशस्य क' इत्यादि ३७ वें पद्यमें पूर्वार्धमें 'आक्षान पुन' के स्थानमें 'आक्षान मे' 'गुहारे गुरु' के स्थानमें 'मेरे गुरु' एवं पद्योंको । उत्तरार्धमें 'मेरे नाराचोंके' परके 'गुहारे नाराचोंके' पद रखकर तीनों पद्योंमें मन्त्रकथन वरसंग्रहे हैं ॥ ३८ ॥

(इतनपचार पदपरिवर्तन कर फिर श्लोक पढ़ते हैं । फिर अङ्कद्वारपूर्वक) मेरे आसक्तम्य ।

साकोदण्डं कुलिराकटिनं भस्ममेतेन मम

ममं वाक्यं तव इति महम्मममेतावता किम् ?

वैयर्थ्यं वा भवतु, यदि वा नाम नारायणोयं

मेतत् किञ्चिदुपगमयति स मे दुर्महो दोषिकासः ॥६६॥

आमदगम्यः—साधु रे क्षत्रियपोष, साधु, यत्किञ्च आमदगम्यताम्न-
आदृष्टान्नः पुरतः खद्योत इव विद्योतसे । किमात्म रे किमात्म ?

साकोदण्डमिति । कुलिराकटिनं तत् कोदण्डम् भस्मं भस्म पुरेन किम् । तव
इति महत् सख्यं ममं भवतु । एतावता किम् ? एतत् वैयर्थ्यं वा भवतु नाम,
यदि वा नारायणोयं, स मे दुर्महो दोषिकासः एतत् किञ्चित् य मयमसीत्यन्वयः ।

कुलिराकटिनं = वस्त्रकटोरं, तत् = प्रसिद्धं, कोदण्डं = धनुः, भस्मं = क्षण्डितं,
संज्ञमे द्विरिति । पुरेन = धनुर्मञ्जनेन, किं = काऽऽपत्तिः, न काऽप्येति भावः ।
तथा च तव = भवता, इति = इदमे, महत् = विसर्गं, सख्यं = कीटकं, युष्मकीक-
कमिति भावः, ममं ममं = कीकितं, सम्ज्ञमे द्विरिति । पुरतःकान्तरे पूर्वस्य 'मम'
स्थाने 'भुगम' इति शब्दस्तत्र कुटिलमित्यर्थः । एतावता = एतत्परिमाणेन कार्येण,
कोदण्डमञ्जनेन खद्योदपाणिभिर्यकसख्यप्रवेक्षेन वेति भावः । किं = काऽऽपत्तिः,
न काऽप्येति भावः । एतत् = मज्जगं धनुः, वैयर्थ्यं वा भवतु नाम = यौनं वाञ्छतु
नाम । मीमे अमीणि यस्म स प्यथा, 'अहुमीहौ सख्यधनो स्वाहाः' इति सख्य-
साधनः यत् । यद्यस्यैवं वैयर्थ्यं, 'तस्येदमिदम्' 'न यन्मदं पयःशाय्यां' पूर्वो न
वाञ्छयैव' इत्येवागमः । तामेति सम्प्रादनापम् । यदि वा = अथ वा, नाराय-
णोयं = नारायणसाम्बन्धि, भवतु तामेति शेषः । परं, सः = प्रसिद्धः, मे = मम,
दुर्महः = गर्वपरिपूर्णः, दोषिकासः = बाहुविकसनः, 'भुगम' इत्येवो दोषित्वमस्य ।
एतत् = इदं । किञ्चित् = किमपि, य गणयति = नो विचारयति । धनुषि भस्मेऽपि
कस्येदं धनुरेतापरिणाम कीकितो भविष्यतीति सखीयो बाहुविकासो न कितपि किञ्-
क्षरति भावः । मन्दाकान्ता वृत्तम् ॥ ६९ ॥

सातदगम्य इति । क्षत्रियपोष = कथमाकथ, 'पोषः पाकोऽर्थको विज्जः धनुः' :

यद्यप्यस्य कटोरं यद् धनुः हुटं गया तो हुट गया, एतसे क्या । भाषके इदमर्थे विद्याज
कुल कोदण्ड गद् गया तो गद् गया एतनेसे क्या । यह धनु विनयोका ही न नारायणका
ही, पर मेरा गर्वपूर्ण बाहुविकास यह धनुः को नहीं बिलगा ही ॥ ६९ ॥

आमदगम्य—पाद रे क्षत्रियपोषे यन्मे । पाद । नो कि मुख आमदगम्यनायक सूर्यके
पाये भुगमही पाद यमक रहे ही ।

रामः—(तदेव पठति) नन्विदं भूयोऽभ्युपगते (पुनस्तदेव पठति) ।

आमदम्भ्यः—साधु स्मारितोऽस्मि ।

रामः—किं तत् ?

आमदम्भ्यः—

करावाताद्विष्णोस्तरङ्गममावापरिमल-

भ्रमदृष्टकृष्णानिद्रुणितविकासः समञ्जसि ।

तु वस्य ज्याघोषः सुररिपुवधूर्गोरवित-

म्वनिस्वाध्यायानां प्रपञ्च इव तत्कार्मुकमिदम् ॥३०॥

सायकः विशुद्धित्थनरः । चक्रधामनः=प्रचण्डतेजसः, सूर्यस्येति आशयः । जाघोतः=ज्योतिरिक्तः । सूर्यलकावो सद्योतविक्रममिथ मद्भितके तद्दर्शनमकाङ्क्षमिति आशयः ।

राम इति । भूयोऽपि=पुनरपि ।

आमदम्भ्य इति । स्मारितः=कामितस्मरणः ।

स्मारितविषयं सूचयति—करावातादिति । विष्णोः करावातात् तरङ्गममावापरिमल-परिमलभ्रमदृष्टकृष्णानिद्रुणितविकासः सुररिपुवधूर्गोरवितम्वनिस्वाध्यायानां प्रपञ्च इव तत् कार्मुकमिदम् ।

विष्णोः=वाराणस्यस्थ, करावातात्=हस्तावयवात्, तरङ्गममावेत्यादिः=तरङ्गा (वज्राका) वा वनमाळा (वनगुम्फितपुष्पवल्, यद्वा भावापुलकम्बरी माळा) तस्याः परिमलेन (सीरलेन) भ्रमन्ता (विचकन्ता) ये भूतान् (भ्रमराः) तेषां चाना (स्वराः) तेन द्विगुणितः (द्विगुणीकृतः) विकासः (विस्तारः) यस्य सा । एवं च सुररिपुवधूर्गोरवितम्वनिस्वाध्यायानां=सुररिपूनां (वैत्यानां, विशुद्धतामिति आशयः) यो वधूर्गोः (पराजितगृहः) तस्य अवितम्वनः (रोदन-जम्बा) एव ये स्वाध्यायाः (वेदाः), तेषाम् । मणञ्च इव=जोहार इव । यस्य=

क्या कहते हो दे क्या कहते हो !

राम—(उसी वहीकहो कहते हैं) इसे मैं फिर भी कहता हूँ (फिर वही वहीकहो कहते हैं ।)

आमदम्भ्य—मन्त्रों स्मरण करावा ।

राम—यह क्या ?

आमदम्भ्य—विष्णुके करावातसे वज्रक वनमाळाकी सुन्दर से धूमनेकले भ्रमरोंके शब्दसे दुग्गा विस्तारकाका, वैत्यपतिवरीके रोनेके जम्बरक केरोंके प्रण साहच मिल (वतु) की मल्लमाळा झट्टर है, यह वैसा मनु है ॥ ४० ॥

रामः—

करपट्टेकहकोठे कीर्तित येन शार्ङ्गिणः ।

कदेतत् ?

जामदग्न्यः—

अथ किम् ? यदि शक्नोऽसि गृह्णाम विगृह्णाम वा ॥ ४१ ॥

रामः—गृह्णामि ।

जामदग्न्यः—सवेहि, वाट्यायमाणभवद्भुजजननन्तुरा वसुन्धरामसि-

ममकतो विष्णोः कार्मुकस्य, सः = प्रसिद्धः, उवाचोवा = मौर्वीसम्भूतः, इह = सविस्मृत-
स्थितं, तद = प्रसिद्धं, कार्मुकं = धनुः, मसीति शेषः । यथा—

‘अज्ञानः प्रमत्तं कुर्वादावाप्नोति न सर्वदा ।

सज्जानोऽकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विसीर्यति ॥’ (२१०२)

इति मन्वन्तुवासनात् वेदरामो प्रणवस्य प्रागुक्तकारणे भवति तथैव विष्णुहस्त-
स्थितस्य यस्य कार्मुकस्य मित्रिणीसम्भूतो वैश्वपत्नीरोदवस्योपक्रमकपो भवति, इह
तथैव समुद्रपर्वं विष्णुकोदण्डमिति भावः । अत्र त्वविदुः स्वाभ्याषायामारोपामुपका-
कृताः सिसृगिणीवृत्तम् ॥ ४० ॥

करोति । येन शार्ङ्गिणः करपट्टेकहकोठे कीर्तितमिति पूर्वाश्रयत्वात् ।

येन = धनुषा, शार्ङ्गिणः = विष्णोः, करपट्टेकहकोठे = दस्तकमालमध्यभागे, पट्टे
रोहतीति पट्टेकहस्य, ‘ह्रुपथमानीकितः क’ इति कस्यत्यः । ‘तदुक्ते इति बहुवचनं’
इत्युक्तसमासः । कर एव पट्टेकहं, तस्य कोठे । कीर्तितं = विस्तृतम् । अत्र
कपकाऽलङ्कारः ।

रामस्य प्रत्यक्षपरोक्षिरियम् ।

अथ किमिति । अथ किम् ? शक्नोऽसि यदि, गृह्णाम । वा विगृह्णामेत्युत्तरार्थान्वयः ।

अस किं = तथैव, पूर्णोक्तसीकृतिद्योतकमभ्यपनुगच्छम् । शक्नोऽसि यदि = सम-
र्थोऽसि चेत्, गृह्णाम = उपपत्त्यर्थ, अनुव्रित्तिः शेषः । वा = अथवा, पचाम्तर इति
शब्दः । विगृह्णाम = विमर्हं कुर्वन्, यथा सह संग्रामे कुर्वीति भावः । परगृह्णामस्योत्तर-
रूपोक्तिरियम् । अनुवृत्त्युक्तम् ॥ ४१ ॥

जामदग्न्य इति । वाट्यायमाणभवद्भुजजननन्तुरा = वाट्यायमाणः (वायस्युह-

राम—मित्रवै विष्णुके करकमकके मन्वन्तुवामे शीका श्री श्री । २६ यह ही क्या ।

जामदग्न्य—नौर क्या ? तनर्व ही तो केशी वा युद्ध करो ॥ ४१ ॥

राम—केटा हूँ ।

जामदग्न्य—हव भागी । भाँस गिरायेदाके गुम्हारे दाम्बधोले जलत नौर नालत

कन्य समरक्षमां क्षमामवतरामः ।

(इति निष्क्रान्तौ)

काम्यम्—(विमोक्ष्य सहर्षं सकौतुकम्)

मा शान्मभवं धनुरिवैवमपि प्रयातु

भङ्गप्रसङ्गमिति मन्त्रयत्तदुत्तरेण ।

आर्येण कार्मुकमपीवमहो सहेत

चक्रीकृतं भगवतो गदध्वजस्य ॥ ४२ ॥

अहो ! कौतुकम् ।

अतः, 'बाणोध्माम्बासुहृदम' इति वयङ्मतादरः साधुः) भयद्वयुजनाः (लक्ष-
कुम्भजनाः) तैर्बन्धुरासु (यज्ञतापताम्) । वसुधारां = सुखम्, अतिप्रमदः = परि-
त्यक्तः, समरक्षमां = युद्धोचितम् ।

क्षमां = प्रमोक्षम् । रक्षभूमौ युद्धवर्तनस्य भवताचार्येण निमित्तत्वात्क्षमामभयं
संभवते ।

रामकर्तृकविष्णुकोट्युद्धानमभं वर्णयति—मा शान्मभमिति । शान्मभं धनुरिव
इवमपि भङ्गप्रसङ्गं मा प्रयातु इति मन्त्रयत्तदुत्तरेण आर्येण भगवतो गदध्वजस्य
इवं कार्मुकमपि सहेतं चक्रीकृतम् । अहो ! हृत्प्रभवः ।

शान्मभं = ज्ञेयं, धनुरिव = कार्मुकमिव, इवमपि = विकटस्थितं शाराचनबधुरिव,
भङ्गप्रसङ्गं = सङ्कटावसरं, मा प्रयातु = न प्राप्नोतु, इति = इत्थं विचार्य, मन्त्र-
यत्तदुत्तरेण = मन्त्रं (मन्त्रं यथा स्वातन्त्र्या, भङ्गमीत्या न सवेगमिति भावः)
कलमती (संशयमती) कुली (बाहु) यस्य सः, तेन आर्येण = पूज्येण, रामेनेत्यर्थः ।
भगवता = पदविधिरवर्तनस्यवस्थस्य, गदध्वजस्य = विष्णोः, इव = विकटस्थितं कार्मुक-
मपि = धनुरिव, सहेतुम् = अनायासं, चक्रीकृतम् = नाशमितम्, अहो = आश्चर्यं
वस्तुस्थितिकौतुकम् ॥ ४२ ॥

(जीव-जीव) क्रीडनको क्रीडकर युद्धके किं वस्तुक्त क्रीडनपर चतरे ।

(दीनों निकल पड़ते हैं)

काम्यम्—(देखकर इवं जीव क्रीडनके साथ)

'शिवधनुके समान यह जीव क्रीडनके अनंतरकी भाव न करे' ऐसा विचार कर जीवके
बाहुओंको चक्रीबाहे नाच में मगवाय किन्तुके इत धनुको ही अनन्तर ही चक्रीके
समान कर दिया (घटा किया) आश्चर्य है ॥ ४२ ॥

अहो ! कौतुक है ।

उत्तिष्ठन्नापयकादमरपरिहृतज्योमरन्नाचगाही
 बाणोऽयं राघवस्य त्रिवंशपुरगतिच्छेदकज्ञानार्थस्य ।
 हंसीभूतः सुरस्त्रीकरकमलागलपुष्पसौरभ्यमुभय-
 दृष्ट्वासीसङ्गीतमङ्गीपरिचक्षितयथाः स्वर्गपर्यङ्गमेति ॥ ४३ ॥
 (ततः प्रविशती राम-नामदम्बरी)

उत्तिष्ठ इति । आपयकाय उत्तिष्ठा नमरपरिहृतज्योमरन्नाचगाही मार्गस्य
 त्रिवंशपुरगतिच्छेदकस्य राघवस्यायं बाणो हंसीभूतः सुरस्त्रीकरकमलागलपुष्पसौ-
 रभ्यमुभयदृष्ट्वासीसङ्गीतमङ्गीपरिचक्षितयथाः स्वर्गपर्यङ्गम् पुरीत्यम्बवा । आपयकाय
 कोदकमण्डपात्, नारायणस्येति शेषः । उत्तिष्ठाः निर्गतः, नमरपरिहृतज्योम-
 रन्नाचगाही = नमरैः (वेधैः) परिहृत (त्यक्तं, भयादिति शेषः) । यह्योम (आका-
 शम्) तस्य रश्मि (निर्यास) तद्वगाहसे (प्रविशसि) तन्मीमा । मार्गस्य =
 परशुरामस्य, त्रिवंशपुरगतिच्छेदकस्य चित्राभां (देवानाम्) यः (पुरी, स्वर्ग-
 हत्यर्थः) त्रिवंशपुरम्, 'अक्षररूपमामासचे' इति समासाज्जोऽस्त्ययः । त्रिवं-
 शपुरे गतिः (यमवयम्) तच्छेदकम् (तत्प्रतिबन्धकरकः, परशुरामस्य स्वर्गगम-
 नविरोधक इति भावः) । तादृशो राघवस्य = रामवत्स्य, अयं = विकृतस्थः, बाणः
 सरा, हंसीभूतः = हंस इवाकृतः, सुरस्त्रीकरकमलेवाभिः = सुरस्त्रीणां (देवकला-
 नाम्) कलाः (हस्ताः) एव कमलानि (पद्मानि) तेभ्यो गच्छन्ति (पतन्ति)
 यानि पुष्पाणि, तेषां सौरभ्यं (सुगन्धः) तस्मिन् सुम्बन्धः (लोभं कुर्वन्) वा
 यच्छब्दः (ज्ञमर्थः) तासां वा सङ्गीतमङ्गी (सङ्गीतरचना) तया परिचक्षितं (परिता
 प्रक्षुलम्) यथाः (समष्टा) यस्य सः । पुतादसाः सन्, राघवनामस्य विधेयविशे-
 षमेवेत्यः । स्वर्गपर्यङ्गं = सुरलोकाकपपस्यङ्गम् पुरी = गच्छति, आसौहृतीत्यर्थः ।
 स्वर्गपर्यन्तं राघवनामस्य प्रवर्तनीति भावः । राघवनामस्याज्योमरात्तेव सुरलोकाः-
 नमीप्सोः परशुरामस्य स्वर्गगतिरेव विदधा न तु तीर्थगतिरिति पौराणिकी कथाऽ-
 नुसन्धेया । तत्र ह्यनुमासः । सन्धराहृतम् ॥ ४३ ॥

युष्मकस्ते निजका इमा, देवताभोक्ते परिचक्षन् नाकासके क्षिप्रं प्रवेश करमेवाका
 और परशुरामके स्वर्गगमनका प्रतिबन्धक राघवस्यैव यह भाव, इसके लक्ष्य जापरन
 करता हुआ देवकलाभांको करकमलोंके गिरते हुए फूलोंकी सुगन्धमें भीम करमेवाकी
 अनमिषोंकी सङ्गीतरचनासे विस्तीर्ण नम्रवाका होकर स्वर्गलोक पर जाहीहम कर
 रहा है ॥ ४३ ॥

(तब राम और नामदम्ब प्रवेश करते हैं)

आमिदम्यः—(रामं विलोक्य, स्वगतम्)

त्रिकोणी कोकीयं मुहुमुद्यतानेन कमते

विकारं वा धत्ते मुनिजनमनः पङ्कजवनम् ।

अये कोऽयं बाहः कुवलयदक्षर्यामकतनु-

र्जनाद्योग्योतिः, कथमिदमद्यो सत् परिणतम् ॥४४॥

(पुनर्विद्युय)

आपूरणाय पुरचैरिशरासनस्य

बाष्पात्मना परिणतः किल कीलया यः ।

आमिदम्यस्य चित्रितत्वं सूचयति—त्रिकोणीति । उद्यतानेन त्रिकोणी कोकी-
मुहं कमते, वा मुनिजनमनःपङ्कजवनं विकारं धत्ते । अये ! कुवलयदक्षर्यामकतनु-
अयं बाहः कः ? अयम्योतिः सत् ज्योतिः इहं कथं परिणतम् ? अहो ! इत्यम्यथा ।
उद्यतम् = उद्यतं उन्नतमानेन, अक्षोर्पूर्वकात् 'अयमसी' इति आतोऽनुदात्तलक्षण-
मात्मनेपदमनित्यमिति नियमेन परस्मैपदित्वाद्बुटः आधादेशः । अहो 'बुट किट कटी'
स्वस्य प्रथितस्य इवातोर्लटः सत्रादेशः । अनेन = रासचक्ष्वेकैति, भावः, त्रिकोणी =
कोकिलपी, सैव कोकी = चक्रमाकी, व्यस्तकूपकम् । मुहुं = इहं, कमते = गान्धोति ।
वा = अथ वा, मुनिजनमनःपङ्कजवनं = मुनिजनमनसि (अविनाशितानि) एव
पङ्कजानि (कमलानि) तेषां वनं (समूहः), विकारं = प्रत्युत्पन्नं, धत्ते = धार-
यति । अये = आश्चर्यम् । कुवलयदक्षर्यामकतनुः = कुवलयस्य (नीलकण्ठस्य)
चट्टे (पत्रे) तद्विव रयामका (रयामकर्णा) तनुः (शरीरम्) यस्य सः, अयं =
निकटस्थः, बाहः = किशोरः, कः = किमभिधातः । अयम्योतिः = कोकिलजनः, सत् =
सुतिस्वस्तिपुरावप्रसिद्धं ज्योतिः = ब्रह्मरूपं तेजः, 'आहित्यमर्ज' समसः परस्मात्
इति सूतेरिति भावः । इहं = निकटस्थबाहुरूपं सत्, कथं = केन प्रकारेण, परिणतम् =
परिणाममापन्नम् । अहो = आश्चर्यम् । अत्र कथममलङ्कारः । त्रिकोणीबुटम् ॥४४॥
आपूरणावेति । या पुरचैरिशरासनस्य आपूरणाय करिकया बाष्पात्मना परिणतः

आमिदम्यः—(रामको देखकर मन ही मन)

वदित होनेवाले मनसे त्रिकोणी रूप पक्षपाथी प्रत्यक्ष हो रही है । अथवा मुनिजनोंके
चित्तकूप कमल विकसित रहे हैं । अये ! नीलकण्ठके वनके समूह रयामका शरीरमात्र
यह बाहक कौन है ? अयम्योति कारण वह ब्रह्मरूप तेज कैसे निकलकरने परिणत हो गया ?
आश्चर्य है ॥ ४४ ॥

(फिर विचारकर)

वो शिवपुरुषो पूर्ण करनेके निश्चयीकासे बालकमने परिणत हुए थे । ये ही पुरातन पुरुष

अतरोपनाय पुनरस्य च एव शब्दे

वाक्यात्मना परिणतः पुनरस्य पुराणः ॥ ४६ ॥

(प्रकृतम्)—वत्स ! इति ।

(रामः सत्त्वमधोमुच्यते इति)

आमन्त्र्य—(संप्रत्यक्षम्) (रामस्य चित्तमुच्यते च) किमिति शब्दा-
स्मानम् ।

कमलकण्ठमुचिषोचन ! अस्तवया स्वमहिमोच्चमनैरधरीकृतः ।

किम् । स एव पुराणः पुनरस्य पुनरस्य आरोपनाय वाक्यात्मना परिणतः (इति)
शब्दे द्वावयवः ।

वा = पुराणपुनरस्य; पुरमैरितरात्मनस्य = पुरमैरिभिः (निपुरातो, सङ्करस्त्वर्थः)
सरात्मनस्य (भद्रा) आपुण्याय (पूर्णतत्त्वव्याख्याय), लीक्या = व्यवासायेन,
वाक्यात्मना = सरस्वरूपेण, परिणतः = परिणामं प्राप्नोति, पुरा हरकर्तृकनिपुराणमसत्त्वे
मगवाभिन्नुर्हरारूपतामगादिति वीराणिकी कथाऽन्तःपुनरुच्येयः । किमेति
संभावनामाह । स एव = पुराऽभिहित एव, पुराणः = प्राचीनः, पुनरस्य = पुनराह,
व्यवासाभिन्नुच्यते भावः । पुनः = भूयः, अहम् = हरकर्तृकस्य, आरोपनाय = समवाय-
नाभ्यात्मना = रासात्मनोऽलंकरणेन, परिणतः = परिणामं गतः । इति = इत्यर्थः, शब्दे =
शब्देन । कर्मोच्चेवाऽङ्कितः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ४५ ॥

राम इति । सकृज्ज = कज्जालहितं यथा तथा, कज्जाल च स्वमसत्ताभ्यामावृ-
त्तेया । सा च कथा विवेक्षाकीनतागुणसूचिका ।

कमलोचिः । हे कमलकण्ठमुचिषोचन ! त्वया स्वमहिमोच्चमनैः च अधरीकृतः ।
अतौ नरः त्रिवक्तोदिकिरीटमधीन् अपि किं न अधरीकृतो ? इत्यन्वयः ।

हे कमलकण्ठमुचिषोचन = हे पद्मसदृशमयन, त्वया = भक्त्या, स्वमहिमोच्चमनैः =
स्वमहिम्ना (आत्ममहात्म्य) ऊच्चमनैः (संवर्द्धनैः), यः = जगत्, मज्जुप इति भावः ।
अधरीकृतः = विरक्तः, स्वसम्पत्कर्मप्रकाशनेन सादृशो जगो विविध इति भावः ।

किं हव भद्रो कठानेके विप हाकृज्जले परिणत इव हि नै देसी संभावना करवा हूँ ॥ ४५ ॥
(गुमाकर) वत्स ! ४५८ भाग्य ।

(राम छम्बाके साथ अधोमुख हो रहते हैं ।)

आमन्त्र्य—(समीप बाहर) (रामजी ठुङ्गी कठार) क्यों उल्लिखित होर दे होई
हे कमलकोचन । तुमने जगत् यदिमाही इतिथोके किसे भीषा विद्याना । वत्स

न किमसावधरीकुर्वते नरस्त्रिवरकोटिकिरीटमणीनपि ॥ ४६ ॥

रामः—(चाक्षि बद्ध्वा) भगवन् , अज्ञमनेन, दुर्विन्ध्यवृद्धमस्तिनी-
कृतमात्मानं तावद्वधकरणनक्षकिरणतरङ्गिणीजलेन क्षालयामि ।

अण्डमेव किल तिरमरोचिषः सौम्यमेव किल शीतरोचिषः ।

अण्डसौम्यमिति कीदृकावहं नौमि तावकमहं मङ्गमहः ॥ ४७ ॥

अस्ती = भवद्विभक्तिः, नरः = जपः, मद्रूप इति भावः । विद्वत्कोटिकिरीटमणीन्
अपि = त्रिविधानां (ईशानात्) कोटिः (कोटिसंख्या, पयसिर्बुध्नवत्योपकचनम्)
तस्याः किरीटमणीन् अपि (सुकुट्टरत्नान्-अपि), किं, न त्वधरीकुर्वते = किं न तिर-
स्कारोति ? अपि त्वधरीकुर्वते एवेति भावः । सकलसुराणामनमस्कारणीयोऽहं भवता
पराजित इहं भवदुत्कर्षोऽप्यहमिति भावः । नृपकिरन्मिव कृतम् 'दुतविक्रमिष्यताम्
नमो भरी ।' इति वद्वचनम् ॥ ४६ ॥

राम इति । दुर्विन्ध्यवृद्धमस्तिनीकृतं = दुर्विन्ध्यः (भविनीत भावः, भवद्विस्मय-
कारणमूत इति भावः) एव पट्टः (कर्दमः, गर्वरूपममयवहसेमेति भावः) जेव
मस्तिनीकृतम् (मकीमसीकृतम्) । आत्मानं = स्वम् । मद्रूपरजनक्षकिरणतरङ्गि-
णीजलेन = भवद्वधरणनक्षकिरणार्तां (स्वस्यावन्धरमंधूजानाम्) या तरङ्गिणी (नदी)
तस्या जलेन (अमृता) । क्षालयामि = मृषाकयामि । भवद्वधरणकमरयोः पयस-
नेन स्वीयमौहृत्वं परिहरामीति भावः ।

रामः परशुरामे सौति—अण्डमेवेति । तिरमरोचिषो महाः अण्डमेव किल । शीत-
रोचिषो महः सौम्यमेव किल । अण्डसौम्यमिति कीदृकावहं तावकं मह्यं महः
महं नौमीरप्यवः ।

तिरमरोचिषः = सूर्यस्य, तिरमं रोचिषस्य, तस्य । मद्रुः = तेजः, अण्डमेव =
तीक्ष्णमेव, उष्णमेवेत्यर्थः । न तु शीतकमिति भावः । किञ्चेति विज्ञेयः । एवं च
शीतरोचिषः = अन्नमसः, महः = कामिः, सौम्यमेव = अनुग्रमेव शीतकमेवेति,
भावः न तुष्णमिति शेषः । किञ्चेति प्रसिद्धी । सूर्यचन्द्रावेकया भागधेयसोमेति-
ह्यर्थं प्रकाशयति—अण्डसौम्यमिति । अण्डसौम्यं = तीक्ष्णमात्मानं, कुटे चन्द्रे, सिद्धे

ननुभ्य करोषीं देवताभ्योकी सुकुट्टमभ्योकी नो क्वा भीषा नदी दिक्काज है ॥ ४६ ॥

रामः—(नक्षत्रि नाभकर) मगधम् । इसकी नाभरवकता नदी है । नविनीतमावरूप
पट्ट (शीषध) से मणित किये गये जपनेकी भाषके वरपवकभिर्योकी नदीके जलसे
मृषाकृत करता हूँ ।

सूर्यका तेज तीक्ष्ण ही है और चन्द्रमाकी कामित शीतक ही है । तीक्ष्ण और शीतक
एक प्रकारसे सुकुट्टकी उत्पन्न करनेवाले आपके वरकृत ऐसी में स्तुति करता हूँ ॥ ४७ ॥

(इति पादभोः पतति)

कामदम्भ्यः—अपि कस्यापनिचे ! कारीरुक्तिरपि त्वयि पुनरुक्तिरेव । तथापीवमाशास्महे ।

यथाः पूरं दूरं तनु, सुतमुनेषोत्पन्नानी-

समस्तग्राविव्यातप ! तप सहस्राणि शरदाम् ।

इयं आस्तां पुष्पभृतरमिताकण्ठेभ्यश्चिर-

श्रितोत्सङ्गा नन्दमुदरन्तमुज्जङ्गा विजगती ॥ ४८ ॥

कौम्यमिति भावः । इति = भलेन प्रकारेण, मिथोविरुद्धधर्मविभक्त्यादिति भावः । कौमुकावर्गः = कुतूहलोत्पादकं, तावत् = मन्वीयं तथेदं तावत्, पुष्पदम्भोदरन्त-सङ्घेति, पक्षेऽऽ, 'तत्कममकण्ठेभ्यश्च' इत्येकपक्षे तदकादेशः । भृत् = उत्कृष्टं, महा = देवाः, अयं = रामः, शीमि = स्तौमि ।

अत्र सूर्यपद्मतेजोभ्यामपि परस्परामतेजस आधिव्यवर्णनाद्व्यतिरेकाद्व्याहारादयोक्तानुक्तम् । तद्व्यवर्णनं यथा—'रामराविह रयोक्ता कर्मा' इति ॥ ४७ ॥

आत्मदम्भ इति : त्वयि = भवति विषये ।

परस्परामो रामं प्रयासिषे प्रयुक्ते—यथा पूरमिति । हे सुतमुनेषोरपलक्षणीत-मस्तग्राविव्यातप ! यथा पूरं दूरं तनु, सरदां सहस्राणि तप । इयं विजगती च पुष्पभृतरमिताकण्ठेभ्यश्च चिरः श्रितोत्सङ्गा नन्दमुदरन्तमुज्जङ्गा आस्तामित्यन्वयः ।

हे सुतमुनेषोत्पन्नानीतमस्तग्राविव्यातप = सुतानां (सुन्दरीणाम्) नेत्राणि (भवमानि) एव उत्पन्नाणि (मौक्तिकमकराणि) सेवां वनी (संवृतिः) तस्याः समस्तग्रा (विभीक्ष्णित्वम्), तत्र हे व्यातपः (हे सूर्य) भयापनोदनेन पुनः शीमधनविकासहेतोर् सूर्यसममम हे रामभद्रेति भावः । यमः पूरं = कीर्तिसमूहः, दूरं = विपुलदैर्घ्यं यावत्, तनु = विस्तारम् । एवं च सरदां = वर्षाणां, 'हापसोऽस्मी शरत्समा' इत्यमरः । सहस्राणि = शक्यताभिः, अपरिमितकाठपर्यन्तमिति भावः । तप = तपस्वकर्मो मन्त्रः । इयम् = एषा, विजगती = लोकवितवी, स्वर्गा-

(यथा बहिरः परोपरं पश्येत्)

कामदम्भ्यः—हे कस्यापनिचे ! तुम्हारे विषयमें गांधीबादकी चकि भी पुनराक्ति हो है । श्री भी वम यह दम्भ कर रहे हैं ।

तुम्हारेपक्षोंके वैयर्थ्यमर्कोके विकासमें हे सूर्यका रामकाय ! कीर्तिसमूहकी दूर तक फैलाओ और हमारी वनी तक व्याप्त करवाओ वनी । यह मौक्तिकयी तुम्हारे वानीसे माने गये रावनी कीटीसे पुन और समुद्रिका भद्रमच करनेवाले वनी, मनुष्यों और वनीसे सम्पन्न हो ॥ ४८ ॥

सद्वृत्तानीहि माम् । (इति निष्कांतः) ।

रामः—(लक्ष्मणं प्रति) ननु कथं नयतपथमतिक्रान्त एव भगवान् ?
उदेहि । भृशकुलतिलाकषियोगस्त्रिभमात्मानं बन्धुजनविलोकनेन विनो-
दपायः ।

(इति निष्पन्दाः सर्वे)

हृदि चतुर्थोज्ज्वल ।

सर्वपातलासिद्धा चेत्पर्यः । सुभ्यश्चरकमितकङ्केश्वरशिरःजितोस्तद्वा = सुभ्य-
श्चरः । (भवद्भाजैः) समितः (आन्तिमितः, इत्य इति भावः) यो कङ्केश्वरः
(राज्यः) तस्य शिरोभिः (मरुतैः) धितः (आजितः) तस्मै (मध्यभाजः)
अस्याः सा । तथा च भवत्सुवर्गसुजङ्गा = लोककण्टकराद्यभ्रमधमेन मण्डितः (सह-
स्रिभुसवर्गः) गुरवश्शुजङ्गाः (देवमानवसर्पाः, स्वर्गमित्यंशात्सलोकवासिने
इति भावः) यस्याः सा । राज्ञी वास्ताम् = तिष्ठति । इदमेव मध्यमासंभ्रमि-
त्यर्थः । अथ रूपकाभ्यङ्कारः । इत्युत्पातस्य । विजयिणी वृत्तम् ॥ ३८ ॥

रश्म इति । नृपवपुः = लोचनद्वयम् ।

इति श्रीसेवदामसर्मप्रणीतायां कण्ठक्याजमिश्रवार्ध भक्तविरासव-
व्याख्यायां सप्तमोऽङ्कः ।

ॐ सत्यम्हीमहामयम् चरणार्पणमाधु ।

अब आते व्यमुखा हो । (ऐसा कहकर जाते हैं)

रहम—(रुद्धमण से) देखो भगवान् चेतनमार्गसे ओढ हो गये । तब जाभी । सुप्रबल भयानक विधो गले छिल्ल जपबेदी बान्धनलोकसे दूर करने विधोवित करे ।

(सम जाते हैं)

शशि चतुर्थे भागः ६

अथ पञ्चमोऽङ्कः

(उक्तः प्रकृतो वक्ता-यमुने)

गङ्गा—सखि क्वलिन्दि, किमिति दुर्मनायसे ?

यमुना—मग्नमिति, भागीरथि, अस्ति कारणम् । (मग्नमिति, भार्गवः, अस्ति काष्णम्)

गङ्गा—कीदृशं वत् ?

यमुना—एकं वाचा, अस्ति मम भ्राता सुमीव इति । (एकं वाचं सखि सह भावा सुमीवोति)

गङ्गा—(सखीपुङ्गवम्, आत्मगतम्) अथ, कथमस्याः कपिकुलोत्पन्नोऽपि भ्राता ? (विस्मयः) उपपन्नमिदम् । अनयोः स्वल्पेक एवायं प्रसयिता सयिता । (प्रकाशम्) अथ किन्तस्य ?

यमुना—भोऽतिबलिष्ठेन दुष्टबलीमुखेन बाधितमयेन परिभूत एकदुर्गमाश्रयः कतिपय-परिवारस्तिष्ठति । (होतिबलिष्ठेन दुष्टबलीमुखेन)

गङ्गेति । किमिति = किमर्थम् । दुर्मनायसे = दुर्मना (विमनाः) इव भावयसि 'कतुः कपक् सखीपुङ्गवे'ति क्वकस्तावत्, सखीपुङ्गव । 'दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यात्' इत्यमरः । सुखितयिषा भवत्योति मायः ।

सखीपुङ्गमिति : किमर्थम् = विचार्य । उपपन्नम् = उपपत्तिपुङ्गवम् । प्रसयिता = उन्मादकः ।

यमुनेति । दुष्टबलीमुखेन = दोषपुङ्गवकारेण । कतिपयपरिवारः = अल्पपरिवारः ।

(अन्तरं गङ्गा भीरु यमुना प्रवेश करती है)

गङ्गा—सखि यमुने ! क्यों दुःखित हो रही हो ?

यमुना—मग्नमिति गङ्गे । कारण है ।

गङ्गा—एक क्या ?

यमुना—एक यह है कि मेरे भाई सुमीव हैं ।

गङ्गा—(सखीपुङ्गवम्, मन ही मन) कहे ! कैसे बानरकुलों चलन सुमीव भी इनके भाई हो गये ? (विचार कर) हाँ, यह बात ठीक है । हर दोनोंके पिता एक ही एवं हैं । (प्रकाशम्) अब क्या क्या हुआ ?

यमुना—अश्वत्थ वनवासी वाली नामके दुष्ट बानरसे तिरस्कृत होकर वे एक दुर्गमें

व्यक्तियामोक्षण पण्डितो एककुम्भप्रतारको कल्पप्रकारो विधिः)

गङ्गा—नन्विमावपि भ्रातरौ । तत् किमनयोरीदृशं वैराग्यम् (इत्य-
ञ्चैव एव) अथवा 'एकामियाभिलाषो हि धीर्जं वैरमहातरः' इति क्वात-
मेतत् । तत्किमनेन । द्वितीयमपि कारणं कथय तावत् ।

यमुना—कस्मिन्नपि दिवसे गृहीततपस्याविष मन्मथवसन्ती तावपि
सकृन् जटाधरो एका चक्रवाकस्तनी चन्द्रवदना सांमुशीर्यं बलिमुप-
पन्ताः । (कस्मिन्पि दिवसे गृहीततपस्ता विष मन्मथवसन्ता दोषि तस्या
जटावत् एका चक्रवाकयन्त्री चन्द्रवदना मं उत्तरीष्य पत्निकं बलिमुं उपपन्ता)

गङ्गा—ततस्ततः ?

यमुना—ततश्च तथा क्षणं विराम्य प्रणम्य मुकुलितकरयुगलयाऽह-
मीदृशं भणित्वा=अयि देवि दिनकरनन्दिनि ! पुनरपि निजकुटुम्बस्य दर्शन-
प्रसादं कुरुष्व । (ततो अ स्त्री कणं विराम्य प्रणमिष्य सुवलिपकरकमलज-

गच्छेति । हसौ = बालिसुग्रीवौ । वैराग्यं = वैराग्यविरहितम्, 'वायुवैराग्यः
अकथनेयेयः करण' इति स्वकृतात्कालययः । एकामियाभिलाषा = एकं (समा-
नम्) यत् आमित्रं (भोग्यवस्तु) लभितुं अभिलाषः (कामः) । 'आमित्रं पुं-
पुंसकम् । भोग्यवस्तुनि संश्लेषेऽप्युक्तोचै पदकेऽपि च ।' इति मेदिनी । वैरमहा-
तरः = वैरम् (विरोधः) एव महातरः (विशालवृक्षः) तस्य । शीर्षं = कारणम् ।
पुनरिदमन्वोधवस्तुति सञ्जाताऽभिलाषयोर्हं योर्वितोका स्वामात्रिक एवेति साधः ।

यमुनेति । गृहीततपस्यौ = आकृतितपस्यौ ।

गच्छेति । ततस्ततः = तदन्तरं तदनन्तरं, सम्प्रमे श्रित्यसि ।

यमुनेति । विराम्य = विराम्य कृत्वा । मुकुलितकरयुगलयाऽमुकुलितं (कुम्भ-

कलिपत्र परिवारोके साध रहते हैं ।

गङ्गा—ये दोनों भाई हैं । तब ईश्वर दोनोंमें क्यों ऐसी दुश्मनी हो गई । (ऐसा भावा
हो करनेपर) जबका 'एक योग्यवस्तुमें इच्छा हो विरोधकम महाद्वन्द्वका बीज है' यह
वात सत्य है । तब इससे क्या ? दूसरा कारण भी बतलानो ।

यमुना—किसी दिन तपस्या करनेवाके कामदेव और वसन्तके समान अत्यन्तरी हो
शुबक और चक्रवाकस्तनी एक सुन्दरी की सुखी पारधरं बचनेका उपक्रम कर रहे थे ।

गङ्गा—तब क्या हुआ, तब क्या हुआ ?

यमुना—तब उसी सुन्दरीके कुछ समय तक विराम्य-कर दोनोंको बीचकर सुखे देख

अस्यैव अङ्गेरेरिदं विव्यतां । 'अयि देवि विषयकरणमिदं, पुनोविनिष्कृत्युक्तम्' इति ।

गङ्गा—तत्कथं सम्भावयसि ?

यमुना—(गङ्गायाः कर्मे) एवमेव । (एकमेव)

गङ्गा—असम्भावनीयमिदम् । तन्मूनमाधर्शरात्रमिति हृदया किमप्य-
लीकमनुभूतवती । (निश्चय) अथवा को जानाति विधेः संविधानवैदग्ध्यम् ?

यमुना—यदि संवृत्तस्तत्कथं भगवत्या न गोचरोऽयं वृत्तान्तः ? ।
(न संवृत्तौ ता कथं भगवदीयं न गोचरो ह्यो वृत्ततो)

गङ्गा—न किञ्चिदेतत् । मया हि मङ्गलोकादागतायाः सरस्वत्याः
समागममुल्लस्यप्रचितया स्थितम् । तदेहि । इयमदूरे सरयूः । तेन हि
तन्मुखादेव निरूपयामः । (इति परिक्रमवः)

कितम्) करतुगलं (हस्तपुष्पम्) यस्याः सा, तथा, कृतान्तयेति भावः । विन-
करनमिदं = धूर्ततये । दर्शनप्रसादं = विवेककलाश्रुमहम् ।

गङ्गेति । सम्भावयसि = सम्भावनां करोषि ।

यमुनेति । एवमेवेत्यनेनोपक्रम्य रामजननिर्वासनवृत्तं सूचितम् ।

गङ्गेति । आधर्शरात्रमिति हृदया = आधर्शरात्रम् (अन्तर्मोक्षमात्रम्) कर्तव्य-
मिति हृदये । अस्मिन् (अस्मिन्) हृदये (चित्तम्) यस्याः सा, कालिन्दा आधर्शपर्वतकुलम्
प्रसिद्धमेव । अलीकं धनम् । विधेः = मङ्गलः । संविधानवैदग्ध्यं = एवमाश्चर्यम् ।

यमुनेति । गोचरः = भावः ।

गङ्गेति । समागममुल्लस्यप्रचितया = समागममुल्ले (सम्मेलनानन्दे) स्वप्नम्

कथा—'देवि त्वत्कुलद्वारे । भाव फिर भी अपने कुटुम्बकी वरुन देनेका बहुत बड़ा करे' ।

गङ्गा—तब क्या विचार करती हो ।

यमुना—(गङ्गाके कानमें) ऐसा क्या... ..

गङ्गा—यह असंभव है । निश्चय ही ऐक्यो भावतोसे अस्मिन् हृदये होनी ही तुम्हें
विश्वः अनुभव हो गया है । (विचारकर) अथवा मङ्गलवर्क रचनावापुरी कीम भावना है ।

यमुना—क्या हो गया है तो भगवती (भाव) को । भाव नही हुआ ।

गङ्गा—यह कुछ नहीं । मङ्गलवर्क भावें हुई सरस्वतीके सयागममुल्ले में व्यथित
हो रही थी । इतिहास भावो । यह सरयू (कामदा) निकल रही है । अतः इन्हीं मुखसे
वमजोला निकल कर आ । (दोनों परिक्रम करती हैं ।)

(प्रविश्य)

सरयू—देखी ! नमो वाय् ।

समे—आलि ! अविशमज्ञता भव ।

गङ्गा—(सरयू हस्ते ग्रहीत्वा) सखि ! कथं तापनिमग्नमज्ञन्ते ?

सरयू—भगवति ! प्रतीपमाभाषसे । ननु सञ्ज्ञापद्विनिमज्जनमनु-
भवन्त्या मेऽर्धावसम्बन्धोऽयमज्ञसन्ताप इति ।

गङ्गा—स्पर्धुं तावदावेदय ।

सरयू—

बहस्यगलितैः सन्तापोष्णैस्तडाग्तविहारिभि-

र्दशरथपुरीपौरक्षीणां बिलोचनवारिभिः ।

(आकुलम्) विपश्य (मना) यस्याः सा, तथा । निरुपशामा = निरुपजं कुर्मो ।

उभे इति । आलि = सखि, 'कृदिकारावक्तिना' इति कौप् । अविशमज्ञता =
अविशमं (सत्यम्) मज्ञत्वं (कथ्यमाणम्) यस्याः सा ।

मज्जेति । अज्ञकम् = अनुकम्पितमज्ञम्, 'अनुकम्पताम्' इति कम् । तापनिमग्नं =
सन्तापयुक्तमित्यर्थः ।

सरयूरिति । प्रतीपं = विपरीतम् । सञ्ज्ञापद्विनिमज्जनं = सञ्ज्ञा (जीका) एव
पञ्चा (कर्मम्) कस्मिन् निमज्जनम् (प्रसक्तत्वेम्) । अर्धावसम्बन्धः = स्तोको-
क्तमभूत् इति भावः ।

सरभूकञ्जातापदेष्टुभूतं वृत्तान्तं प्रतिपादयति—बहस्यगलितैरेति । हे मातः !
बहस्यगलितैः सन्तापोष्णैः तडाग्तविहारिभिः दशरथपुरीपौरक्षीणां बिलोचनवारि-
भिः उपचयकर्तृ सन्तापोष्णानां निजां तन्मूढवती अहम् इह सञ्ज्ञां बहसि जहासि
येत्यादि ।

(प्रवेशकर)

सरयू—देखी ! आप दोनोंकी नमस्कार है ।

दोनों—सखि ! सत्यमज्ञकसे सम्पन्न बनी रहो ।

गङ्गा—(सरयूका हाथ एकद्वार) सखि ! तुम्हारा शरीर क्यों तापनिमग्न रहा है ?

सरयू—भगवति ! आप एकटी बात कह रही हैं । कथारूप पद्विनिमज्जनका
अनुभव करती हुई मेरा यह अज्ञसन्ताप आधा अवसम्बन्ध (सहाय) है ।

गङ्गा—साफ बात बातकामो ।

सरयू—बचिक गिरे हुए, सन्तापसे घग्ना (घटम), तीरके पास बहतेपाके, असीम

उपपन्नवती सन्तापोष्वा मिजां कयती तनु-

मिह मुहुर्हं मारतर्जजां बहामि जहामि च ॥ १ ॥

गङ्गा—(वातहृत्) किं पुनरासामुद्बुधेः स्वरणम् ।

सरयू—(तज्जनाः कर्म) एवमेवम् ।

गङ्गा—हा इन्दुमतिनन्दन, हा सकललोकहरस्वतन्त्रनन्दन, हा महाकोदण्डपरिहृत, ■ आरसच्छलप्रियसख, ■ निमतनयभिर्विशेषप्रीति-परिपलितसकललोक, हा रामभद्रैकजीवित, (इति मूर्च्छति)

बहकगतिर्योः = बहकम् (अधिकं यथा तथा) गतिर्योः (मिःपुतैः) । सन्ता-पोष्वाः = सन्तापेन (अधिकतापेन, रामवनवासद्वयसमर्पणतिलनितेनेति भावः) उष्वाः (तप्तैः) । तज्जनास्त्विहारिमिः = तीरान्तविहारिणीकैः, वनारथपुरीपौरस्त्रीणां हृदयमुपार्श्व (अवोष्वायाम्) याः पौरस्त्रियः (पुरनार्यः) सखाय । विलोचन-वारिमि = वनमसन्निधौ, लज्जलैरिति यावत् । उपपन्नवती = वृद्धिपुच्छं, ततश्च सन्तापोष्वाः = सन्तापेन (अतिशयतापेन, लोकलनितेनेति भावः) उष्वाः (उष्क-शाम्), मिजां = स्वकीयां, तनुं = शरीरं, बहती = धारयन्ती, जहं = सरयूः, इह = अस्मिन् समये । उज्ज्वां = जीवां, बहामि = धारयामि, जहामि च = परित्यजामि च, कञ्जामिति शेषः । महाकोकावस्थावासापवितायां सखा उपपन्ने कञ्जामनुभवामि परिवेद्यमकाशमेव तां त्यजामि चेति भावः । ■ च 'पौरस्त्रीणां विलोचनवारिमि' इति कथनेन महाराजवत्सरथस्य कोकप्रियत्वं च सूच्यते । हरिर्ना वृत्तम् ॥ १ ॥

गङ्गेति । सातङ्गम् = आपसङ्गासहितं यथा तथा । आसां = वनारथपुरीपौरस्त्रीणां ।

सरयूरिति । एवमेवेत्यनेन वनारथमहाप्रमाणवृत्तान्तरकथनं सूच्यते 'विवाहो मोजनं सापोष्वाणीं सरयू रतं तथा' इत्यादिभिराङ्कारिर्भूतयोः स्पष्टरूपेण कथनस्य निश्चिन्नावेव प्रणाल्यनुवृत्तेति बोध्यम् ।

गङ्गेति । इन्दुमतिकन्दन = इन्दुमतीपुत्र, 'कथापोः संज्ञाङ्गन्दुसोर्बहुकम्' इति

यो पुत्रकिशोके मस्तिनीसे वृद्धिपुच्छं चौर सन्तापसे कल्प जपने शरीरको धारण करती हुई मैं कल्पसख अनुभव कर रही हूँ और कीच जो रही हूँ ॥ १ ॥

गङ्गा—(उपपन्नापूरक) कनको लज्जवृद्धि कारण क्या है ?

सरयू—(गङ्गाके वाचने) ऐसा है.....

गङ्गा—हा इन्दुमतीके पुत्र । हा सब लोगोंके हृदयमें आनन्द करनेमें समर्थ सहक । हा मरारतुर्भर । हा इन्द्रके मियमित्र । ■ जपने पुत्रके समान एवं लोगोंके वाक्य करनेवाके । हा रत्नमयकीवित । (ऐसा कहकर मूर्च्छित होती है ।)

सरयू—(स्वागतम्) अस्थैव विलसितमेवत् ।

गङ्गा—हा महाराज, दशरथ ! (इति मूर्च्छिता पठति)

यमुना—(मंशुकाश्रितेन वीक्ष्यन्ती) भगवति, समाश्रयिहि समाश्रयिहि, नन्वेतैरेव गुणैरशोचनीयोऽसौ राजा । (अभवति, समाश्रयिहि समाश्रयिहि, न न्नेहि जेष्य गुणैर्हि असौचणिनी सो राजा)

गङ्गा—(सरयू प्रति) सखि ! तवैव न केवलमयं तापः, सर्वजन-साधारणः सत्वसौ । तदेनं रामभद्रच्छत्रच्छाययाऽपनोदयामः ।

संज्ञार्थ इत्यन्वयः । इन्दुमती अश्रुणी दशरथमातापतिं ज्ञातव्यम् । सकललोक-इदं नामान्वयः ॥ ४८ ॥ सकललोकइदं नामान्वयः (समस्तसमाधिस्तान्त्वन्मे) चन्वयः (सकललोकैवमेवम्) । आश्रयकप्रियसख्यः ॥ आश्रयकलस्य (इन्द्रस्य) प्रियसख्यः (अश्रुमित्री) 'राजाऽहः सखिमाह' इति टच् । निजजनपदनिर्मितेयपीतिपति-पाठितसकललोकः ॥ निजजनपदेभ्यः (स्वपुत्रेभ्यः) निर्दिष्टोपा (भेषरहिता, गुल्म-हमेति भावः) या प्रीतिः (प्रणयः), तथा परिपाठिताः (संरक्षिताः) सर्वलोकैः (सकलजनाः) येन तत्सन्तुष्टौ ।

सरयूरिति । अस्थैव ॥ रामभद्रैकपीतिरस्यैव, सर्वजनासम्पत्त्यैव सर्वपरामर्शित्वाद्यन्वयः । विलसितं ॥ कार्यम् । रामभद्रस्य विजयोपार्जितं दशरथस्य स्वर्गतिः संजातेति भावः ।

यमुनेति । मूर्च्छितेव ॥ अश्रुता साम्प्रतं प्रतिपादितेरेव । गुणैः ॥ अश्रुतरपि-पाठिते, सकललोक इदं नामान्वयः ॥ ४९ ॥ निजजनपदनिर्मितेयपीतिपति भावः ।

गङ्गेति । सर्वजनसाधारणः ॥ सकललोकसामान्यः । पूर्वं ॥ तापं, रामभद्रच्छत्र-च्छायया ॥ रामभद्रस्य (वातसुखमात्मनस्य रामभद्रस्य) छत्रच्छायया (वात-पञ्चच्छायया) ।

सरयू—(यत्नो मतं) इतीहा यत् कार्यम् ।

गङ्गा—हा महाराज दशरथ ! (ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर गिरती है ।)

यमुना—(यकाऽश्रुते दया करती हुई) भगवति । माय समाश्रयत ॥ समाश्रयत ही । इन्हीं गुणोंसे राजा शोक करनेके योग्य नहीं ॥ ।

गङ्गा—(सरयूसे) सखि । यह वाप तुम्हारा ही नहीं सब लोगोंका भी है । वत् कारण इसे रामभद्रकी छत्रच्छायसे निर्धार्य ।

सरयूः—(निरवस्थ) भगवति । न स्वस्वप्रोषितसलिलसेकः कमल-
केदारः परिप्लव्यति ।

गङ्गा—रूपं तावत्कथय ।

(सरयूस्वरस्फुरणं गच्छति)

गङ्गा—अलमस्मत् । कमं दावानसरोषितायां संस्थासायां कुठार-
मारोपयितुमिच्छसि, अथवा कमये दावन् ।

सरयूः—(स्वगतम्) अहो !

न क्षातुं नाप्यनुवातुं नेक्षितुं नाप्युपेक्षितुम् ।

सुजनः स्वजने क्षातं विपत्पार्तं समीहते ॥ २ ॥

सरयूरिति । प्रोषितसलिलसेकः = प्रोषितः (जलिःसारितः) सलिलसेकः
(जलसेधनम्) यस्य सः । कमलकेदारः (पद्मचैत्रम् , पद्मोत्पत्तिस्थानमित्यर्थः) ।
'कमलकेदारः' इति पाठाग्रे शालिबिशेषवैभक्तित्वार्थः । रामकण्ठे समीपस्थे सति
दशरथस्य सरयं च भवेदिति भावः ।

गच्छेति । दावाऽन्यसरोषितायां = वनपाकशृङ्गप्रकृतायां, दशरथविभ्रानाकर्मान-
भिन्नाध्यामिति भावः । कुठारं = परशुं, राममहविषयकाऽनिहृष्टरूपमिति भावः ।

न क्षातुमिति । सुजनः स्वजने क्षातं विपत्पार्तं न क्षातुं नाऽपि अनुवातुं च ईक्षितुं
नाऽपि उपेक्षितुं समीहते इत्यन्वयः । सुजनः = सुजनः 'स्वजनः' इति पाठान्तर-
आत्मीयजन इत्यर्थः, स्वजने = आत्मीयजने' वातम् = उद्भूतम्, विपत्पार्तम् = आप-
दाभयं न क्षातुं = नोक्तुं, समीहते = इच्छति । नाऽपि अनुवातुं = अनुमन्यतुं,
समीहते । न ईक्षितुं = नृष्टुं, समीहते । एवं च नाऽपि उपेक्षितुम् = उपेक्षां कर्तुं,
समीहते = इच्छति । सुजनः स्वजनविपत्तिं किञ्चिदप्यनुवातुं अवतीत्यभिप्रायः ।
अनुप्राप्यतम् ॥ २ ॥

सरयूः—(निरवस्थ कैवर्) भगवति । न स्वस्वप्रोषितसलिलसेकः कमल-
केदारः परिप्लव्यति ।

गङ्गा—साक साक भवो ।

(सरयू भोक्तृकुलका यमिकय करती है ।)

गङ्गा—वस करो । वस करो । दशरथसे कुठाराकाई सूख जानेपर कैसे वसपर
कुठाराही वसना वादही हो । मफ्फा कह भी को ।

सरयू—(मन ही मन) अहो ।

सुजनः आत्मीयजन पर पड़ी हुई विपत्तिको न जाननेकी, न अनुमोदन करनेकी, न
ईक्षनेकी ओर न उपेक्षा ही करनेकी इच्छा करता है ॥ २ ॥

(प्रकाशम्) राममद्रमभिषेक्तुं कृतमनोरथं वरारथमेव कैकेयी प्रथमं
वापविदमुच्यते ।

इदमेव भरेभ्रातृणां स्वर्गाद्वारमगर्तम् ।

यदात्मनः प्रतिज्ञा च प्रजा च परिपालयते ॥ ३ ॥

गङ्गा—(स्वगतम्) अनेनैव वाक्पक्षत्याणरुचिः सूचिता दुराशया ।
(प्रथमम्) वरमं च किम् ?

सरयू—

त्वया वैद्यं बन्धे द्रव्यमभिहितं वेदि तद्विषं

वर्णं कौशल्येयो विद्वान्, युवराजोऽस्तु भरतः ।

इदमेवेति । यत् जात्मनः प्रतिज्ञा प्रजा च परिपालयते, वरेभ्रातृणां इदमेव वर-
मर्थं स्वर्गाद्वारमगर्तम् ।

यत्, आत्मनः = स्वयम्, प्रतिज्ञा = सप्ता, प्रजा च = जनसम्, 'प्रजापत्य' इति
पुस्तकान्तरपाठस्तस्य जनवदित्यर्थः । परिपालयते = संरक्षयते, भरेभ्रातृणां = भ्रातृणां,
इदमेव = जात्मनः प्रतिज्ञायाः प्रजापत्यां परिपालनमेवेत्यर्थः । अगर्तम् = अगर्ता-
रहितं, प्रतिबन्धरहितमिति भावः । स्वर्गाद्वारं = सुरकोकप्रतीहारः । प्रतिज्ञायाः
प्रजापालनं परिपालनेनैव राज्ञा काकास्तरे स्वर्गः प्राप्तवत् इति भावः ॥ ३ ॥

गङ्गेति । दुराशया = दुष्टाकापुङ्गवा, कैकेयेति भावः । यद्वा दुराशमिवाव-
मुच्येत्यर्थः । अकल्पानरुचिः = अकल्पानो (अमङ्गले) रुचिः (इच्छा) । वरमम् =
अस्तिमं, फलमिति शेषः । 'बन्धे' अथर्वं वरसमन्वयाभावात्परिभ्रमम् । इत्यमरः ।

कैकेयुक्तिं सूचयति—त्वयेति । कौशल्येयो वर्णं विद्वान् । सरतो युवराजोऽस्तु ।
त्वया वत् इदं मे वैद्यं अभिहितं तद्विषं वेदिति पूर्वाश्रयः ।

कौशल्येयः = रामः, कौशल्यया अपत्यं पुमान्, 'कौश्लो वक्' इति वक् । यद्यप्य-

(घनाकर) राममद्रमभिषेक्तुं करनेके किछ बखिलाव करने वाले वरारथके पास
काकर कैकेयीने पक्ष के यह कहा—

मैंनी प्रतिज्ञा कीर प्रजापत्यां परिपालन करनेकी ही राजाओंकी प्रतिबन्धरहित
स्वर्गाद्वार निक बाजा है ॥ ३ ॥

गङ्गा—(मन ही मन) कुछ कासावाली कैकेयीने इसी बातसे जनार्दनमें सरती रुचि
की सूचनाकी । (घनाकर) पीछे क्या कहा ।

सरयू—कौशल्यके पुत्र (राम) वनमें प्रवेश की पीर भरत पुत्रवा हो । आपने
भी मुझे ही वर देनेको कहा था, वनमें है सीधिर ।

गङ्गा—(सीरेणम्) ततः किं कृतम् ?

सरयुः—

इतीदं कैकेय्या वचनमभिगम्याऽऽकुलमतेः ।

पितुः पादौ गत्वा मुदितद्वयोज्ञौ वनमगात् ॥ ४ ॥

मङ्गल—यमुने ! तविदं यत्कथितवत्यसि । (अभिगमम्) हा रघुकुल-
कुटुम्बं तिष्ठतमिति ।

यमुना—भगवति, एकं किं रघुकुलकुटुम्बकम् । ननु स्यामहर्षिवन-

नरम्बं, विद्वत् = प्रतिपत्तु, ननुहर्षवर्षपर्यन्तमिति शेषः । एवं च नरता = मत्तनयः,
सुवराजा = यौवराज्यप्रभाक्, अस्तु = मक्षु । ध्या = भवता, यत् इदं = हितार्थं,
अथोरिति भावः । मे = मया, कैकेयौ इत्यर्थः, पुरा देवाऽमुरमुखाऽधसरे साहाय्य
कारिभ्य इति शेषः । देवं = दातव्यम्, अभिहितं = कथितं, तत् = पूर्वोक्तवराह-
वनितामकम्, इदं = रामवशात् न नरताय यौवराज्यप्रदानं चेत्पर्यः । देहि = दित-
रेति पूर्वाक्षाऽन्वयः ।

उपार्थं प्रतिपादयति—इतीदमिति । कैकेय्या इतीदं वचनम् अभिगम्य आकु-
लमतेः पितुः पादौ गत्वा मुदितद्वयः असौ वनम् अग्रादिस्तुकराक्षाऽन्वयः ।

कैकेय्याः = कैकेयराजकुमाराः, भरतमापुरिति भावः । इति = इत्याकारकम्,
इदं = नरद्वयं, प्रतिपादनार्थकं, वचनं = वाक्यम्, अभिगम्य = ज्ञात्वा, आकुलमतेः =
आमुकुले, जेहानुपविष्टसितस्य ओष्ठतलपथं वनमिर्वासनं, तच्छमीयसो नरस्य
यौवराज्याभिवेचनमिति नरद्वयसम्पन्नयोर्हमिति विन्यस्य किं कर्तव्यताविमूह-
स्वेति भावः । पितुः = जनकस्य, वरद्वयस्येत्यर्थः । पादौ = चरणौ, गत्वा = गत-
सकृत्, मुदितद्वयः = मत्तवचिता, आत्मनः पितृप्रतिष्ठापूरणहेतुस्वेनेति भावः ।
असौ = राममङ्गल, वनम् = नरद्वयम्, अगात् = गतः । सिद्धरिणो वृत्तम् ॥ ३ ॥

गङ्गेति । कथितवती = अभिहितवती—‘कस्तिपि विभ्रसेगङ्गीवचस्ता विभ्र-
इत्यादिनेति भावः ।

यमुनेति । यममहर्षिवनवेचताः = हरिणमहासुनिकानमद्वैदीः = अत्रोक्तानां राम-

गङ्गा—(श्रेणिके साथ) तत् क्या हुआ ?

सरयु—कैकेयीय देवा वचन जानकर आकुल उद्विगले पिताजीके चरणोंको
गमन कर मत्तवचि श्रेणिके रामचन्द्र वनकी ओर गये ॥ ४ ॥

मङ्गल—यमुने ! यह बात बड़ी है जिसे तुम कह चुकी हो (श्रेणिके) दाव । रघु-
वैष्णव सारा कुटुम्ब नष्ट हो गया ।

यमुना—आप एक रघुवंशके कुटुम्बी ही बात क्या करती हैं । नरे । नृप, महर्षि

देवताः परिहृत्य सचक्ष एव जीवलोको रामचन्द्रमुखचन्द्रमिसोकन्तविहीन-
त्वेन मिहृतः । (मञ्जुवदि एकं किं रघुकुलकुटुम्बभ्रमणं । मिथमहेखिवगदेवरा
मो परिहरिष सचक्षो जेव जीवलोको रामचन्द्रमुखचन्द्रमिसोकन्तविहीनो गिहरो)

सरयूः—धयमेतत् ।

मोषितवति रज्जुनिकरे कम्पुतया न कल्लु कैरवाभ्येव ।

मञ्जयन्ति, किन्तु सहसा भुषणाम्यपि तमसि मञ्जयन्ति ॥ ४ ॥

गङ्गा—एयमेतत् । परं सखि सरयू ! कथय तावत्, कीदृशी वृत्तिः
सीतालक्ष्मणयोर्वत्सरामभट्टे !

सरयूः—तौ हि तस्य सदैव सखिद्विती चन्द्रिकाप्रसादाविष चन्द्र-

दर्शनसौभाग्यसाक्षिवादिति भावः ।

मोषितवतीति । रज्जुनिकरे मोषितवति (सखि) कम्पुतया कैरवाभ्येव न कल्लु-
मञ्जयन्ति, किन्तु भुषणाम्यपि तमसि सहसा मञ्जयन्तीत्यन्वयः ।

रज्जुनिकरे = कम्पुतसि, मोषितवति = प्रवासं गते सखि, नस्तमिते सतीति
भावाः । कम्पुतया = सीतार्देन, कैरवाभ्येव = कुमुदाभ्येव, न कल्लु मञ्जयन्ति = न
कल्लु मिसीकन्ति, किन्तु = अपि तु, भुषणाम्यपि = मध्ये कोका अपि, तमसि = मञ्ज-
कारे, सहसा = अतर्क्य एव, मञ्जयन्ति = मिसीयन्ते, अहद्वयकृतानुपमास्तीत्यर्थः ।
यथा कुमुदकुलमन्धाविन्दावस्तमिते न केवलं कुमुदाभ्येव म्यापन्ति समस्तलोका
अपि म्यापि माभ्युषन्ति, तथैव रामभट्टे प्रवासमापन्ने न केवलं तद्वचनमवः प्रत्युत
समस्तलोका अपि दैन्यमनुभवन्तीति भावः । अस्मां वृत्तम् ॥ ५ ॥

यज्ञेति । वृत्तिः = व्यवहृतिः ।

सरयूरिति । तौ = सीतालक्ष्मणौ । चन्द्रिकाप्रसादी = ज्योत्स्नाप्रसङ्गते, 'प्रसा-

दीर वन्देवताभ्यो जीवकर समस्त जीवलोके रामचन्द्रके मुखचन्द्रका दर्शने महीं गमिते
वदन्ताव हो एता इ ।

सरयू—पर ठोक है ?

चन्द्रिकाके नस्त होनेपर सीतार्देसे कुमुद ही म्यान नहीं होते हैं बल्कि समस्त लोक
ही जनकरमें सञ्ज्ञा लीन हो जाती हैं ॥ ५ ॥

गङ्गा—पर ठोक है । पर सखि सरयू ! नस्त रामभट्टमें सीता और कम्पनका केला
मन्वहार है ?

सरयू—चन्द्रिका की चन्द्रिका (चाँदी) और मन्वहार (मीनक) के समान वे दोनों

मस्तः । असौ जानास्येव यादृशी चन्द्रिकाप्रसाद्योन्नमसि ।

गङ्गा—(स्वगतं, सहर्षम्) कथं सहैव वनं गतापित्युक्तं भवति ?
(प्रकारम्) सखि ! जीवितारम्भे तावदनेन वागसुतेन । क्षणमपि हि राम-
चन्द्रसिद्धमनुभवितुमसहा मे यत्सा जानकी ।

सरयू—एवमेतन् । रामचन्द्रेण हीदमुक्त जानकी—

‘अम्बा! दुधपमाणा मे सरयूः कतिचिन्नय’ ।

इदमाकर्ण्य तथा मूर्च्छिता जानकी यथा स्वजनकरोपनीसरीसरी-
करासारमिच्छापि न प्रयुञ्जा ।

‘वस्तु दत्तमस्मात्’ इत्यमरः । सम्मिद्धितौ = विच्छिन्नितौ । यथा गुणानां प्रथमाप्रवर्त-
यत्यै सीताकथमनूपोरपि मित्यमेव रामावपत्न्यं न पुनश्चमथमथर्षं इति भावः ।

गङ्गेति । वसद्वा = वसका ।

अम्बा इति । (हे सीते !) मे अम्बाः दुधपमाणा कतिचित् सरयौ वदेति
पूर्वार्थोऽप्ययः ।

(हे सीते = हे जानकी ! त्वम्) मे = मम, अम्बाः = मातुः, कौस्तुभाकौकेयी-
मुनिश्च इति भावः, न मत्पुत्रमेवेति भावस्तत्र । दुधपमाणा = सेवमाना सती,
‘आमुस्तुष्टा मां सव’ इत्यात्मनेपदम् । कतिचित् = कियत्संख्याकाः, आतुर्षवर्षकया
इति भावः । सरयू = बर्हिणि, ‘दायवोऽस्मी सरयस्मा’ इत्यमरः । नय = रामश्च,
इति पूर्वार्थोऽप्ययः ।

इदमिति । स्वजनकरोपनीसरीसरीकरासारमिच्छा = स्वजनकरैः (सखीजनहरैः)
उपवीर्य (पारितः) ये सीतलीकराः (सीतकाभ्युक्तकाः), सेवमासारेण (पारा-
संग्राहेण) मिच्छा (उचिता) सत्यपि । न प्रयुञ्जा = संज्ञा न प्राप्तयती । यमिति ।

श्री १२: रामचन्द्रके समीप रहते हैं । अतः शायं जानकी ही हैं चन्द्रमार्गे चन्द्रिका और
मतीका जैसा व्यवहार है ।

गङ्गा—(नव ही मने और दर्शपूर्ण) मे दोनों गो साथ साथ बचकी गये । वह
शाय है क्या ? (छात्रकर) छवि ! इस बचनकर अन्तर्गते मैं भी गई हूँ । क्योंकि बरतस्वपूर्ण
मेरी सीता बल्लभप्रमाण श्री रामचन्द्रके निरदृष्टा अनुभव करनेमें बल्लभ है ।

सरयू—बह ठीक है ! रामचन्द्रेण सीताकी सेवा करा—

(हे सीते !) तुम मेरी माताओंकी सेवा करो और दुर्ग दुष्ट नहीं की भिषाओ ।

यह सुनकर सीता कष्ट प्रकार मूर्च्छित हो गई जैसे कि सखियोंकी हानिसे ज्ञाने गये
-जैसे बल्लभोंसे सेवन करते पर भी नहीं गयी ।

यमुना—तत्पुनः कथं प्रवृत्ता । (ता उभ कहे पण्डित)

सरयू—

‘जनं जनजपप्राप्ति । समागच्छ सहेव वा ॥ ६ ॥

इत्यनेन रामयचनासूतेनैव ।

गङ्गा—उचितमिवं ज्ञानकीर्त्तनेहृदय ।

यमुना—अपि नाम रामलक्ष्मणयोरपि कोऽपि संवादः संवृत्तः । (अपि
नाम रामलक्ष्मणयोरपि कोऽपि संवादो संवृत्तो)

सरयू—अथ किम् । इदमुक्तो हि रामचन्द्रेण लक्ष्मणः—

रामय परस्व ! निमीषय विखोचने

कतिखिवन्न निमेयसमाः समाः ।

हे जनजपप्राप्ति ! वा सहेव जनं समागच्छेत्युत्तरार्द्धाऽन्यथः ।

हे जनजपप्राप्ति = हे कमलकलमवने, सीते । ‘ययः कीलाकममूर्तं जीवन् सुवर्ग-
वपम् ॥’ इत्यमरः । वा = वाय वा, सहिप्रयोगस्ते न रोचते यदीति भावः । सहेव =
सार्धमेव, ममेति शेषः । वपम् = लक्ष्मणं, समागच्छ = आवाहीत्युत्तरार्द्धाऽन्यथा ।
अमुक्तमुक्तम् ॥ ६ ॥

रामचचनासूतेनैव = सीमुपसमरामचचनेनपेति भावः । पूर्वोक्तेन प्रवृत्तेति
शदेन सूचयन्तः ।

यमुनेति । अपि नामेति परमसम्भावनालोचकं निपातद्वितयम् । संवृत्तः =
संवादाः ।

रामयेति । हे परस्व ! विखोचने निमीषय विमेयसमाः कतिखिवन्न समा अत्र
रामय । अपि च कीकमुक्तीतलं ह्यभरतं भरतं मामिष परिसीकमेत्यन्वयः ।

यमुना—तव वद फिर केरी कहे !

सरयू—हे कमलकलप्राप्ति ! अथवा मेरे साथ ही वपमें चलो ॥ ६ ॥

रामचन्द्रके इस वचनासूते ॥ (अंगी) ।

गङ्गा—यह बात सीताके भेद की कथित है ।

यमुना—राम और लक्ष्मणका भी कुछ संवाद (बातचीत) हुआ वा ?

सरयू—और क्या । रामचन्द्रने लक्ष्मणकी यह कहा किः—

हे वस्त ! भौंके भूँवर निमेयके समान कुछ वनोकी अबोध्याहे निताभी, और पवित्र

अपि च मामिव शीघ्रसुखीतकं

शुभरतं मरतं परिशीलय ॥ ७ ॥

इदमुक्तं च जह्मयेन । अये रघुनाथ !

त्वया समं मे चत्वारि यामा एव शुभाभ्यपि ।

चतुर्विंश सप्ताः स्थातुं विना मन्वन्तराणि मे ॥ ८ ॥

हे कल = हे वात्सल्यभाजन कलमण, विद्येयते = नेत्रे, विमीक्ष्य = मृदुदित्वा, विमेषसप्ताः = पञ्चमपातसप्तसप्तसी, जवपसमपारिमका इवेति भावाः । कतिचित् = कियत्कालकथा, चतुर्विंशदायनमयीरिति भावः । सप्ताः = वर्षाणि, अयं = इह, अयो-
भ्यापामिति भावः । मय = यापय । अपि च = अपि च, शीघ्रसुखीतकरीशेन (पति-
भ्रचरिणेन) सुखीतकं (तापाऽपनोदकमिति भावः) । शुभरतं = शुभे (कल्याणधर्मे)
रते (तत्परम्), मरतं = सकलीयोरतं, कैकेयीतनयम् । मामिव परिशीलय = स्नेह-
य, सप्तसप्त त्वं यया मां सेवसे तमेव चतुर्विंशवर्षपर्यन्तसद्गुणगणभूषितं मरतं
मेवस्तेति भावः । अयं 'विमेषसप्ताः सप्ताः, शुभरतं मरतम्' इत्येव पञ्चकाण्डकृतः ।
मुत्तमिदम्भितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

अयेति । त्वया समं मे चत्वारि युगाभ्यपि यामा एव । त्वया विना चतुर्विंश
सप्ताः स्थातुं मे मन्वन्तराणीत्यन्वयः ।

हे रघुनाथ ! हे रघुपते ! (यया) = भवता, समं = सह, मे = मम चत्वारि = चतुः
संख्यानि, युगाभ्यपि = सत्यत्रैतादीभ्यपि, सप्तत्रैताद्यापरकलिभुगाभ्यपीति भावः,
यामा एव = महर्माया एव । भवता समं युगचतुरहस्यो दीर्घकालोऽपि मत्कृते
महर्मायोऽन्यत्रकृतस्यो भवतीति भावः । एवं च त्वया = भवता, विना = वृत्तमृत्वा,
चतुर्विंश = चतुर्विंशसंख्याका, सप्ताः = वर्षाणि, स्थातुम् = अवस्थातुं, मे = मम, मन्व-
न्तराणि = एकसप्ततिर्नवविंशयुगाणि, 'मन्वन्तरं तु विष्णवां युगानामेकस-
प्ततिः ।' इत्यमरः ।

भार्य ! भवदुम्भिते सप्त युगचतुर्विंशमितदीर्घकालोऽपि सुखकल्याण महर्मायो
भवति भवद्विषयोये तु चतुर्विंशवर्षात्मका काले मे दुःखरूपवामन्वन्तरपरिमितो
मुरपयेवो दीर्घकालः स्थासिति ।

परिवर्त्ते सुखीतकं तया कल्याणधर्मेन तत्पर मरतयोकी मेरे सवनि सेव करो ॥ ७ ॥

तव कल्याणमे वद कदा कि—हे रघुनाथ ।

भापके हाथ मेरे किए चारों युग भी महर्मे समान हैं, और मापके बिना चौदह
साक रत्ना भी मेरे किए मन्वन्तरके तुल्य हैं ॥ ८ ॥

अपि च—

त्वया मम समेतस्य कक्षपा अपि समासमाः ।

भवता विप्रयुक्तस्य कक्षकक्षः कणोऽपि मे ॥ ३ ॥

गङ्गा—अपि नाम कौसल्ययापि किञ्चिच्छिक्षितो राममद्रः ?

सरयू—अथ किम् । सा हि—‘अयि वत्स, राममद्रः, सीताम्’ इत्य-
र्धोक्त एव बाष्पमृदुकरणीयमुक्तवती । ‘अथवा वत्स, लक्ष्मणे रक्षितरि-

पुगन्तुमभितकास्तु विंशतिसहस्रोत्तरत्रिंशत्परिमितो भवतीति
बोद्धव्यम् ॥ ८ ॥

त्वया स्मेति । त्वया समेतस्य मम कक्षपा अपि समासमाः । भवता विप्रयुक्त-
स्य मे कणोऽपि कक्षकक्ष इत्यन्वयः । आद्यं । त्वया = भवता, समेतस्य = संगतस्य,
मम = लक्ष्मणस्य, कक्षपा अपि = गङ्गादिजपरिमितकक्षा अपि, कक्षपरिमाणं तु
‘पुगन्तुमभितकास्तु गङ्गापते विनमुच्यते ।’ इति प्रमाणवचसेवम् । ‘कणो भिक्षु-
कक्षयो संघर्षे गङ्गावासरे ।’ इति हेमचन्द्रः । इत्थं च तादृशदीर्घकक्षा अपि, समा-
समाः = समासिः (वर्षपरिमितसमयैः) समाः (तुल्याः), तुल्यमवस्थादिति भावः ।
एवं च भवता = भार्येण, विप्रयुक्तस्य = विरहितस्य, मे = मम लक्ष्मणस्य, कणोऽपि =
त्रिंशत्कलापरिमितः सूक्ष्म कालोऽपि, कक्षकक्षः = गङ्गावासरसमागः । ईषत्समासः
कक्षः कक्षकक्षः, ईषत्समासौ कक्षकक्षदेशयोदर’ इति कल्पवृक्षस्य । भवता-
क्षिप्ये मम गङ्गावासरसमाको दीर्घकालोऽपि तुल्यमवस्थादीर्घकक्षवत्सरसमवसमाः । भव-
क्षिप्योगे तु मम जणपरिमितः सूक्ष्मकालोऽपि तुल्यमवस्थादीर्घकक्षवत्सरसमवसमा इति
मात्रम् । अथ ‘समासमाः’ ‘कक्षकक्षः’ इत्यत्र वनकं नाम गङ्गाऽक्षरस्तुल्यं यथा-

‘सत्यं पुनर्मायाः स्वरूपं जगत्सहस्रम् ।

कमेन तेनैवावृत्तिर्ममं विभिरागते ॥’ इति । मनुस्मृत्युक्तम् ॥ ९ ॥

सरयूरिति । सीता = जानकी, लक्ष्मणस्य रणेति यत् विचक्षितमाजीव । रक्षि-
तरि = रक्षके ।

जीर यी—

जायका साध होनेपर मेरे किए कक्ष भी बर्द हुआ है जीर जायके बिछोड़कर मेरे
किए वक्ष क्षय भी क्षयने लगान है ॥ ९ ॥

गङ्गा—कौसल्याने भी राममद्रको कुछ शिक्षा दी ?

सरयू—जीर क्या ? कन्होने—‘बरस राममद्र ! सीताकी, मेरा भाषा हो कन्होने पर

को भवान् सीतासमीपस्थः ? तद्विषं तावदभ्यर्थयामि ।

इह दुग्धमुक्ते वत्से स्वयमग्रे वक्षिणो मधः ।

अपि रात्र्योपभोगेभ्यो यस्य त्वं सहजमिया ॥ १० ॥

इवमुक्तं च रामभद्रेण—अपि मातः ! निजजीवितेऽपि वक्षिणेन अति-
तत्त्वमित्यपि शिक्षणीयमेव ।

गङ्गा—तन्नूनं सतः प्रभृति सहजसौन्दर्यमेवामरणं वत्सरामस्य ।

कथमनराध्यात्मकं कौतुक्यात्मकं प्रतिपादयति—इति । (हे रामभद्र !)
रात्र्योपभोगेभ्योऽपि यस्य त्वं सहजमिया, (तावत्) इह दुग्धमुक्ते वत्से कथमग्रे
वक्षिणो भवेत्प्राग्भवः ।

(हे रामभद्र !) रात्र्योपभोगेभ्योऽपि=रात्र्यमुक्ताऽनुभवेभ्योऽपि, यस्य=कथम-
नस्य त्वं=रामः, सहजमिया=स्वभावतः प्रेमात्, कसीति शेषः । तावत् इह =
=स्मिन्, दुग्धमुक्ते=कीराऽऽग्ने, अतिसूक्ष्ममवयवस्क इति भावः । वत्से=वा-
त्सव्यभाजने, कथमग्रे=सुमित्राद्यन्तै, वक्षिणः=उत्तरः, 'वक्षिणे सरस्वतीदारा'वित्त्व-
मरः । भव=मनेः । यो रात्र्यमुक्ताऽनुभूतिमप्यनभेक्ष्य एवमि सुतरां विनश्यति,
तावत्स्याज्जपयसो वात्सव्यभाजनस्य कथमनस्य रक्षणे तत्परो भवेति तात्पर्यम् ।
अनुभूत्युक्तम् ॥ १० ॥

इति । निजजीवितेऽपि = स्वजीवनेऽपि, कथमग्रे मल्लते स्वजीवनसमः
प्रिय इति भावः ।

गङ्गेति । ततः प्रभृति = तस्मात्काष्ठादारभ्य । सहजसौन्दर्यमेव = स्वाभाविक-
सुन्दरत्वमेव, वनवासित्वेन स्वस्वराजार्हाभरणत्वादिति भावः ।

रात्र्योऽपि त्वं वत्स वत्से पितरं कदा भवता वत्स । कथमग्रे रात्रं होने पर सीताजी देख
रेख करनेका तुम्हें क्या प्रयोजन है ? इसविषय में वह मार्चना करती हैं कि हे रामभद्र !
वित्तको रात्र्यमुक्ते उपभोगोंसे भी कुछ स्वमानसे ही प्यारे हो । वेते दुग्धमुक्ते वत्स
कथमग्रे क्या बनें ॥ १० ॥

रामभद्रे—जी देखो कदा—अपने जीवनमें भी क्या करनेकी शिक्षा देनेकी आवश्यक-
कता है क्या ?

गङ्गा—तब निश्चय ही वत्स स्वयंसे वत्स रामका स्वाभाविक सौन्दर्य ही भुज
हो गया होगा ।

सरयू—अग्न्यह्न्येकम् । विमुञ्चन्त्यस्तमाभरणजातमित्यमभ्यर्चितः
कौसल्यया रासमद्रः ।

हस्तावलम्बदानाय सीतामातङ्गस्यसम्पदः ।

इदं विमुञ्च मा वत्स राम ! रत्नाङ्गुलीयकम् ॥ ११ ॥

इदमन्यथा ते कथयामि । धीरा समाकर्णय ।

राज्ञा—तदेतावदाकर्णितवतीमपि मासधीरामाराक्षसे ।

सरयू—

निकामं रामस्य प्रमुदितमुक्ताम्भोरुहहृद्ये-

र्जटावलीर्मङ्गीमुकुलसदृशौर्वाणस्पृष्टैः ।

सरयूरिति । विमुञ्चन् = परित्यजन् । अग्न्यर्चितः = प्रार्थितः । हस्तावलम्बदाना-
वेति । वत्स राम ! सीतामातङ्गस्यसम्पदो हस्तावलम्बदानाय इदं रत्नाङ्गुलीयकं
मा विमुञ्चोत्पन्नवः । वत्स = वत्सस्य भ्रातृजम्, राम = राममह !, सीतामातङ्ग-
स्यसम्पदः = सीतायाः (जातक्याः) मातङ्गस्यसम्पदः (सौभाग्यसम्पत्तेः), हस्ता-
वलम्बदानाय = करावलम्बनवितरणाय, आभरणत्वेति भावः । इदं = सन्निकृष्टम्,
रत्नाङ्गुलीयकं = रत्नधवितामूर्तिकाय्, अङ्गुली भवमङ्गुलीयकं, विह्वल्लङ्घनोत्तरम्
इति बहुत्वम् । मा विमुञ्च = न परित्यज । अनेनाङ्गुलीयकद्वारा सीतामातङ्गस्य-
स्य भाविककं सूचितम् । अनुपदुष्यन् ॥ ११ ॥

गच्छेति । आकर्णितवतीमपि = श्रुतवतीमपि ।

निकाममिति । हे मातः ! निकामं प्रमुदितमुक्ताम्भोरुहहृद्ये रामस्य रत्नावली-
मङ्गुलीमुकुलसदृशैः वाणस्पृष्टैः निविञ्चन् सीमिति कथमपि यदा धितेने कस्य, तदा
एतत् जगदपि कथममयं जातमित्यन्वयः ।

हे मातः = हे अम्ब !, निकामम् = नित्यसर्वं, प्रमुदितमुक्ताम्भोरुहहृद्ये = प्रमु-
दिता (प्रसन्ना) मुक्ताम्भोरुहस्य (चम्पकमकस्य) रुचिः (सोभा) यस्य स

सरयू—धीर नो एक बाल है । सब भूषणसमूहको वगारके हुए राममद्रसे कौसल्याने
इत प्रकारसे प्रार्थना की—

वत्स राममद्र ! सीताजी सीमाग्यसम्पत्तिका ग्रहण करनेके लिये शत रत्नसहित
मङ्गुलीकी मत्त वगारी ॥ ११ ॥

इन्में यह दूसरी बात भी कहती हूँ । धीर होकर सुनो—

राज्ञा—रत्नावन केने पर भी तुम मुझमें शरीरता होनेकी आशङ्का करती हो ।

सरयू—हे मातः । नित्यसर्व प्रसन्न मुखाके रामजी वगारोंको देखीके मुकुलोंके

विचित्रं सौमित्रिः कथमपि जितेने कलु यदा

तदा ज्ञातं माता । कथमयमेतन्नगदपि ॥ १२ ॥

यमुना—अपि नाम तस्मिन् समये सीताऽपि किमपि शिक्षिता कन्धु-
जनेन । (अथ नाम तस्मिन् समये सीतापि किंवि शिक्षिता बन्धुजनैः)

सद्यः—अपि वेति । विपरीतमाज्ञपति ।

गहनविपिनवासोत्कण्ठया सम्प्रयातं

मिथतममनुपाश्रया तत्कालं राजपुत्र्या ।

सत्यम् । रामस्य = रामकन्यास्य, कदाचिद्वा = कदाचित्, जितेन कलु यदा सदा' इत्यन्तरम् ।
महोत्सवप्रसङ्गः = मन्त्रिकानामनुष्ठानकृत्यैः दृष्टव्यमिति स्वार्थः । 'युगशब्दं तु
मन्त्रिकम् । यूपरीक्षाजीवनेष्वप्यमरा । मन्त्रिकाद्वयं च भाषायां 'केचि'तिनाम्ना
प्रसिद्धम् । बाणपुराणे = अहविष्णुमिः, विचित्रं = शिक्षा । कुर्वन्, सौमित्रिः =
कथमयम्, सुमित्राया अत्यन्तं पुत्राभिरिति 'बाह्यादिभ्यश्चे'ति इत् । कथमपि = केनाऽ-
पि प्रकारेण, कथं ताऽतिशयेनेति भाषा । यदा = परिष्कृत्यै, जितेने = सम्प्रया-
यात्, उपविष्टावोचिताः वदन्त्युचिताः कृतकानि भाषाः । तदा = तस्मिन्काले,
यदा = एवं, जगदपि = कोकोऽपि, न केवलमयोध्याय प्राप्नुत तस्यैव नगरेष्वेति
भाषा । कथमयम् = लोकाग्रजम्, 'तत्तद्गतकाले मयद्' इति मयद् । ज्ञातं=निर्गुणम् ।
विचित्रापाश्रयप्रसङ्गस्य समापत्तेन प्रसङ्गानुसरस्य रामस्य कदा यदा कथमपि
कथञ्चन तदा न केवलमयोध्याय सकलमपि भूवर्षं लोकाङ्गं लब्धव्यमिति
शङ्का । उक्तमाशङ्क्यम् । शिक्षिनी कृतम् ॥ १२ ॥

मरुतिरिति । विपरीतं = प्रतिपक्षं, सीतया शिक्षिता कन्धुजना इति वक्तव्यम्,
'कन्धुजनेन सीता शिक्षिते'ति कथं विपरीतमिति भाषा ।

गतेति । गहनविपिनवासोत्कण्ठया सम्प्रयातं मिथतमं तत्कालम् (अनुपाश्रया
राजपुत्र्या) चरन्त्यनुष्ठानकृत्यैः बाणध्याः साधु कृतं शुद्धतरम् उपदिष्टा
इत्यन्तरम् । गहनविपिनवासोत्कण्ठया = गहनविपिने (विचित्राऽप्ये) यो बाणः
(अथवाधाम्) तस्मिन् उत्कण्ठया (उत्कण्ठिकया) । सम्प्रयातं = गतं, मिथतमं =

तद्वत् अहविष्णुजोते सेवकं करुते इव कथमपि किंवि प्रकारेण यदा यदा यदा यदा
ही योऽनुष्ठानं ही यदा ॥ १२ ॥

यमुना—उद्यं समथं यन्मुनीने सीतायां यो कृतं शिक्षा ही यो ।

सद्यः—वेति । तुभं कथं यो राय कही यो ।

विचित्रं यवने विचित्रं कथञ्चाते अथेराते मिथतमं रामचन्द्रजीको यती कथं अनु-

चरणकमलशुभ्रमङ्गुलीरक्ष्यैः

स्तुततरमुपरिधा बाण्धवाः स्तासु वृत्तम् ॥ १३ ॥
वर्षं तु वृत्तम् ।

पुरः कान्तं वान्तं विपिनमनुयात्प्याः सरभसं
सदावी सीतायाः किमकथयिषी वीथय चरणी ।

मुहुः सीतास्तसाः किमपि च मुहुर्वन्मुनयनैः

समं मुक्ता मुक्तसदृशकथयो बाण्धवमिकाः ॥ १४ ॥

जज्ञे, राममित्यर्थः । तत्कथं = तत्कथम्, अनुयात्प्याः = अनुयात्प्या, राममुभयौ = रामकृष्णयोः, सीतयेति भावः । चरणकमलशुभ्रमङ्गुलीरक्ष्यैः — चरणकमलयोः (पादपद्मयोः) शुभ्रमङ्गुलीरक्ष्यैः (बाण्धवमिकाः) ये मङ्गुलीरक्ष्ये (मङ्गुलीरक्ष्य-भूषणः), तैः । 'पादाङ्गुलीरक्ष्यैः मङ्गुलीरक्ष्यैः' इत्यमरः । बाण्धवाः = मङ्गुलीरक्ष्ये, स्तासु वृत्तम् = सचरितं, पतिप्रतापविश्रमिष्येति, 'पतिप्रतापं कथयति सदावी सचरितं' इत्येतदर्थे वृत्तमिति भावः । स्तुततरं = स्तुततरं वधा स्वात्तया । उपरिधा = उपरिधा । सीता वन्द्युत्तर-कथनं सदाचरणेन मङ्गुलीरक्ष्यमिति सतीवृत्तमुपरिधय मयापि न्ययामप्यदर्शयति गतेति भावः । मङ्गुलीरक्ष्ये कपदेसचरितमीरक्ष्य मङ्गुलीरक्ष्यमिति भावः । बाण्धवाः = वृत्तम् ॥ १३ ॥

पुरः कान्तमिति । पुरी विपिनं वान्तं कान्तं सरभसम् अनुयात्प्याः सीतायाः सदावी किमकथयिषी चरणी वीथय मङ्गुलीरक्ष्यैः मुहुः किमपि सीताः सदावृत्त-सदृशकथयो बाण्धवमिकाः समं मुक्ता इत्यमरः ।

पुरः = ज्ञे, विपिनं = वधं, वान्तं = राक्षसं, कान्तं = सुन्दरं, राममिति भावः । सरभसं = सचरितं सदावी, 'रामसोभेयसदृशं' इति विश्वः । तच्च च कान्ताऽस्मिन् सीता सचरितं, कान्ताऽनुसरणमात्प्या न सदावृत्तमिति भावः । अनुयात्प्याः = अनुयात्प्या, सीतायाः = कामरुपाः सदावी = अनुयात्प्यामप्यमरः, किमकथयिषी = पश्य-सदृशी, चरणी = पादौ, वीथय = वृत्ता, मङ्गुलीरक्ष्यैः = बाण्धवमिकाः, मुहुः = नारं

गमन करनेवाले रामपुत्रीने चरणकमलोंमें मङ्गुलीरक्ष्ये मङ्गुलीरक्ष्ये बाण्धवोंके सहकथने सचरित का उपदेश दे दिया ॥ १३ ॥

परी वृत्ता ।

नयने भाये वनको भाये वृत्त पति रामचन्द्रका दर्शपूर्वक अनुसरण करनेवाले सीताके पश्यसदृश चरणोंके देखकर मङ्गुलीरक्ष्ये मङ्गुलीरक्ष्ये बाण्धवोंके भीतर गमन सीताके सहकथन सह ही वार गिर पड़े ॥ १४ ॥

गङ्गा—इहं बन्धुजनेन शिक्षितो रामभद्रः ।—

वाङ्मा विदेहतनया, तरुणी भवन्ती,
दिग्दक्षिणा च रजनीचरचक्रद्वयम् ।
तद्वत्स ! वत्सकृतयेषमुदाहरामो
मा राम ! मयदक्षिण ! दक्षिणाश्रमा ॥ १३ ॥

गङ्गा—ततस्ततः ।

पार्श्वे, किमपि = केवाऽपि प्रकरोत्, कीत्ता = कीलकाः, सीताकर्तृत्वमाश्रुयामकच-
कार्यद्वर्जमन्येन दुर्भेदेति भावः । तत्ताद = तापमुक्ताः, कमककोमककठोरतायाः ।
सीताया चतनममन्यितकेवाऽतिशयेनेति भावः । मुक्तासदृशकचः = मौक्तिक-
मयानममन्यता, वाप्यकलिकाः = कोमलकचम्, तम = सुमयत्, मुक्ता = वक्ताः ।
अत्रोपमाश्रुताः । सिलविनीकृतम् ॥ १३ ॥

वालेति । विदेहतनया वाङ्मा, भवन्ती तरुणी, दक्षिणा दिग् च रजनीचर-
चक्रद्वयम् । तत् वत्स ! वत्सकृतये इहम् उदाहराम्—मयदक्षिण देराम ! दक्षिणाश्रमा
मा गन्तव्यम् ।

विदेहतनया = जानकी, वाङ्मा = किसीराजवत्पुत्रा, भवन्ती = पुत्री, राम-
कृतयेवित्यर्थः । तरुणी = यवन्ती, दक्षिणा दिग् च = दक्षिणादिशा च, रजनीचर-
चक्रद्वयम् = रजनीचरणां (शिलाचरणां, राक्षसाभामित्यर्थः) चक्रेण मण्डलेन, समुद्दे-
केभ्यः । मुक्ता (मोक्षपुत्रा), इति सीतावचने प्रयाशङ्का भवत्येति । तत् = तस्मा-
त्कारणम्, हे कम = हे वत्सकृतये इति रामभद्र !, वत्सकृतये = शिष्यावस्थेन, पूर्वं
वत्सकृतयेवित्यर्थः भवन्त्यम्, उदाहराम् = कथयाम्, किं तद्वत्सुदाहरति—मा रामेति ।
मयदक्षिण = नीतिद्वारा, हे राम = हे रामभद्र !, दक्षिणाश्रमा = दक्षिणदिशा,
मा गच्छ = नो पाहि, वत्सकृतयेवित्यर्थेऽपि दक्षिण ! दिशि प्रति प्रयागे मा
अतिरिहति भावः । अत्रैव सीताहरणकपो भाविष्यन्तः सूचितः । अत्र वत्सक-
रितकृतम् ॥ १५ ॥

गङ्गा—रघुर्भोजे रामद्वययोः ऐसी शिक्षा दी कि—

सीता वही वरिष्ठा है, तुम दोनों बचक भी और दक्षिण दिशा रजनीचरचक्रद्वयों की-
मुक्त है । इसदिग् हे वत्स ! रजनीचर चक्रद्वयों पर चले हैं कि—नीतिनिपुण हे राम !
दक्षिण दिशा की ओर मत जाओ ॥ १५ ॥

गङ्गा—तब क्या हुआ ? तब क्या हुआ ?

सरयू—तवस्तामेव दिशं प्रति—

सुरसुरजगभीरधीरताद्विगुणगुणध्वनिवापदसहस्रः ।

पुरजननयनैः कृतं प्रधानं कुवलयवाम जगाम रामभद्रः ॥ १६ ॥

पञ्चमा—कः पुनः सोऽयसरः सुरसुरजराजस्य । (श्री उग ची जयसरो पुष्करभक्तस्य)

गङ्गा—सखि ! न जानासि ? गभीरं ध्वनक्तिः तल्लु सुरसुरजैः किमपि गभीरमेव ध्वनिसत् । (पुनः सविषयम्) हा दशरथ ! सकलगुणसम्पन्नं भाजनं भूत्याऽपि कथमेकस्य भाजनं न ज्ञातोऽसि ?

सुरसुरजेति । सुरसुरजगभीरधीरताद्विगुणगुणध्वनिवापदसहस्रः पुरजननयनैः कृतं कुवलयवाम प्रधानं जगाम रामभद्रो जगामेत्यन्वयः ।

सुरसुरजेत्यादिः = सुराणां (वैषाणां) सुरजाः (सुवज्राः) तेषां गभीराः (गम्भीराः) धीरता (सभोदरस्तेन कितसंसाहकम्) यो नादः (राग्यः) तेन विगुणः (विगुणीकृतः) गुणस्य (भौर्वाः) ध्वनिः (सङ्घः) यस्य सा, धृतादौ यो यदयः (यधुः) तस्मिन् दत्ताः (निहितः) दत्ताः (करः) येन सा । एवं च सुर-जननयनैः = मागदिकलोकलोकमैः, कृतं = सम्पादितं, कुवलयवाम = लीलकमल-मालयं, कोकलोकचलीककसकैरेवधृतेन निमित्तं माकामिति भावः । दधातुः = धार-कन्, रामभद्रः = रामचन्द्रः, जगाम = गता, द्विगुणाकामिति पूर्वेषु सम्बन्धः । नन्द-परिणामाऽङ्गारः । पुष्पिताऽप्युक्तम् ॥ १६ ॥

राममादुर्भाषकारणमजानन्ती पञ्चमा वृष्णति—कोऽनेति ।

गङ्गेति । पदमक्तिः = ध्वनिं कुर्वन्ति, गभीरं = निगुहार्धमेव ।

पुनरिति । एकरय = गुणस्य, भाग्यदयस्येति भावः ।

सरयू—तव गतो दिक्काधी नीर—

देवताभीरौ पञ्चायभीरौ गम्भीर भीर विरसंसाहक जगत्से विगुणकन्दगुण प्रत्यकाले सृजन्त भगवै ह्य रक्षतर नागरिकोंके नेनोंसे की गई लीलकमलमालाकी धारण करते हुए रामनाथ चले गये ॥ १६ ॥

पञ्चमा—देवताभीरौ पञ्चायभीरौ जगामकां भद्र तथा भवसर वा ।

गङ्गा—सखि ! तुम नहीं जानती हो, देवताभीरौ गम्भीर शब्द करनेवाली पञ्चायभीरौ किती गम्भीर निवधकी ही सूचना हो । (फिर छेदके साथ) हा दशरथ ! तुम समस्तगुण सम्पत्तिधोंके बाव हीकर भी कैसे एक (माग्यवरर) गुणके पात्र नहीं हुए हो ।

यमुना—कथं पुनः स राजा सुप्ताभिः प्रशस्यते नेन तादृशोऽपि
तनयस्तृणमिव मुक्तः ? (कथं ज्ञेयं यो राजा दुर्होर्नि पक्षं स्वीकरोति येष तद्विरोधेन
तनयो मुक्तं विजु मुक्ते)

शरद्वृक्षः—रान्तं चपम् ।

मोक्षः—कैकेयीवचनपरिपाटीविगच्छितः

कथं मोक्ष—कोष—प्रसरसरयोस्तत्परः ।

सुतं चोरप्रस्तो मयिमिष करस्यं न कृपण-

स्तृणाभीष प्राचान् पुनरयममुञ्चह्यारयः ॥ १७ ॥

मोक्ष इति । कैकेयीवचनपरिपाटीविगच्छितो मोक्षो वृक्षरयः । कथं मोक्षकोष-
प्रसरसरयोः अन्तरपरः (सन्) चोरप्रस्तः कुप्यः कस्य मयिमिष इव सुतं न अमु-
ञ्चत्, पुनः कृपाणि इव प्राचान् अमुञ्चतिवन्त्यः ।

कैकेयीवचनपरिपाटीविगच्छितः = कैकेय्या (अस्तमात्रा) वचनपरिपाटया
(वचज्जमेन) विगच्छितः (विगच्छा) मोक्षः = महाराजः, वृक्षरयः = लघोऽप्यस-
वीर्यः, कथं = कश्चित्कथं यावत्, 'कथाऽप्ययोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया ।
मोक्षकोषप्रसरयोः = मोक्षकोषयोः (वैचित्र्यकोषयोः, तत्र मोक्षो राजधनवास-
प्रार्थनावर्धितः, कोषश्च कैकेय्या अन्वावाचरयतेति तस्मिन् कोषः) तयोः प्रसरः
(निवहः) तस्य सरयोः (भास्योः), अन्तरपरः = अन्तर्गतं सरः, कदाचित्मोक्षं
अमुञ्चिष्य कोषममुञ्चति इति भावः । चोरप्रस्तः = चोरगृहीतः, कुप्यः = कर्ष्यः,
'कथं कुप्यमुञ्चतिमवापसितवन्ताः ।' इत्यमरः । करस्यं = हस्तस्थितं, मयिम्
इव = शक्तिम्, सुतं = पुत्रं, राममित्यर्थः । अमुञ्चत् = वाञ्छयत् । पुनः, कृपाणि
इव = पुनश्च कृपा, अन्तः = स्वीकृत्य अमुञ्चत्, अमुञ्चत् = अमुञ्चत् । यथा
कश्चिद्वृक्षकोषप्रस्तः एवमिदं वृक्षरयस्थितं अस्मिन्प्रायेण स्वीकृत्य अमुञ्चति तथैव
महाराजो वृक्षरयोऽपि कैकेय्या वाचितः अस्मिन् प्राचमिव तवर्धं रामावत्यन्तैक
स्वीकृत्य अमुञ्चति इति भावः ।

यमुना—तुम कैः कस्य वचनं श्रुत्वा करोती ही विज्ञाने कैः पुत्रको यो वृक्षो
समानं त्वान् विज्ञा ।

शरद्वृक्षः—यान् विज्ञा हो ।

कैकेयीवचनपरिपाटीविगच्छितो मोक्षः महाराज वृक्षरयः कुप्यः तस्य तत्र चोरं चौर
कोषका अमुञ्चत् कर कैः चोरैः कदा कदा कदा मयिमिषो यदा कोषका इति चौराद
पुनः (रामः) हो यदा चौरा चौरा अने प्राचये हो कथं समानं चौरं विज्ञा ॥ १७ ॥

यमुना—अपि नाम भरतस्य नानुभवम् इहम् । (अग्नि नाम भरतस्य चाक्षुष्यविरम्)

सरयू—अये, भरतस्य मातुलकुलादहातस्य कैकेय्यस्य संवाद एषो चरं दास्यति ।

शङ्खा—कीदृशः पुनरसौ ?

सरयू—

मातस्तातः क यातः ? सूरपतिमघनं, कुतः ? पुत्रशोकात्,
कीदृसी पुत्रमनुर्णो स्वमधरजतपां यस्य जातः, किमस्य ?

अत्रोपमाऽऽह्वारः । साध्वी परिसंख्या चेति प्रयोरकङ्कारपोरङ्गाङ्गिभावेदाऽङ्ग-
स्तिष्ठे सङ्हरा । किञ्चिज्जी कृच्छम् ॥ १० ॥

गच्छेति । असौ = संवादः ।

कैकेयीभरतसंवाद् कर्णमिति—मातस्तात इति । मातः ? तातः क वरतः ? सूर-
पतिमघनं, हा ! कुतः ? पुत्रशोकात्, जहौ कः पुत्रः ? अनुर्णो यस्य स्वमधरजतपा
जातः, यस्य किम् ? असौ कावनाऽस्तं पाष्टः, किमिति ? नृपमिरा, अस्ती तथा किं
वमाये ? सङ्ख्यकः (सन् वमाये) इह से किं कर्तं ? तव धराधीशता, हा !
हतोऽस्मीत्यवयवः ।

हे मातः = हे कर्णमि ! तातः = पिता, वक्तव्य इत्यर्थः । क=कुत्र, यातः=याता,
प्रयोज्य भरतस्य । कैकेय्युत्तरयति—सूरपतिमघनं=देवराजमिच्छेत्, स्वर्गमिति
मातः । हा=पितुः सोध्यत इति मातः । कुतः=कस्मादेतोः, तातः सूरपतिमघनं
जात इति शेषः । पुत्रशोकात्=तनममम्योः, तनममिराजमित्तकोकात्पितृषु सूर-
पतिमघनप्रतिरिति कैकेय्या उत्तरम् । असौ=विष्णुकुलवर्ती, कः=कतमः पुत्रा,
यस्य कोकप्रतिपुः सूरसप्तमाक्षिरिति भरताऽनुयोगः । अनुर्णो=अनुसंयकानां
पुत्रानां मध्ये, यस्य=पुत्रस्य, रामरूपस्येति भावः । त्वं=भरतः, मधरजतपां=
अनुजस्तेन जातः=अत्यम्भः, यस्य त्वमनुजस्तेस्य रामस्य विकीरकोकात्प्रतिपुः

यमुना—एह पाठ क्या भरतसे लीकृत नहीं थी ।

सरयू—हाँ । मामाके यहूति भावे हुए भरत और कैकेयीकी बातचीत ही इस
प्रकृत्य उत्तर दे देती ।

शङ्खा—एह कैसी बातचीत थी ।

सरयू—माताजी । पिताजी कहाँ कबे कबे ! एङ्गीकरी, हाय । कैसे ? पुत्रके शोक्ते ।
एह पुत्र कीज है ! वारो पुत्रोंमें विरुद्धे हुए कोई सारे हो । तनका क्या हुआ ? हे वमको

प्राप्तोऽस्ती कान्तान्तं, किमिति ? नृपगिरा, किम्तयाऽस्ती वयाये ?
सद्भागवत् । फलान्ते किमिह ? तव धराऽधीयाता, हतोऽस्मि ॥१७॥
गङ्गा—(वर्यम्) वरत भरत ! अपसि रामानुजन्मा ।

सरयू—

रामे प्राप्ते वनाम्ने कथमपि भरतस्नेहनां प्राप्य तातं
नारदा देवेन्द्रलोकं मुनिजनवचनानादूर्ध्वदेहकिपाभिः ।

स्वर्गार इति कैकेय्या वतरत् । अरय = मरुमरुत, रामश्चेति भाषा, किं = कीदृ-
शवस्त्वा समग्रि, वपुःकोशेन विहा प्राणास्वात्पाजेति भरतवरणः । नसी = वेदामि-
कृत, त्वद्वचनो रामः, कान्तान्तं = नवीनदेहो, प्राप्तः = प्राप्तः इति कैकेयीप्रतिवचनम् ।
किमिति = कोन कालेन मरुमरुतो गुणाग्रिमिशामो रामः कान्तान्तं प्राप्त इति मरु-
तोका वृत्ताः । नृपगिरा = राजागिरा, दशरथदेहेनेति कैकेयीप्रतिवाचनम् । अस्ती-
काकशिमरुतो मयाता, तथा = तेन प्रकारेण, रामनिर्वासनविषयमादेशं, किं = किमर्थः
हवाये = भावितव्यमिति भरतोऽनुचोषः । सद्भागवतः = सद्भागीनिमन्त्रितः, व-
पुःपदानुसारकमहालीबद्धः । तत्त्वविता रामनिर्वासनादेशं वभाव इति कैकेय्या
उचरत् । हृद = अस्मिन्निचये, रामनिर्वासनात्मक इति भाषा । ते = तव, किं =
कीदृशं, फलं = परिणामः, रामनिर्वासने तव को फल इति भरतवरणः । तव = तव-
वचन वृत्तम्, धराऽधीयता = धरणीभरता, दशरथाय इति कैकेय्याः प्रतिवाचनम् ।
हानमम शोभतो, वयं जगती । वसीकृती मयाचारवराधनः, हतोऽस्मि = मरु-
तो भवैव कालाभिप्लुः । विवासो उवेष्टमातुः वनवास इति माकुलीवाधोपसंहारकया
वेदाभितव्योक्तिः । जगत्प्रकृतवाचनस्य साक्षात्कारेण विदूषेवाचकेष्वभिधानं
भाषयाऽयम् । कान्ता वृत्तम् ॥ १८ ॥

गङ्गेति । रामाभ्युज्जन्ता = रामाभ्युज्जता, सर्वदेह त्वं दशानुजपदेन नृपदेवसोमो-
र्हसि भाषाः ।

राम इति । रामे वनाम्ने प्राप्ते भरतः कथमपि श्वेतनां प्राप्य मुनिजनवचनानाद

नरके गये । क्यों ? रामकी भाषासे । कन्होंने ऐसी भाषा क्यों दी ? कन्होंने येरो वाणीसे
नरु हीकर ही ऐसी भाषा दी । इधरें भाषकी क्या फायदा हुआ ? गुन्धारा रत्नव काय ।
हाय ! मैं आज ही गया ॥ १८ ॥

गङ्गा—(वर्यपूर्वक) वरत भरत ! रामके मारें हो ?

सरयू—रामके सब वानेपर भरतने किसी प्रकारसे श्वेतना (देव) पाकर मुनिजनके
वचनसे शोभ्येदेहिक संस्कारोंके विषय (वरतन) की वन्द्यकेन पहुँचाकर और मारें

आहुः शोकाभितप्तः स्वजनपरिवृतः पाक्षयामास नन्दि-

प्राप्ते तिष्ठन्नयोध्यां रघुपतिपुनरागामिभोगापवीरः ॥ १३ ॥

यमुना—ततस्ततः । (तरो तरो)

सरधूः—अहमेतावदेव जानामि । ततः परं तद्ब्रूयान्तरूपयाव

निककमखपनयासी कोऽपि कलहंसः प्रस्थापितो मया ।

(प्रविरय)

कलहंसः—देव्यः ! इहं ममो यः ।

ऊर्ध्वदेहकिपाभिः तातं ईर्ष्याकोकं नीत्वा आहुः शोकाभितप्तः स्वजनपरिवृतो नन्दिप्राप्ते तिष्ठन् रघुपतिपुनरागामिभोगापवीरः अपोध्यां पाक्षयामासेत्यन्वयः । रामे = स्वाग्रजे रामचन्द्रे, कलहंसः = काननाम्नः, मासे = घाते, भरतः = केकेपी-तनुजा, कथमपि = केनाऽपि प्रकारेण, चेतनः = संज्ञायां, माय = आलाप, मुनिः कथयन्नाह = वसिष्ठाद्युविजयवाक्यात्, ऊर्ध्वदेहकिपाभिः = श्रीर्ध्वदेहिकसंस्कार-वर्तमानि, तातं = पितरं, हसदपमित्यर्थः, ईर्ष्याकोकं = ईर्ष्याकोकं, नीत्वा = प्रापयन्, आहुः = रामचन्द्रस्य, शोकाभितप्तः = शोकेन (विद्योगवसितेन मय्युना) अभि-तप्तः (सन्तप्तः) । स्वजनपरिवृतः = आत्मीयजनपरिवेष्टितः, नन्दिप्राप्ते = अपो-ध्यामिकप्रवर्तिनि नगरे, तिष्ठन् = वसन्, रघुपतिपुनरागामिभोगापवीरः = रघुपतेः (रामचन्द्रस्य) पुनरागामी (पुनर्भावी) यो भीमः (परावोपभोगः) तस्मात्, अपवीरः (पराङ्मुखा) सन्, अपोध्यां = साकेतं, पाक्षयामास = रहितवान् । भरत-सदृशवर्तमानस्तर्हि प्रस्थापितोऽहं एवाग्रजाय रामाय साकेतराज्यं तमवर्जनीयमिति विदुरस्य राजमोक्षभोगवसितपुत्रपराङ्मुखाः सन् नन्दिप्राप्ते तिष्ठन्नयोध्यां पाक्षयाया-सेति भावः । कलहरा वृत्तम् ॥ १२ ॥

सरपूरिति । पृथक्पदेव = पृथक्परिमाणमेव, ब्रूयान्तरूपयाव = तद्ब्रूयान्तरूप-विकल्पयन् = रामोद्भूतकानाय । प्रस्थापितः = नेपितः ।

रामके पीकसे संतप्त ही स्वजनपीकसे परिवेष्टित हीकर नन्दिप्राप्ते रङ्गर रामके पुनर्भावी रामपीकपीकसे पराङ्मुख कर नकोध्याकः पाक्षय किया ॥ १२ ॥

ब्रूयान्ता—तव तथा हुआ । तव क्या हुआ ।

सरधू—मैं हसत ही जानती हूँ । इसके अनन्तर और ब्रूयान्ता जानने के लिए कपले कमकथनमें रङ्गिराके किसी कलहंसी मैंने भेजा है ।

(प्रवेश कर)

कलहंस—देविनो ! मैं नमस्कार करता हूँ ।

सरिद्विमितः स्वच्छस्वहृदयममोहरा ।

इदमिदमिति स्निग्धामोहं भुङ्गुर्मधुरस्यन-

मधुकरवधुमुग्धामोहं वनं सरसीवहाम् ॥ २२ ॥

गङ्गा—अहो ! अम्यभ्रमरामनानि पक्षिकजन्यवचनानि ।

यमुना—नतस्ततः । (ततो ततो)

भीतं विस्त्रोपय हरिणं कदनाञ्जलिषा

पत्युर्निजेन पिदधे धनुस्तुकेन ।

महाहमोहरा इव सरित् । इतः स्निग्धामोहं भुङ्गुः मधुरस्यनमधुकरवधुमुग्धामोहं सरसीवहाम् इदं पदमित्यन्वयः । इतः = अस्मिन्स्थाने, 'भाषादिभ्य उपसंख्यानश्च' इति सार्वभित्तिकस्तमिः । शीतवह्वाः = शीता (शीतकाः) व्वावा (जमातयः) पस्मिन्सः । स्वयम्भुवाम्नः = स्वयन्तः (विवाहन्तः) मधुनः (पुष्परसस्य) शी-
क्याः (मधुकण्ठाः) पस्मिन्सः । तारकाः कार्य = सन्निवृष्टयो, तच्छ = वृक्षः, अस्ती-
ति शेषः, एवं परचात्रिः । इतः = अथ, स्वच्छस्वहृदयममोहरा = स्वच्छ (निर्मलः)
स्वहृदयः (स्तोत्रः, सुकतरणयोग्य इति भावः) एतादृशो यः महाहः (वृक्षः) तेन
मोहरा (रमणीया) । इदं = सन्निवृष्टया सरित् = नदी, अस्तीति शेषः । इतः =
इतः, स्निग्धामोहं = स्निग्धा (कोमलाः) आमोहः (सुगन्धः) यस्य तत्, भुङ्गुः =
कारं कारं, मधुरस्यनमधुकरवधुमुग्धामोहं = मधुरं (माधुर्यं पूर्णं यथा तथा)
स्वच्छता (शुद्धता) या मधुकरवधुः (भ्रमरः) तामिः भुङ्गुः (सुन्दरः)
आमोह (परिपूर्णता) पस्मिन्सतः, तारकाः, सरसीवहाम् = कमलानाम्, ■ = पुरः
स्वित्तं, वक्ष्य = वक्ष्यन्, अस्तीति शेषः । सर्वेति प्रकारेति वनं सुकसन्नरणीय-
मस्तीति भावः । इति च वृत्तम् ॥ २२ ॥

गङ्गोत्ति । अम्यभ्रमरमनानि = अम्यति (मार्गे) को भ्रमः (दुर्गतिवस्त्या
क्रान्तिः) तन्मनानि (सन्निवृष्टानि) ।

यमि नीतायाः स्वच्छस्वहृदयं प्रतिपादयति—भीतमिति । हरिणं भीतं विस्त्रोपय
कदनाञ्जलिषा (तीता) पत्युर्धनुः निजेन भन्दुकेन पिदधे । केदारसीमि न यव-
मोहं सर्वम् आवाच सप्तु अक्याज्वततं दिदध इत्यन्वयः ।

इतर निर्मल और स्वच्छहृदये रमणीय यह नदी है । इतर कोमल सुगन्धवाक्य, वारंवार
वृक्ष वारंवारके धनरिबोंसे सुन्दर स्नानवाक्य यह कमलवन है ॥ २२ ॥

गङ्गा—अहो ! 'यह भगो दुर्गम है' ऐसी भ्रान्तिसे मिथ्यावचने पक्षियोंके वचन हैं ।

यमुना—एव क्या हुआ ! एव क्या हुआ !

एताको वरा हुआ हैककर दयासे आश्रयित कीहाने पक्षिके वज्रको अपने वक्षसे

केदारसीमि सदयं च यथमरोह-

मादाय साधु विदधे अथगावर्तसम् ॥ २३ ॥

अन्यथा—

तटभुवि सरसीनां सैकते निम्नगानां

परिसरमपह्नुतुं चक्रवाकीं प्रियस्य ।

कथमपि न समर्था लोलमालोकयन्ती

पथि जनकतनूजां प्राप हर्षं शुचं च ॥ २४ ॥

हरिणं=सूरी, भीतं=वस्त्रं, रामभद्रुर्वर्णनेनेति भावः । विह्वल्य=हृष्टा=कम्पनाऽऽर्द्रचित्ता=कम्पना (इसवा) आर्द्रं (विलम्बम्) चित्तं (मानसम्) वस्त्राः सा' सीतेति शेषः । पशुः=स्वामिना, रामस्त्वय्ययः । भद्रुः=कार्मुकं, चित्रेन=स्वकीयेन, अंशुकेन=वस्त्रेण, विदधे=आच्छादितवती, हरिणरक्षणार्थमिति भावः । अत्र अश्रुरिमतेनाश्रुलोपः । एवं च केदारसीमि=वैत्रसीमानां, यथमरोहं=धीर्घण्टकमञ्जरीं, सदयं=सङ्कपम्, मादाय=पूरीया साधु=समीचीनं, यथास्थानमिति भावः । अथगावर्तसं=कर्णाऽऽङ्कारं, विदधे=कृतवती, सीतेति शेषः । कथमपि विच्छेदा ब्रुवम् ॥ २३ ॥

तटभुवेति । सरसीनां तटभुवि निम्नगानां सैकते च प्रियस्य परितः कथमपि अपह्नुतुं न समर्था चक्रवाकीं लोलम् आलोकयन्ती जनकतनूजा पथि हर्षं शुचं च प्रापेत्त्वय्ययः । सरसीनां=कासारानां, तटभुवि=तीरप्रदेशे, निम्नगानां=गदीनां, सैकते=दुकिने, प्रियस्य=सङ्कपस्य, परिसरं=पार्वमाणं, कथमपि=कथितकथनमपि, अपह्नुतुं=स्पर्शं, न समर्था=धो कथं, चक्रवाकीं=फेकीं, लोलं=चञ्चलं यथा स्थलधा, आलोकयन्ती=पश्यन्ती, जनकतनूजा=जानकी, सीतेत्यर्थः । पथि=मार्गे, हर्षं=प्रीतिं, यथमरोहं=यथावत्तान्निष्ठमिति भावः । शुचं च=सौके च, भाविर्विद्वन्निष्ठमिति भावः । प्राप=प्राप्तवती । सीता मार्गे कथमपि कम्पसङ्कपादि व्यकुलसमर्था स्वसदसीं चक्रवाकीं विह्वल्य हर्षं तथैव तस्या राशौ अनिष्टमात्रं कम्पविषोणं सम्प्राप्य कस्या अपि अवस्थायां भैरवसर्वेणाऽविद्यमानत्वाद्वा-

संज्ञा किंवा भैरव सेनकी सोमामें कवाङ्कुरको दवापुत्रक केकर अन्धकार कर्मभूतव कमाना ॥ २३ ॥

भैरव नी—राजाकोई तीरप्रदेशमें भैरव गदियोंके छत्रमें प्रियके पार्वमाणको कुछ क्षण भी सीनेको न समर्थ चक्रवाकी (फेकी) की चञ्चलतापूर्वक देखने वाली सीतामें जानने हर्ष और प्रीति का अनुभव किया ॥ २४ ॥

गङ्गा—यद्यनुकम्पनीयवत्सला मे जानकी । (पुनः वन्देहम्) अपि
माधव पथिकनीतिशीतलानि मे धत्तानां शीतानि ?

इंस—कीदृशी पुनः पथिकनीतिः ?

गङ्गा—

यत्तत्कर्णं तपति तपनस्तावदेव यथाहं,
विभ्रामश्च प्रसरति स्वेरंशुजम्बे कराळे ।

यात्रोद्योगः पुनरपि स्वेरंशुजमाने विमाने,

यावन्मीलरयथ कमलिनी तावदावास्तवम् ॥ २५ ॥

तत्रोऽपि काकान्तरमात्रिणी प्रतिपिपुच्छमस्यामुष्येष्व शोकं वाञ्छुमूलवतीति
भावः । मालिनी वृक्षम् ॥ २५ ॥

गङ्गाति । अनुकम्पनीयवत्सला = अनुकम्पनीयेषु (अनुकम्पायोभ्येषु) वत्सलम्
(स्नेहवती) । पथिकनीतिशीतलानि = पथिकनीत्या (पाथ्यन्वहारेण) शीत-
लानि (क्षापयित्वानि, सुखसुखापीति भावः) ।

गङ्गा पथिकनीतिं प्रतिपादयति यावदिति । तपनो यत्तत् कर्णं तपति तावदेव
प्रभावम् । स्वेः कराळे अंशुजम्बे प्रसरति विभ्रामश्च । स्वेरंशुजमाने कम्बमाने पुनरपि
यात्रोद्योगः । अथ यावत् कमलिनी मालति तावदावास्तवम् इत्यन्वयः ।

तपनः = सूर्यः, यावत् = यत्कालपर्यन्तं, कर्णं = श्रोत्रं, तपति = तप्तं करोति,
स्वेरंशुजम्बे विभ्रामश्चान्तरांशुजम्बे, पुनरपि इति भावः । तावदेव = तत्कालपर्यन्तमेव,
जम्बु = प्रस्तावम् । स्वेः = सूर्यस्य, कराळे = कठोरे, प्रथम् इति भावः । अंशु-
जाळे = शिखरप्रसारे, प्रसरति = प्रसारं गच्छति सति, विभ्रामश्च प्रस्थानविरामश्च ।
तमनं जगत् । 'शोकचोपशान्तस्थानात्तस्याऽऽपचमे'रिति वृक्षप्रमाणः । अथ पुनः भावः
स्वर्गं जम् । ततो विभ्रामः भ्रान्तो विभ्रामः इत्यस्य साधुत्वम् । ■ य स्वे = सूर्यस्य,
विमाने = याने, एव इति भावः । कम्बमाने = भवच्छेदयति सति, अपराङ्मुखाक इति
भावः । पुनरपि = भूकोऽपि, यात्रोद्योगः = प्रस्थानप्रवासः । अथ = अतएव, यावत् =

गङ्गा—यत् प्रकारेण मेरी सीता स्वयमेव मनोमें स्नेह करनेवाली है । (फिर स्नेह-
पूर्ण) मेरे हृदयोंके चरित्र पथिकनीति (पाथ्यन्वहार) से अत्यन्त है क्या ?

इंस—यद्य पथिकनीति होती है ?

गङ्गा—सूर्य वरष्क कालको सन्तप्त करते हैं, अथवा हो याथा, सूर्यको कठोर किरणों
के कलनेपर विभाव करना, सूर्यके शयके अवसरत हीनेपर (अपराङ्मुखतासे) फिर भी
वापस। अथवा और अवक कमलिनी निमोहित होने लगती है तदवक रात्रिके निद्रा-
स्थानका मध्य करना आदि ॥ २५ ॥

ईशः—भगवति, अनवस्थितमिदं नित्यपथिकानाम् ।

राज्ञः—हन्त ! कथं कठोरतपस्पर्शमपि जानन्ति जन्तुकीकृतिवाङ्मनसि ।

ईशः—अलं कातरतया ।

अपि तपति पतङ्गे खण्डखण्डैर्भयुक्तैः

पथि जनकतनूजा नैव सम्तापमाप ।

राज्ञः—(सकौटुकम्) कथमिध ?

ईशः—

अपरिचितमिमेवालोकास्त्रास्त्रोक्तयन्तः

कुसुमयदकदमप्रपादममङ्गं म्रियस्थ ॥ २६ ॥

यत्कलपवर्णनं, कमकिनी = कमकसंहतिः, मीलति = संकुचति, सूर्यास्ताऽन्धकारमेव मुकुलिता भवतीति भावः । तामसं = तस्मात्कालमेव, आभासशब्दाः = रात्रि-निवासस्थानमद्वयम्, इवमेव पथिकनीतिरिति भावः । मन्वाकास्ता वृक्षम् ॥ २५ ॥

इस इति । भगवत्स्थितम् = अस्थितम् । निरवपथिकैरथं निवसो निरवकृतेषु पालयितुं न शक्यत इति भावः ।

अप्येति । खण्डखण्डैः सप्तैः पतङ्गो तपति अपि जनकतनूजा पथि सम्तापं नैव आपेति पूर्वार्थाश्रयः ।

खण्डखण्डैः = अतिसूक्ष्मखण्डैः, सप्तैः = किरणैः, पतङ्गो = मूर्खः, तपति अपि = तापं कुर्वन्पथि, जनकतनूजा = जामबी सीतेत्यर्थः । पथि = मार्गे, सम्तापं = अल्प किरणजन्यं क्लेशं, नैव आप = नैव प्राप्तवतीति पूर्वार्थाश्रयः ।

कथमिमेति राज्ञामरणे उत्तराऽर्चकपेणोच्यते—अपरिचितेति । म्रियस्थ अपरिचितमिमेवालोके (मया तथा) कुसुमयदकदमप्रपादममङ्गम् आलोकायन्ती (जन्तु-कतनूजा सम्तापं नैव आपेति पूर्वार्थसम्बन्धः) इत्युत्तराऽश्रयः ।

ईशः—भवति । मिय पावा करनेवालोंको यह भियव भियत नहीं है ।

राज्ञः—हय । सोवाके कोमल भङ्ग भी होते पावके कठोर सखोंकी भी जान रहे है

ईशः—कातर नहीं बचना चाहिय ।

सूर्यकी अवस्थित प्रकण्ड किरणोंसे ताप करते रहनेपर भी जीवाने मार्गमें सन्तान पावा ही नहीं ।

राज्ञः—(कौटुकपूर्वक) क्यों ?

ईशः—मियके नीककमकके पत्रके सहस्र दधाम बहने विनिमेष इतिरे देवदत्त (जीवाने मार्गमें सन्तान पावा ही नहीं) ॥ २६ ॥

गङ्गा—शिवतमस्नेहशीलतया सीतया न केवलमात्मा वयमपि जीविताः ।

सरयू—पालिताम् ।

हंस—

अप्युपस्थैस्तपनकिरणैस्तापितायां पृथिव्या-

मध्यन्येषां कठिनवपुषां दुर्गमे मार्गसीम्नि ।

प्रेमाङ्ग्रेण प्रशुणितधृतिचेतसा स्नेतशीतान्

मेने सीता शिवतमपदैरङ्गितान्भूमिभागात् ॥ २७ ॥

शिवस्य = कलमस्य, रामस्योत्पत्तः । अपरिचितनिमेषाकोकम् = अपरिचितः (अमस्तुतः) निमेषः (वसमरपञ्चकाण्डः) अस्मिन्तः तादृशा आलोका (अव-
कोकम्) परिसम्पर्केण तद्यथा तया विविमेयमिति साकः । कुवलयद्वारपार्श्वम् =
कुवलयद्वारम् (नीलकमलपत्रम्) इव श्यामं (कृष्णम्), तत् । तादृशम् अक्षरं =
शरीरम्, आलोक्यवन्ती = अवलोकयन्ती सती, जनकतनुजा सन्तानं मेवाऽऽपेति
पूर्वेण सङ्गन्धः । पनि सूर्ये प्रखरकरैः सन्तानं विप्रवत्यपि मैथिली नीलकमलकोमलं
शमसादीरं निर्मिसेषं परवन्ती सति सन्तानं नाऽनुभूतवतीति भावः । अक्षीपमाऽ-
कङ्कम् । मातिनी वृत्तम् ॥ २६ ॥

पठेति । शिवतमस्नेहशीलतया = शिवतमे (रामे) यः स्नेहः (मण्यः) स
कम लोके (स्वभावे) यस्याः सा, तस्या भावस्तथा, तया । “सामान्ये नर्तकम्”
इति नर्तकत्वम् ।

अप्युपस्थैरिति । उपस्थैः तपनकिरणैः तापितायां अपि पृथिव्यां कठिन-
वपुषाम् अन्वेषात् अपि दुर्गमे मार्गसीम्नि प्रेमाऽऽङ्ग्रेण चेतसा प्रशुणितधृतिः सीता
शिवतमपदैः अङ्गितान् भूमिभागात् स्नेतशीतान्मेने इत्यन्वयः । उपस्थैः = प्रस्थैः,
तपनकिरणैः = सूर्योद्गमिता, तापितायामपि = तापयुक्तायामपि, पृथिव्यां = भूमि,
किं वपुषां-कठिनवपुषां = कठोरकासीरालाम्, अन्वेषाम् अपि = अपरेषामपि लानार्तं,
दुर्गमे = दुष्पथारे, मार्गसीम्नि = कण्ठसीमायाम्, प्रेमाऽऽङ्ग्रेण = प्रणयकोमलेन,

गङ्गा—शिवतमो प्रसन्नस्य स्नेहेन सीताने अपलको हो गयी इसलियेकी भी
विधाया है ।

सरयू—पावन भी कर दिया है ।

हंस—प्रपन्न सूर्य किशोरे तापित पृथिवीमें कठोर करैरवाके भीरु लोगोकी भी
दुर्गमे मार्गसीमायें प्रणयसे मार्गचिह्ने समूह बैरवाकी सीताने शिवतम (राम) के करके
चिह्नेसे अङ्गित भूमिभाषीको वपुष ही बोलके समझ किया ॥ २७ ॥

यमुना—अयि रात दिनकर, कथं निजकुटुम्बेऽपि निष्कृतोऽसि संवृतः ? (भद्र रात, दिनकर ! कथं निजकुटुम्बेऽपि निष्कृतोऽसि संवृतो)

सरयू—अयि देवि वसुधे ! कथं निजसुतायामपि सीतायामेव, निर्दयासि संवृता ?

गङ्गा—(विह्वल) अलम्नयोऽप्यलम्ननेन, न स्वसु स्नेहानुगुण-प्रवृत्तयो महाभूतवृत्तयः ।

हंसः—

कान्तेनाथ प्रणयमधुरं किञ्चिदाचञ्छतेन

भ्रान्ता भ्रान्ता जनकतनया घटकसरयाञ्छतेन ।

चेतसा = चित्तेन, प्रगुणितवृत्तिः = प्रगुणित (वृत्तिं प्रापित्वा) वृत्तिः (धैर्यम्) यस्याः सा, वादसी सीता = जानकी, प्रियतमवदः = रामचन्द्रचरणचिह्नैः भङ्गितान् = चिह्नितान्, भूमिभागान् = भूमिभागान्, वीरसखीतान् = अतिप्रियसखीतकाम्, मेने = मनुष्यभूय । प्रणयविकरतापिप्ताभामपि भुवि कर्कससरीराणामपि दुःसम्भारं भूविभागे सीता दृष्टितेन रामेण साकं यत्कृन्ती सती सन्तापं नाश्नुभूतवतीति भावः । मन्वाकान्तावृत्तम् ॥ २७ ॥

गङ्गेति । अनयोः = दिनकरवसुधयोः । अलम्नमेन = अलम्नमेकमेव । महाभूतवृत्तयः = पृथिव्यसेवोपायवाकाः साम्यवहाराः । स्नेहानुगुणप्रवृत्तयः = स्नेहानुगुणा (प्रणवाऽनुकूला) प्रवृत्तिः (चेष्टा) यासां ताः, सादरयो न यमसि । दिनकरवसुधार्थः प्रणवपारवत्येन स्वसीलं न परित्यजन्तीति भावः ।

कान्तेनेति । अयं भ्रान्ता भ्रान्ता जनकतनया कान्तेन किञ्चिदाचञ्छतेन घटक-कटव जङ्गलेन प्रणयमधुरं (यथा वसा) सीतलभजनककण विवर्धमुखादनसीति चक्रे । पुनः भ्रान्ता भ्रान्ता सीतलपा कोचमह्माऽञ्छतेन सीतलभजनककणस्तिवसुधान-वतीति चक्रे इत्यम्बः ।

यमुना—पिताजी दिनकर ! अपने कुटुम्बमें भी किस प्रकार आप निर्दय होकर हैं ?
सरयू—देवि धृषिणि ! अपनी पुत्री सीतामें भी किस प्रकार ऐसी निर्दय बन गई हो ?
गङ्गा—(हँसकर) हन दोषोंको एकहना नहीं देता याद्विध । महाभूतोंको चेष्टाएँ स्नेहके अनुकूल नहीं होती हैं ।

हंस—उस अतिप्रिय पक्षी द्वारा सीताको रामचन्द्रमें कुछ पक्षक मन्वजले भजनके मेमते मन्तोहरतापूर्वक हवाकर पक्षीना मिटानेसे विनय भीर मन्तोहर हवाकोमते पुनः

यत्के सीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननघ्नीः

आन्ता आन्ताः स पुनरया लोचनस्याञ्जलेन ॥ २८ ॥

गङ्गा—अहो, विनिसयस्य फलनीयता !

यमुना—ततस्ततः ! (तदी तदी)

हंसा—ततः ।

प्रत्यासन्ने भवति मिलये सम्प्रयाता पुरस्ता-

त्पूर्व चित्ते कतिपयपदैवापमाशय इस्तात् ।

अयं = अजन्मरं, आन्ता आन्ता = अजन्मरमेव साऽतिशय परिआन्ता, लज्ज-
तनया = जानकी, सीता । कस्तेन = कस्मिन्, रामेन । किञ्चिदाचञ्चकेन = स्तोक-
तरुकेन, यत्कलस्य = यत्कलस्य परिधानीयवस्तुत्वेन इति भावः । अञ्जलेन = पूज-
देनेन, प्रमथनपुरं = मेममनोहरं यथा स्थापना, सीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धान-
नघ्नीः = सीताः (लज्जता) अमजलस्य (धर्मसकलस्य) ये कणाः (लेखाः) तौ
स्निग्धा (मध्या) मुग्धा (मनोहरा) आननघ्नीः (सुखलोभा) यस्मात् सा,
तादृसी ! यत्के = कृता । पुनः = पुनः । आन्ता आन्ताः = अतिसयपरिआन्ता,
सः = रामः, अयथा = सीतया, लोचनस्य = लज्जस्य, अञ्जलेन = पूजयेत्तुम् =
कटाक्षेनेति भावः । सीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननघ्नीः = अजन्मरधर्मसकललेख-
मध्यामनोहरमुज्जलोभा, यत्के = कृता । रामः अजन्मपरिआन्ताया सीताया अम-
जलं यत्कलसञ्जलेनाऽपनीतवान्, सीता याऽजन्मपरिआन्तस्य रामस्य अमजलं
कटाक्षनिरीकनेनाऽपनीतवतीति भावः । अत्राऽन्योन्याऽलङ्कारः, लज्जकणमुग्धानेनैव
महाकविना चम्पाकोके लोहाहरणं यथा—'अन्योन्यं नाम यत्र स्वाधुपकारः परस्परम् ।
शिवामा समिता भवति सखी भवति शिवामया ॥' इति । मन्वाकान्तामृतस्य ३२८॥
गङ्गाति । विनिसयस्य = परिवर्तनस्य ।

प्रत्यासन्न इति । मिलये प्रत्यासन्ने भवति पूर्वं चित्तैः कतिपयपदैः पुरस्तात्
सम्प्रयाता (सती) सीता इस्तात् चापस् आशय नवकिसलयैः साऽनुजं आन्तं
कान्तं जीवयन्ती लसुचितविधिमकियावैजयन्ती जातेत्यन्वयः ।

कर दिवा । इति तरह परिवान्त रामचन्द्रको या सीता नेत्रके लज्ज (कटाक्ष) से निहार
कर मथने ही लयाग कर देती थी ॥ २८ ॥

गङ्गा—अहो ! परिवर्तनकी कैसी मनोहरता है !

यमुना—ततः यथा पुनः ! ततः यथा पुनः !

हंसा—ततः—

कायात आनन्दे मिट्ट होनेपर कटपट भवि कट्टी हुई सीता रामचन्द्रके हावसे यमु

आन्तं कात्वं नवकिसलयैः साऽनुजं वीजयन्ती

जाता सीता समुचितविधिप्रक्रियावैजयन्ती ॥ २६ ॥

(पुनः सकौतुकम्) इदमन्यत्र सरसपेशलं कथयामि ते ।

जनकतनयादस्तस्यस्तेर्मुहुर्नयपल्लवैः

शिथिरमखणस्तत्कार्षं यः समेति समीरणः ।

अशमममुना स्वैवोद्भूतं जगाम कपोलयोः ।

निकट्ये = आवासस्थाने, अस्यासन्ने = निकटवर्तिनि, भवति = सति, एजं = किञ्चिन्, चित्तौ = म्यस्तैः, कतिपयपदैः = कतिपयवशमपदैः, पुरस्तात् = पुरतः, सप्रमत्ता = समायाता सती, सीता = जानकी, हस्तात् = करात्, रामस्येति शेषः । चार्प = चतुः, आवाय = युद्धीत्वा, नवकिसलयैः = प्रत्यप्रपङ्क्तैः, साऽनुजं = साऽनुरागे, लक्ष्मण-सहितं, आन्तं = परिभ्रान्तं, कात्वं = प्रियं, राममित्यर्थः । वीजयन्ती = वाताऽऽवि-
र्भवेन सेवमाणा स्तौ, समुचितविधिप्रक्रियावैजयन्ती = समुचिता (योग्यः) वो-
विधिः (विधानं, सेवनमित्यर्थः) तस्य वा प्रक्रिया (अनुष्ठानम्) सस्य वैजयन्ती =
पताका, जाता = सम्पन्ना । आवासस्थाने निकटस्थे सति सीता सावरं पुरतो गत्वा
कात्वाहस्तात्वापमावाय प्रत्यप्रपङ्क्तैरभ्यगमनआन्तं साऽनुजं रामं वीजयित्वा सह-
धर्मिजीधर्मं मिश्रुद्वतीति आवाऽर्थः । मन्वाऽन्वाऽपुक्तम् ॥ २५ ॥

पुनरिति । सरसपेशलं = सरसं (साऽनुरागम्) पेशलम् (कोमलम्) च ।

जनकतनमेति । जनकतनयादस्तस्यस्तेः नयपङ्क्तैः तात्कार्षं यः शिथिरमखणः
समीरणः समेति । अमुना कपोलयोः स्वैवोद्भूतं सकिञ्चं प्रसन्नं जगाम । अतयोः
नेत्रयोः श्लोकोद्भूतं सकिञ्चं न अशममेत्यन्वयः ।

जनकतनयादस्तस्यस्तेः = जनकतनयायाः । (सीतायाः) हस्ते (करे) म्यस्तैः
(मिहितैः), नयपङ्क्तैः = नूतनकिसलयैः, तात्कार्षं = तत्समये, रामवीजमसम्ब-
धिमिति भावः । यः शिथिरमखणः = शीतलकीमलः, समीरणः = वाता, स्येति =
उद्गच्छति । अमुना = तादृशेन समीरणेन, कपोलयोः = तण्डवोः साऽनुजस्य राम-
स्येति शेषः । स्वैवोद्भूतं = धर्मजमितं, सकिञ्चं = लक्षं, प्रसन्नं = सान्निध्यं, जगाम =

केन्द्र नये पङ्क्तौते पङ्के कुप मार्यके साथ रामचन्द्रको हवा करती हुई योग्य विधिसे
अनुष्ठानकी पताका (उत्कर्षण) कर जाती थी ॥ २५ ॥

(फिर कौतुकसे साथ) यह दूसरी भी अमुरागपूर्ण और कोमल वात भटकती हुई ।

सीताके हाथमें रखे गये नये पङ्क्तौते तब समय ठण्डी और कोमल वी हवा
नचलती थी, उससे राम और लक्ष्मणके कपोलोंमें स्वैरसे छरण कर लूँ आता था

सहितमनयोः शोकोद्भूतं शशान न नेत्रयोः ॥ ३० ॥

अपि च—

कृतः स्थाने स्थाने विहितपरिवस्थापरिकरः

सुमित्रापुत्रेण भ्रमदामनशीतो रघुपतिः ।

असत्येतेनापि क्षणविरहबाण्डितदशा

कृतलोकशब्दे गकितलकलायासविशिरः ॥ ३१ ॥

गङ्गाम्, परन्तु भ्रमयोः = एतयोः, नेत्रयोः = नयनयोः । शोकोद्भूतं = सम्प्लुप्तं, सहितं = अलम्, अलु इति भावः । न शशान = शान्तं न चमूत । वीजनाञ्च सीताइत्यस्तिधतेभ्यो नचकिस्रलयेभ्यः समुद्भूतेन वापुना रामकमनधोरध्वनामन-भ्रममनितं कपोलस्थं स्वेदजलमद्युष्यत्, परमेनयोः सीतादुरवस्थादक्षिणेन शोक-कान्तिं नयनशब्दं माधुष्यमिति भावः । हरिणीवृषभ ॥ ३० ॥

कृत इति । सुमित्रापुत्रेण स्थाने स्थाने विहितपरिवस्थापरिकरो रघुपतिः भ्रम-समनशीतः कृतः । अस्यापि क्षणविरहबाण्डितदशा एतेन कृताऽऽश्लेषः (सन्) गकितलकलायासविशिरः चक इत्यन्वयः ।

सुमित्रापुत्रेण = सौमित्रिणा, लघुमणेनेत्यर्थः । स्थाने स्थाने = प्रतिस्थानं, वीप्सायां विरहितः । विहितपरिवस्थापरिकरः = विहितः (कृतः) परिवस्थायाः (शुभ-बायाः) परिकरः (यत्नः) यस्य सः । 'अस्याश्चौ परिकरी' इति त्रिकाण्डशेषः । तादृशे रघुपतिः = रामः, भ्रमदामनशीतः = भ्रमस्य (मार्गममायायस्य) समनेन (निवारणेन) शीतः = शीतलः, कृतः = विहितः । अस्यापि = लघुमनोऽपि, क्षण-विरहबाण्डितदशा = क्षणविरहम् (किञ्चित्कालविद्योमात्) समुत्पन्नो यो बाण्डः (अलु), तेन अक्षिते (मुक्ते) दक्षी (नेत्रे) यस्य सः, तादृशेन एतेन = रामेन, कृताऽऽश्लेषः = विहिताऽऽश्लेषकला, दृष्टः सन्निति भावः । गकितलकलाऽऽयासवि-शिरः = गकितः (अपगतः) सकलः (समस्तः) य आयासः (परिश्रमः) तेन शि-शिरः (शीतकः), चक = कृतः । कथमनः स्थाने स्थाने शुभूपया रामभ्रमसमनं चकत् । रामस्तु लघुमनस्याऽऽपविरहेणापि बाण्डपरिपूर्णश्लेषकः सन् दक्षदामने-

परन्तु एन शोकोने नेत्रोने शोकोने वलच चक नभो सुखाता वा ॥ ३० ॥

और नी—

लघुमनदे बाण्ड कण्ड पर लुलुबाका प्रवत्त कर परिवम मिटाकर रामचन्द्रको शीतक कर दिया । रामचन्द्रने भी कुछ ही समयके विशोध्य भी बाँधुसे भरे हुए नेत्रोंसे देखकर सब परिवम मिटाकर लघुमनको शीतक दला बाका ॥ ३१ ॥

सरयू—कियतां पुनरङ्गां परिवर्त्तेन रघुराष्टमतिक्रान्तं वत्सैः ?

हंस—अयि ! कयमजानती वर्त्तसे रघूनामाधिपत्यम् ?

एते हि स्वरसाधनघ्ननिक्षिप्तपमपदात्मौलिव्यञ्जन-
माणिक्यस्फुरदंशुमांसलपद्मेक्ष्मज्योतिषाः ।

दूरोन्मुखवत्समुद्रलद्वरीविक्षिप्तशुकिसल्लव-
मुक्तापङ्क्तिविनिर्मितैकचक्षरं भूमण्डलं मुञ्चते ॥ ३२ ॥

जैव कश्चन गमनशुश्रूषाविवर्जितपरिभ्रमरद्विषं विहितवानिति भावः । अत्रा-
भ्योन्मूलकद्वारः । विसरिणी वृत्तम् ॥ ■ ॥

हंस इति । रघूनां = रघुवंशोत्पन्ना । भूपालमात्र । आधिपत्यं = स्वामित्वम् ।
अधिपतेर्भाव आधिपत्यं, 'पश्यन्तपुरोहितादिभ्यो षच्' इति षच्, 'क्षितिषे'-
त्वादिबुद्धिः ।

राज्याऽऽधिपत्यं प्रतिपादयति—एते हीति । स्वरसाऽऽवयवमिच्छिन्नमापाक-
सौलव्यलम्भानिक्वस्फुरदंशुमांसलपद्मेक्ष्मज्योतिषः एते दूरोन्मुखवत्समुद्र-
लद्वरीविक्षिप्तशुकिसल्लवमुक्तापङ्क्तिविनिर्मितैकचक्षरं भूमण्डलं मुञ्चते हीत्यन्वयः ।
स्वरसाऽऽवयवमेवादि = स्वरसेन (आश्लेषेण) अवनना (अवनमनसीकाः)
निक्षिप्ता (समस्ता) वे वमापकाः (राजाना) तेषां सौक्ष्म्यं (मुकुटेषु) व्यक-
न्ति (दीप्यमानानि) वानि माणिक्यानि (क्षोणरत्नानि) तेषां स्फुरन्ता (दीप्य-
मानाः) येंशावः (किरणाः) तैर्मांसलानि (परिपुष्टानि) पद्मयोः (चरणयोः)
मेक्ष्मनि (प्रणयन्ति) मक्ष्मभोर्तीति (नक्षत्रकान्तयः) तेषां ते । स्वेक्ष्माऽऽवयव-
शक्तिसल्लवमुद्रलद्वीपमानक्षोणरत्नसोभमानचरणमलकान्तय इति भावः ।
साक्षा एते = इमे, रघुवंशोत्पन्ना राजान इति भावः । दूरोन्मुखेत्यादि = दूरात्
(निमग्नप्रदेशात्) उन्मुखाः (अविज्ञा) चतुर्णां (चतुः संकयकानाम्) समुद्राणां
(सागराणाम्) वा लक्ष्यैः (लक्ष्याः) ताभ्यो विक्षिप्ताः (अविज्ञा) वा मुक्ताः
(मुक्तास्फोटा) ताभ्यः स्फुल्लङ्घी (पतन्ती) वा मुक्तापङ्क्तिः (मौलिकवली)

सरयू—वस्तुने कितने दिनोंमें रघुराष्टक अधिकमन किया ।

हंस—नहीं ! राजाओंके आधिपत्यकी भाव नहीं जानती है ?

अपनी इच्छासे नज समस्त राजाओंके मुकुटोंमें दीप्यमान माणिक्योंकी किरनोंसे
आश्रय मगने चरणमलोंकी कान्तिसे समग्र वै रघुवंशके राजा, दूरसे प्रक्षिप्त चारों समुद्रोंके
तरङ्गोंसे फैली गई मुक्तिदोंसे विरमेवाकी मुक्ताओंकी पङ्क्तिसे रचित एक प्रकारसे कुछ
भूमण्डलका यौग करके है ॥ ३२ ॥

उत्तरकोशलाक्षिचतुरैरेवाहोभिरतिशान्ताः । अथ पुरमयन्तमौलिमा-
लतीमाळां मन्दाकिनीमन्दिरेण च कलिन्दमिरिकरिफौलमद्वारिधारां
अलिन्दीमप्यतिक्रान्ताः ।

गङ्गा—(यमुनां प्रति) सखि ! तविदं यत्कथितवत्पसि ।

सरयू—

तपनमुत्तया देव्या यद्वा भगीरथकन्यया

विपुलविपुलैर्वीचीहस्तक्षिरावपि किं कृतम् ।

तया विविक्तं (विरचितम्) एकम् (एकसंख्यम्) वक्यं (सम्बद्धं, प्राक्प्रत्यय-
मिति भावः) यस्मिन्स्त्व । समुद्रचतुष्टयतरङ्गाप्रक्षितहृदयविरचितमुक्तावलीमाला-
परिवेष्टितमिति भावः । तादृशं भूमण्डलं = भूमिमाण्डलं, सुश्रुते = पालयमिति । वही-
कृतस्फुल्लभूषाका रघुवंशोपमत्वा नरपाका आसमुद्रविति भासतीति भावः ।

अत्रोवाचाऽलङ्कारस्तत्तत्त्वचनं यथा—‘लोकऽस्तिज्ञपसम्पत्तिवर्णनोवात्तमुच्यते ।
गङ्गाऽपि प्रस्तुतस्याऽङ्गं महती भरितं भवेत् ॥’ इति । तादृकविषयीकृतं वृत्तम् ॥२२॥
उत्तरकोशला इति । पुरमयन्तमौलिमालतीमालां = पुरमयमस्य (विपुलाजो,
सिक्खलेति भावः) मौलिः (सिरसा) मालतीमालां वातिशयं, भावक्याम्माकली-
मालास्तलीमिति भावः ।

मन्दाकिनी = गङ्गाम् । मन्दिरेण = मन्दिरकक्षेत्रेण । कलिन्दमिरिकरिफौलमद्वारि-
धारां = कलिन्दमिरिः (कलिन्दमामा पर्वतः) स एव करी (हस्ती) तस्य वी-
र्यमौ (मयौ) तपोर्जद्वारिधारां (मङ्गलप्रक्षिप्तं), राजमण्डलभारासङ्गी-
कृत्यवर्णनमिति भावः । अलिन्दी = यमुनाम् ।

तपनमुत्तयेति । तपनमुत्तया यद्वा देव्या भगीरथकन्यया विपुलविपुलै र्वीची-
हस्तैः क्षिरावपि किं कृतम् ? एव लक्षितलवलीमल्लैः अङ्गैः तनकृतयया वरं वलितया
सती पाणी कृत्वा न विविधपरितेजमन्वयः ।

उत्तर कोशक (मयोध्या) को ये कोम तीन चार दिनोंमें ही पारकर गये । समस्त
क्षिप्रगति मत्स्यकर्म याकतीमालाके सहस्र मन्दाकिनीको लौकिक ये लोग कुछ क्षणवर्ष
कलिन्दपर्वत के वापीके कशीकमें मन्दकभाराको सृष्ट कम्पनमें यमुनाको भी पार
कर गये ।

गङ्गा—(यमुनाके) सखि ! यह वह बात है, जिसे तुम कह चुकी हो ।

सरयू—यमुनाने जपवा देवी गङ्गाने कथिख विरहत तरङ्गका इन्द्रेणें बहुत समय

ललितलवलीभङ्गैरङ्गैर्वनं चलिता सती

जनकतमघा पाखौ घुत्वा न यद्विनिवारिता ॥ ३३ ॥

शङ्कर—(विह्वल) सखि ! कथं परोक्ष इव समक्षेऽपि निवान्धमुपा-
सम्भसे ?

यमुना—तवस्तवः । (तदो वदो)

हंस—ततश्च शम्बरदरवसितपिम्ब्यकरिङ्गममतीविमुक्तमुक्ताफलाप्र-
करतारकितनीरलवापितानपरिच्छदां शर्मदां नर्मदामतीत्यापिरेण यपल-
कणञ्चलपरिमलित-मदकरिकपोलचलितसहचरसभागममुदितमधुकरध-

तपममुतथा = सूर्यतपमुतथा, यमुनयेत्यर्थः । यद्वा = यथा । देव्या भगीरथ-
कम्पवा = भगीरथ्या, गङ्गावेति भावः । विपुलविपुलैः = कतिपयचिरदुर्लभैः, वीची-
इत्ये = तरंगरूपकैः, विरादपि = बहुकालेमाऽपि, किं कृतं = किं विहितम् । तदेवाऽ-
किञ्चित्करत्वं प्रतिपादयति—कञ्चित्तेति । यत् उल्लिखलवलीभङ्गैः = उल्लिखाः (सुन्दराः
कोमलाः) ये लवलीभङ्गाः (लवलीफलसङ्घः), तैर्लङ्कनया लवलीफलसङ्घैः
सुकुमारैः सुन्दरैर्येति भावः । तारकैः भङ्गैः = हस्तपादादिभिः करीशाञ्जयैः,
उपलक्षितेत्यर्थः । 'हरयंभूतलक्षण' इति सूतीया । जनकतमघा = जानकी सीता ।
यमम = भरणं प्रति, चलिता = चलितुं प्रवृत्ता सती, 'भादिकर्मणि कः कर्तति चे'ति
छाप्रत्ययः । पाखौ = कटे, घुत्वा = गृहीत्वा, न विनिवारिता = नो विधिः । कोमल-
सुन्दराङ्गी सीता यमजननमस्तुता सती भरणे घुत्वा यमुनया गङ्गाया च नो विना-
रिता, अतस्तपोरसिधायिस्तुतैस्तरङ्गरूपहस्तैः किं किञ्चित्मिति भावः ।

यत्र तपममुताया भगीरथकम्पयाश्च वीचिहस्तामालकिञ्चित्करत्वं प्रति सीताऽ-
विचारजनकपापस्य हेतुत्वाद्वाक्याऽर्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारस्तल्लक्षणं यथा
साहित्यदर्पणे—'हेतोर्वाग्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गे निरासते ।' इति । हर्मिणीवृत्तम् ॥ ३३ ॥
इत्य इति । शम्बरदरव्यादिः = शम्बरानां (किरातानां), 'मेधाः किरातसचरपुक्तिन्दा

वीचयेपर यो नया क्तिवा । यो कि सुन्दर और कोमल लवलीफलोंके समूह भङ्गोंसे सज्जक
और यमकी जाती हुई सीताकी चम्पोंने हाथमें पकड़कर नहीं रोका ॥ ३३ ॥

शङ्कर—(हँसकर) सखि ! प्रत्यक्षमें भी परोक्षकी तरह कैसे लज्जाहना दे रही हो ?

यमुना—तब क्या हुआ ? तब क्या हुआ ?

हंस—तब किरातोंके शर्मासे विदीर्ण विम्वयपर्वतकी शक्तिवोंके मस्तकसे गिरे हुए
शक्तिवोंसे विभित शीरवती ज्वालामुखरूप भाष्पावन्तसे सुक सुक देनेवाली नर्मदा नदीकी
शरत्कार भीके ही समक्षमें यक्षक कर्णाक्षकसे ताकित राज्ञीके मधुपूरी कपोलसे विचित्र

धूमधुरसरसकुसुमकेसरं गोदावरीपरिसरं प्रयाताः ।

धमुना—हा धिक्, ■ धिक्, तत्र हि लङ्घेधरभगिनी क्षयेन प्रमत्ता
शूर्पणखा नाम राक्षसी परिभ्रमति । (हृदि, हृदि, तस्य हि लङ्घेसरभङ्गी
वक्षणेन पमत्ता सुप्यणहा णाम रक्षसी परिभ्रमति)

गङ्गा—(तदाकर्म) (सातद्वयम्) किं प्रतिपन्नं जनस्थाननिवासिना
निशाचरचक्षेण ?

ईस—करकलितकराल-कुम्भकरवाककर्मकेण निशाचरचक्षेण रामं
प्रति प्रचलितम् ।

श्लेषकृतयः । 'इत्यमरः' वारैः (वारैः) वृत्ताः (मित्राः) वा विन्ध्यकरि-
कुम्भगतयः (विन्ध्यपर्यंत इति सिरः विन्ध्यतटयः (ताभ्यो विद्युः (विविधः) यो
सुखाफलप्रकरः (औक्तिकफलसमूहः) तेन आरक्षितं (सञ्जाततारकं, विमिश्र-
मिति भावः, 'तदस्य लक्षणां तारकादिभ्य इत्' इतीत्यध्यायः) यत् तीरकटा-
वित्तानं (तटवल्लीसमूहः) तदेव परिबद्धः (कण्ठावयवम्) यस्याः सा, ताम् ।
तादृशीं कर्मदां=सुखदां, 'कर्मदातनुयानि चोपमरः । कर्मदां=रेवां वहीम् ।
अक्षिणे=अक्षयकोटेन । अपलकणाञ्जलेरपादिः अपलं (सञ्चलम्) यत् कर्णाञ्जले
(ओषाञ्जलम्) तेन परिमिश्रितः (संघटितः) यो मधुकरिकपोरुः (मधुपूर्ण-
इतिगणकः) तस्मादक्षितः (अपराताः) ये सङ्घराः (सङ्घायिमः) तेषां समा-
यमेन (संगमोऽयम्) सुविताः (हर्षयुक्ताः) वा मधुकरवज्राः (अमघाः) तानिर्मधुरं
(नाधुर्मधुम्) सरसं (रसतद्वितम्) कुसुमकेसरं (पुष्पकिञ्चलः) परिमिस्तस्य
साधनं गोदावरीपरिसरं = गोदावरीनदीतट भूमिम् ।

गङ्गेति । निशाचरचक्षेण=राक्षससमूहेन । प्रतिपन्नं=ज्ञातम् ।

ईस इति । करकलितकरालकुम्भकरवाककर्मकेण=करैः (हस्तैः) कलितानि

सचपटोके समागमसे प्रसन्न भ्रमरिषोष्ठे मधुर और सरस पुष्पकिञ्चलके युक्त गोदावरी
नदीके तट प्रदेशको चले गये ।

समुप्य—हा धिक् । हा धिक् । वहाँ पर एक क्षणमें मत्त होनेवाली शूर्पणखा वामकी
राधनको पहन पूजा करती है ।

धमुना—(यह सुवन्दर, मत्तहृदके साथ) जबस्वामिने रहनेवाले राक्षसोंको क्या राम
काधिका पता भिक् ।

ईस—हमोंने नवानन प्राप्त, वक्षार और वज्र केनेवाले राक्षस रामकी कक्ष करके
आ गये ।

गङ्गा—सतस्ततः ।

हंस—तव श्रेष्ठं विद्वान् सौमित्रिणा रामभद्रः । आर्य, अहं मे—
नक्षत्रेण्मग्निनीसुकुमारनासानिर्मुक्तस्त्वत्सहितशितैकधारः ।

उत्कण्ठते कठिनराक्षसकण्ठजानां पानाय कर्दमसूत्रजामसूत्रां कृपाणः ॥

इदमुक्तञ्च रामभद्रेण—‘यत्स, अस्त्येतत् । किन्तु प्रकृतिमीदः स्तुत्य-
यत्ताजनः । तेन हि आनकीसनाथगर्भा पर्णशालामेव समुत्सातकरवाहः
पालयतु भवान् । ‘अयमहमचिरान्’ इत्यर्थोक्त एव निशाचरचक्रं प्रति प्रच-
लितः सम्मिलितश्च ।

(पताभि) कटाक्षानि (भयानकानि) कुम्भकरवाहकामुक्ताणि (प्राप्तस्त्वत्सहितैर्वि-
द्यैः, तेन । रामे मसि छत्रमणिविद्वति प्रदर्शयति—मक्षत्रेण्मेति । नक्षत्रेण्मग्निनी-
सुकुमारनासानिर्मुक्तस्त्वत्सहितशितैकधारः । कृपाणः कठिनराक्षसकण्ठजानां कर्दम-
सूत्रजाम् असूत्रां पानायोत्कण्ठत इत्यन्वयः ।

नक्षत्रेण्मग्निनीत्यादिः = मक्षत्रेण्मस्य (राक्षसेभ्यश्च, राक्षस्येति भावः)
भग्निनी (स्वसा, सूर्यणोत्पत्त्यर्थः) तस्याः वा सुकुमारनासा (कोमलनासिका)
सस्या निर्मुक्तम् (निःसृतम्) यद् रक्तं (रश्मिम्) तस्य लक्षः (लेखः) तेष
सिता (दिव्या) शिता (तीक्ष्णा) एकधारा (एकाग्रदेशः) यस्य सा, साहसाः ।
कृपाणः = सङ्घः । कठिनराक्षसकण्ठजानां = कठोरनिशाचरगणपतिजानां, कर्दमसूत्रां=
पर्णशालाकामां, तादृशाम् असूत्रां = रुधिराणां, पानाय = उपशोभाय, उत्कण्ठते =
उत्कण्ठां करोति । भावः । राक्षसद्वन्द्वनाथ मामादिषेति भावः । असंगतविकारावृत्तम् ॥

इदमिति । आनकीसनाथगर्भा = जामक्या (सीतया) सनाथः (सुक्तः) गर्भः
(अग्न्याश्रयभागः) सस्याः सा, तान् । तादृशीं पर्णशालाम् = उदकम् । समुत्सात-
क-

गङ्गा—तव यथा हन्ता । तव यथा हन्ता ।

हंस—तव कर्मणो रामचन्द्रभीषे यद् निवेदनं किंवा किं आर्य । मेरी यह—

राक्षसेभ्यः राक्षसी यद्वनस्य भीमल नासिकास्ये निकटे ह्युप रुधिरलेखस्ये किञ्च यत्
सीतया पारनास्ये वक्त्रात्, कठोर राक्षसीके कण्ठोस्ये गिरे ह्युप वायु रक्तके घानके विद्म वक्त्रात्
कर रही है ॥ २४ ॥

रामचन्द्रने भी यह कहा कि—‘यत्स । यह ठीक है । किन्तु भी स्वयमसे ही करपौक
हीती है । इस कारण पर्णशालाके भीतर सीतास्ये रक्तकर भिद्यनस्ये वक्त्रात् निष्काशकर
हुम रखा करो । ‘यद् मे ओहें समझमें ही’ ऐसा भावा ही कहकर राक्षसीके पास चले
भीर वनमें शामिल हो गये ।

गङ्गा—(घनासम्) अनन्तरं किं वृत्तम् ।

हंसः—

अथ हंसस्तत्तद्वत्समरजयसंरम्भरमस-

प्रसर्पद्गम्भीरध्वनिगारिमगर्जद्वचविशम् ।

मुहूर्तात् सौमित्रिः.....

सरयूः—तत् किं रामेण ?

हंसः—नहि नहि ।

सरयूः—अवि देवि भागीरवि ! त्रायस्य माम्, नूनं निशाचिरपञ्चे-
योपि वक्ष्यति ।

करवाकः = संकुलवाकः (समुद्रकणः, कोलादिति शेषः) करवाकः (कङ्कः) देव-
स्तः, आलकीरुणाऽर्थमिति भावः ।

अथेति । अथ मुहूर्तात् तादृक्समरजयसंरम्भरमसप्रसर्पद्गम्भीरध्वनिगारिमगर्जद्व-
चविशं सौमित्रिमुवाच इत्यसंपूर्णरकोक्तञ्जवः ।

अथ = युद्धार्थिरामनिर्गमनाञ्जन्तरं, मुहूर्तात् = अथवाकादादेव, तादृक्समरे-
त्वादिति = तादृक् (तादृशः) यः समरा (रणः) तस्मिन् यो जयः (विजयः)
तस्मिन् यः संरम्भरमसः (कोपवेगः) तेन प्रसर्पन् (व्याप्नुवन्) यो गम्भीरध्वनिः
(घर्षरसव्यः) तस्य यो गरिमा (गुरुत्वम्) तेन गर्जन्त्यः (ह्रस्वावमानाः) वृक्ष
(वृक्षसंस्कृताः) दिशः (काशाः) वसिन्मन्मणिं तेषां स्वात्तया । सौमित्रिः =
कथमनः, आहूतः = आकारितः । एतस्मिन्वाक्ये कर्तुंमुवाचवाक्यपूर्वोऽपि क्लृप्ते राम-
भक्तमधमासङ्गं सरयूः पृच्छति ।

सरयूरिति : रामेण = रामभक्त्येण, आहूत इति शेषः । साहाय्याय्यं रामेण किं
कथन्त आकारित इति प्रथमः प्रश्नास्तथा ।

हंस इति । नहि नहि = रामेण कथमन्यो मङ्गल इति भावः ।

गङ्गा—(वर कर) पीछे क्या हुआ ।

हंस—उम पीछे ही समयवने देते हुए वृक्षों विषयमें कोपके वेगसे व्याप्त ■ तेनाके गम्भीर
ध्वनी गुनवासे वृक्षों दिशाओंको झुकावित कर कम्पनको बुझाया ।

सरयू—तो क्या रामने (बुझाया) ?

हंस—नहीं नहीं ।

सरयू—हे देवि नहे ! मुझे क्याकर । विषय ही यह 'राक्षसोंने' (बुझाया) ऐसा
कहेया ।

हंसः—

..... विपिनचरनकञ्जरकम्

वधभीडाकिञ्चिन्मुकुलितरूपा रामधनुषा ॥ ३५ ॥

सरयुः—दिष्ट्या जीवितास्मि । सेयं प्रथमवर्णिततीमातपा पीयूषवृष्टिः ।

यमुना—ततस्ततः । (तरो तरो)

हंसः—ततः प्रमुवितसुनिजनरातसमुद्भूतसाधुजावलयणविनोदेन कसिचिदहानि नयन्ति स्म ।

अथाधिरासीत् कुबचिन्दलोचनो ह्रमान्तरे चिद्रुमशृङ्गप्रोमितः

सरयुरिति । निशाचरकथेनेति=राक्षससमूहेनेति । रामं विजित्य निशाचरकथेन किं दूषणस्मात्तासाध्येतको कथमत्र आहूत इति सरय्या द्वितीयः प्रश्नः ।

हंसः पूर्वोक्तलोकं पुरयति—विपिनचरोति । विपिनचरनकञ्जरकम् वधभीडाकिञ्चिन्मुकुलितरूपा रामधनुषा (सीमित्रिराहूतः) इत्यवतिष्टाभक्त्या ।

विपिनचरनकञ्जरकम् वधभीडाकिञ्चिन्मुकुलितरूपा=विपिनचराः (भगवराः) ये नलज्जराः (निशाचराः, राक्षसा इति भावः) तेषां वा वधूः (सेना) तस्या वधा (वधनम्) स एव भीडा (केलिः, अनापासत्वादिभिः मायः) तथा किञ्चिद् (ईषधया तथा) मुकुलिता (सजातमुकुटा) रुद् (क्रोधः) यस्य, तेन । साक्षेन शतधनुषा=रामकामुक्तेन । सीमित्रिराहूत इति पूर्वोक्तिद्वितायां पद्याभ्यां सन्धः । किकरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

सरयुरिति । प्रथमवर्णिततीमातपा=प्रथमं (पुरा) वर्णितः (प्रवर्णितः) तीवः (कठोरः) आतपः (शीतः) यस्य सा । साक्षी पीयूषवृष्टिः=अमृतवर्षणम् । अत्र आशुतपी या रामपराजयानहृता सा तीमातपस्थानीया, अनन्तरमवा रामविजयप्रसूतिम् पीयूषवृष्टिस्त्वामेवेति पद्यावयवं बोध्यम् ।

मारीचवृत्तान्तं प्रसीति—अथेति । अथ कुबचिन्दलोचनो चिद्रुमशृङ्गप्रोमितो

हंस—वनमें विचरनेवाले राजसौंही सेनाधी बचकर भीकासे मुकुलित कोणवाले रामके धनुने (कन्धनको मुकुटा) ॥ ३५ ॥

सरयु—आन्धले जीवित हूँ । सो यह पहले तीव्र बूबको दिखाने वाली अमृत वृष्टिसे समान बात हुई ।

यमुना—तब क्या हुआ है तब क्या हुआ ?

हंस—तब प्रसन्न सीकरी अमियोंसे उच्चारित सामुदायिक भगवन्ति विनोदसे धन कीर्तोंके मुँह दिनोंकी व्यतीत किया । तब पचराणके सरीके नेत्रोवाला, प्रवाकम्ब-शरीरे कीवित,

विभक्तमुक्तामयविभ्रममण्डनो मनोऽपहारी हरिणो हिरण्यमयः ॥ ३६ ॥

गङ्गा—(स्वगतम्) नूनमयमनर्थाङ्कुरः । (अकशम्) तप्तस्वतः ।

मूलः—

भ्रूवङ्गीविजितमनोजवाकचापश्चापश्रीजितयुवती-मनोरमभूः ।

सीतायास्तमनुससार खोचमान्तः कान्तश्च स्फुरदसितोत्पलाभिरामः ॥

विभक्तमुक्तामयविभ्रममण्डनो मनोऽपहारी हिरण्यमयो हरिणो मुनान्तर आभिरासी-
दित्यन्वयः ।

अथ = किंवत्समयाऽपरमाऽनन्तरं, कुन्दिन्दुकोचनः = कुन्दिन्दु (पञ्चरात्रौ)
इव खोचने (नेत्रे) यस्य सः, रक्तमय इति भावः । विमुग्धश्लोभितः = विमुग्ध-
मयान्तां (प्रयासमयाभ्याम्) शृङ्गाभ्यां (विषाणाभ्याम्) श्लोभितः (भ्रष्टः) ।
विसक्तमुक्तामयविभ्रममण्डनः = विभक्तजति (कृतविभागाणि) मुक्तामयानि (मौक्तिक-
कण्डूराणि) चिद्राणि (पङ्कजानि) मण्डनानि (भूषणानि) यस्य सः । मनोऽप-
हारी = मनोहरः, हिरण्यमयः = हिरण्यस्य विकारः । 'दाम्बिनायने'त्यादिना निपातः ।
सुवर्णमयः, तादृशो हरिणः = सङ्गः, मुनान्तरे = वृक्षमध्ये, आभिरासीत् = प्रादुर्भूतः ।
अश्रोण्याच्छङ्कारः । वीरस्य वृत्तम् ॥ ३६ ॥

मूलश्रुतिः । भ्रूवङ्गीविजितमनोजवाकचापः स्फुरदसितोत्पलाभिरामः सीताया
कोचवाभक्तः चापश्रीजितयुवतीमनोरमभूः स्फुरदसितोत्पलाभिरामः कान्तश्च तप्त
अङ्गुलसोत्पन्नयः । भ्रूवङ्गीविजितमनोजवाकचापः = भ्रूवङ्ग्या (नेत्रोपरिस्थितोम-
शक्विलतया) विजितः (पराजितः) मनोरमस्य (मनोज्ञस्य, कामदेवस्येत्यर्थः)
चाकः (सुन्दरः) चापः (धनुः) येन सः । एवं च स्फुरदसितोत्पलाभिरामः =
स्फुरत् (विद्यमान) यत् असितोत्पलं (नीलकमलम्) तद्विषयभिरामः (सुन्दरः)
यद्विदं सन्नेत्रेण कामरूपस्यापि विशेषणं बोद्धव्यम् । सीतायाः = जानक्याः,
श्लोभिताऽन्तः = मयमाऽवचनः । एवं च—चापश्रीजितयुवतीमनोरमभूः = चापक्षिप्रा
(स्वयङ्मुः शोभया) जिताः (पराजिताः) युवतीनां (चरुनीनाम्) मनोरमाः

विभक्त मुक्तामय विभिन्न भूषणोंसे सम्पन्न और मलकी हरण करनेवाला सुवर्णमय सुव
रुणोंके बीचमें प्रकट हुआ ॥ ३६ ॥

गङ्गा—(मन ही मन) विषय वह मन्त्रके बहुत है । (इत्यादि) ॥ क्या हुआ ?

इति—प्रशस्त्यति कामदेवके सुन्दर धनुकी नीलनेपथी और चञ्चल नीलकमलके
सहस्र सुन्दर सीताके नेत्रावचने और धनुकी चोबासे युवतीको सुन्दर औरकी नीलने
पथी और लम्बक नीलकमलके सहस्र सुन्दर विषय रामने श्री वत्स वृक्षा मनुहरण किया ॥

ततः—

आसाक्षुरेण हरिणेन सहैव तेन

दूरं प्रयाति हृदये अनकात्मजायाः ।

सीमित्रिराश्रमपदात्कृतचापपाणि-

द्राक्षन्निर्जगाम च, विवेका च कोऽपि भिक्षुः ॥ ३८ ॥

(मनोहराः) भूषः (नेद्योपरिस्मरोमराजयः) येन सा । तद्यैव स्फुटदलितोत्पलप्र-
मिरामः = विकलनीलकमलसुन्दरः, कामाक्ष = सीताप्रियम्, रामश्चेत्यर्थः । कं =
पूर्वोक्तं हिरण्यम् हरिणम्, अनुससार = अनुसृतवान् । अतिरमणीयं साक्षं हिर-
ण्यम् हरिणं दृष्ट्वा सीता साऽभिलाषा जाता, रामश्च सीताऽभिलाषं ज्ञात्वा व्याधात्-
नार्यं सं हरिणमनुससारेति भावः । अत्र रूपकोपमास्तेषां निबोधनवेद्यया स्थितेः
संक्षेपः । महर्षिमीवृत्तम् ॥ ३७ ॥

आसाऽक्षुरेणेति । आसाऽक्षुरेण तेन हरिणेन सहैव अनकात्मजाया हृदये दूरं
प्रयाति कृतचापपाणिः सीमित्रिः आश्रमपदात् द्राक्षन्निर्जगाम कोऽपि भिक्षुश्च विवे-
केत्यन्वयः । आसाऽक्षुरेण = असाऽक्षुलेन, रामसारादिति शेषः । तेन = पूर्वोक्तेन,
हरिणेन = हृगेण, सहैव = सममेव, अनुससार = अनुसृतवान्, सीताया हृदयः =
हृदये = चित्ते, दूरं = विपकूटं, प्रयाति = प्राप्ते सति, रामश्चित्तयेति शेषः । कृत-
चापपाणिः = कुलः (विदितः, आरोपितमीर्षा इति भावः) यद्यपः (धनुः) स
पाणौ (करे) यस्य सः, 'प्रहरणाद्यर्थः परे निष्ठासम्पत्ति' इति पामिपदस्य पर-
निपातः । तादृशः सीमित्रिः = कश्चन, आश्रमपदात् = उदयस्थानात्, द्राक्षन् =
धीर्, निर्जगाम = निर्गतः, रामस्यविपदाच्छ्रया लक्षणाज्यमिति शेषः । अत्राऽन्तरे
कोऽपि = अविज्ञातनामधेयः, भिक्षुश्च = भिक्षार्थी च, भिक्षु इति भिक्षुः, 'भिक्षु
भिक्षाधामछात्रे कामे चे'ति भावोः 'समाससंज्ञिभू उ'तिभूः । विवेका = प्रविष्टा,
आश्रमपदमिति शेषः । रामसदृशतयभीतेराकुलेन तेन हृगेणेन सह रामचिन्तया
सीताया मातसे च दूरं प्राप्ते सति धनुष्पाणिर्लक्ष्मण आजगाम्भीर्षं बहिर्विनिर्गमौ,
अत्राऽन्तरे कोऽपि भिक्षुश्च सीताऽस्तिकमाजयामेति भावः । अत्र सहोक्तिरलङ्कारस्त-
म्भजनं सोदाहरणं यथा चन्द्रालोके—'सहोक्तिः सदाभावश्चेज्जालते जनरक्षणः । दिग-
न्तसगमयस्य कीर्तिः प्रत्यर्धिभिः सह य' इति । वसन्तविक्रमावृत्तम् ॥ ३८ ॥

ततः—अग्रे जगुल कछ सुगके राव ही सीताहरणके यी दूर प्राह होतै पर हाथोंमें
धनुकी केनेशके कश्मणजी आश्रम-स्थानतै धीमे बाहर निकले, एही बीचमें कोरे भिक्षु-
जी जालमके भीतर हुआ ॥ ३८ ॥

वाञ्छन्—ततस्ततः ।

इंसः—ततः—

इतो वाचं रामः क्षिपति हरिणे मुककण्ठः,

स चापः सौमित्रिः स्वजनमनुयाति द्रुतमिति ।

इतः सीता भिक्षामुपनयति भिक्षोः करतले,

अयं ज्योतिर्ग्रेहं युगपद्दहमालोकयामिवम् ॥ ३६ ॥

सरयूः—ततस्ततः ।

इंसः—ततः—

इतो वाञ्छामिति । इतो रामो मुककण्ठो हरिणे वाचं विपति । इतः सचापः सौमित्रिः द्रुते स्वजनम् अनुयाति । इतः सीता भिक्षोः करतले भिक्षामुपनयति । ज्योतिर्ग्रेहं अहम् इत्थं त्रयं युगपत् आलोकयामित्यन्वयः ।

इतः = इह, सार्वविभक्तस्ततिः । रामः = रामकण्ठः, मुककण्ठः = निर्वाचनम्, हरिणे = पूर्वोक्ते हिरण्यमे सुगे, विपये । वाचं = वादं, क्षिपति = प्रहरति । इतः = इह, सचापः = अनुयाति, सौमित्रिः = स्वजनम्, मुक = मूक, स्वजनम् = आत्मजनम्, रामकण्ठमिति भावः । अनुयाति = अनुसरति । इतः = इह, सीता = जानकी, भिक्षोः = भिक्षाञ्जलिः, राघवस्येति भावः । करतले = हस्ततले, भिक्षा = दानार्थकम्, उपनयति = समर्पयति । ज्योतिर्ग्रेहं = आकाशे, ग्रेहं = उच्छ्वास-भयः सन्, अहं = इंसः, इत्थं = पूर्वोक्तं, त्रयं = त्रितयं, युगपद् रामकर्तृकदुरिणविक-सकमाणक्षेपणमपराध सचापसौमित्रिकर्तृकरामानुसरणमन्वयः च सीताकर्तृकमिन्द्र-करतलविषयभिक्षाञ्जलिसमर्पणमिति भावः । युगपत् = युक्कालम्, आलोकय = दृष्ट-वान् । आकाशराज्ये च यौगपदेव कार्यमित्यपदर्शनमप्येतत् संभाव्यते । शिकविनी-कृतम् ॥ ३६ ॥

सरयू—ततः कथा हुआ । ततः कथा हुआ ।

इंस—ततः—

इतः राम निर्वाचन होकर मुग पर वाच छोड़ रहे हैं । इतः चपु कडाकर कण्ठम मूक-स्वजन (राम) का अनुसरण कर रहे हैं । इतः सीता भिक्षा के करतले भिक्षा दे रही हैं । आकाशवादी होवे हुए मैंने ॥ तीनों इंसोंको एक ही बार देखा दिया ॥ ३६ ॥

सरयू—ततः कथा हुआ । ततः कथा हुआ ।

इंस—ततः—

कनकहरिणगात्रे वाणपातावलोका-

विमुक्तहृदयवृत्तिलोचने सखिमीक्ष्य ।

कथयिषुमधि, खेदं रामवृत्तान्तजालं

सरसु ! तत्र तटान्तं तूर्णमेवाऽवतीर्थः ॥ ४० ॥

तदनुजानीत मां देव्यः ! सखिलावगाहनाय, आन्तोऽस्मि ।

तितः—

विहरास्मिन् रमणीये श्रुचिपयसि स्मेरनीरजे सरसि ।

पुरतस्फणीचरणरन्ध्रमणिनूपुरकूजितोत्कृतुकः ॥ ४१ ॥

कनकेति । कनकहरिणगात्रे वाणपातावलोकात् विमुक्तहृदयवृत्तिः (वदन्)
लोचने सखिमीक्ष्य अथ सरसु ! इदं रामवृत्तान्तजालं कथयितुं तत्र तटान्तं तूर्ण-
मेवाऽवतीर्णं इष्टमर्थः । कनकहरिणगात्रे = सुवर्णसुगमरीरे, वाणपाताऽवलोकात् =
वाणपातस्य (रामकलहसंश्रयहारस्य) अवलोकात् (दर्शनात्) । विमुक्तहृदयवृत्तिः =
परान्मुक्तमनोभ्यापारः, सादृशोऽहमिति बोधः । लोचने = नयने, सखिमीक्ष्य =
सुप्रियका, सुगन्धात्तथापारदर्शनाऽसामर्थ्येनेति शेषः । अथ सरसु = हे सरयुदेवि !
इदं = पर्वकृतं, रामवृत्तान्तजालं = रामचन्द्रोद्गमसमूहं, कथयितुं = वक्तुं, तत्र =
अवस्थाः सरस्वाः, तटान्तं = तीरप्रान्तं, तूर्णमेव = त्रीणमेव, अवतीर्णः = कृताव-
तरणः, अस्मीति शेषः । कनकयोःसुगन्धात् प्रहृष्टरन्ध्रमोऽहमत्र समादातोऽस्मीति
भावः । मणिकीचुत्तम् ॥ ४० ॥

तदिति । अनुजानीत = आविचल ।

विहरेति । पुरतस्फणीचरणरन्ध्रमणिनूपुरकूजितोत्कृतुकः (स्वम्) रमणीये श्रुचि-
पयसि स्मेरनीरजे अस्मिन् सरसि विहरेत्यन्वयः । पुरतस्फणीचरणरन्ध्रमणिनूपुरकूजि-
तोत्कृतुकः = पुरतस्फणीमां (मगरमुवतीनाम्) चरणेषु (पारेषु) रण्ताः (सङ्घात-
मानाः) ये मणिनूराः (रत्नकण्ठिता मञ्जीराः) तेषां कूजितैः (उद्गैः) उत्कृ-

तूर्णमेव तीरान्तं शरप्रहार देखनेमें अचमर्ष होकर मैं जहाँको सूँदकर वे सरसु ।
रामके इन वृत्तान्तोंकी कहनेके लिये आपके लटके पास खीम ही पतर पड़ा हूँ ॥ ४० ॥

इस कारण वे देविनी । मुझे अचमर्ष प्रवेष्ट करनेके लिए अनुष्टुप् वे हैं क्योंकि मैं भक्त
गया हूँ ।

चीर्णो—चरणकी मुचलियोंके चरणोंमें लम्ब करनेवाके मणिबन्धित मञ्जीरोंके उद्गैयों
कोझकी होकर तुम मनोहर, स्वच्छ चरणोंके और विकसित मञ्जीरोंसे सम्पन्न इस तटान्तमें
विहार करी ॥ ४१ ॥

गङ्गा—सखि, सरयु ! अनेन वृत्तान्तक्रमेण कातर मे मनः ।

सरयुः—अलं कातरतया, नन्वनेन हि नूपुरोद्धेदेन स्खलं मया—
यत्किञ्च यत्नगमनोद्यतां जानकीमिदमुत्पत्ती करकलितनूपुरद्वया पतिमत्ता
सीसन्तिनीरत्नमरुधती ।

अभिचरणममृ चमूरुनेत्रे ! मृदुरजितौ मणिनूपुरौ विधेहि ।

अहरपि विरहं न यममहिम्ना हरिणद्वयाः सह चलन्मैलमन्ते ॥४२॥

शुकः = शुकस्य (वत्सलस्य) कुतूहलं (कौतूहलम्) यस्य सा, वत्सलकुतूहला, स्व-
मिति शेषः । रमणीये = क्रीडायोग्ये, ममोदरे वा । द्युचिपयसि = द्युचि (स्वर्णं
पवित्रं वा) ययः (लब्धम्) यस्मिन्मस्मिन् । स्मेरनीरजे = स्मेराणि (विकसि-
ताणि) नीरमानि (कमलानि) यस्मिन्मस्मिन् । तादृशे भस्मिन् = निकटस्थे,
सरसि = कमलारे, विहर = विहारं कुरु । आर्माहुत्सम् ॥ ४१ ॥

ताञ्जितौ । कातरं = भीक, तदनन्तरं सीताया अनिष्टमाचक्ष्व मदीयं मनोजन्मा-
षिटमिति भावः ।

सरयुरिति । नूपुरोद्धेदेन = 'विहरेति' पक्षे नूपुरपक्षस्य प्राकट्येनेति भावः । कर-
कलितनूपुरद्वया = हस्तधृतमङ्गीरङ्गिताया । सीसन्तिनीरत्नं = नारोद्धेष्टा ।

अभिचरणमिति । हे चमूरुनेत्रे ! मृदुरजितौ मम मणिनूपुरौ अभिचरणं विधेहि ।
यममहिम्ना हरिकहतो यज्जसौ सह अहरपि विरहं न लभन्त इत्यन्वयः ।

हे चमूरुनेत्रे = हे मृगनयने, हे सीत इति भावः । मृदुरजितौ = कोमलसम्पौ,
अमृ = पत्नी, मणिनूपुरौ = रत्नकचितौ मङ्गीरौ, अभिचरणं = चरणयोः विधेहि =
कुरु, नूपुरधारणेन चरणौ समलङ्कृतौ विधेहीति भावः । नूपुरधारणे पञ्चमाह—
अहरपि । यममहिम्ना = यस्याहुत्येन, चरणयुतनूपुरमसायेति भावः । हरिण-
द्वयाः = मृगतयनाः खिन्नाः, यज्जसौ सह = यज्जसौः समम्, अहरपि = एकं दिन-
मपि, 'कलाऽप्यनोरस्यन्तसंयोग' इति द्वितीया । विरहं = पियोगं, न लभन्ते = न
प्राप्नुवन्ति । अक्षौपसाऽष्टाङ्गरो वृत्तमुपासम् । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ४२ ॥

गङ्गा—सखि सरयु ! ४१ इत्यान्तके कम्पले मेरा निच कातर हो रहा है ।

सरयुः—कातर नहीं होना चाहिये । मङ्गीरकण्ठी यहाँसे उठे याद हुई कि—यम
कावेसे तसर सीताजीको हार्मों से मङ्गीरोंको सेवी हुई पतिमत्ता मारीरत्न नवनयनीने
बो कहा स—हे मृगनयने सीते ! कोमल पवित्राके इन मणिनूपुर मङ्गीरोंको चरणोंसे
पहनो । बिनकी मदियाने मृदुरजितौ अपने पक्षिसे एक दिनके बिनोकी भी नहीं
पाती हैं ॥ ४१ ॥

कुतश्चती च तथा जानकी ।

गङ्गा—इदानीं किमपि निर्वृतास्मि । सत्यवादिनी हि मे सखी वसिष्ठ-
गृहमेधिनी ! तदागच्छत इमं वृत्तान्तं रघुकुलवत्सलाय सागराय निवेद-
यामः । (इति परिक्रमन्ति) ।

गङ्गा—(सविस्मयम्) अहो ! प्रवाहवेगातिशयात्तत्क्षणवेक दूरमुप-
याताः स्मो यद्यमदूर एव गोदावरीसहचरः सागरः किमपि सभाषणमा-
लोच्यते कल्लोलिकीकान्तः ।

(ततः प्रविशति गोदावरीसहचरः सागरः)

सागरः—सतस्ततः ?

सहचरः—कथमिहापि किमपि वृत्तान्तशेषः प्रस्तूयते ?

यमुना—अपि नाम तदेव भविष्यति यत्किंल हंसेन नाकातम् ?

(अवि नाम ॐ जेवम इतिश्च वि अं किं हंसेन शाश्वतम्)

गङ्गेति । किमपि = केनाऽपि प्रकारेण । निर्मुता = संज्ञावस्तुता । मधुरभावेन
रामेन सीताया विचोगाऽसंभवादिति भावः । वसिष्ठगृहमेधिनी = वसिष्ठवर्मपत्नी,
अकम्प्यतीति भावः ।

कल्लोलिकीकान्तः = तर्हील्लोलः । सभाषणम् = संभाषणम् ।

यमुनेति । नाऽकातम् = न आतम् ।

सीताने श्री बैसा ही किया ।

गङ्गा—इस समय किसी प्रकारसे मेरा हृदय झटका अनुभव कर रहा है। मेरी सखी
वसिष्ठकी धर्मपत्नी अकम्प्यती सत्यवादिनी हैं। इसकीजानकी इस वृत्तान्तको रघुकुलमें
स्नेह करनेवाले समुद्रजीसे निवेदन करें। (सबलोग परिक्रमण करती हैं)

गङ्गा—(नाभयपूर्वक) अहो ! अतिशय प्रवाहवेगके कारण भोके ही धनमें हमको
दूर पहुँच गई हैं जो कि निकट ही थे गोदावरीके सहचर मदीयति सागर (समुद्र) कुछ
बातचीत करते हुए दिखाई दे रहे हैं ।

(तब गोदावरीके सहचर सागर प्रवेश करते हैं)

सागर—तब क्या हुआ ? तब क्या हुआ ?

सहचर—वहाँ भी कुछ घर्षाकाय हो रहा है ।

यमुना—श्री इसकी विदित नहीं श्री श्री बात है क्या ।

गोदावरी—ततो—

रामोन्मुक्तैकवाप्यप्रविहृतहृदयः काञ्चनाङ्गः कुम्भः

सद्यो मारीचनानामाञ्जलि रजनिचरोऽञ्जलि सान्द्ररक्तकचक्षा ।

भिन्नः सौऽपि सणार्धमणिमवितसलरकुण्डलक्षेणियोमा-

वीचीखेडारकपोलस्फुरितदृशशिराः कुम्भकर्णामजोऽभूत् ॥ ४६ ॥

गङ्गा—हा ! इवास्मि ! विधूरम्) अयवाऽस्ति तन्मणिन्पुत्रद्वयम् ।

रातेति । रामोन्मुक्तैकवाप्यप्रविहृतहृदयः काञ्चनाङ्गः कुम्भः सान्द्ररक्तकचक्षा-
वक्षाः (सन्) सद्यो मारीचनानामाञ्जलि रजनिचरोऽञ्जलि । स भिन्नरपि पणार्धार्त् मणि-
मवितसलरकुण्डलक्षेणियोमावीचीखेडारकपोलस्फुरितदृशशिराः कुम्भकर्णामजोऽ-
भूतिस्त्वयः । रामोन्मुक्तैकवाप्यप्रविहृतहृदयः राममेव (राघवेव) उन्मुक्तः
(प्रहृतः) य एव (पृच्छंश्च) बाणः (शरः) तेन मणिहृत (विद्धम्) हृदयं
(वक्षः स्वयम्) यस्य सः । तादृशः काञ्चनाङ्गः = क्षिप्रमयशरीरः, कुम्भः = सुगन्ध,
सान्द्ररक्तकचक्षाः = सान्द्रं (अनीभूतम्) यत् रक्तं (रक्षिरम्) तेनाङ्गं (विद्धम्)
वक्षा (शरः स्वयम्) यस्य सः । तादृशः सन् । सद्यः = तत्क्षणे, मारीचनानामाञ्जलि-
याऽञ्जलि, रजनिचरो = निशाचरो, राघव इत्यर्थः । अञ्जलि = संयासः । रामस्यायक-
विद्धः पूर्वोक्तो क्षिप्रमयो हरिश्चस्तत्क्षणेव मारीचाक्षराक्षररूपे परिणत इति भावः ।
सा = पूर्वोक्तः, भिन्नरपि = मिथ्यामपि, पणार्धार्त् = अक्षयकालादेव, मणिसहित-
स्वातिः = मणिसहितानि (रत्नसंयुक्तानि) चरमिष्ठ (यवमिष्ठ) यानि कुम्भकानि
(कर्णमूषकानि) तेषां श्रेष्ठिः (पङ्क्तिः) तस्याः सोमा (क्षान्तिः) एव वीची
(सरजः) तस्यां केषुचतः (कीदृशतः) ये कपोलाः (गन्धकण्टकानि) सौ स्फुरि-
तानि (प्रकाशितानि) दृश (दृशस्तंभकानि) शिरांसि (मूर्ध्नाः) यस्य सः ।
तादृशः कुम्भकर्णामजः = कुम्भकर्णज्येष्ठभावा, राघव इति भावः । अभूत् = संवृत्तः,
भिन्नरूपकपदार्थे परिहृत्य राघवः संवृत्त इति भावः । अत्रकचक्षाऽङ्गद्वयः । राघवरा-
घुपत्नम् ॥ ४६ ॥

गोदावरी—ततः—

रामसे सोने गवे एक बाणसे हृदयमें दिव होकर कुर्णबरीर मृग हृदयमें गड धरिसे
जित हीरा कुग लक्षी क्षम मारीच नामका राक्षस हो गया । यह भिन्नक भी अक्षयकालमें
ही राघवविद्ध बन्धे हुए कुम्भकर्णकी पङ्क्ति की सोमाकय सरजमें कीका करवेवाके क्षरीकोते
मकाशित दृश मस्तकोंसे लुप्त होकर राघव बन गया ॥ ४६ ॥

पञ्चा—राघ । मैं नष्ट हो गई हूँ । (विचारकर) कच्चा मणिसहित ये दो मूल हैं ।

सागरः—अपि नाम मम यधूटिका स्मृष्टा निराचरेण ।

गोदावरी—न स्मृष्टा ।

सागरः—कथमित् ।

गोदावरी—तथाहि—

एतन्निचरकराग्रस्पर्शसम्पातविष्णं

एवमित्तुमनसूयादत्तहस्ताञ्जरागाम् ।

बहुलममलपुष्पः पित्ररज्योतिरुद्यन्

कुवलयदलसीतां संवृणोति स्म सीताम् ॥ ४४ ॥

सागरः—अहो ! अत्रिपत्न्यास्तपःप्रभावः ।

एतन्निचेति । एतन्निचरकराग्रस्पर्शसम्पातविष्णं एवमित्तुम् अमनसूयादत्तहस्ताञ्जरागां कुवलयदलसीतां सीतां बहुलम् उद्यन् पित्ररज्योतिः अमलपुष्पः संवृणोति स्मैवम्वयः ।

एतन्निचरकराग्रस्पर्शसम्पातविष्णं = एतन्निचरस्य (रावणस्य) कराग्रैः (हस्ता-
ग्रैः) यः स्पर्शसम्पातः (जामर्शनप्रसङ्गः), तत्र विष्णम् (भक्तशायम्) । एव-
मित्तुं = विधातुम् , अमनसूयादत्तहस्ताञ्जरागाम् = अमनसूयया (अत्रिपत्न्या) दत्ता-
(वितीर्णः) हस्तैः (करेण) अङ्गरागः (शरीरलेपनद्रव्यम्) यस्यै सा, ताम् ।
कुवलयदलसीतां = कुवलयदलम् (कमलपत्रम्) इव सीतां (शीतलाम्) अथा-
विति शेषः । तादृशीं सीतां = आनकीं बहुलं = प्रचुरं यथा तथा, उद्यन् = मादुर्महन्
पित्ररज्योतिः = पीतमकरजः, यः अमलपुष्पः = अमिसमूहः, सा । संवृणोति स्म =
परिवेष्टितवान् , 'छद् स्मे' इति नृताञ्जे छद् । अमनसूयादत्ताञ्जरागमभावत्वरकस-
मूतो रक्षाञ्जं सीतां परिवेष्टितवाविति भावः । अत्रोपमाऽङ्कुराः । माकिनीवृक्षम् इत्यम् ॥

सागरः—क्या रावणने बहु सीताका स्पर्श नी कर किया ।

गोदावरी—नहीं किया ।

सागरः—कैसे ?

गोदावरी—वैसे कि—

राक्षसके हस्ताग्रोंसे होनेवाले स्पर्शमें विश्र करनेके क्षिप्विजकीं ननुसूयाने नङ्गराग
द्वय दिया है वेसी नीर कमलपत्रके समान सीताके सीताको प्रचुरतासे मादुर्भूत पीते
प्रकाशवाले अमिपुष्पने परिवेष्टित कर किया ॥ ४४ ॥

सागरः—अहो ! अमनसूयाका कैसा तपःप्रभाव है ।

गोदाधरी—ततो बरुणमन्त्रयिन्सनाहुतनूतनबलाहकाञ्चननिपुलित-
पाणिस्तृणदेव ।

‘हा राम ! हा रमण ! जगदेकपीर !

हा नाथ ! हा रघुपते ! किमुपेक्षसे माम् ।’

इत्थं विदेहतनया मुहुरालापन्ती-

मायाय राजसपतिर्नभसा जगाम ॥ ३४ ॥

सरयू—अवि भागीरथि ! कथमस्मद्भावेयादन्धसीवाचोऽपि

गोदाधरीति । वरुणमन्त्रयिन्सनाहुतनूतनबलाहकाञ्चननिपुलितपाणिः = वरु-
णस्य (अप्यतेः) सो मन्त्र (मन्त्रः) तयिष्यन्तेन (तद्वधानेन) आहुताः
(आकरिताः) ब्रूताः (मन्त्राः) ये बलाहकाः (बारिबाहकाः, सेना इत्यर्थः)
सेनामण्डलेन (प्राप्तभागेन) निपुलितः (मन्त्रमुपवीकृतः) पाणिः (हस्ताः)
बल्यः सः । तादृशो राज्ञ इति शेषः । एतेन राज्ञस्य मेधाबलवत्तुपाणित्वेन
बहिर्वाहःभाव उन्नीयते ।

हा रामेति । हा राम ! हा रमण ! हा जगदेकपीर ! हा नाथ ! हा रघुपते !
मो किम् उपेक्षसे ? इत्थं मुहुरालापन्ती विदेहतनयाय आयाय राजसपतिः नभसा
जगामेत्यन्वयः । सर्वत्र ‘हा’ इत्यत्र ‘माम्’ इति पदं संयोज्यम् । हा मां, अभ
प्रोष्यत इति भावः, राजसाञ्चतत्वादिति शेषः । राम = रामचन्द्र, रमण = वरुण,
जगदेकपीर = लोकमुपयमूर, नाथ = स्वामिन्, रघुपते = हे रामचन्द्रे, मां=सीता,
इत्यन्वयः । इति शेषः । किं = किमर्थम् । उपेक्षसे = उपेक्षितां करोषि । मूह-
कभक्त्य कोनैक्यस्य रघुवंशपुरन्दरस्यापि ते कीदृशी मनुष्येति भावः इत्यम् =
जनेन एकतेन, मुहुः = बारंबारम्, आलपन्ती = आश्रमाणां, विदेहतनया = जामकी,
सीताम् । आयाय = गच्छता, राजसपतिः = सिताश्वमेधः, राज्ञ इति भावः ।
नभसा—आकाशेन, ज्योतिर्मतेनेति भावः । जगाम = गतः । जग विदेहतनया
साक्षिमायवत्परिकराजगाम । चतन्तिलका वृत्तम् ॥ ३५ ॥

सरयूरिति । अस्मद्भावेयात् = अस्मद्भावात्, अस्मद्गुणान्यात् । अकम्पती-

गोदाधरी—तव वरुणमन्त्रिके आगतो ब्रूतावे गवे गवे मेवीके अन्नकसे प्राप्तुं शक्नो
महे रामने कनको हू ही किवा ।

‘हा राम ! हा रमण ! हाव ! हे संसारके एकभाव पीर ! हा नाथ ! हा रघुपते !
मो भाव मेरो उपेक्षा कर रहे है ?’ इस प्रकार बारंबार बोलती हुई सीताको केकर रामन
आकाशमार्गति पठा ॥ ३५ ॥

सरयू—हे नन्ने ! हमारे भाग्यसे क्या अकम्पतीके वचन भी छूटें होंगे !

मृषा भविष्यन्ति ।

गङ्गा—नहि नहि ।

सागरः—(सविचारम्) ततः ?

गोदावरी—ततः शैलशिखराधिवासिना विहङ्गराजेन वटायुना
पन्थानमवरोधेनमुक्तो राक्षसेन्द्रः—

आः पापिन् ! पश्यतो मे, रघुतिलकवधूं चोरसुत्याऽपहर्तुं

सीतां शीतांशुकेक्षामिव गिरिशिखराऽगपिनोमुच्यतेऽसि ।

यद्यपि शिरांसि प्रक्षरन्स्वमुखैर्दीप्तचूडामणीभि

त्वामघातं गदमानुरगमिध सुधाकाङ्क्षिणं संहरामि ॥ ४६ ॥

आश्लेषेति = वसिष्ठपत्नीकथनाभ्यां, 'अत्रापि विरहं न सम्पत्तिमेत्यादिकथनाभ्यां
सीति भावः ।

आः पापिनिमिति । आः पापिन् ! पश्यतो मे गिरिशिखराध्यामिनीं शीतांशुके-
क्षामिव रघुतिलकवधूं सीतां चोरसुत्या अपहर्तुम् उच्यतेऽसि । एषोऽग्रमघ प्रक्षर-
न्मलमुलैः शीतचूडामणीभिः शिरांसि क्षिप्त्वा गदमान् सुधाऽकाङ्क्षिणम् उरगमिध
त्वां संहरामीत्यन्वयः । आः = कोपस्रोतकमभ्यवहितम् । पापिन् = हे पापराज ।
परमत्तः = अमलोकयतः, मे = मम, 'पञ्चीचापादरे' इत्यनादरे कृती, एषमन्तं माम-
नाह्वयेति भावः । गिरिशिखराध्यामिनीं = गिरिशिखरस्य (शिखरस्य) शिरःश्यामिनीं
(मस्तकवर्तिनीम्), शीतांशुकेक्षामिव = चन्द्ररेक्षामिव, सर्वजनधन्वाभावना-
मृतामिति भावः । रघुतिलकवधूं = रामचन्द्रपत्नीं, सीतां = जानकीं, चोरसुत्या =
स्तेनव्यवहारेण, अपहर्तुं = सोऽग्रम्, उच्यतेऽसि = वचनमपरोऽसि, यत्त्वं सीर्यमथा-
स्याप मङ्गलस्तोत्रकर्मैधिकीमपहर्तुं तत्परोऽसि, इदं ते साऽतिघोरं विनीतं कर्मेति
भावः । अतः एषः = सतीत्यद्वयार्थः, अहं = गृधराजो वटायुः, अयं = वसिष्ठिर्मे,

गङ्गा—नही नही ।

सागरः—(लेदपूर्वक) वन ।

गोदावरी—तब पर्वतकी नीचीयें रहनेवाके पक्षिराज वटायुने राह रोककर रामजी
केसा कहा—

भीहू पापिन् ! मेरे देखते देखते ■ शिवमस्तक पर रहनेवाली चन्द्ररेखाके समान
राक्षसनी सीताको चोरकी तरह तू अपहरण करनेके लिए तैयार हो रहा है । यद्यपि आज
नीला नाचनोंके जगमगाते, मन्मथि शिरोरत्नोंके भक्कल शिरोको काटकर जैसे गवक
ने मनुष्यको चानेवाके सर्पका संहार किया था वही तरह तैरा संहार करता हूँ ॥ ४६ ॥

गङ्गा—स एव नूपुरप्रसावः ।

सागरः—(सहर्षम्) दत्तस्त्वतः ।

गोदावरी—

मल्लैस्तदीयैः कुलिशात्कटोरैर्मिन्वक्षिरङ्गानि निष्पादरस्य ।

रथः सहेमाभरणो बभञ्जे न जानकीकाममनोरथोऽस्य ॥ ४७ ॥

प्रकरणकमुल्लेखः ॥ श्रीकृष्णभाराध्वसागौ, श्रीसृष्टामणीनि ॥ श्रीसाः (प्रत्यक्षिताः, प्रकाशिता इति भावः) श्रीममया (शिरोरत्नानि) देष्टुं गानि, दाददासि ।
शिरांसि ॥ श्रीपानि, स्वकीयानीति शेषः । क्षिरा ॥ सन्वक्षित्वा, गल्लाम्—वीचतेषां,
शुभाकाङ्क्षिणम् ॥ शयुताऽभिठापिणम्, उरगमिष ॥ सर्वमिव, त्वां ॥ भवन्तं रावन्तं,
संहारामि ॥ व्यापादयामि । यथोपगामामशुताऽभिकापोऽयुक्तरूपस्तथैव तदाऽपि
सीताकाङ्क्षाऽमुचितकथा, अतोऽहं गच्छ उरगानिव त्वां सत्वरं संहारामीति भावः ।
अथोपमाऽलङ्कारः । सन्धरा वृत्तम् ॥ ४६ ॥

मल्लैरिति । कुलिशात् कटोरैः निष्पादरस्य रङ्गानि मिन्वक्षिः तदीयैर्नलैः
सहेमाऽभरणो रथो बभञ्जे । अस्मिन् जानकीकाममनोरथो न (बभञ्जे) इत्यन्वयः ।

कुलिशात् ॥ कलासृष्टि, 'पञ्चमी विभक्त' इति पद्यम् । कटोरैः ॥ कटिनतरैः,
अत एव निष्पादरस्य ॥ रावसाऽभिपस्य रावणस्य, अङ्गाणि ॥ देहाऽवधयान्, मिन्व-
क्षिः ॥ क्षिरारपत्रिः, तदीयैः ॥ तत्तन्मन्दिभिः, जटापुत्र इति भावः । मल्लैः ॥ मल्लैः
सहेमाऽभरणः ॥ सुवर्णाऽलङ्काराद्विद्युतः, रथः ॥ स्वम्बनः, रावणस्येति शेषः । बभञ्जे ॥
भञ्जः । परम् अस्मि ॥ रावणस्य, जानकीकाममनोरथः ॥ सीताप्राप्त्यभिकाषः, न
न बभञ्जे नो भयम् । जटापुत्रो विधिततरनलै रावणस्य रथ एव भयम्, परं तस्य
सीताप्राप्त्यभिकाषो न विद्युत इति भावः । अत्र परिलक्षणाऽलङ्कारः, सोदन्तरं
तत्कथने कथा चन्द्रलोके—

'परिलक्षणा दिविसौकमस्मिन्वस्तुयन्त्रणम् ।

स्नेहवधः पदलेषु स्वान्तेषु न दत्तभूषणम् ॥' इति ।

हृन्मन्त्रोपेन्द्रकणयोः संमेलनापुष्पातिर्बुधम् ॥ ४७ ॥

पञ्च—यह मल्लैर (पावैर) का प्रसाद है ।

सागर—(सहर्ष) देव भया हुआ । तब क्या हुआ ।

गोदावरी—बभञ्जे तो कटोर अतएव रावणके बहनों की विधो की करवेनाके कटापुके
नकोंसे जलनीऽलङ्कारले सुक रसगन्ध रथ दूरे भया, परन्तु बसकी सीताप्राप्तिके अभिकाषा
नहीं दूरी ॥ ४७ ॥

समरः—ततः ?

गोदाधरी—तवञ्च निशितनखनिखिरानिर्घातभैरवे समरसंरम्भे संभ्र-
मकलरायां रावणैककरस्थितायां जानक्यां—

तस्याः कणन् किमपि नूपुर एक एव
अम्बुभिषातिकरणं चरणात् पृथिव्याम् ॥

गङ्गा—हा ! अधुना निराशाः स्मः ।

गोदाधरी—

आस्तिष्ठ तिष्ठ निहतोऽस्ति कलेति वक्ष्यन् ।

दूराजटासुरपि कङ्काहतः पपात ॥ ४८ ॥

गोदाधरीति । निशितनखनिखिरानिर्घातभैरवे = निशितनखाः (तीक्ष्णनखाः)
जटासुर इति भावः) निखिरः (नखः, रावणस्येति भावः) तेषां निघातेन (पर-
स्परप्रहारेण) भैरवे (मयङ्करे), समरसंरम्भे = युद्धोत्साहे । सम्भ्रमकलरायां =
स्वराज्यीरायां ।

तस्या इति । किमपि कणन् तस्या एक एव नूपुरः अतिकल्पे कम्बुविव चरणात्
पृथिव्याम् (पपातेति कण्ठराज्यपदेन सम्बन्धः) । इति पूर्वोक्तोऽन्वयः ।

किमपि = अम्बुके यथा स्यात्तथा । कणन् = शब्दावमान । तस्या = जानक्याः,
एक एव = एकक एव नूपुरः = मङ्गीरा, अतिकल्पस्य = अतिस्वकल्याण्यै यथा
स्यात्तथा, अम्बुभिष = स्वस्त्रिव चरणात् = पादात्, पृथिव्यां = भूमौ, पपात = अ-
पतत् । एको नूपुरो जानकीपादभिरसेषकुक्कुटवृन्निध मेदिन्यां पतित इति भावः ।
इति पूर्वोक्तोऽन्वयः ।

आस्तिष्ठेति । 'आः । तिष्ठ तिष्ठ । हे कल ! निहतोऽस्ति इति दूराज कक्ष्यन्
जटासुरपि कङ्काहतः (सन्) पपातेत्युत्तरार्द्धोऽन्वयः ।

सागर—तव ।

गोदाधरी—तव वीक्षण साक्षुर्लो भीरु साक्षके परस्पर प्रहारसे भयङ्कर युद्धके संरम्भे
रावणके एक इधमे स्थित सीताके संलग्ने कालर होनेपर—

अम्बुकं रूपसे कम्बु करवा हुआ सीताका एक ही मङ्गीर कल्याण्यै कम्बसे रोतेहुए के
समान चरणसे समीकपर—

गङ्गा—हाय ! भय इसलोग निराश हो गई ।

गोदाधरी—'जो ! कष्ट कष्ट । हे बुद्ध ! अब तू मारा गया' ऐसा दूरसे बोले हुए
जटासुर भी रावणके सङ्गसे घाबित होकर गिर पड़े ॥ ४८ ॥

सागरः—हा बत्से जानकी ! अबुना नीवाऽसि निशाचरेण (इति
मूर्च्छति)

गङ्गा—(उपस्थाद्युक्तात्नेन वीजयन्ती) अये रघुकुलतिलक ! सरासि-
सिहि समान्वसिहि ।

सागरः—कथमिह गङ्गापि ।

गङ्गा—यमुना-सरयौ च ।

सागरः—तन्मां मिलिताः सर्वो एव धारयत । अयमाह इतोऽस्मि
शोकश्रोतसा ।

गङ्गा—अक्षमसिन्धुतरतया, यतः—

मायो दुर्न्तपर्यन्ताः सम्पदोऽपि दुरात्मनाम् ।

भा० इति शोकश्रोतकसम्बन्धम् । शिष्ट ॥३॥ = गतिनिवृत्तिं कृत्, गतिनिवृत्तिं
कृत्, सम्पदमे द्वित्वम् । हे सख = हे दुर्जन मिह तोऽसि = मारितोऽसि, इति =
इत्थं, दुराट् = विपक्षप्रवेकात्, जहन् = भावभाणः, अडासुरपि = संघास्यज्जोऽपि
अहो गुरुः = अहो गेन (राघवकृपाजनेन) इति (स्थापयितः) सन्, पपात = पतितः
भूमाविति शेषः । इत्युत्तरार्द्धव्याख्या । अथ श्लोक उत्प्रेषाऽकङ्कता । असम्पत्तिकथा
शुक्ल ॥ ४८ ॥

समत इति । शोकश्रोतसा—मन्दुमवाहेन ।

माय इति । हि दुरात्मनां सम्पदोऽपि मायो दुरन्तपर्यन्ताः, महात्मनां विपदोऽ-
पि सुकोमल मयस्योत्पन्नवयः ।

सागर—हा बत्से जानकी ! यह समस्त दुष्टों राक्षस के गया (ऐसा कहकर मूर्च्छित
होते हैं ।)

गङ्गा—(समीप जाकर पचाऽकृते ध्वा करती हुई) हे रघुवंशतिलक ! माय यैवं
धारण करे, वैवं धारण करे ।

सागर—वैसे यहां गङ्गा भी (जा गई) ।

गङ्गा—यमुना और सरयू भी ।

सागर—तब सबकी विलम्ब ही श्ले संभाषे । यह मैं शोकके प्रवाहते बह ही
गया हूँ ।

गङ्गा—व्याधा काहर नहीं होना चाहिए । क्योंकि—

दुरात्माभीकी संपत्तियां भी दुष्परिणामवाने होती हैं और महात्माभीकी विपत्तियां

भवति हि सुखोदकां विपयोऽपि मद्गतमनाम् ॥ ४६ ॥

सरयू—सखि, गोवायरी ! अपि जानासि नूपुरघृत्तान्तरम् ।

गोदावरी—अथ किम् । कथितमेव वनदेवतया—तस्मादाय कोऽपि कपिः श्रृङ्ग्यमूकसंमुखं गतः इति ।

सागर—रामभद्रस्य तु को घृत्तान्तः ?

गोदावरी—रामभद्रोऽपि सीताविरहविह्वलः सौमित्रिणा धार्यमाण-
स्तामेव दिशं प्रसृत्ये ।

(नेपथ्ये)

सखि, कालिन्द ! वर्धसे ।

यमुना—का पुनरिमानि सूचीशलाकाविह्वानि मम नखान्यलक्ष्म-
सेन सिञ्चति ? (का खम्भ इमाहं सर्वसल्लाखाविह्वलं मद गह्वरं ध्वस्तधरकेन
सिञ्चति)

क्षि = पतः, दुरात्मनां = दुर्जनों, रावणसदृशानामिति भावः, सम्पदोऽपि =
सम्पन्नयोऽपि, प्रायः = बाहुल्येन, दुरन्तपर्वन्तः = दुरन्तः (दुष्परिणामः) पर्वन्तः
(शेषतीमा) वास्तो वा, दुष्परिणामा इति भावः । एतद्वैपरीत्येन—महामर्मा =
महाबुभावानां, रामसदृशानामिति भावः । विपयोऽपि = विपन्नयोऽपि, सुखोदकाः =
सुखम् (सुखजनकः) उदकाः (उत्तरफल्य) धार्यं वा, शुभपरिणामाः, भवति =
वर्धन्ते । दुर्जनां साम्प्रतिका जस्युदका अपि दुष्परिणामाः, तज्जनां विपन्नयो-
ऽपि शुभपरिणामा भवन्ति, मतः कातरतयाऽलमिति भावः । अनुपुङ्गवृत्तः ॥ ४९ ॥
गोदावरीति । सौमित्रिणा = सुमित्रिका अपत्यं पुमान्सीमित्रिस्तेषां, लक्ष्मणे-

मी शुभपरिणामवादी होती है ॥ ४९ ॥

सरयू—सखि ! गोदावरी ! क्या मञ्जीरका घृत्तान्त जानती है ?

गोदावरी—नौर क्या ! वनदेवताने कहा ही है—‘जैसे केकर कीर्ने मन्दर के मूक
पर्वतके सम्मुख पवन गया ।’

सागर—रामभद्रका क्या घृत्तान्त (खबर) है ?

गोदावरी—सोचाके कियोगते निह्वल और कम्पणसे संभाके गये रामभद्रने भी जहाँ
दिशाकी ओर प्रस्थान किया ।

(नेपथ्यमें)

सखि वसुन् ! तुम्हारी छवि हो रही है ।

यमुना—वह कीन स्त्रीते किन्हीं मेरी नाखुनोंके आकारसे सेवम कर रही है !

(प्रविश)

कुञ्जभद्रा—जयतु जयतु नदीनाथ ।

सागरः—कथं पुनर्बद्धते कालिन्दी ।

कुञ्जभद्रा—भ्रातुः सुग्रीवस्य चक्रवर्त्तिपदस्य मेन ।

यमुना—इदानीं चन्दनचण्डासपलिप्यमानपार्ष्वयुगला वर्ते (वार्त्ति
चन्दनचण्डासपलिप्यन्तपासयुग्मस्य वदामि)सागरः—कथं पुनर्बलिपालिवापि कपिराजलक्ष्मीः सुग्रीवमनु-
क्षब्धस्ता ?]

कुञ्जभद्रा—कथमस्यापि बालिकया ?

सागरः—कथमिदं ?

कुञ्जभद्रा—नेह नूपुरप्रदानविश्वासितेन रामचन्द्रेणात्मानं सुग्रीवं च
सम्पत्त्यवा हनुमता तथा व्यवसितं यथा—मेल्यते । बाह्यादिभ्यश्चेति इम् । प्रत्यये = प्रत्ययः, 'समवयविभ्यः स्त' इत्यात्म-
नेपकुम् ।यमुनेति । चन्दनचण्डासपलिप्यमानपार्ष्वयुगला = चन्दनचण्डासपाभ्यां (मरु-
चण्डोपरविमकरप्रकाशाभ्याम्) लिप्यमानम् (उपदिष्टमानम्) पार्ष्वयुगलम्
(पार्ष्वयुग्मम्) यस्याः सा तादृशी, वर्ते = भवतिष्ठे । भ्रातुः सुग्रीवस्य रासपकान्ते
मरुचण्डोपरसपाः । सीताहरणदुःखान्तश्च दुःखदुःखोत्पत्तिश्च इति भावः ।

(प्रवेशक)

कुञ्जभद्रा—नदीपति सप्रसवो जय हो जय हो ।

सागरः—यमुनाको किस प्रकारसे बूझि हो रही है ?

कुञ्जभद्रा—मार्ग सुग्रीवके चक्रवर्त्ति पदस्य भते ।

यमुना—राम समथ मेरे एक एक पार्ष्वमे चन्दन और प्रसर सुर्वकिरणसे लेप
हो रहा है ।

सागरः—कैसे बाकीसे परकित बागराजकक्षी सुग्रीवमें लंछना हो गई ?

कुञ्जभद्रा—कैसे भाव भाव नौ बालीको बल कर रहे हैं ?

सागरः—क्यों ?

कुञ्जभद्रा—नूपुर देनेसे विश्वासित रामचन्द्रेन और भगवन्को तथा सुग्रीवकी भी
सम्पत्ति करनेवाले हनुमान्ने ऐसा कथीव किया कि नेह—

सहेलं हत्थैर्न हरिणमिव हैमं रघुपतिः ।

कपीनां साम्राज्ये प्रणतमभिविञ्चन् रविसुतम् ।

अपि ध्वंसात्सक्युर्नृपतिमपचक्रे पलभुजा-

मपि प्रीतं चक्रे विजकुलगरिष्ठं दिनकरम् ॥ ५० ॥

सागरः—ततः किं वृत्तम् ?

सुप्रभद्रा—ततः सुग्रीवेणापि—

परिस्त्रानां मातामिव कलितसौरभ्यरहिता-

मपि स्थाने स्थाने विच्छिनुत वधूटीं दिनमयोः ।

सहेलमिति । रघुपतिः एव हैमं हरिणमिव सहेलं हत्था कपीनां साम्राज्ये प्रणतं रविसुतम् अभिविञ्चन् सम्भुजसाय पलभुजां नृपतिमपि अपचक्रे, विजकुलगरिष्ठं विनकरमपि प्रीतं चक्रे हृत्पदवधः ।

रघुपतिः = रामचन्द्रः, एनं = वाकिन्, हैमं = सौवर्णं, हरिणमिव = मृगरमिव, सुप्र-
भं मृगरूपधारिणं मारीचमिवेति भावः । सहेलम् = जनापासं, हत्था = व्यापासं,
कपीनां = वानराणां-साम्राज्ये = चक्रवर्तिन्ये, प्रणतं = विनयाञ्जनतः, रविसुतं = सुवर्ण-
पुत्रं, सुग्रीवमित्यर्थः । अभिविञ्चन् = राज्याऽभिविक्तं कुर्वन्, एवं च सक्युः = मित्रस्य,
रावणमित्रस्य वाकिन् । ध्वंसात् = विनाशात्, एकभुजां = सौरभमिजां, राजसाना-
मित्यर्थः । नृपतिमपि = राजानमपि, रावणसग्रीववधः । अपचक्रे = अपकृतवान्, एवं
च विजकुलगरिष्ठं = स्वकंसगुह्यतमे, दिनकरमपि = सुवर्णमपि, प्रीतं = प्रसन्नं, चक्रे =
कृतवान् । अथ 'सक्यु' इति पदस्य 'मारीचस्ये'ति व्याख्यायं न सङ्गच्छन्मनामर्थकं,
मारीचस्य शूर्यस्वामीयत्वाद्वाक्यमिदं एव राजवत्सलित्वेन लोकप्रसिद्धेयम् । मित्र-
रिणीवृत्तम् ॥ ५० ॥

परिस्त्रानामिति : 'परिस्त्रानां मातामिव कलितसौरभ्यरहितामपि दिक्मनोः-

रामचन्द्रे वाक्कीको सौवर्णमृग (भारीय) के समान जनापास की मारकर वानरीके
साम्राज्यमें विनीत सुवर्ण (सुग्रीव) को अभिविक्त कर रामचन्द्रे मित्र (वाक्की) को मारनेसे
राक्षसराज रावणका नपकर किंवा ध्वन् (सुग्रीवको राज्य देनेसे) अपने बंधको पूरबीव
सुवर्णको भी प्रसन्न किया ॥ ५० ॥

सागरः—तब क्या हुआ ?

सुप्रभद्रा—तब सुग्रीवसे भी—

'सुरसारे मातृके समान नवीक-सौगन्धसे रक्षित सुवर्णचक्रों वन् सीताको स्थान

इति स्वेनैवोक्ताः कुमुदलक्ष्मीकाङ्क्षमुखा

हनुमत्संयुक्ता दिशि दिशि निमुक्ताः कपिभटाः ॥ ३१ ॥

सागरः—इदानीमुज्जीवितोऽस्मि ।

मोक्षधरी—किं भवानेव ? नन्विदानीमस्मिलोऽपि जीवितो जनः ।

सागरः—यस्मैतन्—सकलजनमनःसाधारणी हि रामचन्द्रमाधुरी ।

नन्विदं परम्—

नेदीयसी हि सरयूस्तपनोद्भवैव

भागीरथोयमुदयः सागराग्ममापि ।

पूरी स्थाने स्थाने विचित्रुत' इति स्वेनैव उक्ता हनुमत्संयुक्ताः कुमुदलक्ष्मीकाङ्क्ष-
मुखाः कपिभटा दिशि दिशि निमुक्ता इत्यन्वयः । पतिङ्गामां = परिस्त्रामां, माक-
मिव = छत्रमिव, कङ्कितसौरभ्यरहितामपि = अभोदसौभाग्यरहीनामपि, सीतापते
रामचिरहासतिप्रेक्षितसौगन्धरहितामपि, दिनमनेः = सूर्यस्य, वधूती = स्त्रुतां,
सीतामित्यर्थः । स्थाने स्थाने = प्रतिस्थानं विचित्रुत = अन्विष्यत, इति = इत्थं,
स्वेनैव = आत्मनैव सुमीयेणैवेत्यर्थः, उक्ताः = अभिहिताः, हनुमत्संयुक्ताः = हनु-
मत्सहिताः, कुमुदलक्ष्मीकाङ्क्षमुखाः = कुमुदलक्ष्मीकाङ्क्षमुखाः, कपिभटाः =
कपिभटवोक्ताः, दिशि दिशि = प्रतिदिशं, योपस्था गिरिपतिः । निमुक्ताः = ताश्रिताः ।
उक्तमाशङ्कतः । सिकतिबीजुत्तम ॥ ५१ ॥

सागर इति । रामचन्द्रमाधुरी = रामचन्द्रमाधुर्यम् । सकलजनमनःसाधारणी =
सकलजनानां (समस्तलोकानाम्) मनः साधारणी (विस्तृतमान्वा) । सकल-
जनमनोभ्यो रामचन्द्रमाधुरी रोचते इति भावः ।

नेदीयसीति । हि सरयू नेदीयसी, इयं तपनोत्तमा, इयं भागीरथी, ममापि

स्थानमे वन्देयम करो, इत प्रकार भावन हनुमार्त्ते मुक्त कुमुद, मल, नील और लाल
बादि लम्बे लम्बेरीय दिशा दिशामें निमुक्त हुए हैं ॥ ५१ ॥

सागर—इस समय मैं जीवित रहा हूँ ।

मोक्षधरी—क्या आप ही जीवित हुए हैं ? इस समय सबके सब जीवित हो गये हैं ।

सागर—यह ठीक है, क्योंकि रामचन्द्रका माधुर्य सब जीवोंके मनमें कपिभटारक
है । यही ही देखो—

सरयू नदिजल निम्न रहती है, वे सुखेजली बहना, भागीरथी बहा है, यही सब मेरा

इत्यम्ययाद्गुक्कुले यदि पक्षपात-

स्तद्वत्सखा किमिति वामपि चित्तवृत्तिः ॥ ५२ ॥

(अर्थमवलोक्य, समित्सायम्)

विलासैर्वम्भोलेर्द्वितगदतः सर्वस्मिन्,

स वैको मैताकः पथसि मम मग्ने निवसति ।

सगरादुपपन्नः । इति अम्ययाद् रघुकुले पक्षपातो यदि, वामपि चित्तवृत्तिः किमिति तद्वत्सखेत्यन्वयः ।

हि = यतः, सरयुः = सरयुनाम्नी नदी, मेधीपत्नी = अतिशयविदग्धवर्तिनी, राम-
राजधाम्न्योप्याया इति शेषः । अङ्गुष्ठ्यामिर्विचरति इत्यम् = एषा, तपनोज्ञवा = सूर्यो-
त्पन्ना, यदुनेति भावः । अङ्गुष्ठ्या निर्विचरति—इत्यम् = एषा, भागीरथी = गङ्गा, राम-
पूर्वजभागीरथदुहितेति भावः । पथं च ममापि = सागरस्मादपि, समरात् = रामपूर्वज-
सगरनरपाठ्यात्, उद्वहः = उत्पत्तिः, इति = इत्थम्, अम्ययात् = सम्बन्धात्,
रघुकुले = रघुपुत्रवंशे, पक्षपातो यदि = आसक्तिविक्षेपरत्नेति उचितमेव, पं
वामपि = युवयोरपि, गोदावरीतुङ्गभद्रयोरपि, रघुकुले केनाऽपि प्रकारेण सगद-
रहितयोरपीति भावः । चित्तवृत्तिः = मनोवृत्तिः, किमिति = किमर्थं, तद्वत्सखा =
तस्मिन् (रामे) वत्सला (रिशया) । रामराजधाम्ना अयोध्याया निकटस्थित-
त्वात्सखाः, रामपूर्ववत्प सूर्येय दुहितृत्वाद्यनुमाया एवमेव रामपूर्वजभागीरथ-
दुहितृत्वाद्गङ्गायाः रामपूर्वपुरुषसगरोद्भूतत्वाभ्यस्य सागरस्मादपि रामे वासस्थ-
पुत्र्यते परं केनाऽपि प्रकारेण रामसम्बन्धरहितयोरपि गोदावरीतुङ्गभद्रयो रामे
स्नेहप्रवृत्तिदर्शनादात्मन्यनुमायुरी सहकजगमनःसाधारणीति मतीयत इति भावः ।
मत्तन्वतिफलं पृथम् ॥ ५२ ॥

विलासैरिति । सर्वस्मिन् वग्भोलेर्विलासैः वृत्तिगदतः । स वैको मैताको मम
पथसि मग्ने निवसति । वने ! धुरदमितगम्युतिमहिमा कमुदरगतिः हिमाद्रिः
विम्बो वा कोऽयं शैलः मां लङ्घयतीत्यन्वयः ।

भी सगरसे ब्रह्मभूत्वा है, इस प्रकार सम्बन्धके कारण रघुवंशमें पक्षपात है तो तुम
होती (गोदावरी और तुङ्गभद्रा) की भी मनोवृत्ति वधो रामपक्षमें स्नेहयी हो
रही है । ॥ ५२ ॥

(ऊपर देखकर, नायकपूर्वक)

तब परंतु वक्के विलासोंसे पक्षपात हो गये है । यह एक मैताक वने में धीरे धीरे

अथ षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो रामकर्मणौ)

रामः—सौमित्रे ! ननु सेव्यतां तरुतलं, चयद्वांशुकम्भृभते,

कर्मणः—चण्डांशोनिशि का कथा रघुपते ! चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।

रामः—वत्सैतद्विदितं कथं तु भवता ।

कर्मणः—घटे कुर्वं यतः,

सौमित्र इति । ननु सौमित्रे ! चण्डांशुकम्भृभते । तरुतलं सेव्यतामिति प्रथम-
चरणाऽन्वयः ।

■ सौमित्रे = हे कर्मण !, चण्डांशुकम्भृभते = चण्डारिणः, सूर्य इत्यर्थः ? चण्डारिणः
संभवति, प्रवेष्टतीति भावः । अतः—तरुतलं = वृक्षाऽधोभागः, 'अथः स्वर्गधोरको
रुक्म' इत्यमरः । सेव्यताम् = आश्रीयताम् । जानकीविरहादिमांशुकम्भृभते मत्वा
सायाऽपनोदनाऽर्थं श्रीरामस्य कर्मणं प्रत्युक्तिरियम् ।

चण्डांशोनिशि । हे रघुपते । निशि चण्डांशोः का कथा ? अथं चण्ड उन्मीलतीति
द्वितीयचरणाऽन्वयः ।

हे रघुपते = हे रामचन्द्रम्बर, निशि = रात्री, चण्डांशोः = सूर्यस्य, का कथा =
का वार्ता, अथं = पुरोदयमानः, चण्डः = हिमांशुः, उन्मीलति = वदेति । कर्म-
णस्य स्वाग्रजं श्रीरामचन्द्रं प्रत्युक्तिरियम् ।

रामः पुनः वृण्वति—वत्सैतद्विदितं । वत्स ! भवता प्रत्युक्तं कथं विदितं तु
इत्यन्वयः ।

वत्स = हे भासवधसाजय कर्मण, भवता = त्वया, प्रत्यु = अथं चण्ड उदेति
अ सूर्य इत्येतादृशं तलं, कथं = केन प्रकारेण, विदितं = ज्ञातं, निविति विवर्ते । राम-
स्य पुनरन्वयप्रत्युक्तौ ।

कर्मण आह—वतः कुर्वं घटे । वतः = वत्सालात्मजत्, कुर्वं = कुर्वं =
घटे = भारघटि, अथमिति शेषः । स्यात्कृत्वाचण्डोऽथं अ सूर्य इति भावः ।

(ततः राम और कर्मण प्रवेश करते हैं ।)

राम—हे कर्मण ! सूर्य प्रकटित हो रहे, वृक्षके नीचे बैठी ।

कर्मण—हे रघुपते ! रातमें सूर्यकी क्या बात है ? वे चण्ड क्या रहे हैं ।

राम—वत्स ! यह तुमने कैसे जाना ?

कर्मण—क्योंकि वे मृगकी आरत कर रहे हैं ।

रामा—

कासि मेयसि ! हा कुर नयमे ! चन्द्रावने ! जानकि ॥ १ ॥

(पूर्विलोक्य) हन्त ! सन्तापेन प्रतारितोऽस्मि । कलमयं गगनतटा-
विरोधी रोहिणीद्वयनननमन्त्रः । (चन्द्रं प्रति)

रज्जुनिकर ! करास्ते बान्धवाः कैरवाणां

सकलसुपचयेष्टाजगरुका अवन्ति ।

कुरङ्गवृक्षवनेन एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिसारकमिति न्यायेन कुरङ्गवृक्ष-
भावाः सीतायाः स्मरणं रामो विवक्षति काऽसीति । मेयसि कुरङ्गवने चन्द्रावने
हे जानकि ! कः कसि ? हा ! इति चतुर्थचरणाऽन्वयः ।

मेयसि = शिपटमे, कुरङ्गवने = मृगलोचने, हे जानकि = हे सीते । क = कुरङ्ग,
कसि = कससे । हा = जानकीमिति शेषः, मया सिद्धायाः सीतायाः शोभत
इति भावः ।

अत्र श्लोके आश्रितमवलङ्कारः । सार्धैकविंशतितुल्यम् ॥ १ ॥

पुनरिति । प्रतारितः = वञ्चितः । चन्द्रकिरणस्य मन्दोदीपकत्वेन सन्तापकत्वं
सूर्यत्वेन चन्द्रं सम्भाष्य प्रतारितोऽस्मीति भावः । रोहिणीद्वयननमन्त्रः = रोहिण्यः ।
(एकद्विद्विचक्रप्रियसभायाः) द्वयननमन्त्रः = विद्यामन्त्रजगः ।

राममन्त्रसुपाकमेतै—रज्जुनिकरैति । हे रज्जुनिकर ! कैरवाणां बान्धवाः सकल-
सुपचयेष्टाजगरुकास्ते करा अवन्ति । तद् सा मे जानकी कुत्र ? (इति) कथं न
कथयसि ? त्वं मृगसहायोऽसि, किं मत्तजरोऽसि ? तु इत्यन्वयः ।

हे रज्जुनिकर = हे चन्द्र !, कैरवाणां = कुसुवानां, बान्धवाः = बन्धवः, विद्यास-
म्बन्धिसम्बन्धकारां कैरवबान्धवत्वं सङ्गच्छते । एवं च सकलसुपचयेष्टाजगरुकाः =
सकलसुपचयानां (समस्तलोकाणाम्) चैष्टासु (कर्मसु) जागरुकाः = जागरण-
शीलाः, 'जागरुको जागरिता' इत्यमरः । समस्तलोककर्मदुर्लभत्वेनावस्थिता इति
भावः । साहचर्येण = तद्, कराः = किरणाः, 'बहिहस्तोऽक्षयः करा' इत्यमरः ।
अवन्ति = लोकोर्लोकं वर्तन्त इति भावः, अत्र चि चतुरकर्मकः । तद् = तस्मात्कार-

राम—शिपटमे । मृगलोचने । चन्द्रमुक्ति ! हे सीते । पुन कहीं हो ? ॥ १ ॥

(फिर देखकर) हाय । सन्तापके कारण मैं वञ्चित हुआ हूँ । चित्तमकार से तौ
आज्ञाकरकर्म विरोध करने वाले भीर रोहिणीके पिचकी जानपिठ करनेवाले चन्द्र हैं ।

(चन्द्रसे)

हे चन्द्र ! कुसुवोंके चन्द्र और समस्त जीवोंकी केतवोंकी विद्यास सम्बन्धी किरने

कथयसि न कथं तत्कुलं सः जानकी मे

त्वमसि सुगसहायः, किन्तु नृकञ्जरोऽसि ? ॥ २ ॥

कथयः—(स्वात्म्यम्) कथमयमभिप्रेक्ष्यतरङ्गस्तारलीकरोत्यात्मानम् ?
सदन्यतो नयामि । (प्रकाशम्) आर्य ! अयमितो विलोक्यतां चपलचक्र-
पुटाचात्सरशीतकरशीकरश्चकोरः ।

रामः—(नकोरं प्रति)

तस्मै विदेहतनयावधनं निवेद्य

आतथ्यकोर ! कुत मां चरितार्थवृत्तिम् ।

नात्, चक्रकराणां सकलसुखमेव ज्ञातकृत्वाविति भावः । सा = लोकावस्थिता,
मे = मम रामस्य, पत्नीति सेवः । जानकी = सीता, कुल = क, सर्वत इति सेवा ।
(इति = इदम्), कथं = केन प्रकारेण, न कथयसि = न ज्ञाते, त्वं = त्वनिकरः,
सुगसहायोऽसि = सुगः (कुतः) सहयः (अनुचरः) यस्य सा, तावदोऽसि =
वर्तते, कोमलद्वय इति भावः । चक्रमभाषणमात्रमुपलभ्य तत्र मन्त्रमन्त्रमुत्प्रे-
क्षते—किं भवति । ■ नृकञ्जरोऽसि = किं राक्षसोऽसि, जल पुत्रं विलप्यत्यपि मयि
मूर्खस्य भावसारथीयाऽस्तु कन्याऽभावे इति भावः । भवति किञ्च । माहिनीवृत्तम् ॥ २ ॥

कथमय इति । अभिप्रेक्ष्य तरङ्गः = पराभवपरम्परा, आत्मानम् = आर्यस्वभावम् ।
'आत्मायत्नो धर्तिर्बुद्धिः स्वभावो मन्त्रार्थश्च । इत्यमरः । चपलचक्रपुटाचात्स-
रीतकरशीकरः = चपलं (चक्रलम्) यस्य चक्रपुटे (ओटिपुटम्) सेनाऽऽचान्तः
(पीतः) शीतकरस्य (हिमोऽधो, नम्रस्येत्यर्थः) शीकरः (लघुतविभुक्तः)
येन सा ।

तस्मै इति । हे आतथ्यकोर ! ज्ञात्वाल्लेख्य भवता कश्चिन् विहाय यदीयकम-
भीषकपोलकान्तिः सीता । तत् मे विदेहतनयावधनं निवेद्य मां चरितार्थवृत्ति-
वृत्तिरित्यन्वयः ।

यह रही है । इसकी बेटी सीता कहीं है । वह क्यों नहीं कहते हो ? सुन्दर ! सहायक
मन है । क्या तुम दाखल हो ? ॥ २ ॥

कथयः—(मन ही मन) किस प्रकार यह पराभवकी परम्परा आर्यके स्वभावकी
चपल बना रही है ! इनकी दूसरे विषयों के जाता हूँ । (झुंकार) आर्य ! चक्र
चक्रपुटे चन्द्रकिरणको पीनेवाले इस चकोरको दूर देखिय ।

रामः—(चकोरके प्रति) हे आर्य चकोर ! अपनी मित्रा (चकोरी) के पास तुमने

पीता यदीयकमनीषकपोलकान्तिः ।

कान्तासलेन भवता दाशिनं विहाय ॥ ३ ॥

सम्पन्नः—आर्य ! इयमितो विलोक्यतां शरत्कृशा निशाकरकिरण-
नुकारितरङ्गा तरङ्गिणी ।

रामः—(विलोक्य)

कल्लोकिनि ! स्वमित्र साऽपि कुञ्जनेना

नूनं किमप्यनुदिनं कविमानमेति ।

हे आता = हे बन्धो ; चकोर = हे चकोरपक्षिन् , कान्तासलेन = त्रिधासहस्रेण,
चकोरीसहितेनेति भावः । 'रजाऽऽस्तिस्यहम्' इति समासाऽस्तहम् । साक्षीन
भवता = स्वया, दाशिनं = चन्द्रसप्त, विहाय = त्यक्त्वा, चन्द्रिकाऽऽभ्यनकपमपि
स्वजातिप्रसिद्धं कर्मोपपत्तेरिति भावः । यदीयकमनीषकपोलकान्तिः = यदीयः (यत्न-
म्वन्धी, सीताया इति भावः) कमनीयः (मनोहरः) यः कपोलः (गण्डमन्दारः)
तस्य कान्तिः (चक्षुः) । पीता = आस्वादिता, तद्य = तस्मात्कारणात्, मे = मया,
किपामहणाचतुर्थी । विदेहतमयावृत्तं = सीतामुक्तं, निवेद्य = ज्ञापयित्वा, सा =
ज्ञावधीवृत्तं रामं चरिताऽर्पयति = चरिताऽर्पय (कृताऽर्थी) वृत्तिः (जीवनम्)
यस्य सः, तादृशम् । कुञ्ज = विदेहि । हे चकोर ! चन्द्रिका, पाषोतिनाभाऽन्तराऽनु-
कपमपि चन्द्रिकाभ्रभङ्गकर्म कर्म परित्यज्य यत्नमा सद्यश्चरिसहितेन रुचिरा सीता-
कर्मोपपत्तिः । पीता तस्मै कुञ्जासि सीतेति चार्ते निवेद्याऽनुगृह्यानेति भावः ।
चतुर्विधकम् वृत्तम् ॥ ३ ॥

कपमपि इति : शरत्कृशा = शरदा (तदावृत्तम्) कृशा (लघ्वन्तेति भावः) ।
निशाकरकिरणानुकारितरङ्गा = निशाकरस्य (चन्द्रस्य) किरणान् (मण्डलात्)
अनुकुर्वन्ति = विदम्बयन्तीति तरङ्गिणी, चन्द्रकिरणसदृशा इति भावः । शरत्-
कृशाः (कर्मणः) यस्या सा । शरद्वी तरङ्गिणी = यदी, 'अथ यदी चरिषु ।
तरङ्गिणी संवकिनी तदिमी हविनी शुभी ।' इत्यमरः ।

कल्लोकिनीति । हे कल्लोकिनि ! स्वमित्र कुञ्जनेना साऽपि अनुदिनं किमपि

चन्द्रमासी प्रोक्तर विर (सीता) की सुन्दर, कपोलपक्षिका पाव दिया है । इसप्रति
मुझे सीताकी सुन्दरचन्द्रिका निवेदन कर मेरी जीवनकी कृतार्थः बनायी ॥ ३ ॥

सम्पन्नः—शरत् ऋतुके कारण मन्दमवात् यदी चन्द्रकिरणोंके अनुकरण करवेवाकी
धर्मोंसे मुक्त इस नदीकी पार देखिए ।

रामः—(देखकर)

हे यति ! कुञ्जसि तद्य चक्षुष्यता इह सीता की मण्डित्व अनिर्वाच्य कलशकी

एतावदस्ति भवतीह निसर्गशीला

सीता पुनर्वदति कामपि तापमुद्ग्राम् ॥ ४ ॥

छात्रमप्यः—इतो विलोक्यतामनिद्रनीलनलिनीयनविहीनोऽयमस्तिभी-
नाथः ।

रामः—(विलोक्य) अये कोऽयं विद्वद्भूः ?

उन्मीलकमयनान्तकान्तिलहरीनिष्पीतयोः केशका-

अस्तिभाषम् एव नृणाम् । इह एतावदस्ति । भवती निसर्गशीला, पुनः सीता
कामपि तापमुद्ग्राम् वदतीत्यन्वयः । हे कस्तोऽस्ति = हे नदि !, स्वतिव = भवतीव,
कुरङ्गनेत्रा = कुरङ्गलोचना, 'तरङ्गनेत्रे'ति पाठान्तरे कस्तोऽस्तिनीपचे तरङ्गा एव (अर्जुन
एव) नेत्राणि यस्याः सा, सीतापचे—सरङ्गसदृशे (भङ्गले इति भाषा) नेत्रे यस्याः
स्तेति विग्रहः । साऽपि = सीताऽपि, अनुदिनं = प्रतिदिनं, किमपि = अनिर्वचनं,
अभिभाषं = कृतार्थं, कृतस्थं भाषः अस्तिमा, तं 'दृष्ट्वादिभ्य इममिच्छे'सीमभिष्य-
त्ययः । 'र नृतो हृकावेकमेव' इति श्रुतो र । एति = प्राप्नोति । हे नदि ! शरदा-
यामनेव स्वयिव मद्भिद्योगेन सीताऽप्यनुदिनमनिर्वचनोप कार्थमुपेतीति भाषः ।
नृसत्तिसुप्रेक्षायाम् । इह = अत्र, पुनयोः कार्थविषये, एतावत् = एतत्परिमाणम्,
अन्तरमिति = शेषः, अस्तीति शेषः । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधायान्तरमिहृता-
वर्ध्मे' इत्यमरः । तदेताऽन्तरमुपपादयति—भवतीति । भवती = नदी, निसर्ग-
शीला = स्वभावशीलता, पुनः = परं, सीता = जावली, कामपि = अनिर्वचनां, ताप-
मुद्ग्राम् = सम्पापनिर्मुक्तं, मद्भिद्योगजनितमिति भावः । वदति = वारयति । शरदि
मद्भिद्योगे च प्रतिदिनं कार्थं भजमानयोर्नदीसीतयोरेतदन्तरमस्ति पदेका स्वभाव-
शीलता, द्वितीया मद्भितीव तु विमोगाऽनलसमस्तैति भाषः । अत्रोपमोद्येकमोर्हि-
योऽन्येकया स्थितेः संसृतिः । वसन्तकिलकाह्वयम् ॥ ४ ॥

छात्रमप्य इति । अस्तिनीनाथः = अमरीपतिः, अन्तर इत्यर्थः । अविग्रहीकृत्कि-
नीयनविहीनः = अनिर्ग्रहं (मल्लकम्) नीलं (नीलवर्णम्) यच्छकिनीयनं (अम-
रिनीसन्तुहः), तस्मिन्, विहीनः (अन्तर्हितः) ।

रामो अमरं दृश्यति—उन्मीलकमिति । उन्मीलकमयनाऽन्तकान्तिलहरीनिष्पी-

तिभाव्य ही प्राप्त कर रही है । पुनः सीताओं से इतना अन्तर (फर्क) है कि तुम स्वभावतः
शीतल ही रहनु सीता (मेरे भिरहमें) अनिर्वचनीय सम्पापनिष्ठ भगवत् कर रही है ॥ ४ ॥

छात्रमप्य—विक्रित नौककमलों के वन में छिपे हुए इस अमरको रबर देखिय ।

रामः—(देखकर) बरे ! यह हीनता पक्षी है !

विलसित कटाक्षलोभासे पीके मयः सौरभभाजसे बहुमेष सीताके कर्णस्थित बिल

दामोदावधरणीयवपुषोः काम्नासन्धेन सखम् ।

यत्कर्णोत्पलयोः स्थितेन भवता किञ्चिन्नमुद्गुञ्जितं

आतस्तिष्ठति कुञ्ज तत्कथं मे काम्ने प्रियाया मुक्तम् ॥ ५ ॥

कथम्—(सातङ्गम्) अमीमं न विलोकयेदर्थः ।

राम—(किलोक्य) अये कोऽयं विहङ्गः ।

योऽयं बहिः कलितकुङ्कुमरेणुराग-

मन्तस्तु सन्भूतदयं हृदयं दधानः ।

अथो दामोदाय धरणीयवपुषोः दत्तर्णोत्पलयोः स्थितेन काम्नासन्धेन भवता
यत् कर्णं किञ्चित् समुद्गुञ्जितं, हे आता ! काम्ने मे प्रियाया मुक्तं कुञ्ज तिष्ठति तत्
कथमेत्यन्वयः । चम्पकवनाऽन्तर्गतकहरीविष्पीतयोः = तम्भीकम्पी (विक-
सम्पी) या त्वमाऽन्तर्गतकहरी (कटाचसोसाकच्छेद्य) तया निष्पीतयोः
(चपहतकम्पीकयोः) । एवं च दामोदाय = सीरभाय, धरणीयवपुषोः =
(निरधेवसरीरयोः), यत्कर्णोत्पलयोः = यस्मै (सीतामुक्तस्य) कर्णोत्पलयोः
(जोरभूषणशीलकमकयोः) स्थितेन = विद्यमानेन, काम्नासन्धेन = प्रियासहचरेण,
भवतीत्युक्तेति भावः । भवता = त्वया, यत्, कर्णं = कञ्चिद्विषयं वापय, किञ्चित्-
अत्रिणित्वं, समुद्गुञ्जितं = शय्यायितं, हे आता = वन्द्यो !, काम्ने = सुन्दरं, मे =
मम, प्रियायाः = कृतभायाः, सीताया इत्यर्थः । मुक्तं = पदकं, कुञ्ज = कस्मिन्
स्थाने, तिष्ठति = वर्तते, तत् = काम्नायुक्तं, कथं = यद् । हे वन्द्यो ! ममिवाया।
सीतायाः कर्णोत्पलस्थितेन त्वया दुरा गुञ्जितसत्तः सागम्यं तस्याः प्रवृत्तिं भूषि-
ताम् । अथ क्वचिरेकाऽलङ्कारः । सार्द्धकविनीहितं पृष्ठम् ॥ ५ ॥

कथम् इति । साऽऽताङ्गं = सापञ्चालसहितं यथा त्वया । इमं = कथयानं,
काम्नाविपुक्तमिति शेषः । न विलोकयेदपि = न पश्येत् किम् । प्रियाविपुक्तक-
थाकाऽकथोक्तनेमार्थस्य सीताविरहव्याथा संवर्धिता एवादिति लक्ष्मणस्यालङ्कारः ।

योऽयमिति । बहिः कलितकुङ्कुमरेणुरागं धन्तस्तु संभूतदयं हृदयं दधानो
योऽयं परितरङ्गिणि मुहुः कथं तन्मूर्तिं सद्वरीम् कालोक्तं च मु सन्निधत् इत्यन्वयः ।

कर्णोत्पलोऽने पत्नीके साथ रहकर मुझमें जन्म समय तक कुञ्ज सम्बन्धितता है । हे माई ।
प्रियाया त्वं सुन्दर मुक्त कदा है । वतकामो ॥ ५ ॥

कथम्—(सातङ्गके साथ) मार्थ कदा ऐसे भी देख न के ।

राम—(देखकर) अरे ! यह कौन पक्षी है ।

बाह्य कैमरपरागै रागको भीतर भीतर दयाते सम्पन्न हृदयको धारण करता हूँ

पारेतरङ्गिणि मुहुः कदम्बे रङ्गती-

मासोक्ते सहचरी न सखिचरते ॥ ३ ॥

(विष्टम्) नूनमयं बह्वभाधिरहविदारितहृदयो धराकक्षप्रभाकः ।

सखमणः—अहो ! प्रभावः ।

रामः—नूनमयमेकः समदुःखतया समानशीलो मे, अथवा कुतोऽस्य मम च समानशीलता ।

अपमुदयति चम्प्रे धिप्रयोगं प्रियायाः

अयति, तपति सूर्ये सङ्गमज्ञीकरोति ।

बहिः कफितकुम्भमरेपुराणं = बहिः (बहिर्भागे) कफितः (प्लुता) कुम्भ-
रेपुराणः (कारसीरज्ज्वन्-पुष्टि-औहित्यम्) येन सप्त । अमलसु = अमलन्दरे, सु-
खं कुलदम्बं = संसृता (सञ्जिता) दया (कल्याण) यस्मिंस्तत्, तादृशं, हृदयं धिप्रं,
दयाधः = धारयन् । यः, ज्वं = निकटस्थः, चकवाक इति भावः । पारेतरङ्गिणि =
वह्नीपारे, तरङ्गिण्याः पारे इति विग्रहे 'पारे मध्ये पञ्चवा वेत्यन्यमीभावः पारसम्-
श्चेत्यन्वयस्य निपातश्च । पञ्चामरे—तरङ्गिणीपारे, महाविभाषया चान्वयमपि—त-
रङ्गिण्याः पार इति । मुहुः = वारं वारं, कदम्बं=कल्याणं यथा तथा, रङ्गती=आनन्द-
भावा, 'रट परिभाषण' इति धातोर्कटः सप्तम्यर्थः । तादृशीं सहचरीं = सखीं, चक-
वाकीमित्यर्थः । आसोक्ते = पश्यति । न तु सखिचरते = सखिभिः (सामीप्यम्)
तु न भजति, रावेरिति शेषः । वसन्तसिक्का वृत्तम् ॥ ६ ॥

विष्टमेति । वल्लभाधिरहविदारितहृदयः = वल्लभायाः (प्रियायाः) विष्टम्
(विद्योगेन) विदारितं (विधीर्जम्) हृदयं (यक्षःस्थकम्) यस्य सः । अरभा-
नृपापात्रम् ।

राम इति । समामसोक्तः=सुखचरसंवा, असवोरपि कान्ताविद्युक्तादिति भावः ।

चकवाकादात्मनो वैकर्म्यं प्रतिपादयति—अयमिति । अयं चम्प्रे उदयति प्रिया-

और वह पक्षी नदीके पार घाटेघाट करवज्जन् करवेवाली सहचरीकी सखता है वही वरम्भ
सखीप नहीं जाता है ॥ ३ ॥

(विष्टा कर) निकट ही वह प्रियाके विद्योगसे विदारित हृदयवाला वैचारा
चकवाक है ।

सखमण—अहो ! आर्पका यह प्रभाव है ।

राम—नियम ही एक समदुःख होनेसे मेरे ऐसे स्वभाववाला है, अपना सखी
और मेरी कौनो तुल्यशीलता है ?

वह (चकवाक) चकवाके कवचपर पिंछी विष्टमण है और सूर्यके ताप करनेपर

मम तु जनकपुत्री-विप्रपुत्रस्य यातं

यातमधिकमपीवं चन्द्रसूर्योदयानाम् ॥ ७ ॥

कथमणः—आर्य ! इह तावन्मुकुलितकमलिनीपरिसरात्सुरिणि कल-
हंसे दीयतां दृष्टिः ।

शामः—(विनयेन)

निजमन्त्रशिखादेःशालीदस्फुरत्कमलस्तर्फी

निरतमधुपश्रेणीगीतां चलन् कलहंसकः ।

या विप्रयोधं जयति, सूर्यं तपति प्रियायाः सङ्गम् अङ्गीकरोति । तु जनकपुत्रीविप्र-
पुत्रस्य यस्य चन्द्रसूर्योदयानाम् इवं सतम् अधिकमपि यातमित्यन्वयः ।

कलहंसकः = निकटवर्ती, कलयाक इत्यर्थः । चन्द्रे = हिमाञ्जली, उदयति = उदीयमाने
सति, प्रियायाः = पत्न्यभावाः, चक्रवाक्या इत्यर्थः । विप्रयोगे = विरहं, अपति =
नामयति, सूर्यं = भास्करं, तपति = तापं कुर्वति सति उदीयमाने सतीति भावः,
'यस्य च भावेन मातृकथम्' इति सप्तमी । प्रियायाः = पत्न्यभावाः, चक्रवाक्या
इति सामः । सङ्गे = सङ्गम्, अङ्गीकरोति = अग्युपशब्धति । तु = परन्तु, जनक-
पुत्रीविप्रपुत्रस्य = जानकीविरहितस्य, मम = तमस्य, चन्द्रसूर्योदयानां = चन्द्रसूर्यो-
दयकालोपकृतानाम्, भद्रोदाराणामिति भावः । इदम् = अनुमृतचरं, यातम्
अधिकमपि = अतिरिक्तमपि, यातं = स्पर्शितम् । चक्रवाकोऽयं राजस्यामेव प्रिया-
विरहपुत्रमधुपं पुषर्त्विवा प्रियासङ्गमेव परमप्रापन्द् कमते परं प्रियाविपुत्रस्य तु
कलाम्भोदाराणां सतमन्त्राधिकमपराधमतः कलं मे चक्रवाकेन समानकीकरोति भावः ।
नयिनी वृत्तम् ॥ ७ ॥

कथमण इति । मुकुलितकमलिनीपरिसरात्सुरिणि = मुकुलिता (विनीकृता,
सूत्रास्तमनेनेति शेषः) या कमलिनी (पद्मिनी) तस्या परिसरं (पर्वन्तसुखं,
सतीपमदेसमिति भावः) अनुसरति (अनुगच्छति) तच्छ्रीकमलसिम् ।

नितेति । निजमन्त्रशिखादेःशालीदस्फुरत्कमलस्तर्फी निरतमधुपश्रेणीगीताम्

प्रियाये सङ्गमपी वा जेता है । परन्तु कीदृशे विमुखे हुए मेरे सैकड़ों अहोरात्र भतीत हो
चुके हैं ॥ ७ ॥

कथमण—आर्य ! निनीकृत कमलिनीके लक्ष्मी जानेवाके रस कलहंसकर इति
शेषः ।

शाम—(देखकर)

शाम ! अपने पक्षोंके चरवालोंसे घट और दिग्धे हुए कमलकम कुचसे पुक, तमक

अकल्पसाशिमेक्षुपादप्रहारविमूर्च्छिता-

महद्व ! नलिनीं कलाम्बककान्तां मुहुर्मुहुरीयते ॥५॥

(विमृश्य) धरमेवंविधानामपि सहचरीजनानुकम्पया कोमलं चेतो न

■ निसर्गकठिनस्य रामस्य ।

लक्ष्मणः—(स्वगतम्) कथमिवानीमप्यस्य चेतसि जानकीयसिन्द्र-
जालमुन्मोलति ।

अकल्पसाशिमेक्षुपादप्रहारविमूर्च्छितां नलिनीं कलम्बककान्तां मुहुर्मुहुः ईयते अहम् ! इत्यन्वयः ।

विमृश्यसाक्षात्तेऽऽदिबन्धुलम्बककान्तनीं = निजवत्साधाम् (नान्दकरकान्ता-
नाम्) शिवाक्षेतानिः (अन्नभागाश्रेणीभिः) आलीङ्गं (चतस्र्) स्फुरत् (संघ-
कृत) बलकमलं (पद्मम्) तदेवस्तनः (कुम्भः) यस्याः सा, ताम् । निरतमधुप-
श्रेणीगता = निरतामी (सम्मलानाम्) 'विराजामा'मिति पाठान्तरे लक्ष्मणमिति ।
मधुपाशो (सम्मलानाम्) ■ श्रेणी (पङ्क्तिः) तया गीताय (गानकर्त्तृकताम्),
अकल्पसाशिमेक्षुपादप्रहारविमूर्च्छिताम् = अकल्पम् । (निर्दयः) यः सखी (चन्द्रः)
तस्य मेक्षु (प्रचक्षम्) यः पादः (किरणः, शमकान्तरपदे—चरणः) ■ प्रहार
(लातनम्), तेन विमूर्च्छितां संजातमोहाम् क्लान्तकान्ताम् (भवितव्यभ्यानिपुक्तम्)
नलिनीं = कलम्लिनीं, कलम् = गच्छन् कलङ्गसकः = राजहंसः, 'कलङ्गससु कादम्बे
राजहंसे लुपोत्तमे ।' इति मेदिनी । मुहुर्मुहुः = वारं वारम्, ईयते = पश्यति । अह-
हेति बोधोत्तकमप्यस्य । अत्र हंसस्य नलिन्या प्रसूते गमनपूर्वकदर्शनध्यापारे
कम्बुचिन्तामकस्य मलकतादिनोपयुक्तायां कलमुकश्रेणीस्तुतायां निर्दयजनान्तरेण
चरणप्रहारमुच्छितायामप्यस्यो मायिकामां उपगमनपूर्वकविलोकनस्य सादरचक्षु-
मात्समासीद्विरलङ्कारः । हरिणी चूचम् ॥ ८ ॥

विमृश्येति । एवं विधानामपि—इत्याद्यानामपि, पक्षपक्ष्यादीनामपीति भावः ।
निसर्गकठिनस्य = स्वभावकठिनस्य ।

लक्ष्मण इति । जानकीयं = जानकीसम्बन्धि, क्लृप्तपदः । इन्द्रबाहोन्मायाकर्म ।

अत्र पङ्क्तिरेत्यत्र, निर्दय चन्द्रके पाशो (चिरणो) के प्रहारसे मुच्छित और नतिमय
भक्तानिपुण कमिनीको पाश बाँटा हुआ कलङ्गसक राजहंस देख रहा है ॥ ८ ॥

(विचार कर) चन्द्रका जैसे पक्षियोंका भी सहचरी पर बसते बिच कोतक है पर
लक्ष्मण कठोर रामका नहीं ।

लक्ष्मण—(मन ही मन) कैसे अनोखे हृदय के चित्तमें सीताविषयक इन्द्रबाह
मल हो रहा है ।

(नेपथ्ये)

सखे, रत्नशेखर ! विराट्दृश्यसे !

कचमल—(आकर्ष) किमेतत् ?

(पुनर्नेपथ्ये)

मयस्य चम्पकापीठ ! एवमेतत्, मया हीयन्तं कालमखिलमायानि-
धैर्मयनाम्नो दानवस्य पुत्री निजसहोदरी सन्दोदरीमनुवर्तिषु लज्जया
कुवालयध्वित्ररूपनाम्नो दानवास्सकलाभिन्नुजातकलामाददनेन स्थितम् ?

लक्ष्मणः—नूनं कृतकर्णकौतुकमोहोऽयं कथोरपि पथिकयोः संवादः ।

(पुनर्नेपथ्ये)

सखे रत्नशेखर ! तन्मे धारयसि निजकलादर्शनम् ।

(पुनर्नेपथ्ये)

पुनर्नेपथ्य इति । इत्यन्तरं = एतादृशम् । कृताकृषाण = विहितभासात् ,
कचमल इति । कृतकर्णकौतुकमोहः = कृतः (विहितः) कर्णकौतुकमोहः (मोह-
कृतकृष्टकर्षः) येन सा । पथिकयोः = पान्थयोः ।

कचो रत्नशेखर इति । मे धारयसि = मया धारयसि, 'धारेकृष्यर्ण' इति सूत्र-
प्रामाण्यपूर्वी । एवं मया कलादर्शनभाषारे सिद्धिः । तां कलां लक्ष्मणे मया
मह्येति भावः ।

(नेपथ्ये)

मित्र रत्नशेखर ! मैने बहुत समयके अनन्तर तुम्हें देखा ।

कचमल—(सुखकर) यह क्या है ?

(फिर नेपथ्यमें)

मित्र चम्पकापीठ ! यह ठीक है कि मैं रहने समयतक समस्त मायाभार मय सामक
दानवकी पुत्री और अपनी सगी बहन सहोदरीका अनुसरण करनेके लिए जङ्गलमें विवास
करनेवाके विवरूप नामक दानवसे सम्पूर्ण इन्द्रबाक्ककाको भक्षण करता हुआ रहा ।

कचमल—विषय ही कानोंमें कौतुक और दर्प करनेवाका यह किन्हीं की परम्पराका
संसार हो रहा है ।

(फिर नेपथ्यमें)

मित्र रत्नशेखर ! तुम्हें इससे छोटी दुर्घ वपनी कचका प्रदर्शन करता होता ।

(फिर नेपथ्यमें)

यस्य चम्पकापीठ,

असुरसुरनिशाधरोरगाणामपि मरकिन्नरसिद्धचारणानाम् ।

सकलजनविलोकनैकविधं स्फुटमिह कस्य चिज्जम्भते क्षरिजम् ॥६॥

अथवा किमन्येन, जङ्घानुभूतमेव भूतनं किमपि सरसरमणीवं चरित-
मुपवर्थायामि ते ।

क्षमणः—आर्य ! इतोऽवधार्यताम्, नन्दिभयस्तोपनीतं मेक्ष-
णीयम् ।

रामः—(जनाकर्जितकेन)

देवि ! त्वदीयमग्निपुत्रज्जम्भमाण-

कोलाहलोत्तरसहस्रकुलाकुलासु ।

असुरसुरेति । असुरसुरनिशाधरोरगाणां मरकिन्नरसिद्धचारणानामपि इह कस्य
सकलजनविलोकनैकविधं स्फुटं चरित्रं चिज्जम्भते इत्यन्वयः । असुरसुरनिशाधरो-
रगाणां = वैश्वदेवराक्षसपर्याणां, मरकिन्नरसिद्धचारणानामपि = मामदकिन्पुरुषदेव-
योमिविलोचयन्मिथामपि, इह = अस्मिन् समये स्वान्ते वा, कस्य = कतमस्य, सकल-
जनविलोकनैकविधं = समस्तजनदर्शनैकालेक्यरूपं, स्फुटं = स्पष्टं, चरित्रं = वृत्तं,
चिज्जम्भते = जाविर्भवति । यदहं ते दर्शयामीति शङ्कः । पुष्पितायाः सुतस्य ॥ ९ ॥

कथमस्य इति । अयमोपनीतस्य = अग्रयाज्ञमाप्तस्य । मेक्षणीयं = दर्शनीयम् ।

राम इति । जनाकर्जितकेन = अभ्युत्थेनेन ।

देवीति । देवि हे वेदेदि ! त्वदीयमग्निपुत्रज्जम्भमाणकोलाहलोत्तरसहस्रकुलाकु-
लासु कथमस्यदाभ्युत्थकामिकतासु गोदावरीपुत्तिभूमिषु वृद्धिं देहीत्यन्वयः ।

विश्व चम्पकापीठ ।

असुर, वैव, राक्षस, सदै, मनुष्य, किन्नर, सिद्ध और नारद एवके बीच किन्नर
परिषद सब कोर्ताहो देखनेके लिए एकविधरूप होकर २१३ कस्ये जाविर्भूत होता है ? ॥९॥

मयया, और से क्या ? जङ्घामें मनुभूत हो मनीष कुल सरस और रमणीय परिषद मैं
आपको दिखता हूँ ।

क्षमण—आर्य ! इस और न्याय हीनिय, विषा प्रवाल ही वह ब्रह्मण्य कथित
ही रहा है ।

राम—(स सुननेके भावसे)

देवि ! हे श्रीदे ! तुम्हारे मग्निपुत्रीसे वदनेवाले कोलाहलसे बलक सहस्रसहस्रे न्यास

वेदेहि ! कथमप्यदाभ्युज्जताभ्युत्थितासु

गोदावरीपुलिनभूमिषु वेदि दृष्टिम् ॥ १० ॥

कथमप्य—क पुनरिह वेदेही ? कं वा गोदावरी ?

शम—(विप्रश्न) कथं प्रतारितोऽस्मि भतिविभ्रमेण । (निविन्त्य)

अथवा कृतार्थकृतोऽस्मि । अनेन हि मे—

गोदावरीतीरतपोवनेषु, सौमित्रिसीतापरिपूर्णपार्श्वः ।

मुदा निमेषानिव याम्यनैव, दिनानि ताम्येव पुनः स्मृतानि ॥ ११ ॥

वेदि = दोतवकीके, हे वेदेहि = हे जानकि !, त्वदीयमणिपुत्रजन्ममात्रकोला-
हलोत्तरकदंसकुलाकुलासु = त्वदीयो (त्वत्सम्प्रतिपत्नी) यौ मणिपुत्रौ (स्वप-
त्नितसस्त्रीयो) ताभ्यां जन्ममाणः (संवर्धमानः) वा कोलाहलः (कलकल) तैमो-
त्तरकं (चक्रकथं) यदंसकुलं (यकाङ्कसमूहः), तेनाऽऽकुलासु (व्यासासु) ।
कथमप्यदाभ्युज्जताभ्युत्थितासु = कथमप्यदाभ्युज्जताभ्युत्थितासु, गोदावरीपुलिन-
भूमिषु = गीतगीतरीततभागेषु, दृष्टिं वेदि = दृष्टिपातं दिशेहीति भावः । अत्रोपमा-
कथनः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १० ॥

शम इति । भतिविभ्रमेण = बुद्धिभ्राम्यन् ।

गोदावरीति । गोदावरीतीरतपोवनेषु सौमित्रिसीतापरिपूर्णपार्श्वः (लम्)

मुदा यानि निमेषानिव अनैव, ताम्येव दिनानि पुनः स्मृतानीत्यन्वयः ।

गोदावरीतीरतपोवनेषु = गोदावरीतीरतपोवनेषु, सौमित्रिसीतापरिपूर्ण-
पार्श्वः = सौमित्रिसीताभ्यां (कथमप्यदाभ्युज्जताभ्युत्थितासु) परिपूर्णं (परिपूरितं) पार्श्वं
(वृद्धिपक्षभागी) चरन् सा, तादृशः सन् । मुदा = इदमेव, यानि = दिनानि,
निमेषानिव = कथमप्यदाभ्युज्जताभ्युत्थितासु, मुदायत्तावत्त्वप्यसयाभिप्रेति भावः ।
अनैव = याचितवान्, ताम्येव = पूर्वाऽनुभूताभ्येव, दिनानि = दिवसानि, पुनः =
पुनः स्मृतानि = स्मृतिविबोद्धानि, पुनः पुनः विवसस्मरणेन कृतार्थकृतोऽस्मीति
भावः । अत्रोपमाकथनोपेक्ष्यत्रयोः समेकतादुपजातिर्बृत्तम् ॥ ११ ॥

और कथनके अर्थकमलीसे चिह्नित गोदावरीके तट भागों पर दृष्टिपात करो ॥ १० ॥

कथमप्य—यहाँ कहाँ सीताजी हैं ? वा गोदावरी है ?

शम—(स्मरण कर) किस प्रकार मैं दुष्टिही आभितो बजित हो गया हूँ । (विचार
कर) जयवा कलकल हो गया हूँ । इसने मुझे—

गोदावरीके तीरमें तपोभूमों सम्मिल और सीताजी तापमें केन्द्र इवसे मिल दिनोंकी
निमेषोंके समान मैंने दिनामे से आज कहाँ दिनोंकी याद दिवारे ॥ ११ ॥

(पुनः सप्रत्यक्षम्) अपि नाम,

ताभ्येव पद्यमलङ्कारो वचनान्मृतानि

भूयोऽपि कर्णचुस्तुर्कैरहमापिषेयम् ?

यैर्मात्रदर्शयदस्ती विकचप्रभोदा

गोदावरी कमलघीचिचिचेष्टितानि ॥ १२ ॥

(नेपथ्ये)

तव सुभग ! उत्तिपन्ती तरङ्गसितचामरं रघुनगाङ्ग ! ।

पुनरिति । अपि नामेति सम्भावनायाम् ।

ताभ्येवेति । अहं पद्यमलङ्कारः ताभ्येव वचनाऽन्मृतानि कर्णचुस्तुर्कैः भूयोऽपि व्यापिषेयम् ? विकचप्रभोदा अस्ती वै । मा गोदावरीकमलघीचिचिचेष्टितानि जर्ण्यप-
क्षित्यन्वयः ।

अहं = रामा, पद्यमलङ्कारः = (प्रञ्जुरोमयुक्तको, कुक्षोचनायाः सीताया इति
भावः) । ताभ्येव = पूर्वोऽनुभूताभ्येव, वचनाऽन्मृतानि = अमृतमुल्लसन्ति वाक्यानि,
कर्णचुस्तुर्कैः = अर्धजलिसदृशोत्तदृशिभिः, क्षाणिकोऽयमर्थः । भूयोऽपि = पुन-
रपि, व्यापिषेयम् = पानविपरीकुर्वन्, प्रजयाऽतिवायेन गृणुयामिति भावः । विक-
चप्रभोदा = समृद्धदर्पा, अस्ती = मित्रकृष्टदेशवर्तिणी, सीतेति भावः । वै = वचनाऽ-
न्मृतैः, मा = वक्तुमं रामं, 'हतेरचे'ति कर्मस्वाद्धितीयः । गोदावरीकमलघीचिचि-
चेष्टितानि = गोदावरीः (गोदावत्याः) कमलानां (पद्मानां) घीघीमां (तरङ्गा-
नाम्) च चिचेष्टितानि (अनेकप्रकाराश्चेष्टाः), अहंकथं = पूर्वोक्तवती । वसन्त-
सिक्का वृत्तम् ॥ १२ ॥

तव सुभगेति । हे सुभग ! हे रघुनगाङ्ग ! तव तरङ्गसितचामरं उत्तिपन्ती
गोदावरी स्वहस्तेन वचनममलाऽन्मृतं धारयतीत्यन्वयः ।

(किर प्रत्याह्वये साप) क्वा—

मै कुक्षोचना सीताके वन्ती वचनाऽन्मृतोकी कर्णं कथं वचोवर्णिमोते किर मां क्वा पाप
कर क्षोपः । समृद्ध दर्पाकी वित सीताके वित वचनाऽन्मृतोकी हते गोदावरीके कमली
नौर तरङ्गोकी वैद्यमोकी विसृजया वा ॥ १२ ॥

(नेपथ्ये)

सीतावचनम् हे रघुकथम् । अस्ते क्वर तरङ्गसितचामरं वानरकी वचनी क्वः

वयस्यकमलातपत्रं धारयति गोदानवती स्वहस्तेन ॥ १३ ॥

(कुह सुखम् । उन्मिषन्ती तत्प्रादिष्यमानं रात्रिमिह ।

ज्वलन्मालावत्तं धारयतीत्यर्थः । सहस्तेन ॥)

रामः—(सर्वम्) अये, स पत्रार्थं मियतमायाः स्यात्प्रापः । तथा हि—

परिमितकमनीयाः कोमलो वाग्बिम्बोऽसौ,

सरसमधुरकाकुलीकृता काऽपि लेखा ।

अनिरपि च विपश्चोपश्रमस्यानुवादी,

अनिरपि कलकण्ठीकण्ठसंवादभूमिः ॥ १४ ॥

हे भूभाग ॥ हे श्रीमानयस्यम्नि, हे रात्रुपराङ्म ॥ हे रात्रुकुलम्भ ॥ तव ॥ भवतः, तत्प्राप्तितथाभारम् ॥ उन्मिषन्ती तत्प्रादिष्यन्तीर्णकम्, 'धामरं तु प्रकीर्णकम्' ब्रुवन्ती । उन्मिषन्ती ॥ उपरि मेरुपत्नी, गोदानवती ॥ गोदावरी, स्वहस्तेन ॥ धामरकलेन, वयस्य-कमलाऽतपत्रं ॥ ज्वलन्मालावत्तं पत्रं, धारयति ॥ धारयति । हे राम ! गोदाकर्षेण तत्-कमलाकल्पमात्रां भूपाकमोयश्चूत्रधामराभ्यां त्वं सेव्य इति भावः । अत्र रुचकाऽ-ककुतः । आनीतुम् ॥ १३ ॥

परिमितेति । परिमितकमनीयः कोमलो वाग्बिम्बोऽसौ । सरसमधुरकाकुलीकृता काऽपि लेखा । अनिरपि विपश्चोपश्रमस्य अनुवादी । अनिरपि कलकण्ठीकण्ठसंवाद-भूमिरित्यन्वयः । परिमितकमनीयाः ॥ परिमिता (अवयवपरिमिताः) स चाऽसौ कम-नीया (लघोऽसौ), पुनः कोमला ॥ मृदुलाः तावन्तो वाग्बिम्बोऽसौ ॥ वयस्यकीर्ण । सरसमधुरकाकुलीकृता ॥ सरसा (रसपरिपूर्णा) मधुरा (आधुर्वसम्पन्ना) वा काकु (अनिबिम्बेण), तथा स्वीकृता (भक्ष्यकृता, भ्याहेति शब्दः) । तावन्ती काऽपि ॥ अनिबिम्बेण, लेखा ॥ वाक्परातिरिच्यर्थः । अनिरपि ॥ अप्यनिरपि, विपश्चो-पश्रमस्य ॥ विपश्चोपश्रमस्यैव, कोकिकृतसदृशस्येति भावः । अनुवादी ॥ अनु-वादी । एवं च अनिरपि ॥ अनिरपि, कलकण्ठीकण्ठसंवादभूमिः ॥ कलकण्ठधः (कोकिकायाः) यः कण्ठः ॥ यथा, कण्ठधारा कण्ठस्य, तस्य संवादभूमिः (साह-

सोदावरी वपने द्वापते सप्रेत कवचकर अचको धारण कर रही है ॥ १३ ॥

राम—(हर्ष पूर्वक) अरे । यह वही मियतमाया भयावध है । वैसे कि—परिमित और सभोहर कीमत वयसकीका है । सरस और मधुर अनिबिम्बेवरी म्पन्न अनिबिम्बनीय वाक्पराति है । अनिर भी वोगाके पश्चोपश्रमस्य अनुवादन करने वाला है परन्तु इसका मदन भी कोकिकाके कण्ठसरका संवादवादा है ॥ १४ ॥

प्रत्युक्त पुनः प्रेयसी ? (विलोक्य) तत्कथमयमहदुत्थम्भस्तेष्वन्ना-
लोकाः ।

(ततः प्रविशति तथा निरूपयिष्यमाणा आनयी)

रामः—(ससम्भ्रमम्) प्राप्तेयं प्रेयसी (इति गन्तुमिच्छति)

लक्ष्मणः—(रामं हस्ते धृत्वा) अलमिह सम्भ्रमेण, विद्याधरोपनीत-
मिन्द्रजातकं स्वरूपेत्तत् ।

रामः—(निर्द्वयं) अये, क एष सन्निवेशविशेषः ? तथा हि—

एकेनास्मिन्नेयं क्षिपितभुजसताशोभिना घासिघराणा,
हस्तेनान्येन श्वार्यं विनकरकिरणकलास्तकान्तिः कपोलः ।

व्याख्यानः), अस्तीति चेत् । अतोऽयं शिपितमायाः समाहाय एवेति शेषः ।
मास्तिनी वृत्तम् ॥ ३२ ॥

वदिति । अहदुत्थम्भस्तेषां = अहदा (अमनकोक्तिः) चन्द्रसेना (इन्दुरेखा)
यस्मिन् सः, राक्षसमण्डलोक्तः = इन्दुप्रकाशः । चन्द्रसेनादर्शनं विना तथा चन्द्र-
प्रकाशस्तथैव सीताया दर्शनं विना लक्ष्मणश्चरन् विस्मयहेतुरिति शब्दः ।

राम इति । निर्द्वयं = शृङ्गाः । सन्निवेशविशेषः = अत्रस्थितिविशेषः ।

एकेनेति । क्षिपितभुजसताशोभिना एकेन हस्तेन इयं क्षिपिताला भालम्बिता ।
अन्वेन हस्तेन विनकरकिरणकलास्तकान्तिः अयं कपोलः (बालम्बितः) । एष
लक्ष्मणः कथमयः स्पर्शकालिकलापे निरन्तरे द्रुतसि । सेनोत्तरे च वाप्यस्तकमवकलैः
वर्षसा पश्चारेण (अस्ति) द्रुतगन्धः ।

एव शिपितमा क्या है ? (देखकर) एवं कैसे चन्द्रसेनाके ऐसे विमल मह चन्द्रका
प्रकाश था रहा है ।

(एवं निरूपणके अनुसार सीता प्रवेश करती हैं ।)

राम—(सीताकाके साथ) मह शिपितमा मात ही गर्वः (ऐसा कह कर आनेकी
हम्मा करते हैं ।)

लक्ष्मण—(रामकी हाथमें पकड़कर) कहाँ जागृतता मही करनी चाहिये । वह सी
विद्याधरसे प्रकाशित इन्द्रजात है ।

राम—(देखकर) यह कैसा शरीरका स्थितिविशेष है ? जैसे कि—क्षिपित भुजसतासे
शोभित यह हाथसे इस इन्द्रजातका काव्यव्यव किया है । दूसरे हाथसे पूर्वकिरणसे

एष कस्तो नितम्बे लुलति कञ्चभरस्त्यककाञ्चीकलायै

मेघोत्सङ्गे च वाष्पस्तवकनवकणैः पद्मका पद्मलेखा ॥ ३३ ॥

नूनमियमशोकशालिराशां ससीमिवाऽवलम्ब्य निद्रासुपगा ॥

तथा हि—

आमोसकचनीकनीरजतुलामालम्बते लोचनं

शेषिहर्षं नवमञ्जिकासहसरैरङ्गैरपि स्वीकृतम् ।

सिन्धिकमुषकलाशोमिना = सिन्धिका (रक्तवा) वा मुषकता (वातुषकली) तथा लोभते लक्ष्मीकलेन । तादृगेन दूकेन = पूककेन, हस्तेन = करेण इत्थं = निरुद्वर्तिनी, काशिकासा = वृषवितपः, आलम्बिता = आलम्बिता । अन्त्येन = अपरेण, हस्तेन = करेण, दिक्ककिरपस्कान्तकामिः = दिनकरस्य (सूर्यस्य) किरणैः (मधूनैः) क्लाम्ता (रक्तानिमापका) कामिता (कृति) यस्य सः, तादृकः । कचम् = एषः, कणोक्तः = गणः, 'आलम्बित' इति पुंलिङ्गत्वेन विपरिणामः । एवं च एषः = अतिनिकटस्थितः, कस्त = उष्णः, स्नेहसंस्काराऽभावादिति शेषः । कञ्चभरः = कुम्भकलापः, एषककाञ्चीकलायै = एषकः (विशुद्धः, पतिविरहादिति शेषः) काञ्चीकलायः (रत्नगणकपभूषणम्) यस्मात्तस्मिन् । तादृशो नितम्बे = कटिपथाग्रे, लुलति = लुलति । एवं च मेघोत्सङ्गे च = लोचनप्रान्तभागे च, वाष्प-स्तवकनवकणैः = वाष्पस्य (अधुना, हृष्यदधुपसहस्येति शेषः) स्तवकाः (गुण-स्तवका समूहाः) तेषां नवकणैः (मधुनल्लवैः), पद्मका = सान्द्रा, पद्मरेखा = अमरमोमराशि, वस्तोति शेषः । इन्द्रजालोपनीतलीलाऽवस्थावर्णनमिदम् । तथा चेष्टां स्तीरकेन हस्तेन लक्षितप्रमाकम्बते, अपरेण च रविकरताम्रं कपोलतलमा-चरति । जानम्याः स्नेहदृश्यो विकीर्णः कुम्भकलापश्च भेदकादिते नितम्बविम्बे लुलति । एवं चाऽधुनिर्मितेन हस्या लोचनद्वितयं साम्प्रदोमराभिपुङ्गं सर्वत्र इति भावः । अत्र रूपकाऽलङ्काराः । सन्धरा वृत्तम् ॥ ३५ ॥

कामीकलितेति । लोचनम् आनीकम्बतनीकनीरजतुलाम् आलम्बते । नवमञ्जिका-

मलानिमापका कान्ति नाम कपोलका आलम्बनं किरा हे । यह हिमिक केकलापय कामनीसे रहित नितम्बमे कलक रक्ष है और नेत्रके प्रान्तभागेने आसूके आन्ध्रोंके नये क्षणोंसे भीगी हुई पक्षपङ्क्ति ॥ ३५ ॥

निबन्ध ही ने अशोकशाली प्राकाली सलीके समान सारा केकर नींद के रही है ।
कैते हि—

मेघ मुँदे हृष चने नीकम्बमण्डे उपमाका आलम्बन कर रहा है । नये मञ्जिका (वेनी) आन्ध्रोंके सख अङ्गोंने भी हिमिकवाको स्तीकर दिया है ।

(पुनर्विप्लव) नूनमनसा हृदयप्रसोददायी कोऽपि स्वप्नो दृष्टः ।

तथा हि—

आलापादधरः श्कुरन्कलयति प्रेङ्गसबाकोपमा-

ममन्वप्रभवत्वात्वा चाप्यकणिका मुक्ताभिर्यं विधति ॥ १६ ॥

सीता—(वन्नीत्य शेषेन) ■ धिक् हा धिक् ! अन्यादृशो मे जीव-
लोको गोदानदी । क सा, नीलोत्पलरयामलः क रामः, लङ्का क, क वा
हा धिक् रामैकजीविता सीता (इति मूर्च्छति) । (हृदि हृदि, अन्धारितो मे
जीवलोको गोलगर्ह । कहिं सा, नीलोत्पलरयामलो कहिं रामो, लङ्का कहिं, कहिं वा

सह चरैः जज्ञैरपि सैधिर्यं धीहीतम् । इति पूर्वार्द्धव्यापः ।

शेषं = नेत्रं, आनन्दम् इति शेषः । आनीलमनसोऽनीलरजतुल्यम् = आनीलम्
(निमीलम्) त्वं (नूतनम्) यक्षीकनीलं (नीलकमलम्), तस्य तुल्यम् (उप-
मात्) आनन्दते = आनन्दयति । मममल्लिकार्जुनचरैः = नूतनमल्लीपुष्पमुल्लसि,
अक्षरैरपि = हस्तपादाग्रवधिरपि, सैधिर्यं = रक्तध्वजम्, सवहस्रमकराग्रवत्स्थानाव-
रूपमिति भावः । स्वीकृतं = गृहीतम् । इति पूर्वार्द्धव्यापः ।

पुनरिति : हृदयप्रसोददायी = चित्तद्वर्षदायकः ।

आलापादिति । आलापात् श्कुरन् चरैः प्रेङ्गसबाकोपमां कलयति । आनन्द-
प्रभवत्वात्वा चाप्यकणिकां मुक्ताभिर्यं विधति श्कुरन्चरार्जुनचरैः । आलापाद् = आलाप-
णात्, स्वप्नावस्थामिति शेषः । श्कुरन् = संचलन्, चरैः = श्लोकः, प्रेङ्गस-
बाकोपमां = प्रेङ्गन् (संचलन्) यः प्रवालः (विभुसः, सत्त्वं वा) तस्योपमां =
सादृश्यं, कलयति = धारयति । 'प्रवालोऽप्यी किलकमे धीणादप्ये वा विभुमे ।' इति
श्लेषिणी । एवं च आनन्दप्रभवः = आनन्दः (हर्षः, स्वप्नेऽभीष्टदर्शनजनित इति
शेषः) प्रभवः (कारणम्) बासां ताः, सादृश्यो आनन्दकणिकात् = अश्रुविन्दुः, अ-
मुक्ताभिर्यं = मीलिकमसोर्मां विधति = धारयति । अघोरमाऽङ्गहारः । आर्द्र-
विन्दुविरितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

(चित्त विचारकर) निधाय हृदये चित्तकी दृष्ट इति वदन् पुनः स्वप्नो दृष्ट इति ।
कौतुके हि—

आनन्दप्रसोददायी प्रकृता तुला भोक्तुं हितेनैवै पक्षेणैव उपमां धारय कर रत्ना
हे कीर आनन्दते कलत्र अश्रुविन्दु मोतीषी कीमा प्राप्त कर रहे हैं ॥ १६ ॥

सीता—(धालें लोकर) हाव ! विचार है, हाव ! विचार है । मुझको गोदानदी
दूसरे ही लोककी तरह मर्ताव हो रही है । यह क्या ! कीर भीकमलके समान प्यास
वर्ण वाले राम कहाँ ! लङ्का कहाँ ! कीर दामक्य एक जीवन वाली सीता ही क्या ! हाव !

इति, उमे कथंविदा सीता)-

रामः—अयि वसुधे,

यां वै गर्भे त्रिकलद्वारत्नभूतां दधाना-

सम्भार्यत्वाज्जगति मयती रत्नगर्भा बभूव ।

तामुत्सङ्गे तव विस्तृतितां वीक्षमाणा न सीतां

ब्रह्मदीर्घासीन् कथमपचा वेदि ! सर्वं सहासि ॥ १७ ॥

वामिति । हे वेदि ! त्रिकलद्वारत्नभूतां यां गर्भे दधाना भवती सम्भार्यत्वात्
जगति रत्नगर्भा बभूव वै । तां सीतां तवोत्सङ्गे विस्तृतितां वीक्षमाणा कथं मात्
दीर्घां न आसीत् । अथवा सर्वसहासरीत्यापचा । हे वेदि = हे कोकनसीके वसुधे !
त्रिकलद्वारत्नभूतां = त्रिकलद्वारभूतभूता, यां = सीता, गर्भे = अग्रे, दधाना =
आवृण्वती, मयती = त्वं, रत्नगर्भा = माताऽन्वर्त्तव्यात् जगति = कोके, रत्नगर्भा =
रत्नगर्भापदवाप्या, बभूव = आसीत् । हे वेदि ! कोकनपरतभूतत्वात् । सीतायाः
रत्नगर्भे धारणादेव मयती 'रत्नगर्भे'त्वान्वर्त्तनामन्वेदसम्भवा संजातेति भावः । हे
इति पदप्राग्वर्त्तकसम्भवश्च । तां = तावती, सीतां = स्वदुहितरं, तव = भवत्वाः,
उत्सङ्गे = अङ्गे, विस्तृतितां = पतित्वा, वीक्षमाणा = पर्यवन्ती सती, कथं = केन
उत्सङ्गेन ब्रह्म = सदृष्टि, दीर्घां = विदीर्घा, न आसीत् = न लभ्यते भविष्यतीत्यं
सम्बन्धते—अथ वेति । अथवा = एकान्तरे, सर्वसहासि = सर्वसहस्रभूतेन सर्व-
सहोति मत्वा क्वापिमुपगताऽसि । सर्वं सहस्र इति विग्रहे 'सहायां नृवृद्धिभारि-
सहितैर्दम' इति लप्, 'नरुद्धिपदजन्तश्च युग्' इति भुनागमम् । सर्वोऽपि
कर्मजाज्जगत्सम्पत्तिपुरवस्थां ब्रह्मकर्मो मयति, परं भवती सम्पत्पसन्तत्या स्वो-
त्सङ्गेपतित्वां तव्वां सीतां परवन्तपि कथं न विदीर्घते ? अथ वा त्वे 'सर्वसहस्र-
निघावेनाऽन्वर्त्तनामन्वेदासीति भावः । अथ त्रिकलं नाम कलत्रं, तवया स्तोत्रा-
द्वयं कलत्रकोष्ठे—'त्रिकलं स्वाशिवैष्यते जगत्सः सत्यं तयाऽभुतम् । ईश्वरीयारिते राम-
स्तस्यै शोभाकरो भवान् ॥' इति । सम्भार्यत्वात्पुनश्च ॥ १७ ॥

विद् । (देवाः चक्रवर्त्तयन्ति सीतां))

रामः—हे वसुधे !

हे वेदि ! लोकनयनी त्रिपर्णो रत्नभूत शिव (सीता) ॥ गर्भे धारण करती हुई
तुम जन्मार्थ नाम प्राप्त करमेथे । लोकमें रत्नगर्भा हो गई थी । अब सीताको अपनी गोदमें
बिठाई हुई देवद्वार भी देखे उसी अंग पुत्र विदीर्घ नहीं हुई, अथवा पुनरात्ता नाम ही
सर्वसहा है ॥ १७ ॥

तदेतामभ्यर्थयामि तावत्स्याः समुद्बोधनाय, अथवा किमभ्यर्थयन्त ?

मित्रामपि सुतां सीतां नेयमुद्बोधयिष्यति

निखेऽप्यपत्ये कक्षणा कठिनप्रकृतेः कुतः ? ॥ १८ ॥

तदेनं तावदभ्यर्थयामि ।

स्निग्धाशोकदुर्म ! मित्रसखीं पूर्णमुद्बोधयैमां

सिक्तत्वा सिक्तत्वा किमलपकरञ्जसिमा सीकरेण ।

एतस्याः किं भयनकमलस्यन्विभिः सान्द्रसान्द्रै-

वाण्डोत्परीक्षैर्नुदिनमपि त्वं न सिक्तऽऽलपातः ॥ १९ ॥

मित्रामिति : इयं मितां सुतां सीतामपि न उद्बोधयिष्यति । कठिनप्रकृतेः निखे
अपत्ये अपि कक्षणा कुतः ? इत्यन्वयः ।

इयं = वसुधा, मितां = स्वकीयां, सुतां = सुदितरं, सीतामपि = आश्रयामपि,
न उद्बोधयिष्यति = न बुद्धिपूर्वकं न विधास्यति । उक्तमर्थमवाप्तरण्यासेन द्रव्यमिति—
निखेऽपीति । कठिनप्रकृतेः = कठोरस्वभावायाः, निखे = आत्मीये, अपत्येऽपि =
सम्बन्धेऽपि, कक्षणा = दृष्ट्वा, कुतः = कस्माच्चरति, कथमिदं न भवतीति काङ्क्षन्-
प्रबोद्धते । अमुमुद्बोधय ॥ १८ ॥

स्निग्धाशोकदुर्म ! हे स्निग्ध अशोकदुर्म ! दिवससखीम् पूर्णां किमलपकर-
ञ्जसिमा सीकरेण सिक्तत्वा सिक्तत्वा पूर्णम् उद्बोधय । एतस्याः भयनकमलस्यन्विभिः
सान्द्रसान्द्रैः वाण्डोत्परीक्षैः अनुदिनं त्वं किं न सिक्तऽऽलपातः ? इत्यन्वयः ।

हे स्निग्ध = हे स्नेहयुक्त, अशोकदुर्म = लसोकदुर्म !, निवससखीम् = स्वसखीम्,
पूर्णां = सीतां, किमलपकरञ्जसिमा = किमलपानि (पल्लवानि) एव कदा-
(हस्ताः) तेभ्यः संसिमा (स्पन्दमानेन), सीकरेण = लसकेशेन, सिक्तत्वा सिक्तत्वा =
उक्षित्वा उक्षित्वा, वीप्सायां द्विवक्तिः । पूर्णं = सीमम्, उद्बोधय = जागरितम् । कुतः ।
पूर्वकृतं सीतोपकारं स्मरयति—एतस्या इति । एतस्याः = सीतायाः, भयनकमल-

इति एव सीताको दोषार्थं कान्ते किं इति प्रार्थना करता हूँ । अथवा प्रार्थनासे क्या ?
हे (दुष्मी) अपनी पुत्री सीताको भी दोषार्थे नहीं जानेंगी । कठोर स्वभाववाली
अपनी सुतामर्मे क्या कहसे होगी ? ॥ १८ ॥

इत कारण मैं इत (अशोक वृक्ष) ॥ प्रार्थना करता हूँ ।

हे वल्लभ लसीक वृक्ष ! अपनी लखी इन (सीता) की पल्लवपत्र हाथोंसे पूरे हाथ
लकड़मसे सींच सींच कर सींच दोषार्थे के भावो । इन (सीता) के नेत्रकमलोंसे पूरे
हाथे कठिन्ध वने लकड़महादोषे प्रसिद्धि प्रप्तायी भवती क्या सीता नहीं गर्व की ? ॥ १९ ॥

कथमनाकर्षितकेन प्रत्यक्षयावसनेन, जये ! कृतज्ञता पलाशिनः ।
(शिलोक्य) कथं प्रकृतिप्रियंवदाया मे प्रियायाः सखीजनोऽपि न कश्चिद्विह ।

(प्रविश्य)

त्रिजटा—जानकि ! समाश्रयसिहि समाश्रयसिहि

सीता—(समाश्रय) कथं प्रियसखी मे त्रिजटा (कथं पिचवही दे
शिरस्य)

त्रिजटा—सखि ! अनय ते मधुरया मुखरेखया तर्कयामि यत् किं
प्रियं किमपि दृष्टवती भवती ।

सीता—अस्तीदानीं हि मया स्वप्ने स्वयं गोदानया स्वहस्तकलि-

हमिदृमि = कोचकप्रपञ्चपरिहृते, सान्द्रसाग्री = अतिवृद्धमिषिदे, बाभ्रोस्तीक्ष्णैः =
मधुप्रवाहैः, भृशुविर्न = प्रबलं, स्वप्न = त्रिजटा, किं, यत् सिक्कारुपाका = न उचितोऽप्य-
भावा, अस्तीति शेषः । 'स्यादाक्याकमात्माकमापाय' इत्यमरः । अत इयं सीता प्रमा-
दमवादेस्वाकाकमभिप्रेक्षयती, अतः प्रभुपकारार्थमप्याः प्रबोधनं स्वकर्तव्य-
कोटिमातीकृत इति भावः । अत्र रूपकोरमशोर्मिबोद्धवेषाया स्थितेः संक्षुब्धः ।
मम्राकास्यावृत्तम् ॥ १२ ॥

कथमिति । प्रयागवासं = गिराकृतं, मद्रचनमिति शेषः । पलाशिनः = वृक्षस्य,
अकोकलेत्यर्थः । एकस्मानि (पलाशिनः) सखि जयतेति पलाशो, तस्य । जयता
एकम् (मोक्ष) भवतातीति, तस्य । प्रकृतिप्रियंवदायाः = निम्नप्रियंवदाभिप्रायः ।
त्रिजटेति । मधुरया = माधुर्ययुक्तया ।

सीतेति । स्वहस्तकलिततत्त्वामरचकलकमलाञ्जलप्रपञ्च = स्वहस्ते (अस्मक्रे)

केते अनसुनी करके रचने मेरी प्रार्थनाका प्रत्याख्यान कर दिया । भरो ! पल्लवीकी
मेरी कृपावा है । (सिक्कार) प्रिय प्रकार स्वभावे ही प्रियप्रचन बीजने धारी मेरी
विषाकी कोरे भी सखी यहाँ पर यहीं है ।

(प्रवेश कर)

त्रिजटा—सीते । समाश्रय हो समाश्रय हो ।

सीता—(सीतने प्रकार) केते मेरी प्रियसखी त्रिजटा नानार्थ ।

त्रिजटा—सखि । गुन्गारी इस मधुर मुखरेखासे जान पड़ता है कि तुमने किसी प्रकार
प्रियकी देख लिया है ।

सीता—जहाँ मैंने स्वप्नमें अपने हाथसे अरुणकर चामर और सकेर कमलस्य अथ

तत्परम्भामरधवल्लभमज्ञातपत्रया परिचर्यमाण आर्यपुत्रो दृष्टः । (अभि
प्राप्तिं हि मय विविधाश्रमि सखं गोमन्त्रार्प सहस्रवर्गभिरतस्त्रयमरधवल्लभमरध-
रूप परिचरिष्यन्तो ज्ञातव्यो दिष्टो)

भिजडा—तर्हि बर्हसे । सुखस्यन्तः स्वप्नसौ ।

सीता—कीदृशो मे रामैकचिन्त्याः स्वप्ने विद्यतः । (केचित्ते मे
रामैकचित्ताए सिविनश्रमि विस्तारो)

भिजडा—तर्हि चिन्तास्वप्न इति सम्भावयसि ? नहि । चिन्तास्व-
प्नोऽपि नैवमशुम्भितावगाही भवति ?

सीता—किं पुनरशुम्भितम् । (किं उच्यते अशुम्भितम्)

भिजडा—अत्र सम्भाव्यते ।

सीता—

यत्र साधु सम्भाव्यते तत्रापि ह्यत्रा ! अस्त्यत्र जीवलोके ।

कथिते (धते) तरङ्ग (कर्मिः) एव नामरे (मर्कटिकम्) तथा च प्रचलकमकम्
(द्वाष्टपदाश्च) एव भातपत्रं (कृत्रम्) यथा, तथा । परिचर्यमाणन्तीस्वभावाः ।

त्रिजडेति । सुखस्यन्तः = सुखसुखकः स्वप्नः ।

सीतेति । विरवासः = प्रत्ययः ।

त्रिजडेति । चिन्तास्वप्नः = चिन्तैव स्वप्नः, यस्य विषयस्य भेदस्तर्पेण चिन्तनं
भवति, तस्मिन्स्वप्नाऽवस्थायां दृश्यमानेऽपि नाऽभीष्टफलकाम इति स्वप्नाऽवस्था-
विही परामर्शः । अशुम्भिताऽवगाही = असंभावितविषयपरामर्शकः, चिन्तास्व-
प्नोऽपि संभावितमेव विषयं परावृत्तयति नाऽसंभावितविषयमिति भावः ।

यत्रचलिवति । ह्यत्र । यत्र संभाव्यते साधु, तत्रापि यत्र जीवलोके भवति । यत्

केचन गोदावरी नदीसे सेवित आर्यपुत्रको देखा है ।

भिजडा—तब हुन बड़ीगो । यह द्वाष्टपदाश्च स्वप्न है ।

सीता—राममें एक निच रखने वाली मेरा स्वप्नमें कैसे विषयस्य हो ।

भिजडा—तब क्या हरी चिन्तास्वप्न समझती हो ? नहीं । चिन्तास्वप्न भी इस प्रकार
अशुम्भित (असंभावित) विषयस्य परामर्श करने वाला नहीं होता है ।

सीता—‘अशुम्भित’ कितने कहते हैं ?

भिजडा—बिजड़ी संभावना नहीं की जाती है ।

सीता—दे सखि ! बिजड़ी संभावना नहीं की जाती है नह भी इस जीवलोके

यत्नीचसि जलकण्ठता अताजोकयन्त्यपि रामचन्द्रमुत्तमम् ॥ २० ॥

(अथ बहु सङ्गतादीनां तं पि ह्यथ । अथि अथ सोऽयम् ।

ॐ जीमद्वयमसुयस्य अपुल्लैश्चन्तौवि सममन्त्रसुहम् ॥)

तत् किमनेन स्वप्नेन जीवितेन वा, उपेक्षितास्मर्यापुत्रेण । (ता किं
हमिवा विविण्ण जीवितेन वा । उपेक्षितापुत्रेण चाननेन)

रामः—शान्तं पापम् । अयि प्रिये ! हृदयस्थितापि मे कथमजानसी
मर्त्तसे मे विनाशसिम् ?

सीता—अथवा किमिति हरसुकृदयगाढे कलङ्कमारोपयित्वे । आन्त-
म्यार्यपुत्रोऽद्याप्यकलितवृत्तान्तो मे । (अथवा किमिति हरसुकृदयगाढे कलङ्क-
मारोपयित्वा । आणामि आन्तपुत्रो अथवा किमप्यवृत्तान्तो मे)

शालग्रामपुत्रम् कनाल्लोकस्यसि जगत्पुत्रा जीवतीत्यावयः ।


हृदय = हे सखि शिखरे !, 'हृदये हृदये हृदयऽऽह्वाने वीर्यं चेटीं सर्वां मयी' श्रव-
णः । यत् = वृत्तं, न सम्भाव्यते = सम्भवकणेन नो विभाष्यते, अस्तिवति शिखरे ।
तद्वि = अक्षरभाष्यत्वेन चिन्तितं वृत्तमपि, अथ = अस्मिन्, जीयकरोके = अनुप-
लोक्ये, अस्ति = वर्तते । तदेवोपपादयति—यत्तद्वितीति । यत्, रामचन्द्रमुत्तमम् =
आर्षद्वयानुत्तमम्, अनालोक्यमप्यपि = अपरमप्यपि, समस्तुता = आनन्दी, जीयति =
प्राप्नोतिवति । हे सखि ! आर्षद्वयानुत्तमपदमप्यपि यत्वं प्राप्नोतिवतिवति,
तद्विद्वन्माविर्गम्योऽप्यत्र जीयकरोके वर्तते इति सम्भव इति भावः । आर्षद्वयम् ॥

सदिति । अवेदिताऽस्मि = इतोपेक्षा वर्तते ।

स्तीतेति । अथवा = वचनपत्रे । हरसुकुटसूत्राद्धे = शिवस्तत्त्वकल्पे कथ्ये । मय-
भाकरस्य विराडिभ्यो सूत्राद्धे निष्कण्ठा, अथवा = सकण्ठ इतीमं कथितमयत्तरणि ।
अथवितसुत्राणां = अथवा = तेषां ।

६ । नोट कि रामचन्द्रके मुखचन्द्रको न देखकर भी जनकपुत्रा थी रही हैं ॥ २० ॥

एक हस्त स्वप्न जपसा जीवधरो क्या प्रबोक्त है ? आर्यकुलो मेरी उपेक्षाकर रही है ॥

शाम—पाप निवृत्त हो । हे पिता ! मेरे हृदयमें रूख भर भी  कैसे मेरी निपटपणिके विषयमें जबकाज बनी रहती हो !

सौदा—जबवा यहाँ सिद्दीको मस्तकदित पत्रों मजदूरा बारो-कर्म 1 में जलते हैं कि यहाँ एक मार्गपुत्रों मेरा सुधाल विविध बारी है।

रामः—प्रिये ! हृदानीमुचितमनुसन्ध्यांसि ।

सीता—(विस्मय) कथं (कथं)

वाचाळेनापि कथिता नाहं वाचस्य नूपुररञ्जेन ।

अथवा विविचिभुरवकाशेनापि भूकत्वं प्राप्तम् ॥ २९ ॥

(वाचाळेनदिकहिरण्यं पाहस्यं नेवररणम् ।

अथवा विहि विहुरवकाशेनापि भूकत्वं प्राप्तम् ॥)

(नेपथ्ये)

अथे लङ्कातिवासिनः ! सावधानमवस्थीयताम्, नन्धितः—

प्राकारमुच्यतमसीमबलो विस्तृतम्

प्राप्तो रघुराजितदकपिपीर उच्छ्वेतः ।

वाचाळेनापीति । वाचाळेनापि नूपुररञ्जेन अहं वाचस्य न कथिता । अथवा विविचिभुरवकाशेनापि भूकत्वं प्राप्तमित्यन्वयः । वाचाळेनापि = मुखरेणापि, कथययैवोऽर्थो ज्ञेयः । नूपुररञ्जेन = मञ्जीरध्वनिना, अहं = सीता, वाचस्य = भार्य-
पुत्रस्य, रामस्येति भावः । न कथिता = नो ज्ञापिता । सध्याऽव्ययने हेतुं प्रवृत्तपति-
कथ्येति । अथवा = उदाहो, विविचिभुरवकाशे = विधेः (सामर्थ्यं विभुरवकाशे
प्रविशेयकत्वे), 'विश्वं तु प्रविरकेव' इत्यमरः । तेनापि = नूपुररञ्जेनापि,
भूकत्वं = दूष्णीकत्वं, प्राप्तम् = प्राप्तमित्यम् । समपान्तरे मुखरोऽपि नूपुररञ्जे राव-
णेन हियमाणां मां नावाच रामाथ न सूचितवान् । अथवा नूपुररञ्जसालोऽपि
भगविहिदीनः = संवात इति भावः । वाधा वृत्तम् ॥ २९ ॥

प्राकारमिति । असीमबलो रघो अदमित्यम् उच्छ्वेतः कपिपीरः उच्छ्वेतं प्राकारं वि-
स्तृतं प्राप्त इति पूर्वाशङ्क्यः ।

असीमबलम् = अपरिमितशक्तिः, रघो = लोकेन, अदमित्यम् अदमिते (रक्षी-

राम—प्रिये । इतः समयं कथितं वाच्यं अनुसन्धानं कर रही हो ।

सीता—(विचार कर) कैसे !

वाचाळ होमेयर भी मञ्जीरके ध्वनने मेरा पता नाग्यो नहीं बिना । कथना भावके विभुरवके लङ्काके कारण रघु भी भूक बन गया ॥ २९ ॥

(नेपथ्ये)

अरे लङ्काके रक्षेवालो ! होकिवार भले रही । यहाँ—

अपरिमित शक्ति वाला और वाक नेत्रोंसे कुछ कल्लव यह नावरसीर जैसे प्रान्तसो
जैसेकर प्राप्त हो गया है ।

(उमे आकर्ष्य प्राप्तं नाशयतः)

(पुनर्नेपथ्ये)

तत्सम्मुखं प्रचकति स्वयमक्षनामा

नन्वेव राक्षसपतेः कुपितः कुमारः ॥ २२ ॥

स्रोता—कथं पुनः सह महीधरेण वेपथ इवाशोक्यनम् । (अहं उन्
सह महीधरेण वेपथि न्य असोक्यनम्)

विजडा—(विमृश्य)

तुहिनकरमयूखैर्दीप्तकन्दर्पद्वयै-

स्तपनकुलबधूटीं त्वामयं मुक्तज्ज्ञां ।

कृते) रक्षौ (रक्षी) यस्य साः । उन्मौ = उन्मत्ता, कविबीरः = भावरक्षुः, उन्नतध =
उदमे, आकर्ष्य = परित्यागेष्टने विकृष्ट = अलिङ्ग्य प्राप्तः = ज्ञातः इति पूर्वार्थे
नाक्या । उमे इति । उमे = सीतामिश्रेते ।

तत्सम्मुखमिति । यत्तु कुपितः भक्तनामा पुत्र राक्षसपतेः कुमारः तत्संमुखे
स्वयं प्रचकतीत्युत्तरार्द्धेऽश्वयः ।

वन्मिषुत्तराधनारम्भे । कुपितः = क्रुद्धः, अक्षनामा = अक्षयकुमारनामकः,
रक्ष = रक्ष, राक्षसपतेः = निशाचोरक्षस्य, राक्षस्येति भावः । कुमारः = पुत्रः,
तत्संमुखं = कविबीराधमिमुखं, स्वयम् = आत्मैव, प्रचकति = प्रचकिते भवति ।
कुडाभमिति शेषः । वसन्तविक्रमं वृत्तम् ॥ २२ ॥

तुहिनकोति । तुहिनकरमयूखैः दीप्तकन्दर्पद्वयै मुक्तज्ज्ञाः स्वयमयं स कदाच-
क्षिताया तपनकुलबधूटीं रामचन्द्रैकविनामपि त्वाम् अभुनेतुं विपिनवीचीम् पती-
त्यन्वयः । तुहिनकरमयूखैः = तुहिनकरस्य (विसृज्योः, अश्रुमय इत्यर्थः) मयूखैः
(विरणैः) दीप्तकन्दर्पद्वयैः = दीप्तः (समृद्धः) कन्दर्पस्य (कामदेवस्य) द्वयै
(कम्पा) यस्य साः । 'द्वयैकानि' इति निरुक्तं शेषः । मुक्तज्ज्ञाः = त्यक्तजीकाः,

(दोनो मुक्त कर यथा अभिमत करी हैं ।)

(फिर वेपथमें)

कह दोहर अक्षनामक यह रामचन्द्राकर वसके सम्मुख स्वयं आ रहा है ॥ २२ ॥

स्रोता—कैसे पर्वणके साथ नखीक दन को रक्षा है-पेशा महीध दो रक्षा है ।

विजडा—(विचार कर)

पन्नाभिरणोति महीध नामाभि नाम नीर निर्वन्ध यह अक्षेस्वर रामेन रामचन्द्राकरे

अयमयमनुमेतुं रामचन्द्रैकचित्ता-

मपि स विविनवीचीमेति लङ्कारविभाषाः ॥ २३ ॥

(सीता श्रावं गच्छति)

(ततः अविराति रावणः)

(सीता पराङ्मुखी तिष्ठति)

रावणः—अपि जानकि,

कन्दर्पज्वरवेदनापरिपतद्वाण्यकृतिकाशितं

स्वर्गशीकुम्भकुम्भकुम्भरजस्वेयापरायोऽज्वलम् ।

अयमयम् = ययः, सम्मते द्विलिङ्गः । सा = लोक्यमितिङ्गः । लङ्कारविभाषाः = लङ्कार-
विपत्तिः, रावण इत्यर्थः । तपनकुलवधूती = सूर्यवंशस्तुपा, रामचन्द्रैकचित्तामपि =
रामचन्द्रे (स्वपत्नी) धृव एकं (केवलम्) चित्तं (मनः) यस्याः सा, ताम् । तादृ-
शीमपि, स्त्री = भवती, सीताम् । अनुमेतुम् = अनुकूलं कर्तुमिति भावः । विवि-
नवीची = वनाऽऽयतिम्, पति = प्राप्नोति । अत्र 'तपनकुलवधूतीम्' इति विशेषण-
सीताया अनुभवत्वं 'रामचन्द्रैकचित्ताम्' इत्यनेन च रावणाऽनुपययैत्यर्थं शीत्यते ।
आशिकी कृतम् ॥ २३ ॥

कन्दर्पेति । कन्दर्पज्वरवेदनापरिपतद्वाण्यकृतिकाशितं स्वर्गशीकुम्भकुम्भकुम्भ-
रजस्वेयाऽपरायोऽज्वलं सुरदम्पितदम्पतिधरोरुकेकाङ्कः विख्यापितप्रसूर्तवस्तुराज-
विधविजयम् एतत् शङ्कःशङ्कं त्वां पापत इत्यन्वयः ।

कन्दर्पज्वरवेदनादिः = कन्दर्पज्वरस्य (सम्मथसंज्ञापरस्य) वेदयया (पीडया)
परिपततः (गलतः) काण्डस्य (अक्षयः) कुम्भा (मवाहेण) काशितम् (पीतम्),
कन्दर्पज्वरवेदनादिभिरपि एतत् परब्राह्मणे । सात्त्विकभावघोतकमवगन्तव्यकृतिका-
शितमिति भावः । स्वर्गशीलादिः = स्वर्गशीला (सुरलोककलमवासा) ये कुम्भकुम्भा
(स्तनवटा) येषु यत् कुम्भकुम्भरजः (कारमीरपरागः) तस्य स्वेयं (चौर्यम्)
पदेव अपराजः (आता) तेन लज्जयन्तम् (निरादम्) । सुरदम्पितदम्पतिः = सुर-

शी यजमाना विष्ट रक्षनेवाकी सूर्यवंशकी कष्ट दुर्गं मनानेकेः किय बचये वा रहा है ॥२३॥
(सीता भयका अभिजय करती है ।)

(तब रावण भयंकर करता है और सीता झुँड़ केरकर रहती है ।)

रावण—हे सीते !

कान्तमुत्तापकी पीडासे विरते हुए आसुके श्वाभ्रसे मद्धाविष्ट, देवकलनाभोके कुम्भ-
कुम्भोंमें स्थित केसरके परागकी चोटीके नगरारसे कण्ठक और दिव्यशोके दन्वाभोके

एतस्मात् सूरवन्तिदन्ताशिकारोत्थोक्ताऽविचयापित-

प्रसङ्गजसुरस्तविश्वविजयं बलःस्वच्छं याचते ॥ २४ ॥

सीता—(अनाकर्णितकेन) अपि नाम पुनरपि रामचन्द्रमुखचन्द्रं
प्रसक्तविषये । (अपि नाम पुनोपि रामचन्द्रमुखचन्द्रं पुलोवस्त्वम्)

त्रिजटा—आनकि । एवं प्रहारेणि लङ्घ्येरे कर्णावधानमपि तावदेहि ।

रामः—साधु, त्रिजटे ! प्रहाराय इत्युक्तवत्यसि ।

रावणः—

एतस्मिन्पुत्रवतः पुरः पुरमिदंस्त्वस्योत्सवच्छेदिनो

न कोपादनमसाधोऽतश्चिरां श्रेणीं नमस्यामपि ।

इतिता (दिग्गजानाम्) दन्तशिकारैः (दन्तनाशकानां) य उक्तकेन (विदा-
नम्) तस्याञ्जः (विष्णुम्) तेन विचयापितः (कथार्ति प्राप्तः) प्रसङ्गजं (नम-
स्कृत्यायमानः) सूरस्तस्य (त्रिजटुष्टयपर्यन्तस्य) दिवस्य (संसारस्य)
विजयः (विजितव्यः) यस्य तत् । तावत्तु, एतद = अतिविशदस्थितं, यथाः
स्वच्छं (उदात्तं, महीवमिति बोधः), त्वा = सीता, याचते = प्रार्थयते, आलिङ्ग-
नामिष्यतिशब्देन कन्दर्पवत् परिहरेत्यर्थवद् कृतं इति भावः । सार्धैकमिहोक्तिं
पुत्रम् ॥ २४ ॥

सीतेति । प्रसक्तविषये = प्रवृत्तामि । अपि = प्रदत्तार्थकः ।

राम इति । प्रहाराः = धनयकं वधः ।

एतस्मिन्पुत्रवत इति । हे मित्रिछेन्दुपुत्रि ! समुद्रवता सन्तोस्तवच्छेदिना पुर-
मितः पुरः कोदूतशिरः श्रेणीं नमस्यामपि यत् कोपात् न नमस्यत् । तद् पुत्रव-
त्तमं दत्तमं शिरः तस्याव्याप्योक्तयोः नमस् अम्वाजं मेमादुरं सद भवतीं पाचय
इत्यभ्यवा ।

विरारणे विहारे पतिदि प्राप्ते, सूरस्य छन्द करनेवाकीं शर्तौ दिशाभोके लाभ विरारके
विषये पुत्र यह मेरा वक्षत्रयक दुमसे पाचना कर रहा है ॥ २४ ॥

सीता—(य सूरनेका भविष्य कर) क्या मैं फिर रामचन्द्रजीके मुखचन्द्रका दर्शन
कर दूँगी ?

त्रिजटा—सीते । लङ्घ्येरे रावणके ऐसे प्रहारेमें कुछ व्याद तो दो ।

राम—जिन्दे । तुमने प्रहारा यह ठीक ही कहा है ।

रावण—हे सीते ! समुद्र और सन्ध्यातुसार शिरछेदयके वस्तुकी रोकथामके
विषयोंके लाभने यह तो हुए शिरोंकी पक्षिके सुकनेपर भी भी शोधके कारण नहीं हुआ ।

यत्तत्तद्दृशन् विरो मम तमस्वस्थादपायोऽयौ-

रम्याजं मिथिलेन्द्रपुत्रि ! सचली प्रेमादुर्ध्वं याचते ॥ २५ ॥

सीता—(संस्कृतमधित्य)

मित्रे पाणौ कृत्वा कमलकलिकाबाहमुकुक्षं

ययोश्चक्रे मुखम्भुपमवर्तसं रघुपतिः ।

हे मिथिलेन्द्रपुत्रि = हे जानकि !, सम्पुष्टवत् = सम्पुष्टस्व, तपभरणमसक्तस्वे-
त्यर्थः । समुपपूर्वकत्वं 'सुप्रीतौ' इत्यस्मादातो ककट प्रत्ययात् रूपम् । कुन्दो-
लवम्भेदिनः = कुन्दाऽनुसारी (भूमिदाबाऽनुसारी) य उभयः (कला, वक्षस-
मिश्रस्तेवनप्रवृत्तिरूप इति भावः), तं विनति (निवारयति) तन्वीकलित्यर्थः ।
कादमल्य पुरमिवः = त्रिपुरमेवकल्प, वाङ्मयस्वेत्यर्थः) पुरः = अग्रे, सद्योदितमिह
जेपी = प्रत्यग्रोत्पन्नमस्तकपञ्चौ, शङ्कराऽमुग्रहादिति शेषः । ममम्यामपि = प्रयत्नं
कुर्वन्त्यामपि । यत् = मदीयं वक्षसं शिरः । कोभात् = कोपात्, क्रोदोत्सवनिवारण-
कवितादिति शेषः । न जनमत् = नरं नाऽभवत् । यत् = तादृशं, हराग्रेऽपि न
भवत्तमिति भावः । पतत = स्वद्विगकस्वितं, मेत = राक्षस्य, वक्षसं = वक्षसंस्था-
पूतं, किरा = मस्तकः, त्वत्पादपायोऽयौ = त्वन्मरणकमलयोः, नमत् = नमस्कृतं
कुर्वत्, बन्धार्थं = विच्छादये यथा स्यात्तथा, प्रेमाऽऽतुरं = प्रणयाकुलं सत्, भवती =
त्वां, याचते = प्रार्थयते, प्रयवमिति शेषः । अत्रोपमाऽऽह्वारः । सार्धकलिकलिकं
वृत्तम् ॥ २५ ॥

सीतेति । संस्कृतं = संस्कृतभाषाम् । सीतासीतायाः प्राकृतभाषाया षड-
शर्बलेऽपि—'वाक्यानां षड्काणां च नीचमहविचारिणाम् ।

उभयसामान्यादुदाहणौ शेषः स्यात्संस्कृतं कथितम् ॥' (सां ६०)

इति निषयेनाऽत्र सीतायाः संस्कृतसमाभरणं बोधयम् ।

मित्रे पाणौ कृत्वा । रघुपतिः मित्रे पाणौ मुखम्भुपमवर्तसं कमलकलिकाबाहमुकुक्षं
कृत्वा ययोः अवर्तसं याचते । इमौ मे कर्तुं इत्ं वचनम् आकर्ण्य तपि कथं न विही-
नी ? वा जन्तः क्रूरिण्योः इत्ं परितं युक्तम् इत्यन्वयः ।

रघुपतिः = रामचन्द्रः, मित्रे = स्वकीये, पाणौ = हस्ते, मुखम्भुपमं = सव्यावसाव-

वैध नह मेत वक्षसं शिर मुखारे करणमर्णोर्मे हृत्कर मिच्छात् रूपते प्रेमते माकुक्ष
शीकर मुखते पाचना कर रत्ना ई ॥ २५ ॥

सीता—(संस्कृतभाषामय कर)

रघुपतिने नरने हारने शुभ्रव करवेवाके प्रमर्तेते कुक्ष बाहकलाके नवे मुखकली

अपीमौ कर्णौ ॥ वक्षतमिदमाकर्ण्य न कथं

विशीर्णौ, युक्तं वा खरितमिदमस्तः कुटिलयोः ॥ २६ ॥

राघवः—अयि जानकि ! अवलोकनमात्रेणापि तावन्मां सम्भावय ।

सीता—अयि निराश्वर ! श्वावत्यर्थनाभङ्गलाघवात् कथं राघवावपि न विमेषि ।

राघवः—अये ! क एव राघवो नाम, यं किञ्च जनो राम इति जल्पति ? (विहस्य) ।

कामः कियानसिद्धतामिद्वैकबाहु-

कीधार्मिताभिमुखनस्य वृथावनस्य ।

अमरं, कमलकौटिकाबाहुकुटं = कमलकौटिकायाः (पञ्चवक्त्रे, 'बहुकुटति-
के'ति पाठान्तरम् ; तत्र केसरकटिकेत्वर्थः) बाहुकुटम् (मण्डपकुटम्),
कृत्वा = विधाय, आवापेत्पर्यः । वयो = सत्कर्णयोः, अवतंसं = भ्रूणं, पादौ = कुट-
भान् । आशौ दूरी = दूरी, मे = मम, कर्णौ = भोजे, इदं = सगमति रावणोक्तं, वचनं =
आकृतम् । आकर्ण्य = सुत्वा, अयि, कथं = केन प्रकारेण, न विशीर्णौ = न विहीर्णौ,
पञ्चवक्त्रेण तयोर्मिसरणाऽभाव्यं प्रतिपादयति—सुखमिति । वा = अथवा, अन्तरं =
बाध्यान्तरे, कुटिलयोः = कर्णयोः, कर्णयोरेतयोरेति शेषः । इदं = विषयार्थं, खरितम् =
अश्वरत्नं, विसरणाऽभाव्यरूपमिति भावः । सुकृद् = उचितम्, यौ मदीयौ कर्णौ
पुरा रामचन्द्रकरकमकाभ्यामसङ्कृष्टौ, सागद्यतं तावेव कर्णौ सद्वृत्तवत्कथं रावण-
सुवचनं सुत्वाऽपि अन्तःकुटिलत्वादेव विशीर्णौ नैव संजायमिति भावः । सामान्येन
विशेषसमर्थवत्कपोऽर्थात्तरन्वासाऽलङ्कारः । सिद्धिर्निवृत्तम् ॥ २६ ॥

काम इति । ललितकामिद्वैकबाहुकीधार्मिताभिमुखनस्य वृथावनस्य कामः
कियात् ? हे सुसुति ! कथं शम्भु केवलं त्वयं निमित्तौ सरोर्यौ न विरात् मां इति,
इत् ! इत्यन्वयः ।

केवलं नितनं भूषण पद्माभा वा । ऐते मेरी वे ही काम रावणके ऐते वचनको तुम कर भी
कर्णौ विहीन नहीं हुए ? अथवा मीठर कुटिल होनेवाके रत्ना ऐता होना ठीक ही है । (राघव
राघव — वे सीते । इतनेमात्रसे भी मुझे रोमांचित कर दो)

सीता—दे राघव ! मार्थमात्रसे कायरसे और राखसे भी तू क्यों नहीं बरता है ?

राघव—करे । वह राम नामका चीज है ? किसे और 'राम' करते हैं, नहीं है
आ ? (बत कर) । कर्मकाण्डमें रत्नसे पने प्रकार का बाहुको, जोकासे विमुखको, नीलित

रामस्तु केवलमयं सुमुक्ति ! त्वदर्थं

मां हन्ति हन्ति ! न विश्वप्रियतैः शरीरैः ॥ २७ ॥

सीता—सत्यमेतत् ।

रावणः—(स्वगतम्) कथमन्यदेव किमप्युक्तवानस्मि ? (तदेव विपरीतं प्रकृत्वा) अयि जानकि, तवन्मां दीपय नयनासृतेन ।

सीता—तदा त्वामपि तच्छ्रेय ! विलोकयिष्यसि जानकी ।

रावणः—(सप्रत्याशम्) तत्कथय समयात् । अयं हि—

नसिक्तानिहितैकवृद्धीकाञ्जितप्रियुवनस्य ॥ भक्तिकथायां (अद्भुततायाम्)
निहितः (स्थापितः) च पद्मबाहुः (अद्वितीयशुभः) तस्य अश्विना (लेखना)
अर्जितं (पीकितम्) त्रिमुवनं (त्रिलोकी) येन, तस्य । रावणस्य मम हस्तानस्य =
वृक्षमुल्लस्य, रावणस्य, कामा = मन्दयः, कियान् = किंपरिमाणं अत्र कामस्याने
'राम' पदस्य पूर्व च परस्य 'रामसि'त्वञ्च 'कामसि'त्वस्य पाठत्वेऽपि कामादेक-
व्याप्त्युत्पत्तिरेकस्य निराचरप्रवेकस्य प्रमादो बोद्धव्यः । हे सुमुक्ति = हे सुन्दरि !,
अयम् = ययः, रामस्तु = रामचन्द्रस्तु, अत्राश्विनिहितः काम इति पूर्वमेवोक्तः ।
केवलं = समग्रं ययः तथार, त्वदर्थं = त्वच्छ्रेय, निहितैः = लोचनैः, शरीरैः = वाण-
सम्पदैः, भविता = क्षीयमेव, मां = रावणं, हन्ति = व्याधाद्यति । हन्तेति बोधघोषक-
मन्वयम् । नसिक्तविलकानुत्तम् ॥ २७ ॥

रावण इति । तदेव = पूर्वोक्तमेव, परमिति भावः । विपरीतं = विपर्यस्तम् ।
कामस्याने रामः, रामस्याने च काम इति वैपरीत्येनेति भावः ।

सीतेति । तदा = तस्मिन्काले । स्वयि रामेण हते इति भावः ।

रावण इति । समग्रं = काले, त्वत्कर्तृकमकर्मकदिक्कोकमसमयमिति भावः ।

वरनेवाके रावणके त्विह कामं क्या पदार्थं है ? हे सुन्दरि ! यह राम तो केवल सुन्दर है किन्तु
तुम्हें वालोंसे छोड़ ही मुझे निहत्तर रहा है । यह केवल भाव है ॥ २७ ॥

सीता—यह सच है ।

रावणः—(मगधो मग) कैसे मैंने कुछ और ही कह दिया । (कहीकी विपरीत
प्रकारसे पढ़कर) हे सीते ! मुझे निहाइतसे निहाली ।

सीता—हे सुन्दर ! जानकी कल-समय तुम्हें भी देखेगी ।

रावणः—(व्याघातपूर्वकं) तथा यह समग्र वरनामी । यह—

मन्धोदरीमपि विमुञ्चति राज्यमेव-

दप्युन्मदं तथ पद्मान्नतले करोति ।

किं जलितेन बहुना मुमुक्षि ! त्वद्ये

स्वस्मुच्छिन्नस्यपि क्षिरांसि पुनर्दशास्यः ॥ २८ ॥

सीता—अपि लघोवभासापि समुन्मीलति पद्मिनी ?

रावणः—(सङ्कोचम्) आः पापे ! यद्यत् किञ्च तपनस्तद्योतयोस्ताव-
वेवान्तरं रामरावणयोः ? यदियं हन्यसे । (इति साहसमुत्पादयति) ।

मन्धोदरीमपि । हे मुमुक्षि ! वृत्तास्यः त्वद्ये मन्धोदरीम् अपि विमुञ्चति, उन्म-
दस्य एवम् राज्यमपि तव पद्मान्नतले करोति; बहुना जलितेन किं ? स्वाधि क्षिरा-
स्यपि पुनः उच्छिन्नसीत्यन्वयः ।

हे मुमुक्षि = हे मुन्दरि, सीते !, वृत्तास्यः = रावणः, त्वद्ये = त्वत्कृते, मन्धोदरी-
मपि = स्वसहचरिणीमपि, विमुञ्चति = परित्यजति, उन्मदस्य = उद्धतहृदय, एतत्प
हृदं, राज्यमपि = राज्यमपि, तव = भवत्याः सीतायाः, पद्मान्नतले = चरणकमलतले,
करोति = निदमाति । बहुना = अधिकेन, जलितेन = सञ्चितेन, किं = किं प्रयोजनं,
हन्यसे = स्वकीयानि, क्षिरांसि = शूर्णांसि, पुनः = मूलः, उच्छिन्नसि =
चच्छिन्नसि ।

हे सीते ! त्वत्पतिसम्पत्त्यादर्भमदं स्वसहचरिणीं परमाङ्गुसगिणीं मन्धोदरीं
मुञ्चकस्तद्वत् राज्यमपि त्वत्पुत्रपतोऽस्मि । किं बहुना हरमसावकाऽर्भं यथा
प्राक्मथा स्वक्षिरांसि कृणामि सातमते त्वद्यर्थमपि तया कर्तुं प्रवृत्तोऽस्मीति यावत् ।
अत्रोपमाङ्गुलः । वसन्तसिद्धकावृत्तम् ॥ २८ ॥

सीतेति । लघोवभासाऽपि = उधोतिरिह्यज्योतिषाऽपि । यथा पद्मिनी उधोति-
रिह्यज्योतिषा न विकसति सूर्यमाद्यैश्च विकसति त्वयैवाङ्गमपि च त्वयि, आर्यपुत्रे
श्रीराम एव प्रसीदामीति भावः ।

रावण इति । तपनस्तद्योतयोः = सूर्यज्योतिरिह्यज्योतयोः ।

हे मुन्दरी ! रावणः, मुन्दरी इत्येव मन्धोदरीनां भी क्षोड्वा है, मानन्दपूर्णं इत्तं राज्ययो
नो मुन्दरीं चरणकमलतले नीचे रक्ष वेदा है । अधिक कहेनेसे क्या ! जपने क्षिरांसो भी
मिल कर देता है ॥ २८ ॥

सीता—क्या जुगनूथो चमकते भी कमिनी क्षिपती है ?

रावण—(कोपपूर्वक) और पापियो । सूर्य और जुगनूमें मिलता फल है । राम और
रावणमें क्या मताना हो फल है । तुझे मारता हूं । (ऐसा कहकर चक्रवार करता है ।)

शामः—

हा जानकि ! स्वमधुनासि कथं भवित्री
(सविधिकित्तम्)

विगलैश्चरं तव सुदारुण एव परकः ।
(सकोपम्)

आः पाप ! राक्षसकुलाधम, संहृतोऽसि
(संसंक्रमम्)

हे वत्स, कथमयं ! धनुर्धनुरेव काष्ठः ॥ २६ ॥

हा जानकीति । हे जानकि ! हा ! अधुना त्वं कथं भविष्यतीति प्रथमचरणम् ।

हे जानकि = हे सीते !, हा = त्वामिति शेषः । तव बोध्यत इत्यर्थः । अधुना = सत्कालं, राक्षसकर्तृककुरोत्यात्मकाक इति भावः । त्वं, कथं = केन प्रकारेण, भविष्या इति भावः । भवित्री = भविनी, असि = कर्तसे इति प्रथमचरणम् ।

सविधिकित्तम् = ससंक्रमम् ।

भिमिति । वैवर्तं भिक्, तव परकः सुदारुण एवेति द्वितीयचरणम् ।

वैवर्तं = भाव्यं, भिक्, वैवर्तस्य विवर्त इति भावः । तव = सक्तः परकः = शत्रुताः, सुदारुण एव = अतिमयङ्कर एव । इति द्वितीयचरणम् ।

आः पापेति । आः पाप ! राक्षसकुलाधम ! संहृतोऽसि इति तृतीयचरणम् । अः इति कोपशोकमन्त्रम् । पाप = पापाचार, राक्षसकुलाधम = निराचर-
वशात्पदम् । संहृतः = व्यापादितः, असि = भविष्यसि, 'वर्तमानसाम्येवर्तमान-
सङ्गेति भविष्यदर्थे कट् । त्वं भिन्नमेव मया व्यापादित इति भावः । इति तृतीय-
चरणम् ।

हे वत्सेति । हे वत्स ! कथमयं ॥ वदत वदत । एव काष्ठ इति धनुर्धनुरेव इत्यर्थः ।

शाम—हाय ! जानकी ! तुम अब कैसे होगी ?

(सन्देहपूर्वक)

हे भाव्य ! तुझे विपत्त है, पिडा है, तेरा परिनाम भविष्य भयङ्कर ही है ।

(कोपपूर्वक)

ओह ! परमिन् राक्षसवंशमें जन्म ! मू मारा कायना ।

(शोकपूर्वक)

हे वत्स ! कथमयं । वदत वदत । वद वदत इति ॥ २६ ॥

कथमणः—आर्य ! किमिदमैन्द्रजालिकप्रियलोकनादलीकमेव संभव्यते ?

राक्षसः—अपि ज्ञानिक ! अयमसाबुद्धीर्षकपलकरवातः क्वलसुजङ्ग-
तदिवानीमपि दशकण्ठभुजारलेखभेषजमनुजानीहि ।

सीता—

विरम विरम रक्षा ! किं मुधा जडचित्तम्

स्पृष्टति नहि मदीयं कण्ठसीमलमन्थम् ।

रघुपति-भुजवन्दादुत्पलद्वयामकान्ते-

हे रक्षः = हे वात्सल्य भाजन, कथमणः = सद्वृत्त, मनुः धनुः = कामुकं कामुकं
संभवे द्विरुक्तिः, राक्षसप्रदाराज्यमिति शेषः । पृथः = अर्थ, काकः=समयः, राक्षसवध-
स्वेति शेषः, मोक्षप्राप्त्यर्थेन सीतायां हृत्पात्रमस्माकं समस्त उद्योगो स्वयं-
स्वादिति भावः । वस्तुस्तत्त्विकानुष्ठानम् ॥ २९ ॥

कथमण इति । संभव्यते = संभवः कियते ।

राक्षः इति । उदीर्षकराक्षकरवातः=उदीर्षा (कोपप्रतिपत्तिः) कदाकः (भीष्मा)
कदाकः (कदा) । काकभुजङ्गः = कृष्णसर्पः । दशकण्ठभुजारलेखभेषजं = दश-
कण्ठस्य (मम राक्षस्य) सुजाती (बाहुनाम्) य जारलेखः (आक्षिप्तम्) स
एव भेषजम् (भोज्यम्), तत् । सदाक्षिप्तमेव कोपप्रतिपत्तिः कदाकः कदाकः कदाक-
कृष्णसर्पसौधमिति भावः । भेषजप्रणयकाक्षनेन लक्षराजराजं भविष्यतीत्याकृतम् ।

विरम विरमेति । हे रक्षः ! विरम विरम । मुधा जडचित्तम् किम् ? हे वस्तुज !
उत्पलद्वयामकान्ते रघुपतिभुजवन्दा वा शिष्करात् भवद्दीपात् कुपात्रात् जन्मो
महीमां कण्ठसीमानं नहि दृष्टसीत्यन्वयः ।

हे रक्षः = हे वात्सल्य भाजन । विरम विरम = विरतो भव विरतो भव, विरतो
भव, आत्मापाराविति शेषः । वृत्तीको भवेति भावः । 'व्याकृतिभ्यो रम' इति
परस्मैपदम्, संभवे द्विरुक्तिः । मुधा = व्यर्थप्रायेण, जडचित्तम् = अविष्टेन, किं = किं
कलं स्थान्, न किमपीति भावः ।

हे वस्तुज = हे दमानन राक्षस । उत्पलद्वयामकान्ते = उत्पलमिव (नील-
कनकमिव) द्वावामा (नीला) कान्तिः (ज्वलिः) यस्य, तस्मात् । रघुपतिभुज-

कथमण—नारै ! ऐन्द्रजालिक कार्यदेवनेते कवी भाषम्यर्थ ऐसी वदानी कर रहे हैं ।

राक्षस—हे सीते । विधानसे निकाल गया यह मोक्ष सङ्ग काक सर्प है दशकित्त
मही भी राक्षसके बाहुनीका आक्षिप्तस्वरूप भीषक केनेके किए अनुमति दी ।

सीता—हे राक्षस ! तु पुत्र रक्ष, पुत्र रक्ष । स्वयं कदाकसे क्या काव है । हे राक्षस !
नीलकण्ठके उपात्र क्याव राक्षसके बाहुदण्डसे भवना कदाकद्वय केदरे कदाकसे मित

वैद्यमुखा ! भवदीयाभिष्कृपाङ्कः कृपाणात् ॥ ३० ॥

रामः—जहृ !

विधिरकवन्तः, स्त्रीतं स्त्रीतं तमः परिजृम्भते
अक्षधिसलिले मग्नं विश्वं, युगं परिचर्तते ।

कुम्भस्यदक्षकक्षसंस्लेषोत्सवैकपरे पदं

पश्यमव्ययः सीताकण्ठे करोति कृपाणकः ॥ ३१ ॥

कृपाणात् = शवयवाहुद्वारा, कृ = अधरा, निष्कृपाणात् = कृपाणात्, भवदीयाणां =
स्वदीयाणां, कृपाणात् = कृपाणात्, 'अव्यय' पदेन योगे 'अव्ययारहितरत्ने' निष्कृपाणात्
उत्पद्यमानादिभिरुक्तं इति पञ्चमी । अन्वयः = अन्वयः, मदीयां = मदीयां, कृपाणां
मार्गं = राक्षसाणां 'सीतासीने विद्यामुखा' इत्यन्तरा । नहि श्रुतमिति = नास्मिन्निति ।
'वर्तमानासीने' वर्तमानवद्वा इति कृत् । हे रावण ! नहि तावत् स्वकथितसंगोष
(आदिज्ञानव्यतिकरे) काव्यनिरासामुज्ज्वलं तद्वन्तं निष्कृपाणां स्वदीयां कृपाणां
श्रुतमिति नाऽपरमव्ययं वृथावास्तव्यापाशाद्विरतो भवेति भावः । अत्र विकल्पाङ्ककारः
लोकाद्वयं तत्तत्तत्तं पथा चन्द्रालोके—'विकल्पस्तुल्यवलयोर्विरोधभासुरीयुता ।
कृपाणाभिषेधोरे वाऽपि कुलत्वं वीतरागिताम् ॥' इति । भासिनीवृत्तम् ॥ ३० ॥

विधिरिति । यत् अव्ययः एवं कृपाणकः कुम्भस्यदक्षकक्षसंस्लेषोत्सवैकपरे सीता-
कण्ठे पदं करोति, (कृत्) । विधिः अकण्ठः । स्त्रीतं स्त्रीतं तमः परिजृम्भते । विश्वं
अक्षधिसलिले मग्नम् । युगं परिचर्तते इत्यन्वयः ।

यत्, अव्ययः = वृथाशून्यः, अव्ययः = पुनः, कृपाणकः = कुलितवस्त्राङ्गः, कुलितः
कृपाणाः 'कुलित' इति कः । कुम्भकपद्मसंस्लेषोत्सवैकपरे = कुम्भकपद्मसंस्लेषोत्सवैकपरे
(कमलपद्मसंस्लेषोत्सवैकपरे) वा कृत् (माता) तस्याः संस्लेषः (सम्बन्धः) तेन य उत्सवः
(महः) उत्सवैकपरे (पुनरावस्थाने), तादृशो सीताकण्ठे = सामकीकण्ठे, पदं = स्वागते,
करोति = विदधाति, ततः—विधिः = विधाता, अकण्ठः = निर्दयः, भस्तीति शेषः ।
पदं च—स्त्रीतम् स्त्रीतम् = अतिशयनिर्विकं, तमा = आपद्गुणोन्मत्तकारः, परि-

जहृ मी मेरी कृपासीमाका स्वर्ग नही कर सकता ॥ ३० ॥

राम—जहृ ।

मी कि निर्दय यह कुलित स्रग्ग कमलपद्मोत्सी माकाके सम्बन्धसे उत्सवका एकमात्र
स्वाग सीताके कण्ठमें स्वाग के रहा है, ततः भस्ती निर्दय है । अकण्ठ निर्विक भासुरी
मन्त्रकार प्रभुमूर्ख ही रहा है । संसार व्युत्पन्नमें हूब रहा है और श्रुतका परिवर्तन हो
रहा है ॥ ३१ ॥

(पूर्वनिर्णय) इत्युक्तं भोः ॥

चान्द्रीं लेखां ददाति वृक्षनैर्दक्षः सैद्धिमेवो
नभ्यां वल्ली दधदहनकश्चान्द्रीं दग्दहीति ।

उन्मत्तः कुचलयमयीं मातिकां भातुगीते ?

मूलादुन्मत्तयति नलिनीं पुच्छस्तीकरेण ॥ ३२ ॥

सीता—

चन्द्रहास ! हय मे परितार्पं, रामचन्द्रविग्रहानलजातम् ।

उन्मत्ते = प्रादुर्भवति : विग्रहं = संसारः, कलविमलिके = सञ्जुहकले, मर्म = श्रीव-
मिति भावः । तमेव—पुत्रं = पुण्यबहुलं श्रेष्ठाणां, परिकर्तते = पापेभ्यो वाद्वापरे
करोति वा परितार्पणं भवतीति भावः । सीताया एवमिषया दुरवस्थया पुण्यसेव परि-
वृत्तमिति ॥ मतिभातीति भावः । हरिणीवृत्तम् ॥ ३१ ॥

चान्द्रीमिति । दारुणः सैद्धिमेवः वृक्षनैः चान्द्रीं लेखां ददाति । दधदहनकः
चान्द्रीं नभ्यां वल्ली दग्दहीति । उन्मत्तः कुचलयमयीं मातिकां भातुगीते नलि ?
पुच्छस्ती करेण नलिनीं मूलात् उन्मत्तयतीत्यन्वयः ।

दारुणः = मीपणः, सैद्धिमेवः = सिद्धिकानन्दमः, रात्रुरिति भावः । 'सीम्बो कष्ट'
इति उक्तं । दक्षः = वृक्षैः, चान्द्रीं = चन्द्रसम्बन्धिनीं, लेखां = रेखां, ददाति =
प्रादुर्भवति । दधदहनकः = कुक्षितो वनदुतासनः, चान्द्रीं = चन्द्रवत्, नभ्यां = वृत्तार्धे,
वल्ली = कला, दग्दहीति = नलिनामेव दहति । उन्मत्तः = उन्मादपुच्छे जगः,
कुचलयमयीश्च, उत्पलमिति, विहाराज्ये मयद् । मातिकां = कृष्ण, भातुगीते
अपि = समस्ताधिक्ये किम् । नलिः प्रमोदार्पकः । पुच्छस्ती = मत्तगजः, करेण =
शृङ्गादन्तेन, नलिनीं = कमलिनीं, मूलात् = मूलमन्तः, उन्मत्तयति = उन्मत्तयति ।
नयनकर्तृकोऽयं सीतावयः रात्रुकर्तृकचन्द्रलेखायासोपमो वृषाधिकर्तृकचन्द्रमलतादह-
नसम उन्मत्तकर्तृकमन्मत्तिकाकवचसदसो दुरहस्तिकर्तृकमल्लिम्बुमूलनसत्तिरस
इति भावः । एवं च मालारूपेण वाक्पापानलैक्यामालारूपनिर्द्वन्द्वमाला-
मन्मत्तयति ॥ ३२ ॥

चन्द्रहासेति । हे चन्द्रहास ! शतचन्द्रविग्रहानलजातं मे परितार्पं हर । हि

(चिद्विभक्तकर) हाव ! जरे !

मीनं रात्र्वादीति चन्द्रलेखां कदा रक्षे । कुक्षित वृक्षानक चन्द्रनली नदी
कलाको नलिमेव ही कदा रक्षे । नवा पालक कमलीको मातली केदम कर रक्षे ।
दुष्ट हासी संकुले कमलिनीको नक्षत्रे ही उच्छाद रक्षे ॥ ३२ ॥

सीता—हे चन्द्रहास (चन्द्र) ! रामचन्द्रके विग्रहाद्वयसे जलम मेरे सम्पन्नको

त्वं हि कामिजितमौक्तिकपूर्णं, धारया वहसि स्तितकमन्मः ॥३॥

रावणः—कः कोऽत्र भोः ! सखरं मम करे कपालपात्रमर्प्यतां येना-
स्याः कण्ठद्विरे प्रतीच्छामि । (इत्यसीकथितपान्तराले हस्तं प्रसार्य) कर्म
न्यस्तमेव केनापि मम करतले कपालम् । (मिलित्य) (सम्पत्कारम्)
खरे न कपालमेतत्, किन्त्वस्तकथितं शिर एव कस्थमि (विहरय)
कस्य पुनरिदम् ? नूनमशकुमारस्य ! (इति मूर्च्छितः पठति) ।

विजयः—अयि कण्ठेश्वर ! समान्वसिहि समान्वसिहि ।

रावणः—(समान्वस्य) नृपमिदं सत्यं दुष्टकपेर्बिजुम्भितम् । तेन

हेकामिजितमौक्तिकपूर्णं । त्वं कस्यया स्तितकम् अन्ते वहसीत्यन्वयः । हे कण्ठेश्वर-
हे कण्ठ !, रामकण्ठविहराऽनकपालं=रामकण्ठम् (रावणदुरन्धरस्य) को विहः
(वियोगः) एव अथतः (अग्निः) तज्जाते (तदुत्पन्नम्), मे = मम सीताचार,
परित्यागं = सन्तार्य, हर = वृत्तिरूप, ममस्तकज्वरेणैव रामवियोगजनितं कष्टम-
नपेति भावः । कण्ठहासस्य रामविहपरित्यागहारकर्म समर्थयते त्वं इति । हि =
पतः, हे कामिजितमौक्तिकपूर्णकाम्या (स्वपत्न्या) जितम् (जयरीकृतम्) मौक्तिक-
पूर्णं (शुक्लरत्नः) येन स तत्सम्मुखी, पादस्य हे कण्ठहासेति भावः । त्वं=कण्ठहासः,
धारया = सीतास्याभागेन, स्तितकं=स्तितं, विहृतपविहारकमिति भावः । अन्म-
न्ते, वहसि = धारयसि । अद्यभागेन स्तितकजलवाहकस्य ते विहराऽनकपालप-
रित्यागस्य मुक्तमिति भावः । अत्राऽध्यान्तरस्यासौ अङ्कारः । स्वागताङ्कम् ॥ ३३ ॥

रावण इति । कपालपात्रं = मरुत्परमात्मनम् । प्रतीच्छामि = दृक्षामि । कस्य-
निकृष्टं = कस्योक्त्याऽधिकृतं, मर्दितमिति भावः । दुष्टकपेः = दुषितयामात्म, हन्-
मत् इत्यर्थः ।

मिदा भो, नदीकि मरती कामिजे दुष्टपूर्णको भीषयेवाते ! तुम जपयी वारा । (नीक) से
जीतक पानीको धारण करये हो ॥ ३३ ॥

रावण—महाँ कौन है ! मेरे हाथमें सीता कपालमात्र दे दो, जिससे इच्छे कण्ठका
रक्त के केता हूँ । (ऐसा कहकर अशोक की छायाके नीचेमें राध केमकर) कैसे किसीने
मेरे हाथमें कपाल रक्त हो दिया । (ईश्वर आश्रयपूर्वक) अरे ! यह कपाल नहीं है,
बल्कि किसीका मिला नकले काटा गया सत्यक हो है । (विचार कर) यह किसका है ?
मित्र हो नशकुमारका है ! (ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर विर पड़ता है ।)

विजय—कण्ठेश्वर ! वार समान्वसत हो, समान्वसत हो ।

रावण—(शोकमें आकर) मित्रक यह कष्ट दुष्ट कपारकी कस्तुर है । वस्तुविद यह

तमेव तावदग्रे पातयामि ।

(इति निष्कम्यतः)

राम-सखामयो—(वदन्) अहो ! संविधानवैदग्ध्यं !

त्रिजटा—(सीतामन्त्रिणम्) सखि ! पुनरेव जीवित्वास्ति ।

सीता—अपुनरेवेति भयम् । (अश्रुयुक्तेति भविष्य)

त्रिजटा—कथमिव ?

सीता—कथं पुनस्तवपुनर्यं न भवति यत्किञ्च रामचन्द्रविरहत्वापनि-
र्वापय्या चन्द्रहासधारयोपेक्षितास्मि । तत्किमनेन जीवितेन ? इह वाक्-
सञ्जयेऽपि प्रवृत्तस्य यत्रेमान्यङ्गानि शीतलस्यामि । (अहं उग्नं त्वं अपुष्पं न
शोह त्वं किं रामचन्द्रविरहत्वापनिर्वापणोऽप्यनन्दहासधाराय उपेक्षितदक्षि । ता किं
इमिषा जीवितेन । इह शवसंयममि अस्मि पञ्जासेहि जस्य हमार्यं अज्ञातं
सीतलस्यामि)

त्रिजटा—रास्त्वं पापम्, तन्वचिरादेव निजाङ्गकानां—

द्विमकरकिरणकरमितमरकतमवधीनपद्मप्रतिमे ।

रामकथनमिति । संविधानवैदग्ध्यं = रचनावैदुष्यम् ।

सीतेति । रामचन्द्रविरहत्वापनिर्वापय्या = रामविषोमसम्तापकमविष्या ।

यत्र = जहाँ ।

द्विमकोति । अक्षुत्तमकाः । द्विमकरकिरणकरमितमरकतमवधीनपद्मप्रतिमे =

द्विमकर (चन्द्रास्य) किरणैः (मयूखैः) करमितं (विधितम्) अम्बरकलमयं

कसोऽपि विरहा ह ।

(ऐसा कहकर निकलता है)

राम और कथनम्—(वदन्) अहो ! कौसी रचनाको विपुलता है ।

त्रिजटा—(सीताको आश्चर्य कर) सखि ! पुन पुनरुते की रही हो ।

सीता—अपुनरुते जी गर्व देखा कहो ।

त्रिजटा—क्यों ?

सीता—देखे यह अपुष्प नहीं है, जो कि रामचन्द्रके विरोगसम्भाय हृदयने पाणी
पकवारको धारा (नीक) से मैं उपेक्षित हो गई हूँ । तब इस जीवनसे क्या लाभ है ? यहाँ
कहनोंके डेरमें लाभ क्या हो जिसमें इन अज्ञानोंको छोटक कर देती हूँ ।

: त्रिजटा—बार विद्वत् हो । जोर हो करने कहनोंको—चन्द्रकिरणोंसे विधित करके-

मलयजपरागरजसि रामोरसि तापमपहरसि ॥ १३ ॥

सीता—हंता, किमनेनालीकल्पितेन सर्वमेवानंतप्रवेशेन व्यवसि-
तास्मि । तदुपनय मेऽङ्गारखण्डकम् । (हन्ता । किं ह्मिणा भलीकल्पितेन,
सर्वं लेभ्य कणलपदैरेण विवक्षितम् । तां ऊच्यते हि मे भ्रातृलक्ष्मणम्)

रामः—हन्त भोः ॥ कथमपि शार्दूलमुखान्मुखायाः पुन्यपि शर्वर-
वागुरामवतीर्णायाः कुलजनन्ध्या भङ्गीभङ्गीकृतवतीं जानकी ।

त्रिजटा—(निर्गत्य, प्रविश्य च) अमुलभानलोऽयं प्रदेशः ।

रामः—(सहर्षम्) त्रिजटे, विष्टया रक्षितस्त्वया रामः ।

सीता—(संकृतमाभित्य, वरशोकं प्रति)

(मलयजमभिमन्यम्) पीतपद्मम् (दीर्घपाषाणः) तप्यतिमे (तप्तशयो), रक्षित
मरकतसङ्घात इति भावः । मलयजपरागरजसि = मलयजपरागः (चम्पूचूर्णम्)
रजः रजः (केपनद्रव्यम्) यस्मिन्स्तस्मिन्, चन्दनचर्चित इति भावः । तापमे रामो-
रसि = राक्षसवच्छादये, तापं = विरहमित्तं सम्हाप्य, अपहरसि = दूरीकरोषि,
'कर्तृत्वात्तामीत्ये वर्तमानवादा' इति छट् । चन्द्रकिरणमिश्रितशीतलमरकतमिश्र-
सरसो चम्पूचर्चिते किस्सीने रामवचःस्थले आच्छिन्नेन शीतमेव त्वं विरहमिति
सम्हापमपहरिष्यसीति भावः । उपमाऽङ्गहारः । भार्यावृत्तम् ॥ १३ ॥

राम इति । शार्दूलमुखम् = व्याजाननाम् । सवरक्षधुरी = किरातकुलावन्-
धोम् । भङ्गी = चरितम् ।

त्रिजटेति । जमुलप्राङ्मण्डः = जमुलप्रदेशः (बुध्यान्धः) भयः (भयः) चरितम् ।

मय दीर्घं पाषाणके सहस्र, चन्दन चूर्णकय केपनद्रव्यसे युक्त रामचन्द्रके दक्षःस्थकमे
(आचिञ्च कर) सन्ताप मित्यभीगी ॥ १३ ॥

सीता—अब ! इस बहुत शोकसे क्या काम ? भाग्ये प्रवेश करनेका व्यवसाय कर
सुखे हूँ । इसविषय सुखे भाग का दो ।

राम—हय ! किसी प्रकार व्यापके मुझसे छुटकर भी फिर सगरके पाछे पड़ी हुई
शुगीके चरितको जानकीने भङ्गीकार किया ।

त्रिजटा—(बाहर बाकट और फिर यौतार आकर) इस स्थानमें जंगल सुख्य नहीं है ।

राम—(हर्षपूर्वक) त्रिजटे । तुमने भयसे रामको रक्षा की ।

सीता—(संकृतमाभित्य, वरशोकं प्रति) (चरितम्)

सुख भवति चेत्, अस्मिन्नेति

एकलकषिकाभिरां साधनम् प्रकटीकृतम् ।

ननु ! विरहिणां सन्तापस्य स्फूर्तिरुचते भव्य-

अथ किं सङ्ख्यभेदीत्या आह यद्वापुर्निष्पन्नविभु, ॥ ३३ ॥

(निष्पेक्षं सर्वम्) इत्या ! पश्य पश्य, निपतितं तावदस्य शिखराद-
 न्नारस्यहम् । (इत्य ! पेपञ्च-पेपञ्च । निषमिन् राव इत्यस्य विद्वद्वाक्यं अज्ञात-
 वान्धवम्) (इत्यपद्यत प्रसीदति)

सम—

अये ! कणमशोभोऽपि ममार्थं लोकां गतः ।

कुम्भ सञ्चलनमिति । हे त्रीमसु बन्धोक्तद्वयस्यते । चेत्तु सञ्चलनं कुम्भ । तावत् पूर्य
इत्यवगमिकां मम मञ्जरीकुम्भ । तस्य । तस्मात् भिरिह्यां सञ्चलनात् । तन्मिथ्यावशेन
तस्मात् कुम्भापुत्रिकावलीं शृङ्गीकुम्भस्य कुम्भस्य ।

[illegible]

अये कममिति । अये ! अयम् अक्षरोकोऽपि कर्म मन शोकतां यत् इति पूर्वा-
शङ्कः ।

जीमू दे मशोक रुख ! चिपको अरुणा पुर्व बसाओ । मैरे सामने एक अविनाशमयी
मकड़ करो । दे मशोक ! तुम भिवोशिनीके सन्तापके किम् नवी मकड़बगड़िके बहावे
अविनाशकाये पड़िकी स्पष्ट कर देते हो ॥ ६५ ॥

(देवदत्त दहिवे साधु) लालि। देवो मेसो। हस्तो धोरोसे अग्निना गिर पडाई ।
 (देसा भूकर धर्मोप भाकर केना वाक्योई ।)

बाल—कहो । वह जमीन को कैसे मेरे मित्र बनाएगा ?

कथमप्यः—आर्य ! अहं यमकमिदं यस्मिन् तदस्मिन्सम्भारस्तद्वत्
मुद्रितः ।

शमः—

किं न सम्भारयेदस्य ! सम्भार विधिवैधुरी ॥ ३६ ॥
(सीताअन्तराखण्डे हस्तेनक्षते)

शमः—

अनङ्ग ! नक्षिककोमले करेऽस्याः
सुरवृक्षोत्पन्नकुङ्कुमोपमः स्याः ।
(विमृश्य)

अये इत्यामन्त्रये । हे कथमप्यः ! अयं च निबद्धस्याः, यस्योच्छेदोऽपि = यस्मिन्कृतस्याः
अस्ति हस्तकरि, कथं = केन प्रकारेण, मम = रामस्य, कृत इति शेषः । सोकतां =
सोकरेणुताम्, अस्मत्सन्कोद्रितमेवेति भावः । गतः = प्राप्तः । यस्योच्छेदोऽपि सोकतां
गत इति विशेषः । इति पूर्वार्द्धेभ्याम्भा ।

किं नेति । हे शम ! रामस्य विधिवैधुरी किं न सम्भावयेदित्युत्तरार्द्धेभ्यः ।

हे शमः = हे शमस्यभाजन कथमप्यः !, रामस्य = मम, विधिवैधुरी = मातृ-
विधुरता, वैधुरप्रतिभूतेति भावः । विधुरस्य मातुः वैधुरी, 'गुणवचनमाह्वयविभक्त-
कर्मणि चे'ति ण्यञ्, 'हस्तक्षितस्ये'ति षष्ठीया, पितापु 'विद्वैरादिभ्यश्चै'ति
कोप् । किं न सम्भावयेत् = किं न सम्भावयेत् । विद्वैः प्रतिपद्ये सत्यसम्भाव्यमस्ति
सम्भाव्यं भवतीति भावः । अस्तुत्तरार्द्धेभ्याम्भा । अस्तुत्तरार्द्धे ॥ ३६ ॥

अनङ्गेति । हे अनङ्ग ! नक्षिककोमले अस्याः करे सुरवृक्षोत्पन्नकुङ्कुमोपमः
स्याः । वा तव चरितम् प्रचितं कुतोऽस्ति । अङ्ग ! तुभ्यं कथमप्यः विधिवैधुरी-
त्याम्भाः ।

हे अनङ्ग = हे शम ! नक्षिककोमले = कमलकुण्डले, अस्याः = सीतायाः, करे =
हस्ते, सुरवृक्षोत्पन्नकुङ्कुमोपमः = सुरवृक्ष (विकसन्) यः यस्मिन्कृतकुङ्कुमः

कथमप्यः—आर्य ! इच्छते चोटी यो नक्षिककोमले गच्छति है यद् भवतीति वात है ।

शमः—हे शम ! रामको मातृप्रतिभूता कदा गरी करेगी ? ॥ ३६ ॥

(सीता नक्षिककोमले हाथसे केटी है ।)

शमः—हे शम ! कमलके समान कोमल सीताके हाथसे विकसित दोवेदारके रक्त-
कमली सुरवृक्षोत्पन्न कुङ्कुमोपमः ।

(विचार कर)

परितमुचिमतस्ति वा कुतस्ते,

मुमु ! मुचने विदितोऽसि कृष्णवर्त्मा ॥ ३७ ॥

सीता—(हस्ते गृहीत्वा सविधरम्) कथं भगमापुनयेनामिरपि शीतलः
संयुतः । (निपुणं विरूप्य सचमस्करम्) अये ! अङ्गारकपञ्चकं च सज्जनेतुम्,
अपि पुनः पद्मरागरत्नक्षयकम् । (कथं महं अपुन्येण अगमयिषी सीतलो
संयुतो । अये, अङ्गारकपञ्चकं यद्दु एवमपि तत्र पद्मरागरत्नक्षयकम्)

विचक्ष—अये ! पुनश्चतानमिरेष रत्नं भवतीति प्रवादः सत्य एव
संयुतः ।

सीता—(पुनर्विज्ञेयम्) कथं सा रत्नमुद्रिका (कथं सा रत्नमुद्रिका)
(पुनः संयुतनाभिः, मुचिषं प्रति)

(रक्तमण्डपमुद्रिका) स उपमा (भावार्थः, सीतलकर्मोत्तरवर्त्तमानि मातः) अथ
सा, तादृशः । स्यात् अथये । सीतावाहं सा कार्त्तिकेति भावः । वा = अथवा, त्वम् =
अथकस्य, चरितं = चरित्रम्, भावकपीयमिति सेतः । चरितं = युक्तम्, कुतः =
कुत्र, साधयिष्यमिच्छति । अस्ति = वर्तते । अनलचरितान्मौचित्यं प्रतिपादयति—
धमिति । नमिष्यामिन्मन्त्रे । हे अनल ! मुचने = होके, कृष्णवर्त्मा = कृष्णवर्त्मानेति
वाच्येति भावः । विदितोऽसि = ज्ञातोऽसि, यतस्त्वं इदमेव स्वकीयं वर्त्तं कृष्णवर्त्म
करोमि, तस्य एव कृष्णवर्त्मानेति ज्ञात्वा मुचनविदितोऽसि, यतस्त्वं सीतावाहं मया कार्त्तिके-
रिति सम्भावना वाऽस्तीति भावः । अत्रोपमाऽङ्गुली । पुष्पिताया कुतश्च ॥ ३७ ॥

सीतेति । पद्मरागरत्नपञ्चके = लोणरत्नपञ्चकम् ।

विचक्षेति । प्रवादः = वार्ता ।

भगमापुनरा श्रीम कथित कदा है, की कि कोकने 'कृष्णवर्त्मा' इस नामसे
माने हो ॥ ३७ ॥

सीता—(राधे केकर केतपूर्वक) कैसे मेरे पापसे माप भी ठप्पी हो गई ।
(अङ्गुलीवाह देखकर आश्चर्यसे लाभ) अरे ! यह आश्चर्य नहीं है बल्कि पद्मराग
रत्न है ।

विचक्ष—अरे ! रत्नोत्सवोंकी भाँति भी रत्न हो जाता है पर भीतोंकी कलम
सही हो गई ।

सीता—(फिर देखकर) कैसे नहीं रत्नमुद्रिका है । (फिर संयुक्तम्, मातः, पुनः
संयुक्ते)

या सौमदायपति मनोरमरामचन्द्र-

हस्ताङ्गुलिप्रणयिनी सुभगा सुवृत्ता ।

अन्येष सा जनकराजसुता कथं नु

कङ्काशुपागतवती मणिमुद्रिकैयम् ॥ ३८ ॥

(पुनः सादरं कराङ्गुलिकसंस्पर्शेन आलम्ब्यती) श्वये रत्नाङ्गुलीयक, अपि
सावत्कुशलं सखत्तमणयो रामचन्द्रचरणयोः । (यद् रत्नचङ्क्रीयक, अपि साव
कुशलं सखत्तमण्यं रामचन्द्रचरण्यं)

(पटाक्षेपेण प्रविश्य)

इदुमान्—कुरातं देवि ! कुरातम् ।

सीता—अमृतमुख ! कोऽसि त्वम् ? (अमिचकुह, कोसि तुम्)

या सौमदायपति । या सौमदायपति मनोरमरामचन्द्रहस्ताङ्गुलिप्रणयिनी
सुभगा सुवृत्ता अन्वा जनकराजसुता इव सा इव मणिमुद्रिका कथं नु कङ्काम्
रुपागतवतीत्यन्वयः ।

सा = मणिमुद्रिका, सौमदायपति = मिथुकाकसारभ्य, मनोरमरामचन्द्रहस्ताङ्-
गुलिप्रणयिनी = मनोरमा (मनोहरा) या रामचन्द्रहस्ताङ्गुलिः (रामकरसाक्षा)
सखत्तमणिनी (सखत्तमण्युक्ता, विलेपनमित्री सीतापक्षेऽपि योज्यं, सीतापक्षे सहचरि-
नीत्येव मनोरमरामचन्द्रहस्ताङ्गुलिप्रणयिनी), सुभगा सुवृत्ती, सीतापक्षे—
सौमदायपती, सुवृत्ता = सुवर्तुला, सीतापक्षे—सुचरित्रा, 'वृत्तं पथे चरित्रे चे'त्यमरः ।
अन्वा अन्वा = अपरा, जनकराजसुता इव = आगती इव, सा = सादृशी, इव = नि-
दृश्वर्तिनी, मणिमुद्रिका = रत्नचङ्क्रीयकम् अङ्गुलीयकम् । कथं = केन प्रकारेण, मिति
मितर्कं, कङ्काज रावणपुत्रीम्, उपागतवती = उपागता । अत्र रक्षेचोपमयोरङ्गादि-
भावेन सङ्करः । यस्मत्पठित्वा कङ्कम् ॥ ३८ ॥

को वचनवत्तं यदीदं रामचन्द्रके हाथकी रंगनीमें प्रेम करैवासी सुन्दर या
सौभाग्यवती लोक या सचरित्रवासी इसरी जानकीके सहस्र वरी रत्नमुद्रिका कैसी कङ्काकी
सावत् इव ॥ ३८ ॥

(फिर आदरपूर्वक परस्परके सहस्र हाथकी रंगनीसे सम्बन्धी हुई) नटी रत्नमुद्रिके !
या कथनपक्षे साव रामचन्द्रके चरणोंमें कुशल है ?

(पटाक्षेपेण प्रविश्य)

इदुमान्—देवि ! कुशल है, कुशल है ।

सीता—अमृतमुख ! तुम कौन हो ?

हनुमान्—

तारापतेरनुचरो रघुनन्दनस्य

दूतः सुतोऽस्मि मरुतः प्रथितोऽस्मि हनुमान् ।

त्वां हनुमुपासतवतो दृष्टकर्मण्यस्य

न्यस्तं करे निधृतमङ्गशिरो मयैव ॥ ३३ ॥

रामः—अहो ! कथं हनुमान्नामके यस्य मरुतान्धस्य विकसितमेवम् ।

लक्ष्मणः—अहो ! सचमत्कारता संविधानस्य ।

सीता—अपि भद्रमुत्त । कः पुनरयं तारापतिः । (अहं आमुह ! ओ
तथा ह्यो तारापतिः)

हनुमान्—

यो वाक्त्रिणः क्षौर्यनिधेरमित्रं, वैजोक्यबन्धोस्तपनस्य सुनुः ।

हनुमान्नामपरिचयं ददाति—तारापतेरिति । तारापतेः अनुचरः रघुनन्दनस्य
दूतः मरुतः सुतः हनुमान् (इति) प्रथितोऽस्मि । त्वां हनुमुपासतवतो दृष्टकर्म-
ण्यस्य करे अङ्गशिरो मयैव निधृतं अस्तमितमिव ।

तारापतेः = सुग्रीवस्य, अनुचरः = सेवकः, रघुनन्दनस्य = रामचन्द्रस्य, दूतः =
सन्देशद्वारा, मरुतः = वायोः, सुतः = पुत्रः, हनुमान् = हनुमान्नामिति नाम्नेति भावः,
प्रथितो = प्रसिद्धः यस्य स हनुमान्, प्रासत्ये मनुष्यः । 'वरादीनां वै'ति शीर्षः । प्रथितः =
प्रख्यातः, 'प्रसीते प्रथितक्यातविचविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः । अस्मि = अस्माभिः,
बहुवचिन्ने शेषः । एवं च—त्वां = अस्मिन्, हनुं = व्यापादयितुं, करमाङ्गेनेति शेषः ।
उपासतवतः = उपासं कुर्वता, दृष्टकर्मण्यस्य = सुग्रीवस्य, रावणत्वेत्यर्थः । करे = हस्ते,
अङ्गशिरे = अङ्गयकुमारमस्तकः, मयैव = हनुमतेव, निधृतं = प्रक्षालनं यथा तथा
अस्तं = चितम् । वरुणसिद्धिः कृतम् ॥ ३३ ॥

शीतेति । मनुष्यस्य कर्मफलपूर्णागमेति भावः । प्रियेदन्तसूचकत्वेनेत्यं सम्बुद्धिः ।

यो वाक्त्रिण इति । यः क्षौर्यनिधेः वाक्त्रिणः अमित्रं, वैजोक्यबन्धोस्तपनस्य सुनुः

हनुमान्—तारापति (सुग्रीव) का सेवक, रामचन्द्रका दूत और अनुचर हनुमान्, सुत मैं,
हनुमान् नामके प्रख्यात हूँ । आपकी मारनेके लिए तत्पर रावणके हाथों आह्वानाका
किरौने ही प्रसिद्धकर्मसे रहा दिया था ॥ ३३ ॥

राम—अहो ! कैसे हनुमान् नामके मेरे अनुचर की आज्ञा काम चलायी ।

लक्ष्मण—रचनका कैसा चमत्कार है ?

सीता—है अद्भुत ! ये तारापति कौन हैं ?

हनुमान्—ओ महावीर रावणके पुत्र, वैजोक्यके कर्मण् दूतोंके पुत्र और अनुचर के

रामस्य पादसंज्ञकस्य अभिषर्त्तुं सुग्रीवनामा करिष्यकर्मर्त्तुः ॥ ३० ॥
 कश्चित्—केन पुनर्नरवानराणामीहरां सखित्वं निर्मितम् ? (केन एत
 नरवानराणं एरितं सखित्वम् जिनिमम् ?)

बन्धुमान्—रामबाणेनैव,

बाह्विने विश्वजता धनुरङ्गं नाकलोककणाकुचकेलिः ।

सारथा सममदीयत आस्मे धानरेन्द्रपदधीमणिमौलिः ॥ ३१ ॥

रामस्य पादसंज्ञकस्य अभिषर्त्तुं सुग्रीवनामा करिष्यकर्मर्त्तुः ॥

बः = बानः, कौपीनिये = सुरतामोदके, महावीरस्येति भावः । बाह्विना = इन्द्र-
 पुत्रस्य महाकवेः, जमित्रं = धनुः, बैलोप्यकणोः = सुवर्णमयवर्णवस्त्र, प्रकाशनेन
 उज्ज्वलाप्रदत्वेन वर्णमादिता चेति भावः । तादृशस्य उपनस्य = सुवर्णस्य, सुगुः = सुवः,
 पूर्वं च रामस्य = रामचन्द्रस्य, पादाऽऽमृतलस्य अभिषर्त्तुं = पादाऽऽमृतके (अणकस्य
 काऽऽमृताने) अभिषर्त्तुं तन्महीकः, सेवार्थमिति शेषः । सुग्रीवनामा = सुग्रीव-
 नामायेव, करिष्यकर्मर्त्तुः = बानरसम्राट्, स एव तापविरिति भावः । कल्लोपमा-
 ऽऽह्वारः । इन्द्रपद्मा धृष्टम् ॥ ३० ॥

बाह्विने इति । बाह्विने धनुरङ्गे विश्वजता (रामबाणेन) नाकलोककणाकुच-
 केलिः, आस्मे च सारथा समं धानरेन्द्रपदधीमणिमौलिः भवतीत्यन्वयः ।

बाह्विने = बाह्विनामकाय कविराजाय, धनुरङ्गं = धनुस्वरूपं विश्वम्, 'उज्ज्वलविश्व-
 योतक' इत्यमरः । विश्वजता = त्यजता, रामबाणेनेति पूर्वस्वपदेन सम्बन्धः । नाक-
 लोकाककणाकुचकेलिः = नाकलोकास्य (स्वर्गलोकास्य) या लक्ष्म्याः (सुन्दर्या,
 वात्सरस इति भावः) तासां कुचकेलिः (पदोष्णक्रीडा, सम्भोगादिरूपत्वेनेति
 शेषः) । मदीयत = दत्ता । आस्मे च = सुग्रीवाय च, सारथा = राजाधिकार्यः बाह्वि-
 नस्य, सुग्रीवस्य, 'समं' पदेन धोतो 'सहस्रकेऽप्रधान' इति पृथीया । लीङ्गस्य,
 धानरेन्द्रपदधीमणिमौलिः = धानरेन्द्रपदधी (कपीन्द्रपदस्य) एव मणिमौलिः (रत्न-
 मुकुटः) धारीयत = दत्तः । रामो बाह्विने स्वर्गाऽऽदिधि- विषाय सुग्रीवाय सारथा
 समं बानरराजपदधीं प्रदत्तवानिति भावः । अत्र लक्ष्यकिरल्लह्वारः । स्वामतल्लह्वारः च

अनन्तरादौ ये सेवक सुग्रीव नामक बानर सम्राट् हे (ये ही सारथिणि हैं) ॥ ३० ॥

कश्चित्—किञ्च नर और बानरोंकी ऐसी मित्रता कब थी ?

बन्धुमान्—रामके बाणने ॥ ।

बन्धुकाय विश्वो कोयते इन्द्र राजवान्मे बाह्विने किर लक्ष्मीं सुन्दरियोंकी पदीन्द्रकोटा
 और राजके किर सारथी साथ 'धानरेन्द्र' पदधी देवी ॥ ३१ ॥

सीता—कथय वाक्यम्, अपि नम मन मन्त्रभागिन्याः कृते युर्वक्तु
इदानीं किमपि रघुनाथः ? (कहेहि बात, यदि नाम मए मन्त्रभाङ्गीए किदे
कुन्यो बाणी किमि रघुनाथो ?)

हनुमान्—किमपीति किमुच्यते ? इदानीं हि—

बहुलपक्षप्रतीति विने विने रघुपतिः कृततामुपपत्ति सा ।

सीता—हा विक् हा विक् । (हकि हकि)

हनुमान्—

कुवक्षयप्रतिमश्रुतिरस्य तु प्रविकसत्यनुभाववर्धय ॥ ४२ ॥

अथि देवि ! आकर्षय तावद्यम् सन्दिष्टं देवेभ देव्याः ।

हिमांशुस्वप्नांशुर्नक्षत्राक्षरो दाधदहनः,

सरिद्धीवीषातः कुपितफणितिः प्रसापचनः ।

बहुलपक्षेति । स रघुपतिः बहुलपक्षप्रतीति इव विने विने कृतताम् उपपत्तिः ।

मस्य बहुभाववर्धयदा कुवक्षयप्रतिश्रुतिः प्रविकसतीत्यन्वयः ।

सा = कोकप्रसिद्धा, रघुपतिः = रामचन्द्रः, बहुलपक्षप्रतीति इव = कुलापक्षप्रतीति
इव, विने विने = प्रतिविने, वीषातः द्विरुक्तिः । कृतता = कुर्वताम्, उपपत्ति =
उपपत्तिः । तु = परन्तु, मस्य = रघुपतेः, अनुभाववर्धयदा = प्रभावाधीना, कुवक्षय-
प्रतिमश्रुतिः = नीचकर्मकोपमकालिः, प्रविकसति = अधिकविकसिता भवति ।
यस्या विषोदय प्रतिविने वीषतामुपपत्त्ययमि रघुपतिः साप्रतिपक्षं नीचकर्मको-
पमश्रुतिर्यद्वीति साधः । अत्रोपमाश्रुतिः । मूलविकसितं कुलम् ॥ ४२ ॥

हिमांशुवित्रिः हिमांशुः स्वप्नांशुः । नक्षत्राक्षरो दाधदहनः । सरिद्धीवीषातः
कुपितफणितिः प्रसापचनः । तथा मल्ली भल्ली । कुवक्षयवर्धय कृतताह्वयः ।

सीता—यह बातानी मन्त्र भावभाङ्गी मेरे किदकता रघुनाथ कुल कक्षोरे हो गये है ।

हनुमान्—आप 'कुल' वह क्या कह रही हैं ? क्योंकि मंत्री कोकप्रसिद्ध रामचन्द्रकी
कुवक्षयके सम्पत्तिके समान प्रतिदिन क्षीय होते जा रहे हैं ।

सीता—हात ! विक्, हाय विक् ।

हनुमान्—परन्तु रविकी प्रभावाधीन नीचकर्मके लक्ष्य श्रुति, अधिक विकसित
हो रही है ॥ ४२ ॥

हे देवि । रामचन्द्रके भावकी भी समीक्ष दिशा है, उसे श्रुति-य । जब सूर्यके समान
वीष्य विकसितके, तथा मेरे दाधदहनके समान, मंत्री प्रवर्धकी तथा कुपित छवि-विश्रांत

नवा मञ्जी मञ्जी, कुचलयधनं कुम्भगङ्गा,

मय त्वद्विरलेवात्सुमुक्ति । विपरीतः जगद्विदम् ॥ ४३ ॥

अपि च—

कस्याक्याय व्यतिकरमिमं सुतनुः को भवेयं,

को आभीते निमृत्तमुमयोराधयोः स्नेहसारम् ?

सुमुक्ति ! त्वद्विरलेवात्सु मम इत्थं जगत् विपरीतमित्यन्वयः ।

हिमाञ्जः = चन्द्रः, चण्डाञ्जः = सूर्यः, हिमाञ्जलश्चन्द्रोऽपि चण्डाञ्जः सूर्य इव
तीक्ष्णकिरण इति भावः । नवकुचधरा = नूतनभेषः, कुचद्वयहारा = वस्त्राभरणः । सरि-
द्भीषीवातः = सरितः (नद्याः) भीषीवातः (तरङ्गवायुः), कुपितफणिनिभ्रास-
पचना = कुपितफणिनः (कुम्भसर्पस्य) मिःश्रासपचना (श्रासवायुः) । नवा = नूत-
ना, मञ्जी = मञ्जिकापुष्पं, मापावी 'धेली'ति नाम्ना प्रसिद्धम् । मञ्जी = तीक्ष्णतल-
विशेषः । एवं च कुचलयधनं = कमलोपवनं, कुम्भगङ्गधनं = प्रासवस्त्रधनं, प्रासवस्त्र-
धनमिव पीडाकरमिति भावः । हे सुमुक्ति ! हे सुन्दरि सीते ! त्वद्विरलेवात्सु = त्वद्वि-
द्योतात्, मम = रामस्य, इदम् = अनुभूतधनं, जगत् = विरलं, विपरीतम् = वन्द्य-
रूपं, प्रतिपक्षमिति भावः । आतमिति शेषः । स्नेहसंयोगाज्जस्यादा सुतनुवन्कोऽपि
सकलः पदाऽर्थो विरहकाले कुचकणः संघात इति भावः । अत्र परिणामाज्जङ्गारः ।
विरहिणी वृत्तम् ॥ ४३ ॥

कस्याक्यायेति । हे सासवरमुक्ति ! इत्थं व्यतिकरं कस्य आक्याय सुतनुः को
भवेद्यम् । जगद्यो आधयोः निमृत्तं स्नेहसारं को आभीते ? एके मे मनः प्रेमलस्य
जानाति । हे मित्रे ! एतत् स्वामेव विरलं अनुगतं, तत् ॥ करोमीत्यन्वयः ।

हे सासवरमुक्ति = हे चन्द्रानने सीते !, इदम् = इदानीम्भनं, व्यतिकरं = विपत्तिः,
विशोगक्यामिति शेषः । कस्य = जनस्य, चतुर्गर्भे वल्ली । आक्याय = कवचित्पदा,
सुतनुः = त्यक्तीति ।

‘सुदृढि विरमत्तरचिते गुणवति मृत्वेऽमुपतिमि कलने ।

स्वामिनि सीद्धदुजे निवेश दुःखं सुखी भवति ॥’

बाहुते सङ्घ, नवा देवीश्व पूरु भावने सुन्दर और कमलका उपवन कुम्भगङ्गोके समुद्र
के बराबर इस प्रकार हे सुन्दरि ! सुन्दारे विशेषके कारण यह संसार ही प्रतिपक्ष ही
रहा है ॥ ४३ ॥

और भी—हे चन्द्रमुक्ति ! इस विपत्तिकी, कित्ते बड़ाकर आनन्द ॥ ४३ ॥ हमदीर्जके
अन्वय अन्वयतलको कौन जानता है ! यह मेरा मन उसे कहता है । (हे मित्रे), कलने

आनात्यैकं विलम्बपरिणामि । प्रेमसर्वं ज्ञाने मे,
स्वामेवैतन्निर्मलमुपसंस्तुयिष्ये । किं करोमि ॥ ४४ ॥

(सीता स्वयं)

मित्रता—सखि ! त्वमपि रघुपतेः किमपि संवेदां शस्त्रमिज्ञानं न
समर्पय ।

सीता—अयं मे प्रतिसन्देशः । (इमो मे पत्रिसन्देशो)

बहुलगात्रप्रयत्नजलनिर्गन्धरपर्याकुलापि मम वक्षिः ।

तव हृदयम् । वदनशशधरसावण्यरसं विधासति ॥ ४५ ॥

(बहुलगात्रप्रयत्नजलनिर्गन्धरपर्याकुलापि मह दिव्यी ।

वह सुहृद वदनसहस्रर सवैष्णवरसं विधासेदि ॥)

इति न्यायेन सुखीति भावः । मयेयं = स्यात्, उभयोः = इत्योः, आशयोः = तव
मम चेति आशयः । मित्रता = प्रणम्य, स्नेहसारं = मलयसारं, कः = कस्य, आशये =
केचि, न कोऽपीति भावः । पृष्ठम् = एकसाधे, मे = मम, ममः = इत्वं, प्रेमसर्वं =
प्रणम्यारसं, आनाति = वेति । हे प्रिये = हे दयिते सीते !, वरम्पु पतत् = मदीयं
जलम्, स्वामेव = अवसीमेव, निरं = बहुसमयपूर्वम्, अनुगतम् = अनुगतम् । तत् =
सत्माकारणम्, किं करोमि = किं विदुषामि, कथम्भारं = कुलमपवसातीति न आना-
सीति भावः । अत्रोपमाऽऽह्वारः । मन्दाकन्ताधृतम् ॥ ४४ ॥

वक्षेति । हे सुहृद ! बहुलगात्रप्रयत्नजलनिर्गन्धरपर्याकुलापि मम वक्षि तव-
सावण्यरसं विधासतीत्यन्वयः ।

हे सुभाग = हे लौभाप्रसादिन् !, बहुलगात्रप्रयत्नजलनिर्गन्धरपर्याकुलापि = बहु-
लम् (अभिर्धं यथा तथा) महत् (प्रसक्तम्) वरं नयनसक्तम् (वक्षः) सखि-
विहारेण (प्रकाशेण) पर्याकुलापि (वलितबाहुतापि), मम = सीतायाः, वक्षि =
मयर्तं, तव = ममता, वदनसहस्रधरसावण्यरसं = वरम् (सुखम्) एवं वदधेरः

नो बहुल समय वक्षेति दुन्दुभारा अनुसरण किया है । इत्यन्तं मे न्या अर्थः ॥ ४४ ॥

(सीता कवाती है ।)

मित्रता—सखि ! त्वमपि रामचन्द्रयोस्तु क्व सखि नौर प्रत्यभिज्ञानं (विद्वं)
येति ।

सीता—वह मेरा प्रतिसन्देश है—

हे लौभाप्रसादिन् ! प्रसक्तवते । विद्वन्मते नोऽपि मया ही अस्मिन्-दोमिपर नो मेरा
नैव आने प्रसक्तवते लौभाप्रसादि पान करके ही वक्षः दक्षता है ॥ ४४ ॥

(चूडारत्नमङ्गलम् इत्युक्तं तत्रैव सप्तमं वक्ष्यते)
अपि चूडारत्नम् ।

अपि सालय निजमङ्गलं राजनीचरद्विपांसुपांशुकिं ।
रघुपतिपदनिर्मलमकरजनीकखण्डौत्सनीरनिकरे ॥ ४६ ॥

(अथ चूडारत्नम्)

(वि चूडारत्नं निजमङ्गलं-रत्नमङ्गलं दिव्यमङ्गलं प्रकृतम् ।

रघुपतिपदनिर्मलमकरजनीकखण्डौत्सनीरनिकरे ॥)

इत्युक्तम्—देवि ! अनुज्ञावीहि ! त्वरयति मां रामचन्द्रचरणदर्शनो-
त्तरम् ।

(अर्थः) तस्य राजचरसं = सौन्दर्यलक्ष, विपांसु = पाशुमिष्यति । अत्र चूड-
ारत्नमङ्गलं इति विशेषेण सौतायाः सत्त्वविषयम्, राजनितयेनाचरणेन दर्श-
नाऽभावे न्ययते । एवं च तत्त्वमङ्गलविहारेणैवैवमङ्गलं विपांसुतिथिः विशेष-
मङ्गलं । ताया चूडम् ॥ ४५ ॥

अपि सालयेति । राजनीचरद्विपांसुपांशुकिं निजम् अङ्गं रघुपतिपदनिर्मलम-
करजनीकखण्डौत्सनीरनिकरे सालय कपीत्यन्वयः ।

अपि चूडारत्नम् = हे किरोत्सव ! राजनीचरद्विपांसुपांशुकिं = राजनीचरस्य
(राजस्य, राजस्येति भावः), या इति (लोचनम्) सौ पांशु (पृथिः), तेषां
पांशुकिं (पृथिवित्वम्, अपवित्रीकृतमिति भावः), सालयं निजं = स्वकीयम्,
अङ्गं अङ्गं = शरीरं, तत् रघुपतिपदनिर्मलमकरजनीकखण्डौत्सनीरनिकरे = रघुपतेः
(रामचन्द्रस्य) पदस्य (चरणस्य) निर्मलः (स्वच्छः, निष्कलङ्कः) यो मला
(मलः) स एव राजनीकरः । (चन्द्रः) तस्य ज्योत्स्नं (ज्योत्स्नासम्बन्धि) यत्
वीरं (लक्षम्) तस्य निकरे (समूहे), सालय यदि = प्रवालम् अपि, पवित्री-
कृतिरिति भावः । अत्र अमलमङ्गलम् । गीतिर्भूता, सत्त्वविषयं यथा चूडारत्नमङ्गलम्—

‘अर्थां प्रथमद्विकं, यदि कथमपि कथनं भवेदुक्तम् ।

कथनेः कृतपतिप्रोमा, तां गीतिं गीतवान्मुक्तम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

(चूडारत्नं निजमङ्गलं इत्युक्तं तत्रैव सप्तमं वक्ष्यते)

हे चूडारत्नम् ।

राजस्य इति पृथिवी पृथिवी पृथिवी अङ्गं रघुपतेः निर्मल मकरजनीक खण्डौत्सनीर-
निकरे ॥ ४६ ॥

इत्युक्तम्—देवि ! कथा दीक्षितः । इति रामचन्द्रके चरणदर्शनोत्तरम् अङ्ग-
कृतम् ।

सीता—(सपाशमद्रवम्) अय्यकारणस्निग्धं, प्रतिगते त्वयि पुनरपि को मम कथयिष्यति रघुनाथस्य प्रवृत्तिम् ? (अहं अकारणसिद्धिः । पक्षिणोऽपि पुनोपि को मम कथिष्यति रघुनाथस्य वृत्तिम् ?)
 हनुमान्—अयि देवि ! दिष्ट्या स्मारितोऽस्मि । नन्विदं ते सन्निवृत्तं देवेन देव्याः ।

मा ताम्य तामरसपत्रविशालनेत्रे !
 विवधाप्यते पुनरपि त्वयि मत्प्रवृत्तिः ।

सौमित्रिकामुक्तगुणध्वनिभिर्गभीरै-
 स्तोः किञ्च राक्षसघ्नूदितैरुद्यतैः ॥ ७७ ॥

सीतेति । अकारणस्निग्धं = अहेतुकवस्तु । प्रवृत्तिः = वृत्तान्तम् ।

मा ताम्येति । हे तामरसपत्रविशालनेत्रे ! मा ताम्य । गभीरैः सौमित्रिकामुक्त-
 गुणध्वनिभिः किञ्च उद्यतैः ते राक्षसघ्नूदितैश्च त्वयि पुनरपि मत्प्रवृत्तिः विवधा-
 प्यत इत्यन्वयः ।

हे तामरसपत्रविशालनेत्रे = तामरसपत्रे (कमलपत्रे) इव विशाले (सीते)
 नेत्रे (मूले) अस्याः शतसङ्ख्ये, हे कमलपत्राक्षि सीते !, मा ताम्य = मेरे मा
 मम् । त्वय हेतुं प्रवृत्तयति—विवधाप्यत इति । गभीरैः = गम्भीरैः, सान्नेरिति
 मानः । सौमित्रिकामुक्तगुणध्वनिभिः = सौमित्रैः (कथमनस्य) यत्कामुक्तं (यद्वा)
 स्वयं गुणैश्च (ज्ञातैः) ध्वनिभिः (शब्दैः) । किञ्च = अपरञ्च । उद्यतैः = मन्दितैः,
 विस्तीर्णैरिति भावः । तैः = अविश्वामित्रैः, राक्षसघ्नूदितैश्च = राक्षसपक्षीरुद्यतैश्च,
 पतिमरणकोकविति शेषः । त्वयि = अकारणं विषये, पुनरपि = पुनोऽपि, मत्प्रवृत्तिः =
 मदीया वार्ता, विवधाप्यते = प्रसिद्धिं प्राप्यत इति भाषा ।

कथमनघदुर्मतिद्वारेतिविस्तारमुपगतैः पक्षिभिश्चोत्तरप्रवृत्तैः राक्षसघ्नूदितैश्च-
 ध्वनिभिश्च त्वदन्तिके विवधकया मत्प्रायां सूचयिष्यत इति भाषा । अत्र विवधाना-

सीता—(आसू शिराकर और नहर दोकर) हे अहेतुकवस्तु । पुनरपि त्वयि पर
 फिर कोन मुझे रघुपति का वृत्तान्त बतलायेगा ?

हनुमान्—हे देवि ! आप्यते आपने मुझे जाह दिलावे । महाराजने आपने 'पेसा'
 हन्येस दिया है—

कमलपत्रने तुमव सीते नेनेसे शोभित हे सीते । तुम खेद बत करो । गम्भीर कथम-
 अनुदी प्रत्यक्षने ज्ञान और राक्षसघ्नूदितैश्च त्वयि त्वयि फिर मेरा वृत्तान्त
 बतिका करेंगे ॥ ७७ ॥

(नेपथ्ये)

हस्ता कथञ्चिदपि राजकुमारमवा-
रे वानरापसव । कुत्र पलायितोऽस्ति ।

स्त्री हन्तुमिच्छति दशाननशासनेन
दर्पोक्षतो घृतघनुर्ननु । मेघनादः ॥ ५८ ॥

हनुमान्—देवि, कृतकार्योऽस्मि, तदसंभवः परमात्मापलापेन ।
सदिदं प्रणम्यसे, आपृच्छ-यसे च ।

सीता—अये पयननन्दन, जनायासेनेमं दुर्निश्चाचरसागरमति-
क्रमस्य । (अथ पयननन्दन । अथाप्राप्तेन इमं दुर्निश्चाचरसागरं अतिक्रमेहि)

रामविजयकथनाभ्यां दर्शयामासपद्यां चोक्तमकृतमस्तद्वचनं यथा साहित्यदर्पणे—
'पद्यां चोक्तं यदा मन्त्रमात्म्यमेवाऽभिधीयते ।' इति । यस्तन्मतिक्रमवृत्त्यर्थं ॥ ५७ ॥
हस्तेति । रे वानरापसव । राजकुमारम् कथं कथञ्चिदपि हस्ता कुत्र पलायि-
तोऽस्ति । ननु ! दर्पोक्षतो घृतघनुः मेघनादे दशाननशासनेन स्त्री हन्तुम् इच्छ-
तीत्यन्वयः ।

रे इति जनापराधकथ । रे वानरापसव = हे कविनीच । राजकुमारं = मृग-
युजम्, कथं = कदाकथं राक्षसं, कथञ्चिदपि = केनाऽपि प्रकारेण, हस्ता = व्यापाक,
कुत्र = कस्मिन्स्थाने, पलायितोऽस्ति = पलायनं कृतवानस्ति । नमित्वात्मनो । हे
वानरापसव ! दर्पोक्षतः = दर्पेण (गर्वेण) उज्जतः (अविधीतः), घृतघनुः =
गृहीतकस्युक्तः, यत्र समासाऽन्तर्बिधेरित्यत्वात् 'अनुपपन्ने'त्यन्वयेऽभावेन एतदन्वये
तिश्रोताऽभावः । मेघनादः = हनुमति, दशाननशासनेन = रावणादेशेन, स्त्री =
वानरापसव, हनुमन्मिति भावः । हन्तुं = व्यापादयितुम्, इच्छति = चाहति ।
अतो वीरोऽस्ति यदि, पुनरपि युद्धसचको भवेति भावः । यस्तन्मतिक्रमवृत्त्यर्थं ॥ ५८ ॥
हनुमानिति । कृतकार्यः = कृतकृत्यः । अतमापकापेन = स्वमित्रत्वेन । जातु-
चक्षते = दमनाधीमिति शेषः ।

(नेपथ्ये)

रे भवत वानर ! राजकुमार भङ्गकी किटी भी मकारसे मारकर दू कहीं भाग गया
है ? भरे कुछ । गर्वसे उठण्ड भनुधारी मेघनाद, रावणकी आज्ञासे तुझे मारना चाहता है ।
हनुमान्—देवि । कार्यकर चुका हूँ । इसके अनन्तर अपनेको शिपाना नहीं चाहिये ।
इतिदि मे जापक भगवान करता हूँ । और जानेके लिए प्रयत्न भी हूँ ।

सीता—हे राक्षस ! जिना परिधमके ही इस कुछ राक्षसक संहारका व्यवहम करणी ।

हनुमान्—अयं मूर्ति गृहीतो देव्याः प्रसादः (इति निष्पन्नः) ।

सीता—इहा त्रिजटे, लेखी भूत्वा प्रेक्ष्य तावदस्य वृत्तान्तम् ।
(इत्य, लिखते । लेखी भूत्वा पत्रेण वा इत्यस्य उक्तम्)

त्रिजटा—तया (इति निष्पन्ना) ।

(त्रिजटायै)

वर्णनमेवमेव—कथयति च तथा मेघनादस्य वृत्तान्तम् ।

(सर्वे हर्षं नाटयन्ति) ।

(पुनर्नपथ्ये)

अतोऽयं राजसेन स्वस्वजनकशिक्षादीसपुच्छः कृतश्च ।

(सर्वे विषादं नाटयन्ति)

सीतेति । लेखी = लेखिकाचारिणी, लेखयतीति, 'लेख' इत्यधिक्येन उपलब्धे शब्देन, तत्पुच्छे कृतिं वाहकम् इत्यलुक् ।

वर्णनमेवमेव । पुनर्नपथ्ये मेघनादस्य वृत्तान्तं वर्णयति । राजसेन-
अथ वरः, स्वस्वजनकशिक्षादीसपुच्छः कृतश्च । लक्ष्मिकामास्य उपरि कृतपदं वामम्
पुच्छं गृह्णां इत्युच्यते । अस्त्यन्तीत्यं पयोधेः पथि त्वाङ्गकानं कृत्वा तुं सम-
स्त्यन्त्याः ।

एवाः = भयं, धीरः = यूरः, हनुमानिति भावः । मेघनादस्य = इन्द्रजित्वा राजस-
पुत्रेण, तथा = कोरेण, मुच्छम् = प्रक्षिप्तम्, वर्णयति = वारयति, कथयति =
संक्षेपे, कथयति इत्येतत्वाद्यं सर्वनामं प्रयोगः । सद्यः राजसेन = निजःपुत्रेण,
मेघनादेन च वर्णयति इत्युच्यते, कथर = सिता, वर्णयति इति भावः ।
पुनर्नपथ्ये = पुनर्नपथ्ये (पुनर्नपथ्ये) अत्रान्तः (अन्ति)
तस्य विषया (अन्ति) दीप्तं (वृत्तम्) पुच्छं (लक्ष्मिकाम्) यस्य सः, तावत्
कृतश्च = विदितश्च । लक्ष्मिकामास्य = राजपुत्रास्य, उपरि = ऊर्ध्वभागे, कृतपदं =

हनुमान्—देवीस्य इति प्रस्तावको नैवे किरण रत्न लिखा ।

(देवा कथयति वाते है ।)

सीता—तस्मिन् त्रिजटे । लक्ष्मिकारिणी दीप्त इत्यस्य वृत्तान्तं देवो लेखी ।

विषयः—लक्ष्मीं वाते है । (देवा कथयति वाते है ।)

(त्रिजटायै)

वर्णनमेवमेव—कथयति च तथा मेघनादस्य वृत्तान्तम् ।

(सर्वे हर्षं नाटयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

काम्यन्वहासिकामानुषरि कुरुपदो यन्वहीत्येव कङ्का

(सर्वे हर्षविधादौ नाटयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

अङ्गुष्ठोऽर्थं पयोधैः पथसि क्षमयसि स्वाङ्गसङ्गं कुरुपदम् ॥४४॥

(सर्वे हर्षं नाटयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

अहो, आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

केलाट्टेरस्य हेलाकभणपरिणतस्तुङ्गमाकम्भ्य मृङ्गं

मौक्तं पूर्वाचक्षस्य शुभणिरिच नभो लङ्घयत्यङ्गुराशिम् ।

विहिताऽवस्थितिः, अत एव काम्यन् = पादमिच्छेयं कुर्वन्, पयोः = अर्थं इत्युत्पत्तिः, कङ्का = रावजपुत्री, यन्वहीति = क्षमयसि इति । इत्यमपि भाट्टान्तः = कसिन्ना, अङ्गुष्ठवन्धनेन पुण्ड्रिधनेन चेति शेषः । अर्थं = इत्युत्पत्तिः, पयोधैः = समुद्रस्य, पथसि = मले, स्वाङ्गसङ्गम् = आत्मसरीरसङ्गं, कुरुपदम् = अग्निः, क्षमयसि = निर्वपयति । अङ्गुराशिम् ॥ ४४ ॥

केलाट्टेरिति । शुभणिः पूर्वाचक्षस्य मौक्तिस्य आकम्भ्य नम इव हेलाऽऽकम्भपरिणतो इत्युत्पत्तिः अस्या केलाट्टेः तुङ्गं मृङ्गम् आकम्भ्य वेगाद्योद्भूतवातमतिहृतसलिले-

(फिर नेपथ्यमें)

राक्षसने वीरकर दीप्त्वाम अग्निको ज्वालासे उसकी पुंछ पका रो ।

(सब छिदका अभिनय करते हैं ।)

(फिर नेपथ्यमें)

मन्दारिणीके ऊपर पैरोंकी रककर धूम धूमकर वह लङ्काको चूर पका रहा है ।

(सब हर्ष और विषादका अभिनय करते हैं ।)

(फिर नेपथ्यमें)

इस मन्दारिणी भी क्षिप्त न होकर वह भीरु समुद्रके जलमें अपने शरीरमें सम्पन्न जागकी मुद्रा रहा है ॥ ४५ ॥

(सब हर्षका अभिनय करते हैं ।)

(फिर नेपथ्यमें)

अहो ! आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

सूर्य उदयपूर्वककी थोड़ी पर चक्कर जैसे आकाशका कक्षन करते हैं उसी प्रकार अवातास ही उलट्टन करते हैं बुद्धि प्राण इत्युत्पत्तिः इस विदूष पर्वतकी जैसी थोड़ी पर

वेगमोहमृतवातमतिद्वयसलिलोष्णकण्ठभीरुघर्भ—

द्व्यंकीभूतोरोगैश्चस्तुतिघातविषसत्कीर्तिहारा रोहन्मान् ॥३०॥

सीता—(नेपथ्याभिमुख्येन) हृत्ता त्रिजटे, भवतीर्णोसि महीतलम्, तत् प्रियंवदाग्रस्तवालिक्रान्थ्यङ्गानि । (हस्त तिष्ठते । भवतीर्णोसि मही-
कणम् । ता विषवदाग्र तुम् आलिक्रेमि अत्राहं) (इति निष्क्रान्तः ।)

रामः—प्रिये ! मामपि प्रतीक्षस्व ।

शुक्लकण्ठभीरुघर्भश्चक्षुभूतोरोगैश्चस्तुतिघातविषसत्कीर्तिहाराः (सन्) { अश्वुराणि
कङ्कपतीत्यन्वयः । घर्मणि = सुप्री, घूर्णोऽप्यन्वयः = प्राचीपर्वतस्य, उग्रयाऽप्यन्वयेति
भावः । मीकिं = शिकरम्, मीकम् = आरुह्य, मम इव = आकाशमिव, हेकाऽऽ-
कामनपरिणता = हेकाया (अवापासेन) मय आक्रमणे (कङ्कनं), तस्मिन् परिणतः
(परिणामे गता, कूर्चि गत इति भावः), तावतो हन्मान् = आक्रमेयः, अस्थ =
निष्कटस्थस्य, वेलाऽङ्गे = समुद्रतटाभरिधतस्य पर्वतस्य, त्रिकूटाऽप्यन्वयेति भावः ।
तुङ्गम् = उन्नतं, भङ्गं = शिकरम्, आक्रम्य = आरुह्य, वेगमोहमृतवातेत्यादिः = वेगेन
(ज्ञेय, रामनञ्जितेनेति भावः) प्रोहन्तः (समुत्पन्नः) यो वातः (वायुः) तेन
महिह्वम् (उद्धतम्) परासकिलं (जलम्) सेतोऽशुक्तः (त्यक्तः) यो रामोरोगभैः
(वासीरुक्लभारस्वानम्) तस्मिन् द्व्यंकीभूतः (सुदीभूतः) य उरोगम् (नाग-
राजः, रोष इति भावः) तेन कृतं भस्तुतिघर्भं (यवसतं, स्तुति संहतिरिति भावः)
तेन निष्कसम्भी (शोभमाना) वा कीर्तिः (वृत्ता) सैव हारः (मौक्तिकमावयम्)
अस्य सः कविसमये कीर्तेः शुभवर्णवादिपञ्चकः । तावताः सन् हन्मान्, अस्तुः
राणि = समुद्रं, कङ्कपति = मलिकामति । यथा सूर्य उग्रयाऽप्यन्वयेति भावः ।
कङ्कपति तथैव हन्मानपि निष्कटसितरमाकङ्क समुद्रं कङ्कपतीति भावः ।

अत्रोपमाकल्पयोर्निधोऽन्येष्वपि स्थितेः संघट्टिः । साधरकृत्स्नम् ॥ ५० ॥

सीतेति । प्रियंवदायाः = अमीहभाषिण्या, हन्मस्तुतासमस्तुतिघातपलेनेति शेषः ।

राम इति । प्रतीक्षस्व = प्रतीक्षां कुरु, आशिङ्गमार्गं दर्शनाऽप्यं चेति शेषः ।

अत्र वेगमोहमृतवातमतिद्वयसलिलोष्णकण्ठभीरुघर्भं सुदीभूतं ज्ञेयमापते श्री
गर्भं सेवकीं स्तुतिर्वीर्यं शोभमानं वशीकृतं हारवाले शोभनं समुद्रात् कङ्कनं कर रदे ॥ ५५ ॥

सीता—(नेपथ्यकी भोर देवकर) सखि धिक्ते ! तुम्भूतकण्ठं गगर गौ ह्री, इह
किम् अमीहभाषिणी तुम्हाटे महीको आशिङ्गं करती ॥ (पैठां कङ्कनं जाती ॥)

राम—प्रिये ! मेरी बी प्रतीक्षा करे ।

कवयः—आर्य ! किमिदं लब्धवृत्तान्तानुसारिणि विद्याधरप्रणीते
महेन्द्रपाले मुनः संश्रम्यते ।

रामः—तर्हि दिष्ट्यास्मान्निर्भोजयिष्मकयापराङ्मुखस्यापि हनूमात्-
स्वरितरहस्यमाकलितम् ।

(नेपथ्ये)

अये रघुनाथ, अयमसौ—

वर्षोद्धतं दधिमुक्तं तरसा निपीज्य

पीत्वा चिरं मधुवने स्वरसं मधूनि ।

कवय इति । संश्रम्यते = संश्रमः क्रियते ।

राम इति । दिष्ट्या = भाष्येन । निभयिष्मकयापराङ्मुखस्याभिभव (स्वल्प)
या निष्कमकया (पराक्रमकीर्तनम्) एव पराङ्मुखस्य (विमुक्तस्य) । हनूमात्
शीतलमृत्तिमात्रं वर्णयिष्यति साक्षीनतया स्वविक्रमं न प्रतिपादयिष्यति परमस्मा-
भिर्भोग्यवशादेन्द्रवाहिकयापारास्तर्षोऽपि श्लेषादतिशयो हि हनूमत्पराक्रमो ज्ञात
इति भावः ।

वर्षोद्धतमिति : श्रीलङ्कावधूतिभिः सहितो हनूमात् वर्षोद्धतं दधिमुक्तं तरसा
निपीज्य मधुवने मधूनि स्वरसं चिरं पीत्वा भवतः पदपङ्क्तौकां ब्रह्म समेतीत्यन्वयः ।
श्रीलङ्कावधूतिभिः = श्रीलङ्कावादिभिः स्वमित्रैः, सहितः = युक्तः, हनूमात् =
लाञ्छनेन, वर्षोद्धतं = वर्षोद्धृतं, मधुवने कृतकार्यान्हनूमदादिवानरान् फलमकम्प-
यित्वायेति शेषः । दधिमुक्तं = मधुकमरचर्कं सुभीयमानात् फलमभिभार्यः, तरसा =
मलेन, निपीज्य = साश्लिष्यं पीबयित्वा, मधुवने = तद्वन्ये फलप्रसूरे वने, मधूनि =
फलप्रसरसान्, स्वरसं = मयेष्टं, चिरं = बहुकालपर्यन्तं, पीत्वा = लाप्त्वा, अयमसौ

कवयः—मार्ग १ लब्धवृत्तान्तका अनुसरण करनेवाले विद्याधरनिर्मित महेन्द्र-
पालके क्यों आप फिर आनंद हो रहे हैं ?

राम—जब मागसे हम लोगोंके अपने पराक्रमकी बात कहिये विमुक्त होनेवाले
हनूमाजीके चरित्रका रहस्य जान किया ।

(नेपथ्ये)

हे रघुनाथजी । यह—

शोक और मज्ज नहि निर्भोजी साथ हनूमात्, वैसे व्यक्त दधिमुक्तको वनसे

दृष्टुं समेति भवतः पक्षपक्षीणां

नीलाक्षमधुतिभिः सहितो हनुमान् ॥ ३१ ॥

रामः—वत्स, आकर्षितम्, तदागच्छ, कृतकार्यं हनुमन्तं प्रत्युद्गच्छापः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति पद्योऽङ्कः ।

भक्तः = तब श्रीमत्तो रामचन्द्रस्य, पक्षपक्षीणां = परणकमण्डपसोमा, दृष्टुं = निरीक्ष-
विष्टुं, समेति = समापच्छति । अत्रोपमाऽङ्गकारः । वत्सपक्षिकमधुसूतम् ॥ ५१ ॥

राम इति । तव = तस्मात्प्रदत्तात् । प्रत्युद्गच्छापः = प्रत्युद्गमनं कुर्वी, हनुमत्तक-
गताऽर्थमात्रे पक्ष्यात् इति भावः ।

इति श्रीसेवराजसर्मप्रणीतायां चन्द्रकण्ठनिकषायां प्रसन्नरागव-

न्यासपायां पद्योऽङ्कः ।

श्रीं वत्सपक्षीमदामचन्द्रचरणाऽर्पणमस्तु ॥

वीक्षित कर मधुमत्तं पुष्पस्रग्धुत समवतल धमेष्ट वीकरणाके चरणकमण्डपौ श्रीमा
देवतेके त्रिप भा रहे हैं ॥ ५१ ॥

राम—वत्स ! श्रुत किया । इतिव्य नाभो, कृतकृत्य हनुमान्को कल्याणी करें ।

(सब जाते हैं ।)

इति पद्य पद्यः ।

कथं सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति पुस्तकालयः)

पुस्तकालयः—(पठितो विनीतः) अपरिशीलितसन्निवेशोऽस्मि ।
सत्कथं पृच्छामि तस्य भजनम् ? (पुनर्विलोक्य) कथमयं लङ्केभरमहा-
मन्त्रिणो मातुल्यवतः परिचारकः कराण्डकः । (रुच्यैः) सखे कराण्डक !
इत इतः ।

(प्रविश्य)

कराण्डकः—मुने ! प्रणम्यसे ।

मुनिः—समीहितं लभस्व । कथय साध्वन्ने विनीतपणस्य भजनम् ।

कराण्डकः—किन्तु ?

मुनिः—आदिष्टोऽस्मि भगवता पुस्तकालयेन कस्यि सन्देशमुपनेतुं
पौत्रस्य ।

कराण्डकः—अ साधयिदानीमिह विनीतपणः ।

पुस्तकालयः इति । अपरिशीलितसन्निवेशः = अपरिशीलितः (अपरिचितः)
सन्निवेशः (स्थितिः) यस्य सा । परिचारकः = सेवकः ।

कराण्डकः इति । प्रणम्यसे = अभिवास्यसे ।

मुनिरिति । समीहितम् = लभ्यम् । मे = मया, निपातान्तरात्पूर्वी ।

(भगवन्तं पुस्तकालये दिव्यं प्रवेशं करोते ॥)

पुस्तकालयः—(चारुं गौर देखकर) यहाँके स्थायीका मुझे पता नहीं है । एकदिव
तेरी वनका गहन पृष्ठ ? (फिर देखकर) किस प्रकार लङ्कापति रावणके सहामन्त्री मातुल-
भाएका नौकर कराण्डक यहाँ आया । (जँचे खरते) भिन्न कराण्डक ! यहाँ आनी, यहाँ
आनी ।

(प्रवेशकर)

कराण्डकः—मुने ! प्रणाम करता हूँ ।

मुनिः—समीहित कल पावो । विनीतपणका भजन मुझे पता नहीं ।

कराण्डकः—यहाँ क्या है ?

मुनिः—बीतेको कुछ समयह देनेके लिए भगवान् पुस्तकालये मुझे आवा दी है ।

कराण्डकः—इत समय यहाँ पर विनीतपण नहीं है ।

मुनिः—कथय किमेतत् ?

करालकः—एकदाभिन्नवसनतो विभीषणस्य करात्सकौस्तुभं लिखित-
अक्षपट्टि पत्रमेकं गृहीतं लङ्केधरेण वाचितं च—

उर्वकभूतिमिच्छन्निः सन्निः सन्तु न हरपदे ।

चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभासपट्टिका ॥ १ ॥

मुनिः—अहो ! प्रभुविज्ञप्तिचातुरी विभीषणस्य ।

करालक इति । लिखितः अक्षपट्टि = लिखित (लिपीकृत) अक्षरात्मो (कथ-
याम्) पट्टि (भाषाति) परिमल्लत् ।

उर्वकभूतिमिति । उर्वकं भूतिम् इच्छन्निः सन्निः परस्त्रीभासपट्टिका चतुर्थीचन्द्र-
लेखा इव न हरपदे सखित्वमवयव ।

उर्वकभूतिम् = उर्वकं (उत्तरफले) भूतिम् (ऐश्वर्यम्) इच्छन्निः = वाञ्छन्निः,
सन्निः = सख्यैः, परस्त्रीभासपट्टिका = परस्त्रियाः (अम्बुवोषितः) आलम्ब्य (पृष्ठा-
टम्) एव पट्टिका (कौलेयम्) चतुर्थीचन्द्रलेखा इव (भाद्रहृत्कलचतुर्थीचन्द्रेणा
इव), न हरपदे = न अक्षलेकयते, सखित्वे निश्चयेन । कथयामेभ्युभिर्जनैः भाद्र-
हृत्कलचतुर्थीचन्द्रेणैव परस्त्रीमुखं नः अक्षलेकयते, मत्तस्तथा सीताऽतुरादि परिहर-
णीयेति भावः । भाद्रहृत्कलचतुर्थ्या चन्द्रवर्षविवेकमाह मार्कण्डेयो यथा—

‘सिद्धान्त्ये हृत्कलचके चतुर्थ्या चन्द्रवर्षवत् ।’

त्रिष्याऽभिवृत्तं कुर्यात्समात्पर्येण सं तद्वा ॥ इति ।

अक्षपट्टिका चन्द्रवर्षेण भाते तद्दोषपरिहारो यथा भविष्यपुराणे—

‘सिद्धः प्रसेतमन्धीतिहो जाम्बवता हतः ।

मुकुमारक मा रीरीस्तपक्षेव स्वमन्त्रकः ॥ इति ।

रत्नेकोऽयं दोषस्तान्मन्त्रं पालव इति भावः । अत्रोपमाश्रद्धाः अद्भुतमुत्तमम् ॥

मुनिरिति । प्रभुविज्ञप्तिचातुरी = स्वाभिनिष्ठापनचातुर्यम् ।

मुनिः—अहो, यह बात क्या है ?

करालक—एक बार भगाम करनेवाले विभीषणके शपथे अक्षरपट्टिसे पूर्ण एक पत्र
राखने पाया। और चौदहवें सात बींवा बी—

मनिष्यमै कस्यान्को दम्भा करमेकाके सज्जन, परस्त्रीकी भासपट्टिकाकी भाद्रहृत्कलके
चतुर्थीकी चन्द्ररेखाकी तरह नहीं दीखते है ॥ २ ॥

मुनि—प्रभुकी विद्विषेदन करनेकी निपुणता विभीषणकी खूब है ।

सोऽपि त्वं जनकाधिराजतनयापद्ममिलानः कथं
हा जातोऽसि पुलस्त्यसन्ततिवशाद्योतयुतेर्लम्बुनम् ॥ ३॥

मुनिः—(सङ्कीर्णम्) वतस्वतः ?

करालकः—वतश्च—

कोपपाटलिलोकादिति किञ्चिदुत्तमितकङ्कयद्विना ।

राधनेन मयधर्मभूषणस्तादितो इति पदा विभीषणः ॥ ३ ॥

(सङ्) कथं पुलस्त्यसन्ततिवशाद्योतयुतेर्लम्बुनं जातोऽसि ? हा ! इत्यन्वयाः ।
वस्य = वन, रावणस्येति शेषः । लम्बुनकर्मोक्त्यादिः = लम्बुनकर्म (त्रिलोचनस्य,
कङ्कुरस्येति मायः) मूलौ (मिरसि) सेलन्ती (क्षीरन्ती) अमला (विर्मला)
का र्ककोकानां (वेवानाम्) कल्लोकिनी (महान्दी, अकाशगङ्गेति मायः) तत्पत्रं
कमलमा (अनायासेन) पञ्चजनम् (अतिकमलम्) तस्मिन् कम्पनेन (आसक्तेन),
पञ्चला = क्षीर्या, दिग्भक्त्या = वासाञ्जक्या, काकिताः = जीताः । वस्य से स्व-
गाञ्ज्याहकं यतोविगकहाद् काकितवदिति भावः । सोऽपि = तादृशसोऽवदा-
तोऽपि, त्वं = रावणः, जनकाधिराजतनयापद्ममिलानः = जनकाधिराजतनयापद्मा
(मैत्रिका, सहायामित्यर्थः) यदाऽमिलायः (कृतकामः, अतुरकः सन्निति मायः),
कर्म = केन प्रकारेण, पुलस्त्यसन्ततिवशाद्योतयुतेः = पुलस्त्यस्य (तदाक्यस्य अर्थः)
सन्ततिः (कृतम्) तस्या पद्मः (कीर्तिः) एव संतियुतिः (अन्तः), तस्य ।
लम्बुनं = कल्लुः, जातोऽसि = संयुतोऽसि । हा = त्वामिति शेषः, तव कोभ्यत इति
भावः । तादृशसोऽसाजनं त्वं परदारप्रसक्त्या पुलस्त्यवर्षसम्प्लस्य कल्लुसदृशः
संजातोऽसीति भावः । अत्र पूर्वार्थे पराधीनमुत्तरार्धे च कर्म तथा चैतयोर्मयोऽन्व-
येन विधत्ते संयुतिः । शार्दूलविकीर्णं कृतम् ॥ ३ ॥

कोपेति । कोपपाटलिलोकादिति किञ्चिदुत्तमितकङ्कयद्विना राधनेन मयधर्म-
भूषणो विभीषणो इति पदा तावित इत्यन्वयः ।

कोपपाटलिलोकादिति = कोपेन (कोपेन) पाटले (ईषद्वीकृते) कोके

आप्तक मितके पत्रने दिवालोको प्रकाशित कर विना है, मेरे होकर भी आप सीतार्थें
नगुराच हीकर किस प्रकार पुलस्त्यसन्तति के नक्षत्रान्दके कङ्कुरूप हो गये हैं ? हाय ! हाय !

मुनि—(उन्मूलक के रूप) तब क्या हुआ ? तब क्या हुआ ?

करालक—रा—

कोपे से पाप और चक्रवर्तीसे युक्त रावणने एकबार कुछ वडाकर सीति और धर्म-
रूप नक्षत्रार्थोंसे सम्पन्न दिवीवनके चक्रवर्तके चरचरकर किया ॥ ४ ॥

मुनिः—हन्त ! नृते—

छद्मेभ्यरेण तुष्टेन मयधर्मविभूषणः ।

विभीषणश्च न, परं विमर्षोऽपि पदा हतः ॥ ४ ॥

ततस्ततः—

कथालंकारः—ततः कतिपयपरिवारेण विभीषणेन लङ्केभरं विहाय राम एव समाश्रितः ।

मुनिः—(स्वगतम्) अनुष्ठितं तर्हि पुनस्त्यसन्देशरहस्यं विभीषणेन ।

⟨ चञ्चले ⟩ इती (नेत्रे) यस्य, तेन । किञ्चिदुक्तमितलङ्कारयतिना = किञ्चित् (ईष-
मया तथा) उन्नमिता (ऊर्ध्वोद्धृता) सङ्कायश्रि (कृमान्वन्धः) येन, तेन ।
राज्ञेन रावणेन = दृष्टाननेन, मयधर्मविभूषणः = मयधर्मौ (नीति-
गुण्ये) एव विभूषणे (विनिहायलङ्कारौ) यस्य सः, तादृशो विभीषणश्च = तद्वत्तयाः
स्वाश्रुतं पदम्, ॥ = न पदा हतः, परं = प्रत्युत, विमर्षोऽपि = ऐश्वर्यमपि, पदा = चर-
णेन, हतः = ताडितः । कोपाक्रान्तचित्तो द्रवामनः क्षद्गवन्धमीदृक्क-
मस्य हितोपदेशकं स्वाश्रयं विभीषणं चरणेनोदरस्थके प्रकृतवानिति भावः । अत्र
सङ्कायश्रिनेत्यत्र नाभासरूपकमलङ्कारः । लङ्कार्यं यथा 'कञ्जाकोके—'स्यालङ्कार-
रित्वेनविधमाभासरूपकम् ।' इति । रघोदवाधुतम् ॥ ४ ॥

छद्मेवरनेति । तुष्टेन छद्मेवरणेन मयधर्मविभूषणो विभीषणश्च न, परं विमर्षोऽपि
पदा हत इत्यन्वयः ।

तुष्टेन = दोषतुष्टेन, छद्मेवरणे = रावणेन, मयधर्मविभूषणः = मयधर्मौ (नीति-
गुण्ये) एव विभूषणे (विनिहायलङ्कारौ) यस्य सः, तादृशो विभीषणश्च = तद्वत्तयाः
स्वाश्रुतं पदम्, ॥ = न पदा हतः, परं = प्रत्युत, विमर्षोऽपि = ऐश्वर्यमपि, पदा = चर-
णेन, हतः = ताडितः । रावणे न केवलं विभीषणं चरणेन ताडितवाग्रस्युत विमर्-
मपि, अनेनाऽनधातिशयेन अधिहायेव रावणविमर्षो विमङ्गलतीति भावः । अनु-
श्रुतम् ॥ ५ ॥

मुनिरिति । कर्तृकारः = विधागुणः, कर्तुं कामो यस्य सः, 'तुं काममनसोरपि'

मुनि—श्रेष्ठी पाठ है । निम्न ही—

इत छद्मेवरने नीति और धर्मरूप अलङ्कारोंसे सम्पन्न विभीषणको ही नहीं बल्कि
ऐश्वर्यको भी चरणसे ताडित कर दिया ॥ ५ ॥

तब क्या हुआ ? तब क्या हुआ ?

करालक—तब कतिपय परिवारोंके साथ विभीषणने लङ्केसरको छोड़कर रामका
ही आश्रय किया ।

मुनि—(मन ही मन) तब ही विभीषणने पुनस्त्यके सन्देशरहस्यका अनुमान कर

(प्रकाशम्) भवान्पुनः किमप्युना कर्तुंश्रमः ?

कराटकः—अहमादिष्टोऽस्मि मातृवत्ता जानकीविरहविह्वलहृदयस्य लङ्केश्वरस्य मनोयिनोदनाय केनापि चित्रकारेण विरचितं चित्रमिव दृग्भोचरीकरणीयमिति ।

सुनिः—(विहस्य) कथमित्यमासन्नशत्रौ लङ्केश्वरे सादृशस्य महा-
मन्त्रिणो मातृवत्त एवमुपचरितुमुचितम् ? तन्भूतं प्रस्तुतोचितमेव किम-
प्येतद् भविष्यति ।

(नेपथ्ये)

रे रे चन्दनमिन्दुमण्डलमिलापद्वे समुद्रधूम्यताम्

रे रे चामरसुज्ज्वलैः शशिकरैः श्वेतं चित्रमियत्ताम् ।

रे रे बालमुष्णकतानुललितफासुमेव पाथोजिनी-

इति मञ्चोपः । आसन्नसत्त्वो = आसन्नः (भिद्यता) कष्टः । (बैरी, राम इत्यर्थः)
कल्प, तस्मिन् । उपचरितुम् = उपचारं कर्तुम् । अन्नावाप्तये चित्रदृशनेन स्वासी न
परिचरणीय इति भावः । प्रस्तुतोचितं = प्रकृतस्वितियोभ्यं, युद्धाधिकमिति भावः ।

रे रे चन्दनमिति । रे रे ! इन्दुमण्डलमिलापद्वे चन्दनं समुद्रधूम्यताम् । रे रे !
सुज्ज्वलैः शशिकरैः श्वेतं चामरं विमिश्रयताम् । रे रे ! बालमुष्णकतानुललितफासुमेव
पाथोजिनीवत्त्वैः त्वकिन्दुभिः मलिनको हारः समासुभ्यतामिदमन्वयः ।

रे रे = परिचारकाग्रति सम्बोधनपद्यमिदम् । इन्दुमण्डलमिलापद्वे = इन्दुमण्डलं
(चन्द्रकिरणम्) एव मिलापद्वं (पातालकण्डम्), तस्मिन् । चन्दनं = शशिकरः,
समुद्रधूम्यता = समुद्रवर्णं कियताम् । रे रे = परिचारकाः, तस्यज्ज्वलैः चामराणां,

स्मिन् । (गुणाकर) काप इह समय क्या करना चाहते हैं ?

कराटक—सापाके विरहसे बिल्कुल हृदयवाके लङ्केश्वरका दिव बहजनेके लिए
किसी चित्रकारसे किये गये वध चिन्को रिकानेके लिए मुझे मातृवत्ताने आभा दी है ।

सुनि—(हँसकर) खूब बिकट होते पर भी मैंने मन्मथमन्त्री आनन्दबागको इस तरह
रामकी सेवा क्या उचित है ? इसलिये यह मन्त्रित करने के ही उचित कोई काम होता ।

(नेपथ्यमें)

परिचारको ! चन्द्रकिरण पातालकण्ड पर चन्दन मिश्रो ।

परिचारको ! तन्वक चन्द्रकिरणोंसे सफेद चामर बनाओ ।

परिचारको ! पथीम, गुणाकरी, सुलकवाके सुलके चन्द्रकिरणोंके पत्तों पर स्थित कर-

पद्मस्यैवविष्णुभिर्मणिमयो हारः समासूयताम् ॥ ६ ॥

मुनिः—(सीपहासमात्मगतम्)—यादृशोऽयं शीतोपचारस्तादृशः पद्मः
शीतोपचारो लङ्केश्वरस्य अभिषेचनीति । (प्रहारम्) कथमिदं विरहसप्त-
स्य वराकन्धरस्य शीतोपचारार्थमादिरयन्ते निराश्वराः ।

करालकः—सैचरात्र, इदानीं हि—

अङ्गं क्षिपति चन्द्रमेव सृष्टुमिः शीतघृतिः स्यैः करैः,
किञ्चिद्विश्रुतालवृत्तककमध्यमो वसन्ताभितः ।

ससिधरैः = चन्द्रकिरणैः, स्यैः = शुकलं, चामरं = प्रकीर्णकं, बीजमार्थमिति भावः ।
निविर्भिषतं = विरच्यताम् । रे रे = परिचारका, बालभृजाकतन्मुक्तिकाधूषणं =
बालभृजाकतन्मुक्तिका (अशिमवविसस्य) तन्मुक्तिका (सूत्रवृत्तिः) सैव धूमं (तन्मुः),
तेन । पाथोनिमीपत्ररथैः = मणिनीदृशरिपतैः, उदकविष्णुभिः = लङ्केश्वरः, मणिमयः =
हलनिर्मितः, हारः = माला, समासूयतां शुभ्यताम् । पुतपोवत्वा रावणस्य अद्वे-
ज्वरपीडितत्वं तत्पुनर्मयमार्थमुपचारनिचयसंपादने लप्ता च व्यज्यते । अत्र सुप-
मलङ्कारः । शार्दूलविष्कितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

मुनिरिति । यादृशः = यथाविधः, चन्द्रमसमुत्कर्षणादिकम् इति भावः । शीतोप-
चारः = शीतापाय (मेथिपाम्) उपचारः (आचरणम्) ।

करालक इति । सैचरात्र = आकाशचारिणश्च, देवादय इति भावः । अद्वेज-
वत्तस्य रावणस्य शीतोपचारार्थमादिरयन्त इति शेषः । ये वरंभीति, चरेद् इति
इ प्रथमः । 'तापुस्तेति बहुलम्' इत्यल्लुक् ।

अङ्गमिति । शीतघृतिः सृष्टुमिः स्यैः करैः चन्द्रमेव अङ्गं क्षिपति । वसन्ताभितः
निविर्भिषतलवृत्तककमध्यमः । किञ्च अयं प्रतीचीपतिः मणिनीदृशो तत्त्वं वि-
श्रुते । इत्थं देवैः अनङ्गप्रसङ्गयो लङ्केश्वरः सेव्यत इत्यन्वयः ।

विष्णुभोते रत्नमयी मायाका मुष्कल हर बो ॥ ७ ॥

मुनिः—(उपहासके साम् अपने मनमें) मैसा यह शीतक अपचार है रावणका वेसा
ही सीवामें आचरण यी होना (सुनाकर) किस प्रकार विरहसप्तस रावणके शीतक अप-
चारके किय रङ्गसौकी याका वे रहे हैं ।

करालक—मायाकाचारी देव यी । इस समय—

चन्द्रमा कोमल अपने किरणोंसे (भववा हाथोंसे) पद्ममसे रावणसे अङ्गमें सेवन
करते हैं । वसन्त बाहु लुल चञ्चल पक्षीको शकावेमें आलुल है । ये पक्षिय विशाके कीक-

किं चार्यं नलिनीदलैर्वितनुते तस्यं मयीषीपति-
वैचैरित्यमनङ्गततद्दययोः खङ्केभ्यः सेव्यते ॥ ७ ॥

श्रुतिः—(स्वगतम्) अये, अलीकवागृह्णन्तरं निराचरस्य ।

कराङ्कः—(नेपथ्याभिरुत्तमवलोचन) कथमयं ग्रहस्तौ राजद्वारमुप-
सर्पति, तदस्थ इस्ते चित्रपटमर्पयिष्ये । भवानपि समीहितं साधयिष्ये ।

(इति निष्क्रमन्तौ)

इति विष्कम्भकः ।

लीलश्रुतिः=दिनांशुः, अत्र इत्यर्थः । सुदुर्मिः=कोमलैः, स्तैः=अस्मीपैः,
कैः=किरितैः, इतीरिति वा, 'अतिहस्ताऽस्तवाःकरा' इत्यमरः । चङ्केभ्यः=भीष्म-
ह्वयेभ्यः, अङ्गं=आलम्बनस्थलमधिकं, सरीराऽन्वयं, छिम्पति=छेपनं करोति ।
वस्त्राऽनिलम्=सुरमिवातः, किञ्चिन्नलताकृतवृत्तकमभ्यङ्गः=किञ्चिद् (ईषत्)
चङ्कलं (चपलम्) वद सात्त्विकतङ्कं (व्यञ्जनम्) तस्य ककने (चाकने) व्यञ्ज-
(भाङ्गः) वस्तीति शेषः । किञ्च=अपरं च, अयम्=पुनः, मयीषीपतिः=पक्षि-
मिश्रीकेशः, वस्य इति भावः । नलिनीदलैः=कमलनीपत्रैः, तद्वत्=सम्यक्, विल-
भुते=करोति, निर्मलीक्यर्थः । इत्यं=पूर्वोक्तकारैः, देवैः=सुरैः, चङ्कवातवदन-
प्रभृतिविरिति भावः । अनङ्गततद्दयः=कामसम्पत्तयकःस्थलः, खङ्केभ्यः=राजद्वार-
सेव्यते=परिचर्यते । एतेन शङ्कस्य अयम्भवितसम्प्राप्ताधिक्यं व्यज्यते । अत्र कदै-
रित्यत्र सत्यरुकेवाऽऽलङ्कारः । कादृक्किञ्चिद्विनां वृत्तम् ॥ * ॥

श्रुतिरिति । अलीकवागृह्णन्तरं=मिथ्यावचनारम्भं, चाकवमिति शेषः । अलीक-
मस्ति अस्मिन् सोऽलीकः, 'असौमादिभ्योऽङ्' इत्यप् । अलीकः (मिथ्याकृपा)
वाग्विभारः (वचनविभारः) अस्मिन्नपि । विष्कम्भक इति विष्कम्भककथनं पूर्व-
सेवोक्तम् ।

पाक वस्य, कमलके पत्रम् इत्यादिनां रङ्गं । इतः प्रसार देवतालोचनं कामदेवस्य सन्तुष्ट-
कथनं रत्नमन्त्रे सेवा कर रहे हैं ॥ * ॥

श्रुति—(मन ही मन) भरे ! राजद्वार का आलम्बन भावस्थ रहे ।

कराङ्क—(नेपथ्यकी ओर देखकर) कैसी वच् ग्रहस्त राजद्वारकी ओर जा रहा
है । इसपर मैं रुकके इत्यने चित्रपट छींटा हूँ । आप भी बर्षाई शिक करें ।

(दोषों भाते हैं ।)

इति विष्कम्भकः ।

(एतः प्रविशति राजनभिःपुत्रः प्रहस्तम्)

राजपुत्रः—(रुकात्मन्)

राजकुलकाटफलका कमनीयकूज-

स्काञ्चीगुणमणयिनी भूतकेशपत्नी ।

हा ! किं करोमि मम सा इदं प्रविष्टा

भाराचयदिरिव पुष्पसिखीमुक्तस्य ॥ ८ ॥

(विद्युत्) अहो, कथमद्यापि दृष्टाहरणस्त्रिभां नितान्तकुराधूसराङ्गी-

राजपुत्रि ! राजकुलकाटफलका कमनीयकूजस्काञ्चीगुणमणयिनी भूतकेशपत्नी सा पुष्पसिखीमुक्तस्य भाराचयदिरिव मम इदं प्रविष्टा । हा ! किं करोमीत्यन्वयः ।

राजकुलकाटफलका = राजपु (सोममानम्) कुलकाटफलकं (भाङ्गपीठम्) नारा-
चयदिरिव कुलकाटमेव फलकं (चाणाऽम्भम्) यस्य सा । कमनीयकूजस्काञ्चीगुण-
मणयिनी = कमनीयं (सुन्दरम्) यथा तथा कूजन्दी (शम्भाचमामा) या काञ्ची
(मेकला) सा गुणः (म्या) इव सज्जनयिनी (उदपुराणपती, तल्लुका, काञ्चीगुणो-
पेतकटिगतेति भावः) । पञ्चमस्तरे कमनीयकूजस्काञ्ची इव गुणः (मीर्षा) तज्ज-
नयिनी । भूतकेशपत्नी = पत्नीः (भारिताः) केशपत्नीः (कञ्जसमुद्रा, पत्रिविरहे-
नाऽर्धकृतकचक्रभावा इति भावः) यथा सा । 'पाशः ॥ अत्र इत्येव कलापाऽभ्य-
कृतात्परे ।' इत्यमरः । भाराचयदिरिव—एतः केशः (कञ्जः) इव (कूजमर्ज इति
भावः) पञ्च (कञ्जपञ्चः) यथा सा । पत्नीपत्नी सा = सीता, पुष्पसिखीमुक्तस्य =
कुसुमेधोः, पुष्पाभि (कुसुमाभि) एव सिखीमुक्ताः (चाणाः) यस्य, तस्य । 'जलि-
बाली सिखीमुक्ता' इत्यमरः । भाराचयदिरिव = सर्वकोहमवधरयदिरिव । मम =
राजपुत्रस्य, इदं = वस्त्राखण्डं, प्रविष्टा = माविशत् । परमसुन्दरी सीता मदनकरपटि-
रिव मदीयं इदं प्रविष्टेति भावः । अत्र पुष्पसिखीमुक्तमित्यत्र रूपकं भाराचयदि-
रिवभावात् रूपकं तथा चेतनोर्मिधोऽनपेक्षया स्थितेः संवृष्टिः । वसन्ततिलक
वृत्तम् ॥ ८ ॥

(अतन्द्रा राजन और इत्यनें बिज केकर प्रहस्त प्रवेश करते हैं ।)

राजपुत्र—(मन ही मन)

सोममान कलाट (किलार) से कुज, काञ्चीगुणसे पुष्प कटिवाली और सुन्दर केशोंसे
लम्पट सीता कामदेवकी भाराचयदिकी तरह मेरे हृदयमें दृष्ट हुई है । हा ! मैं क्या
करूँ ॥ ८ ॥

(विचार कर) नहीं ! कैसे भाग भी कनदेसी कर जानेसे विषम्या और अतिशय

अपि जानकीं जन्मस्थानस्वित्तामिवाहमस्वरूपमरुदनां पश्यामि । अवलोकितमिवम् ।

आचान्तकान्तिकप्रवेगैर्नयूयैरहिमत्पिपः ।

धूसराय कला चाग्री किञ्च बध्नाति लोचनम् ॥ १ ॥

महस्तः—अपि देय ! इदमालोक्यतां चित्तविनोदने चित्रम् ।

रायणः—किं पुनरिहालिखितम् ।

महस्तः—अयं तावत्तरलतिमिनिमरकराक्षकज्जोलाकोलाहलोच्चागरः । सारः ।

आचान्तकान्तिकप्रवेगैर्नयूयैः आचान्तकान्तिः धूसरायि चाग्री कला किं लोचनं न बध्नाति ? इत्यन्वयः । उन्मिदौ = प्रातुर्मूर्तेः, कलाम्बु एतेष्वर्थः । अहिमत्पिपः = उन्मिदरसे, सूर्यस्वेल्यर्थः । नयूयैः = किरणैः, आचान्तकान्तिः = आचान्ता (निपीता, भद्रसंगमायावस्थां गमितेति भावः) कान्तिः (इति) पक्षः सा, अतएव—धूसरायि = ईश्वरान्धुवर्णायि 'ईश्वरान्धुस्तु धूसरः इत्यमरः । चाग्री = चाग्रसम्बन्धिनी, कला = रेखा, किं, लोचनं = नेत्रं, न बध्नाति = नाऽऽकरोति, बध्नात्येवेति भावः । सूर्यकिरणैरदमन्तप्रायावस्थां गमिता धूसरवर्णायि अश्रुकेव वक्त्रमभिरहिता सीता नयनधृतिमाकर्षतीति भावः । अनुपपन्नम् ३९३

महस्त इति । तरलतिमिनिमरकराक्षकज्जोलाहलोच्चागरः = तरलः (चञ्चलः) पलितमिनिमरः (महाकायस्त्वविशेषसमूहः) तेन कलाकाः (भवद्वाराः) ये कज्जोलाः (कल्लोलाः, महातरङ्गा इत्यर्थः) तेषां कोलाहलैः (कलकलप्रभितिभिः) उच्चागरः (उन्मिदः, कण्ठवैभवं) ।

दुर्बल और धूसर आँखोंसे कुछ दौरे पर जो सीताको जनस्थानमें रहने पर बैसी नमस्कार की गैसी ही मैं देख रहा हूँ । अथवा वह उचित है ।

प्रकाशपूर्ण सूर्यकी किरणोंसे मन्मथकाष्ठवाली और धूसर होने पर भी चन्द्रमाकी कला क्या नेत्रोंको काकूट नहीं करती है ॥ १ ॥

महस्त—महाराज । दिव्य वदत्यने बाकि इस चित्रमें देखिए ।

रायण—वहाँ क्या किछा है ?

महस्त—यन्त्र तिमिनामके महामत्स्योसे नवद्वार की पत्नी तरलके कोलाहलके प्रकृतिवत् वह तरल है ।

रावणः—(विवक्ष्य) किमिदमुत्तरेण तरङ्गमाश्लिनमनुत्तमाश्लयक-
माश्लयकत्वधनुःसहस्रानुकारि कपिशयति गगनसङ्गम् ।

प्रहस्तः—सदिवं सुग्रीवपालितं कपिकुलम् ।

रावणः—(विहस्य) अयि ! बालिपालितमिति कथ्यते । भवतु ।
किं पुनरनेन । कौ पुनरिमौ कर्मुकधरौ ?

प्रहस्तः—ताविसौ रामलक्ष्मणौ, ययोरग्रजस्य बाणपातविकसितेन
सुग्रीवपालितमधुना कपिकुलम् ।

रावणः—(अनाकम्पितकेन) कः पुनरयं नितान्तकृशकमनीयतनुरम-
न्दमन्वराघातनिर्मन्थनोत्थिततरलतरङ्गदूरविक्षिप्तः शङ्करशिरःशेखराधि-
रोद्गणकुतूहली कलानिधिरिव तरङ्गमाश्लिनस्त्वदमुवभक्षितो मे ।

रावण इति । तरङ्गमाश्लिनं = समुद्रम्, 'उत्तरेणेत्वेदकम्पदधयोरे' 'पृथगा
द्वितीये'ति द्वितीया । उत्तरेण = उत्तरतटे । अनुत्तमाश्लयकं = तामिच्छामाश्लयक-
समीपं समीपाभ्येऽग्रवशो भावः । कपिशयति = कपिशयणं करोति, 'सकरोति तदा-
चाह' इति भिन्नन्ताकम्पः ।

प्रहस्त इति । अग्रजस्य = श्वेदस्य, रामस्येति भावः । बाणपातविकसितेन =
तरङ्गप्रहारविकासेन, बालिवधेनेति भावः ।

रावण इति । नितान्तकृशकमनीयतनुः = नितान्तकृशा (पृक्काम्तनुर्बला) कम-
नीया (समोद्गरा) तनुः । करीरम्) यस्य सः । अमन्वमन्वराघातनिर्मन्थनोत्थित-

रावण—(देखकर) समुद्रके उत्तरतटमें तापिश्व हथौड़े समीप द्धारों बन्दकद्वारोंके
साइड यह क्या पवार्य भाक्षाशकी कपिशरण बना रहा है ।

प्रहस्त—यह सुग्रीवसे रहित बन्दरोंका गिरौह है ।

रावण—(हँसकर) भरे ! बाकीसे रहित कहना चाहिए । हाँ । इतने क्या ! अनु-
पाटी में दोनो कौन हैं !

प्रहस्त—ये दोनों राम और लक्ष्मण हैं, जिनमें श्वेक रामके बाणप्रहारकी झोकासे इस
समय बानरसमूह सुग्रीवसे रहित हो रहा है ।

रावण—(न सुननेका अभिनय कर) यह कौन बालिशव दुर्बल और शन्दर शरीर
बाला, बालिशव मन्दरके भाषातके विमोहवले बलित चञ्चल तरङ्गोंसे दूर हक फेंका गया-
विह्वलकहे सेखरमें चकनेमें कुदृष्ट करने वाले बम्बूपाके समान समुद्रकी लम्पूरी पर
सो रहा है ।

महस्ता—स यय खड्गनामनकुतूहली निजकुतूहलं सागरसुपचरितुं
कुशाराधनविन्यस्तगात्रः प्रथमो द्वादारविः ।

रावण—(विहस्य) कथमित्यमेव जानकीलाभकौतुकः सोऽयमस्मान-
नप्युपचरिष्यति ?

महस्ता—इतो विलोक्यतामयं रामनाराचनिर्मुक्तबह्वानलहेलादरल-
हीनमीननिकरपरिवारः पारावारः ।

तरकतपहसूरविचित्रः = अममस्य (अत्यर्थं यया यया) यो मन्वशाचातः (सम्वशा-
कथपर्यतावृत्तिः) तेन निर्मम्यमेव (विकोकमेव) वसिष्ठाः (सत्यतिष्ठाः) ये तरक-
तरङ्गाः (चक्रकभङ्गाः) तैर्दूरविचित्राः (विप्रकृतप्रचित्राः) । सङ्करसिरसोत्तरावधितो-
द्भवाकुतूहली = कुङ्करस्य (सिक्तस्य) सिरसि (मूर्ध्नि) यः शोकरा (सिरसोभूषणम्)
तस्मिन् यत् अधिरोगणम् (जामोहनम्) तस्मिन् कुतूहली (कौतुकी) । कला-
निधिः = अङ्गः, 'ग्लीर्गंगाङ्गः कलानिधिः' इत्यमरः । तरङ्गमादिनः = समुद्रस्य ।
तदभुवे = तीरप्रवेष्टव्यम्, अविपूर्वकरीकृधातोर्धोने 'अविहीकृत्याऽऽस्य कर्म' इति कर्म-
त्वाद्दितीयः । एतेन रामस्य अङ्गसमभोग्ध्वं समुद्रतरणरूपरामवयासस्य वैश्वध-
व चोत्पत्तेः ।

महता इति । उपचरितुं = सेवितुम् ।

रावण इति । उपचरिष्यति = सेविष्यते, तरङ्गाश्च यया रामाः समुद्रं प्रार्थयन्ते,
अथकीलाभाश्च तथैव मां प्रार्थयिष्यन्त इति सोऽकुतूहलमोक्षी रावणस्य ।

महता इति । रामनाराचनिर्मुक्तबह्वानलहेलादरलहीनमीननिकरपरिवारः =
रामस्य (द्वादारवेः) नाराचात् (प्रत्येकभात्, सर्वकौहमधशरादिति भावः) निर्मुक्त-
(प्रचित्रः) बह्व्य (प्रभुरः) योऽमक (अग्निः) तेन हेलाया (जलायासेन)
तरङ्गा (चक्राः) वीचा (दुरासताः) मीननिकरपरिवाराः (जलजन्तुसमूह-
रूपकुटुम्भाः, जल मीनपदं जलजन्तुपञ्चजनम्) यस्य धः । पादलः पारावारः =
समुद्रः । अनयोक्तया रावणकुतूहा रामावङ्गत्वात् परिहरणं गमयते ।

महता—कदाचैव मानेके किं कुतूहक कर भवते कुञ्जग्रव समुद्रकी सेवा करनेके किं
कुञ्जग्रवचये बैठा हुआ वह ही पदका शायरवि (राम) है ।

रावण—(ईसकर) वह शोभाकी पानेके किं कुतूहक कर क्या इसी मन्धर हमारी
भी सेवा करेगा ?

महता—दरर देखिए । रामके नाराच भजते केहे तने चरियते जगारात ॥ चक्रक
वीर दुःखिव मल्ल आदि जलजन्तुपरिवारोंसे कुछ वह समुद्र है ।

रावणः—कौ पुनरिमौ ज्येष्ठतापसस्य सादरं वानरवीरैः पार्श्वपरिसर-
मानीयेते ?

महस्तः—अथं तावत्सागर एव । अयमपि देवस्यैव—(इत्यर्शेते)
अथवा किमस्य कन्धुविरोधिनो नामग्रहणेन ?

रावणः—कथमयं विभीषणोऽस्मद्विरोधेन राममाग्रयति । भवतु ।

निशाचरशिरोरत्नरजिताऽक्षिसरोरुहः ।

मियोऽपि वृषाकण्ठस्य नैष वशं नोप्यति ॥ १० ॥

रावणः—(सकौटुक्म्) किं पुनरिदमक्षरपङ्क्तिद्वयम् ?

महस्तः—नूनमिदं समुद्रविभीषणी प्रति जलमणस्य वचनद्वयं
भविष्यति ।

रावणः—एवं तावद्वाच्यम् ।

रावण इति । पार्श्वपरिसरं = किञ्चिदूर्ध्वमुक्त्वा ।

महस्त इति । कन्धुविरोधिनः = कुटुम्बविह्वलिनः, विभीषणत्वेति भावः ।

निशाचरेति । निशाचरशिरोरत्नरजिताऽक्षिसरोरुहः मियोऽपि एव वृषाकण्ठस्य
वर्चसं न व्यप्यतीत्यन्वयः ।

निशाचरशिरोरत्नरजिताऽक्षिसरोरुहः = निशाचराणां (राक्षसानाम्) शिरो-
रत्नैः (मस्तकमणिभिः) रजिते (लङ्कानृते) अक्षिसरोरुहे (वरुणकमले) यस्य
सः । मियोऽपि = इतिमोऽपि, वृक = वक्रं, विभीषण इति भावः । वृषाकण्ठस्य
(रावणस्य, मम) वर्चसं = शिकोकम्, न व्यप्यति = न ग्रस्यति, अतः परं गार्ह
विभीषणमुक्तं वृक्यामरीति भावः । अतुल्यमुक्त्वा ॥ १० ॥

रावण—ज्येष्ठ तपस्वीके पाशं शीरं वानरवीरैः सादरपूर्वकं लब्धे क्वे मे शीरो कोव है ?

महस्त—वह समुद्र ही है और वह भी महत्ताम्य ही (ऐसा भाषा करने पर)
मक्ता उस नामवन्दनीका नाम केनेते क्या काम ?

रावण—किंतु प्रकर वह विभीषण हमारे शिरोपते रामका भाग्य के रहा है ।
मक्ता ।

रावणोक्षे मरुतमणिमोक्षे मक्तामुक्तं वरुणोक्षे शुक्रं वृकं पारां होकर मेरे वर्चसंके
छिन्न गद्दी आवेया ॥ १० ॥

रावण—(कुटुम्बके ताव) मे दो मक्षरपङ्क्तिों क्या है ?

महस्त—समुद्र और विभीषणके प्रति निम्न ही मक्तामके मे ही वचन होवे ।

रावण—वह शीरो ।

२४ प्र० १०

ग्रहस्तः—(वाचयति)

आसं मुञ्च समुद्र ! कोपवृद्धनो रामस्य पास्यत्ययं

बन्दीभूतसुरेन्द्रसुन्दरदशामणोरसुदं पथः ।

कामं ते मकरीगणो विहरतामेते च लक्ष्मेश्वर-

स्त्रीगणद्वयलपत्रमङ्गमकरीविष्वसिनाः सायकाः ॥ ११ ॥

राघवा—अन्यत्रापि वाचय ।

समुद्रं प्रति कचमनस्योक्तिं प्रतिपादयति—आसं मुञ्चेति । हे समुद्र ! आसं मुञ्च, रामस्य अयं कोपवृद्धने बन्दीभूतसुरेन्द्रसुन्दरदशाम् अण्णोः समुद्रं पथः पास्यति । (हे समुद्र !) ते मकरीगणः कामं विहरताम् । एते सायकाश्च लक्ष्मेश्वर-स्त्रीगणद्वयलपत्रमङ्गमकरीविष्वसिन इत्यन्वयः ।

हे समुद्र = हे सागर !, आसं = भयं, रामकोपजनितमिति शेषः । मुञ्च सद्यः । रामस्य = राधवस्य, कचम् = एषः, कोपवृद्धनः = क्रोधाग्निः, बन्दीभूतसुरेन्द्रसुन्दर-दशाम् = बन्दीभूताः (रावणविधन्निवृताः) सुरेन्द्रस्य (देवेशस्य) पथः सुन्दरदशः (भगोदरमयः) देवकलनास्तासां । अण्णोः = अण्वणोः अमुमम् = आसमर्थावम्, अपरिमितमिति भावः । पथः = कच्छ, अमु इति भावः । पास्यति = पानं करिष्यति । न तु लक्ष्मीं पथः पास्यतीत्यर्थो परिसंक्षेपः । रामस्य कोपाग्नेनो रावण-दशानां देवकलनानामपरिमितं मयज्जलं दशानवदयेन शोषयिष्यतीति भावः । हे समुद्र ! ते = तव, मकरीगणः = प्राह्वयूपमूहः, कामं = यथेष्टं, विहरतां = श्रियन्तु । रामाग्नेन ज्जलं नो विनष्टमिति, प्रसृतं त्वज्जले यथेष्टं कच्छपरसमुद्रः श्रीलक्ष्म्य-सीति भावः । एते = इमे, सायकाश्च = बाणाश्च, राममुक्ता इति शेषः । लक्ष्मेश्वर-स्त्रीगणद्वयलपत्रमङ्गमकरीविष्वसिनः = लक्ष्मेश्वरस्य (रावणस्य) स्त्रीणां (योनिताम्) गणद्वयलपत्रम् (कपोलकण्ठेषु) वा पत्रमङ्गमकर्षा (स्तनकपोलौ मकरिकाऽऽम्बर-ः कस्तूरिकाविरचितपद्मावयः) तासां विष्वसिनाः (विवासिनाः), तासां पतिष्वामिति भावः । रामबाणाः समुद्रस्थज्जलपरविष्वसका न प्रसृतं रावणमभूतेन ज्वलीकृतवा इति भावः । अयं रूपकमङ्गलः । आर्द्रकणिकोक्तिं वृत्तम् ॥ ११ ॥

ग्रहस्तः—(वाचयता हे)

हे समुद्र ! करो मय । रामका यद् क्रोधाग्निः बन्दिनी देवाह्वानाभोर्गे मूर्च्छांते स्थित अपरिमितं जलं ही पो यथेष्टम् ।

हे समुद्र ! तुम्हारे जलके मोटर लाहवृत्तमूत्र यथेष्ट विहार करो । मे पाल रावणकी जिनोके कबोली पर कस्तूरी भाषिते बनाई गई पद्माकेशोको लक्ष कर देंगे ॥ ११ ॥

राम—दूतरा जी बांधो ।

प्रहस्तः—(शक्यति)

अथैवास्य विभीषणस्य शरणापन्नस्य मूर्ध्ना भते-
रानृष्य विदधात्ययं रघुपतिर्लङ्काधिरस्यत्रियम् ।

एतस्यैव भुजाविह मतिमुधौ सुग्रीवराज्यार्पण-
त्रैलोक्यप्रथमानसत्यचरितौ, सर्वे वर्य साक्षिणः ॥ १९ ॥

पाषणः—अहो ! बागम्बरैकसारता कनिष्ठतापसस्य । भयतु । किं
पुनरिदं मध्ये समुद्रमालोक्यते ।

अथैवेति । अथ रघुपतिः शरणाऽऽपन्नस्य अथ विभीषणस्य मूर्ध्नाभतेः कङ्काऽऽ-
धिरस्यत्रियम् आमुष्यं विदधाति । इह एतस्य भुजौ सुग्रीवराज्यार्पणत्रैलोक्य-
प्रथमानसत्यचरितौ । अथ सर्वे वर्य साक्षिण इत्यमरः ।

अथम् = एषः, रघुपतिः = रामचन्द्रः, शरणापन्नस्य = आश्रितस्येत्यर्थः । अथम् =
एतस्य, विभीषणस्य = राक्षसाधुनस्य, मूर्ध्ना = शिरसा, भतेः = वमस्कारस्य, कङ्का-
ऽऽधिरस्यत्रियं = कङ्काध्वीश्वरसम्पदम्, वरैर्यकृपाय् । आमुष्यम् = अन्तर्गतं, प्रत्यु-
पकाररूपमिति भावः, विधेयवाचकं [एतमेतत् विदधाति = करोति, करिष्यतीति
भावः । रामः शरणापन्नविभीषणकर्तृकस्य नभसरूपोपकारस्य कङ्काधिरस्यकर्तृ
प्रत्युपकारं करिष्यतीति भावः । इह = अस्मिन् विषये, एतस्य = रामस्य, भुजौ =
बाहु, सुग्रीवराज्यार्पणप्रथमानसत्यचरितौ = सुग्रीवाय (वामनबालाय) यम् राम्या-
पेयं (वानरैस्वर्यवाभं, वाकिङ्गनपूर्वकमिति शेषः) तेन प्रथमानं (अवातिमुपा-
कृतम्) तथ्यं, प्रतिज्ञाबुद्धारीति भावः) चरितं (चरितम्, आचरणमिति
भावः) ययोस्तौ, स्त इति शेषः । अथ च अथ = अस्मिन्निवे सर्वेऽन्तर्गतः, वयम्
अस्मादयः, साक्षिणः = साक्षाद्वारः, तथा चात्र न कोऽपि सन्देह इति भावः ।
साधुर्लक्ष्मीहितं कृतम् ॥ १९ ॥

राम्य इति । बागम्बरैकसारता = वामनमहा (वनवाऽऽङ्गवरः) एव एवः

प्रहस्तः—(शक्यता है)

ये रघुनाथ शरणापन्न विभीषणसे किये गये प्रणामका आज मुकावेको छिप कन्हें जहा
वा स्वामित्त हैते । इस विषयमें इनके दोनों बाहु सुग्रीवको राज्य देनेसे त्रैलोक्यमें प्रख्यात
और सत्यचरितवाके हैं । अथ सब वृक्षोंग साक्षी (गवाह) हैं ॥ १९ ॥

शक्यम्—अहो ! कनिष्ठ तपस्वीका वजनके बागम्बरमें ही एकमात्र शक्य है । मर्यादा ।
समुद्रके बीचमें यह क्या देखा जा रहा है ?

प्रवृत्तः—स एव कपिकुलोन्मूलितशैलशिखरनिर्मितः काकुत्स्थकुल-
कीर्तिप्रसक्तिप्रबन्धः सेतुबन्धः ।

रावणः—बड़ो चित्रकरस्व चारुरी । बड़हीकसपि सत्थमिव दर्शि-
तवान् ।

प्रवृत्तः—कयमचापीवमहीकमिति सन्माधना देवस्य ।

(नेपथ्ये कलकल)

रावणः—किमेतत् ?

प्रवृत्तः—

एषामनयं रामसमूचराणां दर्पोद्भूतानां कपिकुलराजानाम् ।

मधोद्भूतानामिव नीरदामां कोकाहलः कोऽपि समुज्जिहीते ॥ २३ ॥

(मुख्यः) सतः (शिखरऽक्षः) यस्य सः, तस्य भावस्तथा । मध्ये समुद्रं = समु-
द्रस्य मध्ये 'धरे मध्ये पङ्क्त्या वेष्टयन्वसीभावः ।

प्रवृत्त इति । कपिकुलोन्मूलितशैलशिखरनिर्मितः = कपिकुलेव (बाबरसमू-
हेन) उन्मूलितानि (उत्पाटितानि) यानि शैलशिखराणि (पर्वतशृङ्गाणि)
तैर्निर्मिता (रचिताः) । काकुत्स्थकुलकीर्तिप्रसक्तिप्रबन्धः = काकुत्स्थकुलस्य (रघु-
वंशस्य) या कीर्तिप्रसक्तिः (यशःप्रसङ्गः), तस्याः प्रबन्धः (रचना) ।

रावण इति । अलीकसपि = सिन्धुभूतमपि, समुद्रबन्धनरूपमिति भावः ।

वृषामधमिति । मधोद्भूतानां नीरदामामिव रामसमूचराणां दर्पोद्भूतानाम् एषां
कपिकुलराणां कोऽपि अयं कोकाहलः समुज्जिहीत इत्यन्वयः । मधोद्भूतानां = प्रस-
न्नानिर्भूतानां, नीरदामामिव = भेदानामिव, अल्पसाध्यवामिवमुपमा बोध्या । राम-
समूचराणां = रामसेनाधरिणां, दर्पोद्भूतानां = दर्पोद्भूतानाम्, एषाम् = एतेषां,

प्रवृत्त—यह बानरोसे फटाहित बर्कतशिखरोसे रचित और काकुत्स्थवंशके कीर्ति
प्रसङ्गकी रचना सेतुबन्ध है ।

रावण—बड़ो ! चित्रकारकी कौसी चारुरी है ! बिचने कि सिन्धुको भी सतहके समान
प्रक्षिप्त किया है ।

प्रवृत्त—कैसे अभी भी महाराजको 'बड़ सृष्ट है' ऐसी संभावना हो रही है ।

(नेपथ्यमें कोकाहल होता है ।)

रावण—बड़ क्या है ।

प्रवृत्त—नये जामिन् 'त मेहोंके समान' रामकी सेनाने बचने वाले गर्वोद्भूत हव कपि-
शीरोक्त अनिर्वाच्य बड़ कोकाहल प्रकट हो रहा है ॥ २३ ॥

प्रहस्तः—तविषं राक्षितव्यं प्रतिविधातव्यं वा ।

रावणः—आः, किमिह राक्षया प्रतिविधानेन वा ! अनेन हि—

कोलाहलेनोत्प्लवता कपीनां मनो मदीयं मुदमेव धत्ते ।

मन्दोदरीभूषणनूपुराणां महामणीनामिव शिखितेन ॥ ३४ ॥

(प्रविश्य)

मन्दोदरी—अयत्तु जयत्तु देवः । (जेह जेव देवो)

रावणः—देवि, इव आस्यताम् ।

(मन्दोदरी यथोचितमुपनिश्चाऽधोमुखी तिष्ठति)

कपिकुलराजा = बानरयूथपति, 'स्युदतरपदे श्वाग्रपुत्रवर्धमकुञ्जराः । सिंहसर्प-
लभाशाः पुंसि श्रेष्ठाऽर्धमौचराः' इत्यमरः । कोऽपि = अनिर्बन्धपीया, मयस्य = मया,
कोलाहलः = कलकलः, समुत्थिहीते = समुद्रच्छति । उपमाऽलङ्कारः । भूषणनो-
पेन्द्रवस्त्रयोः संमिश्रणादुपमातिर्भूतम् ॥ ३३ ॥

महस्तः इति । प्रतिविधातव्यं = प्रतिकर्तव्यम् ।

कोलाहलेनेति । मन्दोदरीभूषणनूपुराणां महामणीनां शिखितेन ह्य उत्प्लवता
कपीनां कोलाहलेन मदीयं मनो मुदमेव धत्त इत्यन्वयः । मन्दोदरीभूषणनूपुराणां =
मन्दोदर्याः (मयकुण्डितः) भूषणनूपुराणाम् (अलङ्कारमशीराणाम्), महामणीनां =
महारत्नानां, शिखितेन ह्य = सम्यगेन इव, उत्प्लवता = उत्प्लवता, कपीनां = बान-
रानां, कोलाहलेन = कलकलेन, मदीयं = मामकं, मनः = चित्तं, मुदमेव = हर्षमेव,
धत्ते = धारयति, मन्दोदरीभूषणशिखितमिवाऽऽविर्मेतोषं कपिकुलकोलाहले मानके
मनो हर्षमुत्तमेव विधाति न भीतिमुत्तमिति भावः । एतेन कपिकुलतो राजस्य
दितान्तमेव शब्दाऽप्राक्तरादौ स्थिते । उपमातिर्भूतम् ॥ ३४ ॥

प्रहस्तः—धी वह शङ्करीय हे अथवा शत्रुता प्रतीकार करवा चाहिये ।

रावणः—ओह ! इस विषयमें शङ्कासे वा प्रतिविधानसे क्या प्रयोजन है ? इस—

मन्दोदरीके अलङ्कारों और नूपुरोंमें स्थित महारत्नोंके हृदयके समान उत्प्लव बानरोंके
कोलाहलसे मेरा मन हर्षका ही अनुभव कर रहा है ॥ ३४ ॥

(मनेष्टकत)

मन्दोदरी—महाराजकी भय हो भय हो ।

रावणः—महाराजी ! यहाँ बैठो ।

(मन्दोदरी उचित स्थान पर बैठकर अवनतमुखी होती है ।)

रावणाः—

भुग्राहकं स्मितपराजितचन्द्रलेखं

इग्लीलया कुचलयन्त्रियमदधानम् ।

एतन्मुखं दिविपद्ममिव दुर्निरीक्ष्यं

तन्वाङ्गि ! मामिष मुधा किमवाकरोषि ? ॥ १५ ॥

भुग्राहकमिति । हे तन्वाङ्गि ! भुग्राहकं स्मितपराजितचन्द्रलेखं इग्लीलया कुचलयन्त्रियमदधानम् । एतन्मुखं दिविपद्ममिव दुर्निरीक्ष्यम् एतत् मुखं मामिष मुधा किम् अवाकरोषि ? इत्यन्वयः ।

हे तन्वाङ्गि = हे कुशोदरि सुन्दरि !, भुग्राहकं = भुग्राः (कुटिलाः) भक्तकाः (पूर्णकुम्भकाः) मर्मिभस्तरत्, सर्वोन्मयेतानि विशेषणानि मन्दोदरीमुखेन सह रावणपक्षेऽपि योजनीयानि । तथा च रावणपक्षे—भुग्रा (पराजिता) भक्तका (भक्तकाऽऽत्मा कुनेरपुरी) येन, तम् । स्मितपराजितचन्द्रलेखं = स्मितेन (मन्दहास्येन) पराजिता (विजिता) चन्द्रलेखा (इन्द्रकाण्ठः) येन तत् । रावणपक्षे—स्मितेन (अद्भुतरेण) पराजिता (विजिता) चन्द्रः (चन्द्रमाः) लेखाः (देवाश्च) येन, तम् । इग्लीलया = नैचलोभया, कुचलयन्त्रियं = नीलकमलपत्रिमम्, रावणपक्षे—इग्लीलया = नयनेक्षितेनैव, कुचलयन्त्रियं = पृथ्वीमण्डलसम्पत्तिम्, 'गोत्रा कुः दुर्विरी पृथ्वी चन्द्राव्यभिर्मेद्विषी मदी' इत्यमरः । अदधानम् = धारयत्, रावणपक्षे—कारणवत् । एवं च दिविपद्मं = देवानां, दुर्निरीक्ष्यमिति कृत्यामस्तथाऽन्तपदयोगे 'कृत्यानां कर्तरिणे'ति षष्ठी । दुर्निरीक्ष्यं = दुर्दर्शनीयमिव, अथाद्भुतमक्षयमिति भावः । एतन्मुखम् समवम् । एतत् = समीपतरवर्ति, मुखं = तव मन्दोदरां भागवत्, मामिष = मां राक्षसमिव, मुधा = व्यर्थमेव, किं = किमर्थम्, तवः करोषि = अवगतं विदधासि । हे मन्दोदरि ! त्वं कोकैलसुन्दरस्य स्वमुखस्याऽप्यः करनेव मन्दोदराधारेण आमेव विरस्करोषीति भावः । अथ आम्बुलेखाऽऽभूदः । एतन्त-
विलकावृत्तम् ॥ १५ ॥

हे कुशोदरि । कुटिल नलकोष्ठे मुख, मन्दहास्यते चन्द्रकाण्ठिके पराजित करनेवाले नेत्रोंकी ओभासे ही नीलकमलकी कान्ठिके चारुन करनेवाले और देवताओंसे दुर्दर्शनीय इस भयने मुखको मयवत् कर मलकाकी पराजित करनेवाले, अद्भुतरासे चन्द्रमा और भक्त देवताओंकी नीलनेवाले, नेत्रोंके संकेतसे ही भूमण्डलकी सम्पत्तिकी ग्रहण करनेवाले और वेवताओंसे दुर्दर्शनीय मुखे ही क्यों व्यर्थ विरक्त कर रही हो ॥ १५ ॥

महस्वः—देव ! कपिसेनाकोलाहलचिन्तयैव नूनमधरीकृतमुखां
देवीति तर्कयामि ।

प्रायणाः—आः, क एव चिन्ताविषयः ?

इयं कीलाकोलाहलदेभुजलता नीलचिकुरा

समुन्मीलितारा कुमुदहसिता चाकनयना ।

राजनो वामरसेनां तिरस्कुर्वन्त्या सुन्दरपुत्रिताः इदं प्रतिपादयति—इयमिति ।
कीलाकोलाहलदेभुजलता नीलचिकुरा समुन्मीलितारा कुमुदहसिता चाकनयना इयं
प्लवङ्गनां सेना सारावतिमुखां पुत्रतिरिच अत्र सम खरो कन्दर्पं प्रकटयितुं प्रयत्न-
शीलमवयः । कीलाकोलाहलदेभुजलता = कील्या (कील्या) लोकः (पञ्चलः)
लङ्कः (चाकिपुत्रः) एव भुजलता (बाहुवल्ली) यस्यां सा, अङ्गः प्लवङ्गसेनाया
बाहुवल्ली इति भावः सर्वाण्येतानि चित्तेष्वामि प्लवङ्गसेनायां पुत्रतेमेति बोद्ध-
व्यामि । पुत्रतिरिच—कील्या (कील्यायाम्) खेळं (पञ्चलम्) लङ्कं (कपूरम्)
यस्यां सा, ताराणी भुजलता यस्याः सा । नीलचिकुरा=नीलः (नीलावयः प्लवङ्गः)
एव चिकुरः (केसः) यस्याः सा । सधसारादृश्येन प्लवङ्गसेनायां इदं चित्तेष्वं
क्षेपम् । यद्वा नीलेन (तद्वत्पचानरेण) चिकुरा (चकुरा), 'चपलचिकुरः समी'
इत्यमरः । पुत्रतिरिच—नीलाः (नृणां वर्णाः) चिकुराः (केसाः) यस्याः सा, कुञ्ज-
केतीति भावः । 'चिकुरः कुन्तलो वाक्य कथाः केसः शिरोरुद्धः' इत्यमरः । समुन्मी-
लितारा = समुन्मीलम् (खेतमात्रा) तारा (तारनामक प्लवङ्गम्) यस्यां सा ।
पुत्रतिरिच—समुन्मीलमयी (असमस्यौ, कामावेशेनेति शेषः) तारे (कभीनिष्ठे)
यस्याः सा । कुमुदहसिता=कुमुदः (कुमुदाभिधाना प्लवङ्गः) एव हसितं (हास्यम्)
यस्यां सा । यद्वा कुमुदहसितं यस्यां सा, 'अर्शमादिभ्योऽङ्' इत्यप्प्रत्ययः । पुत्रति-
रिच—कुमुदमिव (कौवमिव, वज्रमिव इति भावः) हसितं यस्याः सा । चाकनयना
चाक (सुन्दरम्) ययम् (प्राप्तिः, गमनमिति भावः) यस्याः सा । पुत्रतिरिच—
चाकणी (सुन्दरे) ययमे (नेत्रे) यस्याः सा सुन्दरनयनेयया । 'न कोजादिवङ्कच'

महस्वः—महाराज ! वामरसेनाके कोलाहलको चिन्तासे हो निम्नव त्रहसानी अर्धो-
मुखी हुई हैं पुत्रों पेला का रहा है ।

राज्या—जोह ! वामने चिन्ता करनेकी क्या बात है !

कीलासे प्लवङ्ग अङ्गदकप बाहुसे पुत्र, नील वामरकप केककणसे सम्पन्न, तार
नामक वामरसे प्रकाशमान, कुमुद-वामरकप हात्ससे सजासित और सुन्दर गतिवाली
यह वामरसेना, कीलामें पञ्चल वान्दरसे भुविच बाहुलतासे पुत्र, नील देवदहाधसे
सम्पन्न, कामावेशसे चकुरने वाली अँखोंकी पुत्रतिरिचसे प्रकाशमान, कुमुदसे समान

अवज्ञानां सेना युयतिरिव तारापतिमुक्ती

ममाऽग्रे कन्दर्पे प्रकटयितुमद्य प्रभवति ॥ १९ ॥

मन्दोदरी—देव ! अन्यदप्यस्ति कारणम् ! अद्य हि मया देवस्य शकुनिरूपपथार्थं गिरिशिखरराहनागर्भस्थितां शबरपत्नीं प्रस्थापित्वा निज-परिवारिकाः । तथा च कस्या अपि शबरकुटुम्बिन्या निजगृहपर्यन्तवासिनं केसरिकिशोरकं लालयन्त्या ईदृशां वधनसार्कणितम् । (देव ! अयं पि अस्ति कारणं । अद्य हि मया देवस्य सतगणिलयस्थं गिरिशिखरराहनागर्भस्थितं सवरपत्नीं पट्टाविद्या निजपरिवारिकाः । ता ए च की ए च तत्परकुटुम्बिणी ए चिन्न-भरपेरन्तवासिनं केसरिकिशोरकं ज्ञातव्यमस्ती एरिसं वदन्तं आश्रयिदम्)

इति विशेषान्वीपसायः । इवम् = एवम्, अवज्ञानां = धामराणां, सेना = समूहः, तारापतिमुक्ती = चन्द्रमुक्ती, तारापतिः (चन्द्रः) इव मुक्तम् (भागवतम्) दस्याः । ता, 'स्वाध्यायोपसर्जनसंयोगोपपत्त्य' इति स्त्रीप् । केचित्तारापतिमुक्तीमित्येषं कस्मिन्नायाम् विशेषणत्वेन योजयन्ति व्याख्यातिकाः च तारापतिः (सुधीवः) मुक्तं (मुक्तयम्) दस्याः सेति । परमत्र मुक्तपदस्य प्राशम्येन स्वाज्ञावाचकत्वाऽभावा-न्मयीः प्रसन्नचित्तवतीति । युवतिरिव = तस्मीय, अद्य = अस्मिन्दिने, मम = राव-नस्य, अग्रे = पुरता, कं = कीदृशं, एवं = अन्त्येष्टे, युवतिरिवे—कन्दर्पे = कामदेवे, प्रकटयितुं = प्रकाशयितुं, प्रभवति = समर्था भवति । एतादृशी वाचरसेना व्योहरा-वस्य रावणस्य ममाऽग्रे कमपि द्रुपं प्रकाशयितुं समर्था न प्रमुखाऽकिञ्चित्करत्वात् सुन्दरीयुवतिरिव कामवेष्टामेव प्रकाशयतीति भावः । अत्र श्लेषोपमयोरङ्गाति-भावेन सङ्करः । शिखरिणीवृत्तम् पृ १९ प

मन्दोदरीति । गिरिशिखरराहनागर्भस्थिताः = पर्वतगुह्यत्वाऽभ्यन्तारस्थान् । सवर-पत्नीं = लवराणां (श्वेतसुकातिविशेषाणाम्) पत्नीम् (स्वपत्न्याम्), 'शेषा किंवा सवरपुष्टिका श्वेतसुकातवा !' इत्यमरः । पञ्चपरिधानोन्मेषकविशेषः = सवर-हृत्पमतीकायां भरतः । केसरिकिशोरकं = सिंहसूतम् ।

अन्यदप्यस्ति इति और सुन्दर नेत्रों वाली चन्द्रमुक्ती युवतिकी तरह होकर आज और सामने कामदेवको प्रकाशित करनेके लिए सुवर्ण की रती है ॥ १९ ॥

मन्दोदरी—वहसारा ! और भी कारण है । आज मैंने भवभारम्भ शकुनि देखनेके लिए पर्वतकी भीटीके बरके अन्धकारस्य सवरमामने अपनी दासीकी सेवा था । उसने अपने बरके निकट रखेबाके सिंहशबकको आकर करनेवाली किसी सुवरपात्रीका देता वधन मुन बिना—

मा भव नागपतेः परिभवमात्रेण गर्वमिष्युः ।

वसुधामिमां गिरिसङ्घटां मृगेन्द्र ! शरभस्य नन्दनः प्राप्तः ॥१७॥

('मा होहि नागपतेः परिभवमेतेन गर्वमिष्युः ।

वसुधामिमं गिरिसंघटं मन्दं सरहस्तं नन्दनी पते ॥')

रावणः—किमिह विषादस्यानम्, अस्मान् प्रत्युदासीनमेवैतत् ।

तवाहिः—

मा भव नागपतेः परिभवमात्रेण गर्वमिष्युः ।

वसुधामिमां गिरिसङ्घटां मृगेन्द्र, शरभस्य नन्दनः प्राप्तः ॥१७॥

महस्तः—देव ! अन्यथा चटमानमिदम् ;

मा मरेति । हे मृगेन्द्र ! नागपतेः परिभवमात्रेण गर्वमिष्युः मा भव । शर-
भस्य नन्दनो गिरिसङ्घटाम् इमां वसुधां प्राप्त इत्यन्वयः ।

हे मृगेन्द्र = हे सिंह !, 'सिंहोमृगेन्द्रः पञ्चास्योर्व्वका केसरी हरिः ।' इत्यमरः ।
नागपतेः = गजेन्द्रस्य, मत्तगजस्येति भावः । परिभवमात्रेण = विरहकारेणैव, पराजय-
कामितेनेति शेषः । गर्वमिष्युः = दुर्पसम्पत्तिः, मा भव = मा मृः । मत्तो कृत्वावली
अथा निदत्त इति विचारमात्रेण दुर्व्व मा कृष्विति भावः । यतः शरभस्य = अश्वपदस्य
महापराक्रमस्य पशुविशेषस्य, नन्दनः = पुत्रः, गिरिसङ्घटां = पर्वतकुर्गनाम् । इमाश्च =
पुताम्, वसुधां = भूमिं, प्राप्तः = आसादितवान्, यस्माद् हनिष्यतीति भावः । अम-
स्तुतपतांताऽलङ्कारः । मृगेन्द्रो वाऽत्र प्रकारान्तरेण रावणं सम्बोधयति । तथा च ॥
मृगेन्द्रसमवीर्यं शालिन् । नागपतेः = ऐरावतहस्तिस्वामिन इन्द्रस्य, परिभव-
मात्रेण गर्वमिष्युः मा भव । यतः—शरभस्य = शरभसमवदिकमशालिनो वृष-
भस्य, नन्दनः = पुत्रो रामः, गिरिसङ्घटां = त्रिपुटपर्वतकुर्गनाम्, इमाश्च = पुतां,
वसुधां = भूमिं, लब्ध्वापुर्, प्राप्तः ।

रावण इति । विषादस्यानं = शेषास्पदम् । रावणस्य गूढार्पमविश्वरूपेण सिद्धाऽऽ-
विपरकर्ममाकलयति ॥ १८ ॥

महस्त इति । अन्यथा = प्रकारान्तरेण । महस्तश्च पूर्वोक्तपक्षस्यैवपरिचर्चनेन

हे सिंह ! तुम गजेन्द्रको खोकर हो दुर्पयुक्त मत मर्नो । शरभपुत्र, पशुपति कुर्ग-
नस्य भूमिको प्राप्त हुआ है ॥ १७ ॥

रावण—इसमें विषाद करनेका क्या स्थान है । यह बात हमारे प्रति बरतल ही है ।
शेषेति—

किर कही बलोकही आकृति करता है ॥ १८ ॥

महस्त—महापुत्र । यह बलीक दुन्दे प्रखरसे बरित होता है ।

मा अथ नाकपतेः परिभ्रममात्रेण सर्वनिर्वृता ।

धनुर्धामिमां गिरिसङ्घटमयीं दशरथस्य नन्दनः प्रातः ॥१६॥

रावणः—आः, केयं निसर्गे निरशङ्के लङ्केधरे मयि राज्ञोपपत्ति-
परीक्षा ?

(नेपथ्ये)

हेलाऽप्रकाशितरामलक्ष्मणधनुर्धामपरीक्षस्तरी-

लाह्वारप्रसरत्प्रकटपुलकमागभास्वीरभिभूता ।

इत्युक्तवत् रावणं संबोधयति—आ भवेति । (हे वैव !) नाकपतेः परिभ्रममात्रेण सर्वनिर्वृता मा भव । दशरथस्य नन्दनो गिरिसङ्घटमयीं इमां धनुषां प्रातः इत्य-
न्वयः । (हे वैव = हे महाराज ।) नाकपतेः = अर्धास्वामिनः, हृष्टस्येति भावः ।
परिभ्रममात्रेण = अनादौमेव, अनाकपलमितेनेति शेषः । सर्वनिर्वृताः = सर्वसम्पत्ताः,
मा भव = मा भू । धरो दशरथस्य नन्दनः = पुत्रः, राम इति भावः । गिरिसङ्घट-
मयीं = गिरिणा (विहङ्गपर्वतैव) लङ्कामयीं (धनुषधनुःकल्पान्, अतिधूर्तानामिति
भावः), इमान् = एतान्, भूति = धनुषां, कलाकलामिति भावः । प्रातः = आकाश-
विताः । हे वैव ! इत्यन्वयेनैव कृतज्ञाधो ॥ १५, दशरथकुमारो महावीरो रामकिङ्क-
रपर्वतधूर्तानामप्येषां कलाधुरीं प्रातः । अतः सावधधानो भवेति भावः ॥ १६ ॥

हेलाऽप्रकाशितेत्यदि । हेलाऽप्रकाशितरामलक्ष्मणधनुर्धामपरीक्षस्तरीलाह्वार-
प्रसरत्प्रकटपुलकमागभास्वीरभिभूता न्यायवत्कथितकथाप्रकटनलीकल्पयामाशङ्क-
तुर्धनुर्वधोर्धैर्यवका रात्रिजरा । अजन्तीत्यन्वयः ।

हेलाऽप्रकाशितेत्यादिः = हेला (अनादौमेव) आकाशकितयोः (अङ्गुष्ठयोः)
रामलक्ष्मणधनुषोः (रामधनुस्तौमिरिकाङ्क्षयोः) वे उपायकर्तव्यौ (भौतिके) ते
एव लङ्कयोः (नाकमितेनौ) लक्ष्यौ कलाधुरमसहः (कलमितेन विभः शब्दविस्तारः)
सत्माध्व मसहः (नाकः) या पुलकमागभास्वीरभिभूताः (विर-

(हे महाराज ।) इत्युक्ते नवमद्वयगतौ आग सर्वं मतं करो । दशरथका पुत्र (रामधनुः)
विहङ्गपर्वतधूर्त इत्येव धूमिधो माव हो गवा है ॥ १५ ॥

रावण—मोह ! स्वमापते हो निराह नुत लङ्केधरने यह क्या कहनाही उपभुक्तिही
परीक्षा ।

(नेपथ्ये)

अनायास धनुः राम और लक्ष्मणके कानुकोपी भौतिकताके प्रकाश (रात्रिविषय)
के कल्पविस्तारसे उत्पन्न रोमाञ्चविस्तारसे समीप, चन्द्र करदिशाके पारसीके कण्डक

राखणः—आः, कथमुत्कण्ठायितं भर्कटैः ? (उचैः) कः कोऽग्रः भोः ?

समाप्त—

कृत्वा विनिर्दिष्टपनिर्दिष्टभुजःवर्गः

प्रो. दामरामसमराथ स कुम्भकर्णः ।

आदिश्रुतां निजभुजावितचक्षपणि-

एतच्च सप्तमपर्याय्यं च सौमनाथः ॥ २२ ॥

(प्रमर्शेष्ये)

सुरसर्वज्ञः, सपञ्चस्य = सूर्यस्य, माताप्रभा = प्राभासिकदीप्तिः, तमिन्धजातं = तिमिर-
समुद्भूतः, इव । निरन्तरेण = समस्तं पथा तथा, आसिषति = विभाषयतीति आसिषः ।
उपमाश्रयः । पञ्चसिद्धका वृत्तम् ॥ २१ ॥

रायः इति । आकण्ठवितम् = आकण्ठवित्वाविति, वृत्तजम्बु । अन्त्या एवेति
विशेषादर्थमिति शेषः । अन्त्याकण्ठवित्वाविति शेषः ।

कृतेति । विनिर्दिष्टं कृत्वा अपभ्रितं भुक्त्वाऽवलेपः स शुद्धकर्णः । प्रोद्गमराससमराण
निजभुक्त्वाऽद्वित्यवस्थापतिः सेवनादश्च लक्षणपण्ड्याय शब्दैश्च आदिशमसामित्यन्वयः ।

विनिर्दिष्टं = निर्दिष्टारहितं, कृत्या = विधाय, जागरितं कृत्येति भावः । अपनिर्दिष्टभुजा-
ज्जलेपः = अपनिर्दिष्टः (बद्धकुक्षः) भुजाऽज्जलेपः (बाहुगर्भः) यस्य साऽ साऽ रजः-
प्रविष्टः, कुम्भकर्णः = तदावयो भवतुजा, मोहामरामसमराय = मोहामः (उद्धतः)
यो रामः (राघवः) तेन सह समराय (युद्धाय) । एवं च—मित्रभुजाद्विषय-
पाणिः = मित्रभुजाभ्याम् (स्वभाहुभ्याम्) अर्चितः (वीक्षितः) कक्षपाणिः (हृत्पा-
वेन सह । तावतो मेघनादश्च = तदावयो भवतुसह । रुक्मस्यह्वयाय = रुक्मज्जलेप-
(रामानुजेन) सह रणाय (युद्धाय) । जयैव = अस्मिन्निदं एव । आदिद्वयसाम् =
आकाञ्चिताम् । वसन्ततिलका वसन्त ॥ २३ ॥

राकण—मोह ! गन्दरोमे कैसी मुझमें मलकण्डितोंके समान मात्सर्य किया ? (गँधे रहते) बहाँ कैय है ? कैय है ?

मेरी आकाशे अगाकर कदम बाहुनसे कुछ कमलको बसत रामने सान कुछ
करनेके लिए और अपने बाहुनसे रामको पीछित करनेवाले मेघनादको कदमने सान
अपनेके लिए नाम ही नामा है हो ॥ २३ ॥

(फिटर मेथाम्फेट)

देव ! भवदाशयविदा महामन्त्रिणा मास्त्वयता पूर्वमेव संविहितमि-
दम् । इदानीं हि—

रामेण सार्धमयमुद्धतवस्तुद्वयः संग्रामभूमिमधिष्ठितिं कुम्भकर्णे ।

रक्षाशिक्षिण्ड्वदयोस्त्वमेवनादः सौमित्रिणा सममस्तावपि मेघनादः ॥

(पुनर्मेघन्ये)

यद्दंष्ट्रावक्रघातैः समिति विदलिताः शैलकल्पाः कपीन्द्राः

यन्नाराचाभ्युत्थैर्दंष्ट्रदहनसमाः शमिते घामरेन्द्राः ।

पुनर्मेघन्य इति । सवदाशयविदा = भवदधिप्रायश्चाया । 'अधिप्रायश्चान्य
माशयः ।' इत्यमरः ।

रामेणेति । उद्धतवस्तुद्वयः अयं कुम्भकर्णो रामेण सार्धं रक्षसिखण्डिद्वयोस्तद-
मेघनादः असी मेघनादोऽपि सौमित्रिणा समं संग्रामभूमिम् अधिष्ठितौत्यन्वयः ।

उद्धतवस्तुद्वयः = उद्धतमुद्धतवस्तु, अयम् = ययः, कुम्भकर्णः, रामेण = रामचन्द्रेण,
'सार्धं'मिति पदेन योगे 'सहसुक्तेऽग्रधाने' इति तृतीया । सार्धं = सह, संग्रामभूमि-
मधिष्ठितौत्यन्वयः । एवं च—रक्षःशिक्षिण्ड्वदयोस्तदमेघनादः = रक्षांसि
(निम्नाधराः) एव शिक्षिण्डवः (मयूराः) तेषां द्वये (विश्वे) उत्सवाय (यज्ञाय)
मेघनादः (अकधरध्वनिसंघातः), असी = अयं, मेघनादोऽपि = इन्द्रजिदधि, सौमि-
त्रिणा = कचमनेन, 'समं' पदेन योगे पूर्वसूत्रेण तृतीया । संग्रामभूमिः = रणभूमिः,
'अधिष्ठिति'त्यनेन योगे 'अधिष्ठा'इत्याऽऽत्मा कर्म'त्याधारस्य कर्मसाहित्या ।
अधिष्ठितिः = आक्रामति । वीरतायां कचध्वनौऽयं कुम्भकर्णो रामेण समं, तत्रैव
यया मेघध्वनिर्मयूरवस्तुद्वयोः मवति तत्रैव स्वगर्जितेन राक्षसद्वयाद्वादको मेघ-
नादोऽपि कचमनेन सममित्येतास्तुभावरि रणाऽभ्युत्थमधिष्ठित इति यावः । अयं
रूपकमलङ्कारः । असन्ततिलका वृत्तम् ॥ २६ ॥

कुम्भकर्णमेघनादयोर्मरणं दर्शयते मेघन्ये—यदंष्ट्रेति । समिति सार्धंभूतप्रभारैः
शैलकल्पाः कपीन्द्रा विदलिताः । यन्नाराचाभ्युत्थैः दंष्ट्रदहनसमा घामरेन्द्राः ।

महाराज ! आपका भाव्य आत्मदाक महामन्त्री मास्त्वयता पूर्वमेव संवि-
हिता या । अमी—

मुम्भकर्णसे कय्य वे कुम्भकर्ण रामके साथ बीर राक्षसकय यदुर्तेके चित्रमें उत्सव
करतेके लिए मेघके समान छन्द करतीयाके वे मेघनाद भी कचमनेके साथ युद्ध करतेके
लिए युद्धभूमिमें अधिष्ठित हैं ॥ २६ ॥

(फिर मेघन्ये)

संग्राममें बिल्ली बकलकय भेदभूतके प्रहारीसे परतसबाव माननेके विरोध में

बीरोऽसौ कुम्भकर्णः, स च समरकलाकौतुकी मेघनादः।

संजातो—

रावणः—किमतः परं यद्विच्यति ?

(पुनर्नेपथ्ये)

■ । पतङ्गो दशरथपुत्रयोर्दास्ये बाणवह्नौ ॥ २४ ॥

(मन्दोदरी-रावणौ मूर्च्छितः)

ग्रहस्तः—देव, समान्वसिहि, समान्वसिहि ।

रावणः—(समान्वस्य) देवि, समान्वसिहि समान्वसिहि ।

मिश्राः । बीरः असौ कुम्भकर्णः समरकलाकौतुकी स मेघनादश्च दशरथपुत्रयोः बाणौ
बाणवह्नौ पतङ्गौ संजातो । हा । इत्यन्वयः । समिति = संग्रामे, सर्वभ्रातृवत्वात् =
यस्य (कुम्भकर्णस्य) वृद्धाः (महादमनाः) एव यज्ञाणि (कुक्षिणाणि) तेषां
चातैः (चाकैः), सौकम्येणाः = पर्यतल्लङ्घनाः, कपीन्द्राः = वायरसेनाः, विद्विक्ताः =
विकारिताः । यन्माराणाञ्जुषर्षे = यस्य (मेघनादस्य) नाराणाः (सर्वलोहसमूहाराः)
युद्धं यन्मृति (जलाभि) तेषां वर्यैः (वृष्टिभिः) । दशरथसम्राट् = दामाऽनलसदृशः
वामनेन्द्राः = कपिसेनाः, क्षामिताः = निर्वापिताः, दृता इति भावः । बीरः = विक्रान्तः,
असौ = काकविषकृष्ट, कुम्भकर्णः = रावणाञ्जुष, समरकलाकौतुकी = समरकलासु
(युद्धविद्यासु) कौतुकी (कुदृष्टी) । स = काकपरोक्षः, मेघनादश्च = इन्द्रमित्रः,
दशरथपुत्रयोः = रामलक्ष्मणयोः, दास्ये = भीष्मे बाणवह्नौ = सराऽनले, पतङ्गौ =
सकम्पौ, संजातौ = संवृष्टौ । हा = कुम्भकर्णमेघनादयोः शोक्यत इति भावः । पतङ्ग
वह्नौ यथा कुम्भकर्णमेघनादादपि रामलक्ष्मणशरवह्नौ विनष्टाविति भावः । अत्र कुर-
कोपमयोर्मियोऽन्येकमा स्थितेः संधितिरुक्तरः । अन्धरा वृत्तम् ॥ २४ ॥

यवे । भित्तके नारायणर बहली वृष्टिर्वासे दशऽग्निसमान वायरसेन इत्यने (भारे) यवे ।

बीरं वे कुम्भकर्णं और युद्ध कलाबोर्म कौतुहल रखनेवाले वे मेघनाद भी हो गये—

रावण—उसके भार क्या रहेगा ।

(फिर नेपथ्यमें)

दशरथके पुत्रोंके भ्रातृर बाणऽनकर्म पतङ्ग (हो गये) ॥ २४ ॥

(मन्दोदरी और रावण मूर्च्छित होता है)

ग्रहस्तः—भ्रातर ! समान्वस्य हो, समान्वस्य हो ।

रावण—(होवने भरकर) महारानी । समान्वस्य हो, समान्वस्य हो ।

मन्दोदरी—(समाकम्प्य) परित्राकृतां मामार्यपुत्र ! एषा निमग्नस्मि
शोकविमिरे । (परितःपश्यन् मं प्रभवत्येव । एषा विषमाम्बु सौमित्रिमेरे)

राक्षसः—अग्नि ! अहं कथं वदामि ! अयं चन्द्रहासचन्द्र एव शोकवि-
मिषादुद्धरिष्यति भवतीम् ।

परयायससौ मे—

मित्रप्रमिश्रसुरकुञ्जरकुम्भमुक्तमुक्ताफलोर्विचलितैः कथिताविवासाः ।
अथैव सेनरनिष्ठाचरलोचननालसुमीलयन्मुदमुदयति चन्द्रहासः ॥२५॥
(इति ग्रहस्तेन सह निष्पद्यन्तः)

राक्षस इति । चन्द्रहासचन्द्रः = चन्द्रहासः । शोकविमिरात् = मग्नमुदयति ।
महीपः कथं एव स्वदीपशोकं नाशयिष्यतीति यावः ।

मित्रप्रमिश्रेति । मित्रमिश्रसुरकुञ्जरकुम्भमुक्तमुक्ताफलोः कति-
ताविवासः चन्द्रहासः । अथैव सेनरनिष्ठाचरलोचननालं मुदं उन्मीलयन् उदयति-
त्यम्बवा ।

विचलितैः = विक्षोभैः । मित्रप्रमिश्रसुरकुञ्जरकुम्भमुक्तमुक्ताफलोः = मित्राः
(मित्रीणां) प्रमिश्राः (प्रविक्षीर्णाः) ये सुरकुञ्जरान् (देवकरिणान् , वैराग्यादी-
नामिति यावः) ये कुम्भाः (मस्तकविष्ठाः) सेन्यो मुक्तावि (निन्दतानि)
यानि मुक्ताफलानि (मूर्तिफलानि), ते । कथिताविवासः = कथितः (कृतः)
कथिवासः (निवासः) कथिन् सः । एवमेव चन्द्रहासः = चन्द्राः, अथैव =
अस्मिन्मित्र एव, सेनरनिष्ठाचरलोचननालं = सेनराः (नाकासचारिणः, रामसेना-
विति शेषः) ये निष्ठाचराः (राक्षसाः) तेषां सेनानां (नेत्रानाम्), मुदं =
हर्षं , उन्मीलयन् = वीजयन् , उदयति = प्रादुर्भवति । अस्मत्सिद्धकम्पुचम् एवम्

मन्दोदरी—(होसने आकर) अनेपुत्र मेरी रक्षा करे । वह मैं शोक-मग्नकरने
हूँ परी हूँ ।

राक्षस—मित्रदे ! कथं यह वनो ? वह मेरा सङ्घबन्ध ही शोक-मग्नकरने
प्राकारा उदर करेगा ।

देखो, यह मेरी—

विचलित, विक्षोभ एवं प्रविक्षीर्ण देरास्त आदि देवपर्वोंके पक्षियोंके मित्रों हुई
मोक्षियोंके मित्रोंके उन्मील आनन्द ही नाशकमें मित्राण करनेके राक्षसोंके हर्षके कदाही
हुई प्रादुर्भूत हो जाती है ॥ २५ ॥

(ऐसा कहकर अस्त्रके साथ चकराता है ।)

(ततः प्रकृतं विद्याधरमिन्दुनयम्)

विद्याधरी—आर्यपुत्र ! कोऽयं रघुरमसविकसत्पुलकमरकुण्डलित-
मुखावनः कपिचमूषकमभिवर्धते ! (भक्तवत् । को इत्यो रघुरसविकसन्तपुल-
कमरकुण्डलितमुखावनो कपिचमूषकं भविष्यति)

विद्याधरः—प्रिये ! स एव रामसम्प्रकौतुकी दशकण्ठः ।

विद्याधरी—अ पुनरकमस्तपुञ्जञ्जविशरीरः कपिबीरस्तस्य सम्मुखं
परावर्धते । (को उवाच इत्यो अक्षयपुत्रकवि स्तरोऽपि कपिभीते तस्य सम्मुखं
परावर्धते)

विद्याधरः—प्रिये ! स एव विभिन्नसवरशीतो नीलः । (विलेप्य)
(समित्स्वयम्) अहो !

वचनमथ के किमपि नीलकरोन्मिमेव

नीलाचक्षस्य शिखरेण कृतप्रज्ञातः ।

विद्याधरीति । रघुरमसविकसत्पुलकमरकुण्डलितमुखावनः = रामे (पुत्रे) को
रमसः (उस्तादः) तेन विकसन् (कोमलानः) मः पुलकमरः (रोमाञ्जलसमूहः)
तेन कुण्डलितं (मुकुटितम्) मुखम् (बाहुगुहबन्धम्) यस्य सः । कपिचमूषकञ्च
वायवसेवासमूहम् । अभिवर्धते = सम्मुखं विधत्ते इत्यर्थः ।

अक्षयपुञ्जञ्जविशरीरः = अक्षयपुञ्जञ्जविः (अक्षयसमूहधाम्निः) इव शरीरं
(देहः) यस्य सः ।

वचनमथ इति । नीलकरोन्मिमेव नीलाचक्षस्य शिखरेण वचनमथ के किमपि कृत-
प्रज्ञातः अहो अहो करो इतिमेकज्वालं वस्तुन्तरीकोपलपद्मत्वं ददर्शति नूनम् इत्यन्वयाः ।

(अनेकर विचार दम्पति प्रवेश करते हैं ।)

विद्याधरी—मार्ग ! तुमने कहावते कोनमान रोमाञ्जलसमूहसे मुकुटित बाहुगुहबाका
वह कोन वायवसेवाके सम्मुख हुआ है !

विद्याधर—प्रिये ! वह रामके साम तुमने कौतुक करनेवाला राजा है ।

विद्याधरी—अक्षयपुञ्जञ्ज कपिजीके अक्षय शरीरवाच्यं वह कोन बीर वायव दम्पके
सम्मुख का रहा है !

विद्याधर—प्रिये ! वह विभिन्न पुत्र करनेवा सवालकाम नील है । (देखकर वायव-
पूर्णक) न्यो !

वाचके दम्पके कोठे नये नीलपर्वण्डे शिखरसे शरीरमें कुल वाधित होकर वह राजा

लक्ष्मीभारः स्मरति नूनमसौ वसन्त-

नीलोत्पलप्रहारं हरिणोत्थानाम् ॥ २९ ॥

(पुनः सखीतुल्यम्) परम् परम्,

नीलोऽयं दशमुखपाणिपङ्कजानामङ्केषु भ्रमरतुलां भ्रमन् विभ्रमि ।
अप्येको दशसु किरीटपीठिकासु प्राक्प्रेङ्गुजनुभयतीन्द्रनीललीलाम् ॥

नीलकरोतिहेतुः ॥ नीलस्य (नीलनामकस्य वातरसूधपत्रस्य) क्वाभ्याम्
(हस्ताभ्याम्) उद्धितेन (लक्षणेन), नीलोत्पलस्य ॥ नीलमिरेः, तिलहेन ॥
मृद्वेन, वसन्त्यले ॥ नरन्धके, किमपि ॥ किञ्चित्, कुतप्रहारः ॥ तावति इति भावः ।
वसौ ॥ अयं, लक्ष्मीभारः ॥ राणाः, हरिणोत्थानां ॥ मृगलोचनानां सुन्दरीणां, वसन्त-
नीलोत्पलप्रहारं ॥ सुप्रभिनीलकमलप्रहारं, नामविपर्यये इति शेषः । स्मरति ॥
ध्यायति । नून ॥ इव, वातरसूधपत्रिणा नीलेन नीलपर्यन्तकृतेन दृश्यते तावितोऽयं
राजसो वसतिप्रसङ्गे सुशोभीनां नीलकमलप्रहारं स्मरतीव । अत्र स्मरणीयैकशो-
रङ्गप्रभावेन सङ्करः । वसन्तविलकावृत्तम् ॥ २९ ॥

नीलोऽयमिति । अयं नीलो दशमुखपाणिपङ्कजानाम् अङ्केषु भ्रमन् भ्रमरतुलां
विभ्रमि । एकोऽपि दशसु किरीटपीठिकासु प्राक्प्रेङ्गुजनुभयतीन्द्रनीललीलाम् अनुभय-
तीत्यम्बवः ।

अयम् ॥ एषः, नीलः ॥ नीलनामको नीलवर्णो वातरसेनजायका, दशमुख-
पाणिपङ्कजानां ॥ राणाप्रकमलानाम्, अङ्केषु ॥ अन्तर्भोगेषु, भ्रमन् ॥ भ्रमन्
कुर्यात् सन्, भ्रमरतुलां ॥ मृद्वेन, विभ्रमि ॥ धारयति । कमलसरसेषु शय-
नकृतेषु भ्रमणीकवर्णो वातरसूधयो नीलो भ्रमरसोभामाप्तवानिति भावः ।
एकोऽपि ॥ एकावयपि, नील इति शेषः । दशसु ॥ दशसंख्याकासु, किरीटपीठिकासु,
शुक्रदाभातेषु, इत् ॥ सगर्वं, प्रेङ्गुजं ॥ प्रचलन् सन्, इन्द्रनीललीलाम् ॥ मरकत-
मणिशोभम्, अनुभयति ॥ अभ्यधीकरोति । एकोऽपि नीलो कुतस्तथा राजस्य
दशसु मुकुटेषु प्रचलन्मरकतमणिरिव चित्सतीति भावः । अत्र रूपकमुपमासहि-

भ्रमरिदोले वसन्त ऋतुने खीचे तमे नीलकमलके प्रहारको यावत् कर रहा है ऐसा भाव
पक्का है ॥ २९ ॥

(फिर खीचने के साथ) देखो देखो ।

यह नील, राजसके मरकतमणिके भीतर घुसना हुआ भ्रमरकी खीचा के रहा है । वह
अकेला भी राजसके दशों मुकुटोंमें खींच चकल हुआ इन्द्र नीलमणिभी शोभाका अनुभव
कर रहा है ॥ २९ ॥

विद्याधरी—कः पुनरयं निशाचरेन्द्रेण समं समरसाहसमङ्गीकृत्य विव्रति । (को ज्ञः स्यो निशाचरेन्द्रेण समं समरसाहसमङ्गीकृत्य विव्रति ?)

विद्याधरः—स एष स्वादिपक्षपाती विभीषणः । (सविवादम्) इत्युच्यते ।

येयं विभीषणे वारिकुम्भं कुर्यात् रक्षसा ।

विद्याधरी—अथ किं कुर्यात् ? (अथ किं कर ?)

विद्याधरः—

अस्मत्पुत्रं गृहीतेयं प्रियेव निजवचसा ॥ २८ ॥

विद्याधरी—हा विक् हा विक् । (इति इति)

विद्याधरः—

वर्षमेव समन्वतो वरामुखं जपन्त्युतैः सायकैः

सौमित्रिं च विदंलमहुनिहितं नेत्रच्युतैरम्बुभिः ।

सोपमावेति अस्माकमहमन्त्राणां विभीषणरेण्डया सिद्धतेः संशयः । तत्र सोपमाहस्यं कश्चित्तोपमासङ्गं यथा अङ्गुलीके—'उपमये च लीलादिपराब्दे कश्चित्तोपमा । तन्नेत्रवुराकं धरे कीर्त्तं मोक्षः अङ्गुलीमयोः ॥' इति । प्रदर्शितो वृत्तश्च ॥ २८ ॥

वेयमिति । कुर्यात् रक्षसा विभीषणे वा इयं कृतिः युक्तः । कथमेवम् इयं विद्याधरं निजवचसा गृहीतेत्यम्बुभिः ।

इत्येव = मुक्तयेव, रक्षसा = राक्षसेव राक्षसेव, विभीषणे = ह्याङ्गुली, वा इयं, कृतिः = कर्म, सप्तविधैः । युक्तः = लक्ष्य, कथमेव = ह्याङ्गुली, इयं = प्रा, सप्तविधैः प्राक् । विद्या इव = निजवचसा इव, निजवचसा = स्ववचसा, गृहीता = धृता, इत्येव कथमेव राक्षसविभक्तयोर्द्वयोक्तो रक्षित इति भावः । उपमा अङ्गुली अङ्गुलीकम् ॥ २८ ॥

वर्षमेवेति । वर्षच्युतैः सायकैः समन्वतो वरामुखं विदंलम् बहुनिहितं सौमि-

विद्याधरी—अथ कीदृशं राक्षसजने कथं पुत्रं सप्तसप्त मङ्गलिनं कर रक्षा दे ?

विद्याधरः—अस्मादिपक्षपाती विभीषणः । (केदपूर्वकं) इत्युच्यते ।

अस्मादिपक्षपाती विभीषणः को नृप उक्तिः श्रीश्री श्री ।

विद्याधरी—अथ कथं कथा युवा ।

विद्याधरः—अस्माकमेव एते विभीषणे वरं वरणी कृतीते मङ्गलिनं ॥ २८ ॥

विद्याधरी—अथ ! विद्याधरः दे, इत्युच्यते ।

विद्याधरः—अमुके हृते इव वारिके चरते नृप राक्षसे और वेदोच्य राक्षस मोक्षीने रक्षते इव कथमेव को वेदोच्य हृते इव बहुकोच्ये हृति करते इव ही वारिके वेदोच्यो

एतत्सर्कय हर्षशोकतरङ्गाः कुर्वन् कपीनां वृत्ते

रामव्रजामलकेलिवीरकण्ठमाभ्यसिधतां गाहते ॥ २६ ॥

(विलोक्य) कथमपगत एव रामबाणपीडितो दृशकवटः ।

(नेपथ्ये)

हा वत्स ! लक्ष्मण ! विकासय नैषपथे

मा गादिष्वं युगपदेव समस्तमस्तम् ।

मि च नेपथ्यतः अभ्युभिः हर्षमेव कपीनां वृत्तः हर्षशोकतरङ्गाः कुर्वन् रामः अमल-
केलिवीरकण्ठमाभिसिधतां गाहते । एतत् सर्कयित्वन्वयः । चापस्तुतैः = भवस्तुतैः,
सायकैः = बाणैः, समस्तता = सर्वता दृशस्तुतैः = रावणं, कर्षन्, एवं च विसर्ज्य =
वैद्यनादितः, रावणसक्तिप्रहारेणेति भावः । अतएव अहमिदित्यम् = अस्मत्प्रसापितं
सौमित्रि च = कथमर्थं च, नेपथ्यतः = लक्ष्मणपक्षितः, अभ्युभिः = वक्त्रैः, अक्षुभिरि-
त्यर्थः । हर्षमेव = सिद्धमेव, तथैव कपीनां = वामरणां, वृत्तः = वृत्ती, हर्षशोक-
तरङ्गाः = प्रभोदमन्त्रुचक्राः, रामस्य कर्षन् = विध्वंस्य रावणे करप्रहारेण सर्वं
कथमजावस्थावर्द्धने च शोकरचेति यथा कथं बोद्धव्याः । रामः = रामचन्द्रः, अमल-
केलिवीरकण्ठमाभिसिधताम् = अमला (निर्मला) केलिः (विक्रमः) धरोस्ती,
एतादृशौ चो वीरकण्ठौ (वीरकण्ठवरौ, उत्साहशोकस्वाधिकारिणि भावः) तयो-
र्धर्मिष्ठतम् (मित्रणमाप्तम्), गाहते = पठति । एतत् = इदं वृत्तं, रामस्येति
शेषः । सर्कय = विचारय । रामो रावणेन भग्नं रणप्रसङ्गं उत्साहस्वाधिकं वीरं कथम-
जम्बुद्वीपा च शोकस्वाधिकं कण्ठप्रसङ्गमाहृत इति भावः । सार्द्धं कथिच्छिन्नं
कुतश्च ॥ २५ ॥

हा वत्सेति । हा वत्स लक्ष्मण ! नेपथ्ये विकासय । विचारयकुलस्य भग्नं,
रामस्य जीवितं च, किञ्च कर्मिकाया लक्ष्मणावस्थ इदं समस्तं युगपद् एव अस्तं
मा गादित्यन्वयः ।

इवं वीर शोकते चक्रक करते इव रामचन्द्रो निर्मल विकासमाके वीर वीर कण्ठप्रसङ्गे
मिमममावस्थे प्रवेश कर रहे हैं । यह विचार करो ॥ २५ ॥

(वेश्मकर) रामके जानोते पीडित होकर कैसे रावण इव ■ गवाः ।

(नेपथ्ये)

हा वत्स लक्ष्मण ! नेपथ्यमक विकासय करो । सर्वप्रसङ्गा माग्य, रामका जीवन वीर

अपि राक्षसेति गच्छप्रतिमं कथमप्य रामहृत्कः पिबतु ॥ ३१ ॥

अपि च—

कनीयस्या मातुः कृतचरणपातः कथमहं

सहिष्ये मत्पार्श्वे विफलपरिचर्त्तं नयनयोः ।

अये ! शान्तं पापं कठिन इव खेजीयितुमना

विना वत्सं रामः पुनरयमयोध्यां प्रविशति ॥ ३२ ॥

अदीति कोमलामन्त्रणे । रामयो = रघुवंशप्रसूती, रामकर्मणाविति भावः । इति = एतादृशं, सुधामधुरं = पीयूषस्वादुः, पीरमुनिज्योत्स्वः = मातुरिकच्छाभिज-
वचनं, विविधीय = प्रणमाञ्जितलेपेन सुखेति भावः । अयं = अस्मिन्दिने, कथम-
रहिते इति भावः । अपि राक्षस = हे रघुवंशप्रसूत, हे राम इति भावः । इति =
एतादृशं, कथमनर्थं सम्पादपरकमिति भावः । अतएव गच्छप्रतिमं = विधेयम्,
कथं इति शेषः । रामहृत्कः = हृदयहृत् रामः, कथं = केन प्रकारेण, पिबतु = ग्रभ्ये-
तिवति भावः । प्रथमं राक्षसाविति द्विकल्पाज्जलज्ज्योत्स्वनेन स्व स्वाञ्जुषं कथमर्थं
प्राप्तुमशक्यं पीयूषपात्रसदृशं सुखमनुभूय साम्प्रतं राक्षसकल्पा नष्टचैतन्ये कथमर्थं
अपि राक्षसेति सम्प्रुद्धा आत्मानमेवाश्नुद्धय हृदयहृत् रामो निपदानसदृशं वेदना-
तिवत् कथमनुभवयितुमिति भावः । अयोध्यां गच्छतः । प्रविशति च कथम् ॥ ३१ ॥

कनीयस्या इति । कृतचरणपातः अहं मत्पार्श्वे कनीयस्या मातुः नयनयोः
विफलपरिचर्त्तं कथं सहिष्ये ? अये । वत्सं विना जीयितुमनाः कठिन इव अयं रामः
पुनः अयोध्यां प्रविशति चेद् पापं शान्तं च कथमनर्थम् । कृतचरणपातः = विद्वि-
ग्धभासः, अहं = रामः, मत्पार्श्वे = मत्पार्श्वे, मत्पार्श्वे कथमनर्थमेवावस्थान इति
भावः । 'पार्श्वमन्त्रिके' इति हेमः । कनीयस्या मातुः = सुमित्राया इत्यर्थः, नयन-
योः = नेत्रयोः, विफलपरिचर्त्तं = निष्फलप्रसरणे, कथमनर्थमेवावस्थानेति भावः ।
कथं = केन प्रकारेण, सहिष्ये = मर्त्यविष्यामि । प्रणामाज्जलज्ज्योत्स्वनेन कथमनर्थ-
दर्शनेन कनीयस्या मातुः सुमित्रायाः पुनरनुकर्त्तव्यमिति तत्ततो नेत्रमसारणं कथं
सहिष्य इति भावः । अये इति विवाद्योक्तकथमर्थम् । वत्सं वास्तव्यभाजनं,

वचनं पुनरुक्तं भावः 'राम' (राम) । 'येन विच-सृष्टं कथं देवदत्तं राम' इति इति ॥

और भी—

चरणोंमें प्रणामकर मैं, मेरे सनीयमें छोटी माँ (सुमित्रा) के नेत्रोंका निष्फल प्रसरण
कैसे सह्यग ? अरे । वास्तव्यभाजन कथमनर्थ विना भीमेका मनकर कठोर हृदयके समान
हीकर वह राम फिर अयोध्यामें प्रवेश करेगा तो पाप शान्त हो ॥ ३२ ॥

विद्याधरः—अहह ! कल्पवैकर्ष्यमेव वर्तते । (विद्युत्) कः पुनरिह प्रतीकारः ? (विचिन्त्य) अथवा का प्रतीकारकता ? कश्चि हि विधिः ।

विद्याधरो—वक्तार इति अभितन्वम् , इदं परम् । नन्वयं वानर एव कोऽपि लङ्केसरकृतसम्पन्नः करकलितरौतशिशरो रामसन्मुखमेव परि-
वर्तते । (वक्तारोति अभिषं । इदं मेवम् । नं एते वापरो जेम् ओषि लङ्केसर-
किदत्तपायो करकलितरौतशिशरो रामसंमुखं जेम् परिपट्ठि)

विद्याधरः—(कलौ शिकन) शान्तं पापम् । अयि मुन्ये मैवं वादीः,
अयं हि—

महीपद्मीनामाधरं भूयस् सम्प्रसादनम् ।

अधममिति माक । विना = वन्तरेक, श्रीविद्युमवाः = श्रीविदुं (प्राप्ताम्भारदि-
शुभ) भनः (विद्युम्) यस्य ह्य, 'तुं कम्ममभसोरपी'ति मकारलोपः । अतएव
कलित इव = कटोर इव, अथवा = वृक्ष, रामः = रावकः, पुनः = भुवः, अधोष्वा =
सामेवं, प्रकलिति = प्रवेवं करोति, केर = बहि, तर्हीति कोषः, पापं = कल्पकम् ,
लक्ष्मणाहितरामस्य लङ्केकाज्येककल्पनारूपमविष्टमिति भावः, शान्तं = विद्युत्तम् ,
कलितति शेषः । भाष्यं अधममे विनाऽप्योष्वा प्रवेक्यामीति माकः । चिकारिणी
पृष्ठम् ॥ ३२ ॥

विद्याधर इति । कल्पवैकर्ष्यकल्पनः (लोकाः) एव वृक्षार्थवः (एकसमुद्रः) ।

विद्याधरीति । लङ्केसरकृतसम्पन्नः = लङ्केरकोष (रावमेव) कृतं (विद्युत्तम्)
सम्पन्नम् (सम्पिः) येन सः । करकलितरौतशिशरः = कने (इस्ते) कलितं
(वर्त) वैकलिकरं (वर्तकम्) येन सः ।

विद्याधर इति । मुन्ये-मुने, मुननि वा । 'मुन्यः सुन्दरमूढयो'तिर्यगरः । मही-
पद्मीनामिति । माकतिः महीपद्मीनाम् आधरं सम्प्रसादनं भूयस्व वादाय कल्पज-
प्राप्तप्राप्तव्यं व्यप्येतीत्यन्वयः ।

विद्याधर—अहह ! शोकम् एव अमुं कल्प रहा है । (विद्याधर) वहाँ क्या
प्रतीकार है ? (विद्याधर) महीपद्मी तथा वाद ! माय्य कृतिक है ।

विद्याधरी—भाष्य कृतिकर है ऐसा कहना चाहिए । यह देखिए । यह कोई वानर
ही लङ्केसरको लपिकर हाथों में पकड़कर लोटी लेकर रामके पास हो कौट रहा है ।

विद्याधरी—(कलौको वाष्पादित कर) पाप भान्त हो । भरी भवत् ! ऐसा
मत कौी । ये—

इत्युक्तं महीपद्मीनाम् आधरं सम्प्रसादनं भूयस्व वादाय कल्पज-
प्राप्तप्राप्तव्यं व्यप्येतीत्यन्वयः ।

आज्ञाय सक्षमप्राप्त्यवशायाम्येति भावतिः ॥ ३३ ॥

(पुनर्विलोक्य) (सहर्षम्)

आमोदमात्राय सहौषधीनां सौमित्रिकस्मीक्षितपद्मेनः ।

भूयोऽपि शस्त्रिकृतचारुचापः करोति रामं परिपूर्णकामम् ॥ ३४ ॥

विद्याधरी—कथं पुनरपि रामरणकौतूहलपुष्पदुम्भजमण्डलो निरा-
चरास्त्वलः परापतितः पयः । (क्वं पुनो वि रामरणकोटूहलपुष्पदुम्भजमण्डलो
विद्याधरास्त्वलः परापतितो जेह्म)

विद्याधरः—प्रिये ! सदिवाती सावधानं विलोक्य ! तुलाधिरोहः

भावतिः = हनुमान्, सहौषधीनाम् सम्बन्धमेकजाती, फलपत्रादीनामिति शेषः ।
आज्ञाय = आश्रयं, गन्धमाधनं = गन्धमाधनानामकं, भूधरं = पराक्रम्य, आदाय =
गृहीत्वा, सक्षमप्राप्त्यवशायाम् सौमित्रिकीकृतपद्मेन, अम्येति = आगच्छति ।
भूयोऽप्युच्यते ॥ ३३ ॥

आमोदमिति । सहौषधीनाम् आमोदम् आश्रयं दन्तीक्षितपद्मेनः सौमित्रिक-
भूयोऽपि शस्त्रिकृतचारुचापः (सन्) रामं परिपूर्णकामं करोतीत्यन्वयः ।

सहौषधीनाम् = सम्बन्धमेकजाती, गन्धमाधनस्यानामिति शेषः । आमोदं = गन्धमा-
धनम् = प्राणैश्च गृहीत्वा, दन्तीक्षितपद्मेनः = शिकित्सकमलयनम्, सौमित्रिक-
कक्षमणः, भूयोऽपि = पुनरपि, शस्त्रिकृतचारुचापः = मण्डलीकृतसुन्दरकामुकः सन्,
रामं = स्वाग्रजं रामचन्द्रं, परिपूर्णकामं = संप्रदाशमिलापं, करोति = विव्रधाति ।
रावत्तनासेनेति शेषः । अघोपमाञ्छकारः । उपवातिपुत्रम् ॥ ३४ ॥

विद्याधरीति । रामरणकौतूहलपुष्पदुम्भजमण्डलः = रामेण (राघवेण) सह
रमे (जुहे) पत्नीगृहकं (कौतुकम्) तेन जुह्वत् (विकसत्) गुणमण्डलं (बाहु-
समूहः) पश्य सः । निराचरास्त्वलः = राघवेन्द्रः, शतव हर्षयः ।

विद्याधर इति । तुलाधिरोहः = तुलायाम् (मानविशेषे) अधिरोहः (आरोह-

रामके सम्पुत्र आ रहे हैं ॥ ३३ ॥

फिर देखकर हर्षपुत्रक)

सहौषधीकी सुत्रम् धृषकर कमल सङ्क नेत्रीकी शीघकर कक्षमण फिर भी सुकर
बनुकी मण्डलकार करती हृष रामचन्द्रकीका भविष्य सप्तम बना रहे हैं ॥ ३४ ॥

विद्याधरी—हेते फिर भी रामके साथ गुणमे गुणहक्ते विव्रित बाहुमण्डलाल
होकर राखलेन्द्र राखन भा ही गया ।

विद्याधर—प्रिये ! नव सावधान (दोविधर) होकर देखो, ओ राम और रावण

सत्त्वयं वीरलक्ष्म्याः, यन्माम रामराजपणयोः समर इति ।

विद्याधरो—कथं पुनः सकललोकवीरस्य रामचन्द्रस्य अनेकवीरपरि-
भूतस्य राजपणस्य तुलाविरोधो वीरलक्ष्म्या भविष्यति ? (अहं त्वं च अल-
क्ष्येयवीरस्य रामचन्द्रस्य अनेकवीरपरिभूतस्य राजपणस्य तुलाविरोधो वीरलक्ष्मीर-
हृदिस्त्वदि !)

विद्याधर—प्रिये ! न जानासि । कथं दशकण्ठं विना—

विन्यासं नाकनारीकुचकलकलकुचकुचमस्यासकाना-

भसृष्टा माभूत्मासां दसिकसद्वकताकोविदः को विदग्धः ।

भिन्वस्वर्गोमकुम्भस्यासकलकलममोदिकम्पकहासः

पदम्), वीरलक्ष्म्या वीरराजपणयोः समरः ।

विद्याधरीति । अनेकवीरपरिभूतस्य = अनेकवीरस्य (कर्तृवीर्यवादिप्रभृतिभिः)
परिभूतस्य (पराजितस्य) ।

विन्यासमिति । नाकनारीकुचकलकलकुचकुचमस्यासकानां विन्यासम् भसृ-
ष्ट्वैव माभूत् कः भसिकलकलकलकोविदः विदग्धः ? भिन्वस्वर्गोमकुम्भस्यासकलकल-
ममोदिकम्पकहासः विदग्धपतिवधकलकलममोदिकम्पकहासः कस्य कलकल ममोदिकम्पकहासः ।

नाकनारीकुचकलकलकुचकुचमस्यासकानां = नाकनारीणां (स्वर्गलोकां, देवी-
नामिति भावः) कुचकलकुच (अटलकलकुचोपरि) कलकल (श्रीभक्तानां) ये
कुचकुचमस्यासकाः (कारवीर्यविक्रमनाभिः) वेदम् । विन्यासं स्थापयम्) अटलकल-
ममोदिकम्पकहासः, माभूत्मासां दसिकसद्वकताकोविदः = कलकल कल-
ममोदिकम्पकहासः (अटलकलकलकोविदः) कोविदः (पण्डितः), विदग्धः = वि-
द्वान् । देवकलकलपणोपरिस्थितकलमवीरकलकलं त्वत् विद्याधरमेतुं कलकलपण्डितो
वनो राजपण एव नाज्य इति यावत् । राजपणं कलकलपण्डितं देवकलकलं वदुबद्धं वा
देवकलकलममोदिकम्पकहासं विदग्धपतीति यावत् । भिन्वस्वर्गोमकुम्भस्यासकलकल-
ममोदिकम्पकहासः = विन्यासः (विदग्धपतिभिः) वा नि स्वर्गोमकुम्भस्यासकल-
ममोदिकम्पकहासः ।

पुनः वीरलक्ष्मीका तुलाविरोध इति ।

विद्याधरो—सम्पूर्णमेक मे एक वीर राम वीर अनेक वीरोंसे विरुद्ध राजपण
दोनोंके तुलने वीरलक्ष्मीका केते तुलाविरोध होगा ?

विद्याधर—तुम नहीं जानती हो : राजपण के विरुद्ध केते—

देवान्नामोके लक्ष्मकलकलमे शोभायते केसरके केसरके लक्ष्मि विद्याधरो
वीर वीर कलकलके विन्यासकलके विद्वान् है । विदग्ध देवकलकलकोति प्रभु पर-

कस्याभीष्टकरामे विवक्षपतियसामन्त्रहा चम्प्रहासः ॥३३॥

अपि च,

किं भूमो वृक्षकम्भरं निजचमूरसाकपाटीभव-

वृक्षःपीठपतस्कटोरकुलिषाघातेषु जातस्मितम् ।

व्योमाभोगसरोविहासिनि घने यत्पाणिपङ्केठहां

कैलासेन शिरःस्थितेऽनुकलिकोर्ध्वसेन हंसायितम् ॥३४॥

(नेपथ्ये)

शोकहृदिनस्तकमिच्छाऽनकासाः) श्रेयो वृक्षं (प्रचुरं, यथा वृक्षः) यदस्ति
(पतन्ति) यानि भीतिभानि (मुक्ताफलाणि) तैर्भ्यः (स्फुटः) हासः (हास्यं,
प्रकाश इति भावः) यस्य हासः, तादृशः विवक्षपतियसामन्त्रहा = विवक्षपते (देव-
राजस्य, इन्द्रस्येत्यर्थः) तस्य वृक्षः (कीर्तिः) एव चम्प्रः (इन्द्रः) तं हस्ति
(विवाशयति) इति, तथाविधः, चम्प्रहासः = लब्ध्वा, कस्य = जनस्य, वृक्षकम्भरः-
तिरिक्तयेति शेषः । कदाञ्चो = हस्ताऽग्रे, आकीर्णः = कीर्तितत्वात्, देवावतादिवेव-
गजकुम्भपिण्डविदारको देवेन्द्रवृक्षस्यमृगमिर्लोककामन्त्रहासो हावनादते कस्य हस्ते
मण्डलत्, न कस्याऽपीति भावः । अत्र रूपकमलङ्कारः । शिरःशिरा वृत्तम् ॥ ३५ ॥

रावणविक्रमं वर्णयति—किं भूम इति । निजचमूरसाकपाटीभववृक्षःपीठपतस्कटो-
रकुलिषाघातेषु जातस्मितं वृक्षकम्भरं किं भूमः ? व्योमाभोगसरोविहासिनि घन-
पाणिपङ्केठहां घने शिरःस्थितेऽनुकलिकोर्ध्वसेन कैलासेन हंसायितमित्यन्वयः । निज-
चमूरसाकपाटीभववृक्षःपीठपतस्कटोरकुलिषाघातेषु = निजचमूनां (स्वसेनानाम्)
रक्षायां (रक्षणे) कपाटीमण्डपं (अरुहीभवत्) यत् वृक्षःपीठम् (शरोदेशः) तस्मिन्
पतन्ति (निपतन्ति) कटोराणि (कठिनानि) यानि कुलिषाणि (वज्राणि) तेषा-
माघातेषु (महारिषु), जातस्मितम् = नृपहास्यं कुर्वन्ममित्यर्थः । तादृशं वृक्षकम्भरं
राज्यं, किं भूमः = किं वर्णधामः । व्योमाभोगसरोविहासिनि = व्योमाभोगाः (वा-

यामने गिरनेवाळे मोतिचोते स्वर मकाछवाली और देवराज स्वर्गके बड़ीरूप चम्प्रहा
प्राप्त करनेवाली शकवारने और किछ पुत्रवके हाथमें कीजा की ॥ ३५ ॥

और भी—

जयभी सेनाकी रक्षाके लिए निवाहके समान छापीने एकमेवके कटोर वज्रवहरोमें
भी मुसकुराने वाले रावणके विषयमें क्या कहें ? विस्तीर्ण नकाशाकर ताजामें ओढ़ा करने
वाले गिस्तके करकमलोंके समूहमें भीटी पर चम्प्रहासकी रक्षनेवाके कैलासने भी हंसे
समान आचरण किया ॥ ३६ ॥

(नेपथ्यमें)

हेकोऽमृषितचन्द्रचूडगिरयकोऽप्यवच्छाद्यो

अङ्गातङ्गहरा पुरन्दरपुरकोऽमृषिकृताः ।

वैदेहीकुचकुम्भकुम्भरसव्यासङ्गवदस्पृहा

लोत्कण्ठं दशकन्दरस्य अग्निः सेवन्ति द्यौःकैलयः ॥३५॥

कान्तविस्तीर्णयेतः) एव सः (कसारः) तस्मिन्निष्ठमिति (विहसनसिद्धिः),
व्याप्तिपदेखां = यस्य (रात्मन्) पालवः (कराः) एव पण्डितः (कमलाणि),
तेषां वने = समूहे, विरसिकोऽमृषिकृतेषां = इन्द्रकणिका (चन्द्रकोरकः) तेषां
वर्णसः (विरोधमन्त्र) यस्य सः, विरः स्थितः (मस्तकस्थः, शिखरस्य इति भावः)
कुम्भकृतिष्वेतेषां (मङ्गलेश्वरः) यस्य सः, तेषां (ताराशेषः कैलासेन = कैलासकल्प-
पर्वतः, हंसमितः = हंसवत्पर्वतः) । एतेषां दशकन्दारमयेषां वल्लभप्रारण्य-यगम-
नन्तं रत्नं किं वर्णयामा । यस्य शिखरे कङ्करोऽस्ति तद्वत् कैलासपर्वतमन्य-
वरकन्दैर्गुह्यैः । मधोमार्गोऽप्यमृषिदिति भावः । अत्र स्वरकोपमनोरञ्जकभावेन
सङ्गरः । सावर्तविशेषितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

हेकोऽमृषितेति । हेकोऽमृषितचन्द्रचूडगिरयः कैलेयवच्छाद्यो अङ्गातङ्गहराः
पुरन्दरपुरकोऽमृषिकृता वैदेहीकुचकुम्भकुम्भरसव्यासङ्गवदस्पृहाः अग्नौ दश-
कन्दारस्य द्यौःकैलयः लोत्कण्ठं सेवन्तीत्यर्थः ।

हेकोऽमृषितचन्द्रचूडगिरयः = हेकोऽमृषि (मन्त्रावासेन) चन्द्रचूडः (चन्द्राटितः)
चन्द्रचूडश्च (मङ्गलेश्वरः) गिरिः (पर्वतः, कैलास इति भावः) यैस्ते । त्रैलोक्य-
व्यापकः = त्रैलोक्यान् (लोकत्रयान्, स्वर्गमर्त्यपाताललोकान्वापेति भावः) वृषा
(विष्णोर्णां) वायु (विपत्तिः) यैस्ते । अङ्गातङ्गहराः = अङ्गावः (अङ्गाव्यन्त-
गर्वाः) नासकं (नाशः) दमिन् (जगद्गमिन्) इति तथाविधाः । पुरन्दरपुरको-
ऽमृषिकृता = पुरन्दरपुरस्य (इन्द्रपुर्याः, मन्तराज्या इत्यर्थः) यन्मृषिकृत् (सीत-
मृषिनीसमूहः) तस्य मृषिकृताः (मन्त्रकर्मणः) । वने वा वैदेहीकुचकुम्भकुम्भ-
रसव्यासङ्गवदस्पृहाः = वैदेहाः (वायव्याः) वा कुचकुम्भौ (स्तनकलशौ) तपोर्यः
कुचकुम्भसः (अरवीत्यङ्गः) तस्य वा व्यासङ्गः (सम्पर्कः, वाङ्मनेवेति शेषः)
तस्मिन् कन्दरुहाः (विहृताऽधिकशः), नाशकाः । अग्निः = विद्यमिन्, दश-

कन्दावासे ही शिवमन्त्र (कैलास) को अवाटित करनेवाले, तीनों लोकों को व्यापित करनेवाले, अङ्गावसे सन्तापको दृष्टनेवाले, स्वर्गस्वर्ग द्वैतलोकमार्गों को बन्दी करनेवाले और सीताके कुचकलशों पर दिव्य केशरके रूपके सम्पर्कमें विद्यमान करनेवाले शिवजी रावणके वाङ्मनिक अङ्गमङ्गलेश्वर को वा हर रहे हैं ॥ ३५ ॥

(पुनर्नैपथ्ये)

हेलोम्भूतिचन्द्रचूडधनुषशैलोक्षयदत्तामया-
लङ्कातङ्ककराः पुरन्दरपुरलीवृन्दधन्वीमुखः ।
वैदेहीकुचकुम्भकुङ्कुमरसभ्यासङ्गलम्बोत्सवाः

सोत्कर्षं रघुनन्दनस्य जयिनः सेवन्ति दोःकेलयः ॥३५॥

विद्याधरः—नूतनमयं राक्षसवानरयोर्निजस्यामिवर्णनानुसारी व्याहारः ।

कण्ठरस्य = रावणस्य, दोः केलयः = युद्धविकासः, सोत्कर्ष = उत्कर्षपूर्वकं,
येकमिति = स्त्रीवृत्तिः । जलोपमाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीकितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

वातरनिकरः पूर्वश्लोकसेव किञ्चिद्व्यभासुऽप्य रामपराक्रमं वर्णयति—हेलोम्भू-
तिसेति । हेलोम्भूतिचन्द्रचूडधनुषः शैलोक्षयदत्तामया लङ्कातङ्ककराः पुरन्दरपुर-
लीवृन्दधन्वीमुखो वैदेहीकुचकुम्भकुङ्कुमरसभ्यासङ्गलम्बोत्सवाः जयिषो रघुनन्द-
नस्य दोःकेलयः सोत्कर्षं सेवन्तीत्यन्वयः ।

हेलोम्भूतिचन्द्रचूडधनुषः = हेला (अवाप्राप्तेन) उम्भूतं (प्रोदितम्)-
चन्द्रचूडस्य (चन्द्रसेलरस्य, शिखरस्यैवार्थः) धनुः (कार्मुकस्य) वेष्टे । शैलोक्ष-
यदत्तामया = शैलोभवाय दत्तस्य (वित्तिर्णम्) धनयं (भयाऽभ्यायः) यैस्ते । लङ्काऽऽ-
लङ्ककराः = लङ्कातापकराः, पुरन्दरपुरलीवृन्दधन्वीमुखः = इन्दुपुरीसीमन्तिनी-
श्वयमोक्षका, वैदेहीकुचकुम्भकुङ्कुमरसभ्यासङ्गलम्बोत्सवाः = सीतास्तनकलस-
कारसीरसद्वयसम्पर्कान्तोत्सवाः, जयिनः = विजयिषा, रघुनन्दनस्य = रामचन्द्र-
स्य, दोःकेलयः = युद्धविकासः, सोत्कर्षं = उत्कर्षपूर्वकं, येकमिति = स्त्रीवृत्तिः ।
जलोपमाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीकितं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

विद्याधर इति । व्याहाराः = उक्तिः । मातङ्गिना = हृष्यसारङ्गिना । विनयाऽ-
निरामेण = विनयेन (वज्रतया) धमिरामेण (सुन्दरेण) ।

(फिर वेरव्यमें)

जनायास ही शिरमनुकी घोड़नेवाले, शैलोक्षकी जगय देनेवाले, लङ्कामें मय ३५५
करनेवाले, देवकलमाभीकी चन्द्रनामारेसे मुक्त करनेवाले और सीताके कुचकुम्भों पर
स्थित केसरके हथके सम्पर्कसे उत्सव प्राप्त करनेवाले विजयी राजचन्द्रके बाहुविकास उत्कर्ष-
पूर्वक धोका कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

विद्याधर—निधय ही यह राजाओं और जानरोंकी कृपने कृपने स्वामीके गर्वमक
अनुसरण करनेवाली शक्ति है ।

विद्याधरी—कथं पुना रविविद्येन रावणेन समं भूमिस्थितस्य रामस्य समरो भविष्यति । (ह्येन रविविद्येन रावणेन समं भूमिस्थितस्य रामस्य समरो भविष्यति)

विद्याधरः—प्रिये ! पश्य । अनीत एव मन्त्रलिङ्गा पुष्पवृक्षरत्न, अवि-
क्षितश्च विनयाभिरामेण रामेण ।

(नेपथ्ये)

अये ! कथं—

पूर्वमेव प्रयातव्यां करमारीचवालिनाम् ।

सौजन्यमुग्धः पन्थानमविधत्तितुमीदृशे ॥ ३६ ॥

विद्याधरः—आकर्षणमस्तावदनेन रामवचनेन रोहितः किमाह
रावणः ?

(नेपथ्ये)

पूर्वमेवेति । पूर्वमेव प्रयातव्यां करमारीचवालिनां कथाम् सौजन्यमुग्धः (एवम्)
मविधत्तितुम् इदं इत्यन्वयः ।

हे रावणेति सम्बन्धिपदमुक्तम् । पूर्वमेव = प्रागेव, प्रयातव्यां = प्रयातव्यां, पद-
कोशभातामिति भावः । करमारीचवालिनां = लङ्कादेशमभ्युपगम्यमानां, कथाम् =
मात्रम्, सौजन्यमुग्धः = सौजन्येन (सुखवशात्) मुग्धः (मोहयुक्तश्च) ,
मविधत्तितुम् = अनुगम्यतुम्, ईदृशे = इत्यसि । हे रावण ! त्वमपि करमारीचवालि-
न्याम्भुरगोष्ठो मन्त्रिमुपिच्छसि किमिति भावः । रावणं प्रति रामस्वोक्तिरित्यम् ।
अनुगम्यतुम् ॥ ३६ ॥

विद्याधरी—एतच्छब्दं रावणो रावणं भूमिस्थितं रामकं मेरे बुद्धं होय ।

विद्याधरः—प्रिये ! देखो । मन्त्रि (मन्त्रिभारति) मन्त्ररक्षो के भले हैं । विनयसे
अभिराम राम सब पर नाकब बंद हो गये ।

(नेपथ्ये)

अरे ! देखो—(हे रावण । ३७)

पहले ही गये हुए कर, मारीच और वालीके आकर्षण सम्बन्धित मोहयुक्त होकर अनु-
सरण करना चाहता है ॥ ३७ ॥

विद्याधरः—इत्यनेन तुम्हें कि रामके सब वचनसे रोहित होकर रावण क्या
कहता है ।

(नेपथ्ये)

श्वरः कीदृग् वाकी कपिरपि च, मारीचहतकः ।
 कुरङ्गः, स्तान् हत्वा कथमपि कथं हृष्यसि मनाक् ।
 अर्थं पश्य प्राप्तो दशवदननामा सुरपुरी-
 करेन्द्राणां हेलाखितकदनः पञ्चवदनः ॥ ६० ॥

अथवा—

कालीकेसरिकेसराञ्चलसटासगटोपसम्पादित-
 कीडाचामरकोमलानिसलषासान्तधममभ्यङ्कणः ।

रामे मतिं शब्दो द्रुते—श्वर इति । श्वर कीदृग् ? वाकी कपिः । मारीचहतकः-
 अपि कुरङ्गः । कथमपि तान् समाकुर्वता कथं हृष्यसि ? सुरपुरीकरीन्द्राणां हेला-
 खितकदनः अर्थं दशवदननामा पञ्चवदनः प्राप्तः । पर्यवेक्ष्यन्वयः ।

हे रामेति पञ्चमपादार्थम् । श्वरः=तवाभ्यो राक्षसः, कीदृग्=कीदृशः, कुरङ्ग-
 एव, वीरो नाऽऽसीदिति भावः । एवं च वाकी=मदीयः सखा, कपिः=वानरः । गो-
 र्भवो न राक्षसो नैव नरोऽपीति भावः । तथैव मारीचहतकोऽपि=मारीचाभ्यो
 नीचराक्षसोऽपि, कुरङ्गः=मृगः, ध्वङ्करप्रहारकाले मृगरूपमायैव आसीत् स्वहृष्य-
 इति भावः । अतः कथमपि=केनापि प्रकारेण, तान्=श्वरवाहिनिसरीषान् पञ्चव-
 दनान् विहृत्य श्वरम् अन्तर्हितत्वेन वाहिनिं कुरङ्गरूपिणं पलायमानं मारीचं चेति कपट-
 काव्येनेति शेषः, मनाक्=अल्पं यथा तथा, हत्वा=ध्वापात्, कथं=किमर्थं हृष्यसि=
 हर्षं करोषि । सुरपुरीकरीन्द्राणां=सुरपुर्यो (विजयनगरात्), जमरावत्यामिति भावः ।
 ये करीन्द्राः (गलेन्द्राः), शेषाम् । हेलाखितकदनः=हेलया (अभाषासेन-
 रचिते) कृतम् । कदनम् (हृष्यम्) येन सा । तादृशः अर्थः=विकटस्थः, दशवदन-
 रावणाऽभिधानः, पञ्चवदनः=पञ्चास्यः, सिंह इत्यर्थः । सिंहो सुगोन्दः पञ्चास्यो
 हर्षकः केसरी हरिः । इत्यमरः । प्राप्तः=समावातः, परम्=विलोक्य, तमिति
 शेषः । अथ रूपकमलङ्कारः । सिलरिणीवृत्तम् ॥ ६० ॥

कसीति । कालीकेसरिकेसराञ्चलसरासारोपसम्पादितकीडाचामरकोमलाऽभि-

(हे राम ।) श्वर कैसा था ? वाकी वानर वा कौर भीम मारीच या मृगकवच वा ।
 किसी प्रकारसे वाकें नष्टप्रकारसे मारकर तु कभी तर्ष कर रहा है । जमरावतीके गलेन्द्रोके
 जमायात ही संहार करनेवाला वह दशवदन-नामक पञ्चास्य (सिंह) भागा है । हेला
 की लकी ॥ ४० ॥

अथवा—कालीके सिंहके रक्तस्थित केससमूहसे गर्वपूर्वक बनावे गये कीडाचामरकी
 कोमल द्वाके लेखसे विकटका जमकक सुख गया है, ऐसा भीमात् दशानन (राक्षस) सर्वो-

ओमानेन दृष्टान्नो विजयते तस्यास्य पञ्चजन-

म्यापात्रप्रतिपादनैरपि यशः कीदृक्समुन्मीलति ? ॥४१॥

विधाधरः—अवे ! दशकदनवचनकुपितः किमपि वक्तुंक्रम इव
क्षरयते लक्ष्मणः ।

(नेपथ्ये)

किं ते—पञ्चानन्तस्य दृष्टान्नस्य वा त्वमिदानीं—

दूरोन्मुक्तमहो विभीषण इव म्यञ्जिन्नभोजनः

स्वच्छन्दं चरणपरिविन्दुगले रामस्य भूतो मय ।

कक्यापात्रकपाऽयम् कयः ओमान् एव दृष्टान्नो विजयते । तस्य यस्य पञ्चज-
नम्यापात्रप्रतिपादनैरपि कीदृक् यशः समुन्मीलनीत्यन्वयः ।

कालीत्यादिः = कालः (दुर्गन्धः) केसरिणः (सिंहस्य) वा केसराञ्जकसदा
(स्कन्धकेसराप्रत्यमासमूहः) तथा लक्ष्मणं (समर्थं यथा तथा) सम्पादितं (रवि-
तप्तं) यद् दृष्टान्नमरं (केसिमयीकम्) तस्य कः ओमकः (सुगु, मन्द इति
भावः) यः अविकल्पः (वायुकेकः) तेन व्याधान्तः (संक्षोभिता) अमाज्ज-
क्याः (स्वेदमल्लोकाः) यस्य सः । तादृकः ओमान् = कपलीवान्, एव = ययं,
युधान्ता = रावणः, विजयते = सर्वोत्कर्षेण वर्तते । तस्य = तादृसस्य, अतः = राव-
णस्य । पञ्चानन्तापात्रप्रतिपादनैरपि = पञ्चानन्तस्य (सिंहस्य) यो व्यापात्रः (परा-
जमाज्जिह्वा क्रिया) तत्प्रतिपादनैरपि (तद्वर्जनैरपि), सिंहपराज्जगतुवतामर्क-
नैरपीति भावः । कीदृक् = कीदृशं, यशः = कीर्तिः समुन्मीलति = प्रादुर्भवति । यो
मम रावणः कालीकेसरिणमविदुषस्तस्य कक्यापात्रकपां विदधाति,
तस्य दृष्टान्नस्य पञ्चजनमपराज्जगतादृशवचनं शिरस्करणेनेति भावः । शार्ङ्ग-
मिलीकितं सुखम् ॥ ४१ ॥

दूरोन्मुक्तम् इति । रे यज्जानं ? दूरोन्मुक्तमहो विभीषण इव म्यञ्जिन्नभोजनो

स्वच्छन्दं विषमय दे । देते अस् रावणके पञ्चजन (सिंह) यो पराज्जगतादृशे वर्जनैरे
यो मेरा मय महुर्नृते रोगा ॥ ४१ ॥

विधाधरः—रावणके वचनते कुव होय तस्मयमे कुव भोजन चरते है येन
मायन होता है ।

(नेपथ्ये)

के पञ्चजन (सिंह) होनेसे मया दृष्टान्न होनेसे क्या ? तू यही—

भरे रावण । दूरसे ही क्या कीदृश विभीषणके कथन सुनामि सुवाकर रावणके

रे नक्तञ्चर, कुम्भकर्ण इव वा कर्णाभ्यामभय—

यापोत्सङ्गविमुक्तमाणवद्वमे सद्यः पतङ्गो भव ॥ ४२ ॥

विद्याधरी—परय परय, इतः शरान्धकारं विस्तारयता निशामुखा-
यितं वशमुत्तेन । (पेक्क पेक्क । इदो सन्ध्याधरं विस्तारयन्तेन पितृमुहायितं
वसमुत्तेन)

विद्याधरः—नन्वितस्तदेव निजविशिखमयूखधारया विनिवारयता

रामस्य चरणाभ्यामभिवन्दुगले स्वच्छन्दं भुङ्क्ते भव । वा कुम्भकर्ण कर्णाभ्यामभय-
भययापोत्सङ्गविमुक्तमाणवद्वमे सद्यः पतङ्गो भवेत्यम्बदः ।

रे नक्तञ्चर = रे राक्षस । वुरोन्मुक्तमवः = वुरात् (विमुक्तमवेदामवे) उन्मुक्तः
(परिष्कृतः) मवः (गधः) देव सः, तावतो विभीषण इव = स्वकविद्याभुज इव,
म्याभिविरः शोकरः = म्याभन् (भयनीभवत्) शिरः शोकरः (मृदामणिः) यस्य
सः, तावताः सन् । रामस्य = रामकम्पस्य, चरणाभ्यामभिवन्दुगले = पादपद्मद्वये,
स्वच्छन्दं = स्वाभिकायाऽनुसारं यथा तथा, भुङ्क्ते = भजते, भव = पृथि, भुङ्क्ते
कर्मणं यथा रामचन्द्रचरणकमलमात्रयेति भावः । दृष्टकर्मोऽन्धकारे पञ्चाक्षरमाह-
वा = अथ वा, रामेण समं युद्धमनुपगम्येति भावः । कुम्भकर्ण इव = राक्षसस्य
करीयानिष, कर्णाभ्यामभयभययापोत्सङ्गविमुक्तमाणवद्वमे = कर्णाभ्यां (भोजनपर्य-
न्तम्) चक्षीभवत् (आकर्षणे मण्डलीभवत्) यथापः (धनुः) तस्य वरसङ्गः
(मध्यभागः) तस्माद्विमुक्तः (मक्षितः) बाजाः (शराः) एव यो दृष्टः (भयकः),
तस्मिन् । सद्यः = सपदि, पतङ्गः = कलभः, भव = पृथि । रे राक्षस ! त्वत्परिहरणं
विद्याय विभीषणवद्वामचरणचरणसुतर, आहोस्त्वित् तमरसुरीकृत्य रामचरणाभ्यां
पतङ्गविमुक्तमवेति भावः । उपमाकृपकयोर्मिथोऽनवेष्टया स्थितौ संयुक्तिः । सार्द्धं
विहीकितं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

विद्याधरीति । विद्यामुखायितं = विद्यामुखाय (सम्भाषण) जावरितम्
(कृतम्) । राक्षसेन वरसुरीकृत्य विस्तारितमिति भावः ।

विद्याधर इति । सद्यः = तदाऽन्यकारमेव । चन्द्रावितं = चन्द्रावितरितम् ।

चरणकर्मणोर्न स्वच्छन्दं रूपते अथ न न भवत् कुम्भकर्ण इव काव तत् मण्डकभार
चतुर्के मण्डकभारते छटे दुर वात्यानकर्म तत्तत्त ही पतङ्ग इति ॥ ४२ ॥

विद्याधरी—देक्षिप, देक्षिप । इधर बाणाभ्यकारको विरतीर्ष करणेवाले रावणमे सम्प्रा-
काके समान आचरण किया ।

विद्याधर—इधर बाणाभ्यकारको हो भवने बाणोंकी किरणवारासे विचारकर राव-

चन्द्राक्षितं रामचन्द्रेण । (पुनः चन्द्रोक्तम्) अये ! नूनमयं दिव्यास्त्रसीलवा
प्रतिहतदिव्यास्त्रं निहृतचापं रावणं किमपि क्वतुश्चम इव रामः ।

(नेपथ्ये)

निहृतचाप इति मा संशोभतस्त्रो भय ।

राक्षसभन्यवपि स्वैरं ननु रे ! समरे कुरु ॥ ४३ ॥

विद्याधरी—आकर्ण्यन्तु तावत् किमिदानीं मणति रावणः । (आकाश-
वाहु राम किं शक्ती भवति रावणो)

(नेपथ्ये)

आकर्णितस्तव दृष्टानेन । वाहुवन्द-

श्रीकण्ठकालनफनी नयचन्द्रहासः ।

निहृतचापं = क्षिप्तवस्तुष्वम् ।

निहृतचापमिति । ननु ! निहृतचाप इति संशोभतस्त्रो मा भय । रे ! समरे
अन्यत् कश्चम अपि स्वैरं ? कुर्वन्निबन्धनः । ननु = रे रावण !, निहृतचापः = क्षिप्त-
कामुकः, अहमिति शेषः । इति = कथमेव कथमेव, संशोभतस्त्रः = संशोभेन (सं-
कथनेन, मन्वन्तिरेति शेषः) तस्त्रः (चन्द्रः) । मा भय = मा भूः, किमस्मत्ता-
निभूतत्वं मा मणति भावः । रे = रे रावण ! समरे = युद्धे, अन्यत् = अपरम्, कश्चम
क्वतुश्चम, क्वपि, स्वैरं = कथमेव कथा तथा, कुरु = विधेहि, कुरुतेति भावः ।
ननु चन्द्रोक्तम् ॥ ४३ ॥

आकर्णित इति । हे दृष्टानेन ! तव वाहुवन्दश्रीकण्ठकालनफनी नयचन्द्रहास
आकर्णितः । येन स्वकाममप्यन्यथा इव स्वकीयलोकेनैव वाहुवन्दचन्द्रहासः पीत
इत्यन्यथः ।

वाहुने चन्द्रो समस्त आनन्दमिमा । (पिर चोक्तपूर्वम्) निबन्ध इति रे राम अपने
दिव्यास्त्रोने विद्याधरी रावणो दिव्यास्त्रो विद्याधर और चन्द्रो ननुको बी काटकर
कुछ करना चाहते हैं ऐसा आकाश कहा है ।

(नेपथ्ये)

हे रावण ! 'ननु कट क्या' इत्यनेन संशोभते कश्चम मत हो । नु तुझमें दूसरा मल
भी दृष्टाने ननुहार उम के ॥ ४३ ॥

विद्याधरी—अनिर, इस समय रावण क्या करता है !

(नेपथ्ये)

हे रावण ! तरे वाहुवन्दकम कटकरकट कर क्या चन्द्रहास (चक्र) भी मुन

येन स्वनामभयसाम्यरूपेण पीतः

स्वर्णकलोलनयनामुलचन्द्रहासः ॥ ४४ ॥

विधायरः—लीलादलितचन्द्रहासः सौम्यासः किमधुना वदति रावणं
रामचन्द्रः ।

(नेपथ्ये)

अयि ! तावदधुना लङ्केभरः सिद्यते ?

हे दमावध ! हे रावण !, तव भयतः, आहुवन्धवीकण्ठकणनयनी = आहुवन्धवा
(सुन्दर्याः) एव श्रीकण्ठाः (चन्द्राः) तेषां कान्तमय (चनय) तस्य कपी
(सर्पः) । मयचन्द्रहासः = नूतनकहासः, आकर्णितः = ध्रुतः । यथा श्रीकण्ठयने
सर्पेण निवसति तथैव एवमुलचन्द्रयने वसन्मन्द्रहासो भया व्योषेन्द्रियगोचरीकृत
इति भावः । अथ हिल्लाचन्द्रहासस्य सर्पसाम्यम् । येन = चन्द्रहासेन, स्वनाम-
भयसाम्यरूपेण = स्वनाम्नि (नामनामभये, चन्द्रहासरूप इति भावः) मयं (विर-
जामय) एव सत्यं (सादृश्यम्) तैव वा इदं (श्रेयः), तया, इव, स्वर्णक-
लोलनयनामुलचन्द्रहासः = स्वर्णके (स्वर्णे) यां लोलनयना (चञ्चलाङ्गी, सुन्द-
रीति भावः । आतावेकजवनम्) तस्या मुलम् (आननम्) एव चन्द्रः (इन्दुः)
तस्य हासः (विकासः) । पीतः = कजलीकृतः, विनाशित इति भावः । येन स्वदी-
येन लङ्केन 'चन्द्रहास इति मदीये नाम स्वर्णकसुन्दरीमुलविकासेऽपि चन्द्रहास
इति सादृश्यमस्तीति दया देवानां विनाशनेन देवीमुलचन्द्रहासो विलोपित इति
भावः । अत्र रूपकोल्लेखोर्मिद्योऽन्येवपि स्थितेः संशुद्धिः । वसन्ततिष्ठन्ना दृश्यम् ॥

विधायर इति । लीलादलितचन्द्रहासः = लीलायां (विलासेन,) स्वमुलस्येति
शेषः दलितः (तिरस्कृतः) चन्द्रस्य (इन्दुः) हासः (विकासः) येन सः । बद्धा
लीलायां (हिल्लायां) दलितः (चम्पितः) चन्द्रहासः (रावणकरवाक्यः) येन सः ।
अत एव—सौम्यासः = अविषायप्रकाशमुक्तः ।

किंवा गवाः । विसर्गे अर्पणे नाम (चन्द्रहास) में स्थित सादृश्यके कौण्ठे स्वर्णके सुन्दरीके
मुलचन्द्रहास हास पी किंवा भा ॥ ४४ ॥

विधायरः—लीलासे चन्द्रहास (चन्द्रविकास मयः रावणके कदम्ब) को चम्पित
करनेवाले अतिशय प्रकाशमुक्त रामचन्द्रकी इस समय रावणको क्या कहती है ?

(नेपथ्ये)

यथा ममी लङ्केभर सिद्ध हो रहा है ।

२६ अ० ४०

विद्याधरी—किमपीदानीं जल्पिष्यसि राजनः । (किं चि वाणी जल्पिष्यसि राजनो)

(नेपथ्ये)

कथमद्यैव लङ्घेस्वरः स्थिते ! ननु रे,

विष्वस्ता दशभिर्भुजैर्दशदिग्भिः प्रत्येकमेते पुन-

र्माशयैश्च दशापरे मम विदिप्राग्भारमाओ भुजः ।

आशयः दशभिर्मोक्षिरमुद्विज्यते विद्राहति नारायणः

किंकर्तव्यतयापानुविधत्ते लङ्घेभ्यः विद्यते ॥ ४३ ॥

येहं विद्वत्पादो राजन आत्मनःशब्दे कथयति—विष्वस्ता इति । मम दशभिर्भुजैः प्रत्येकं दश दिक्ते विष्वस्ताः । मम लसे विदिप्राग्भारमाओ दश भुजा भाराय एव । सक्षिप्तौकिः आशयः । नारायणः लङ्घुषिष्यते विद्राहति । लङ्घपा किंकर्तव्यतया लङ्घेभ्योऽमुद्विज्यते विद्यते इत्यन्वयः ।

मम = राजनस्य । दशभिः = दशसंख्यायैः भुजैः = लङ्घुषिः, प्रत्येकम् = एकैकदा, दश = दश संख्यायाः, दिक् = भागः, विष्वस्तः = पराविष्टः, लङ्घेयमात्रो दिक्ते पराजवाऽनुपवर्तेर्विज्यायाः पराजको दृश्यते । दशं मम = राजनस्य, अपरे = लङ्घ्ये, विदिप्रेदम्य इति शेषः । विदिप्राग्भारमाओभिरात्रो (पराजानां) प्राग्भारं (अग्रभागम्) भक्ष्यतीति । लङ्घ प्राग्भारपदेन भुजानां पराजमिष्यत्समकठोरता दृश्यते । अतिक्रम्यते इति भावः । 'सैवमेव विद्वत् ननु दम्भः प्राग्भारमित्यपि ।' इति त्रिकाण्डशेषः । दश = दशसंख्यायाः, भुजा बाहुः, भाराय एव = भारणमासाय एव, कर्माऽभावादिति शब्दः । तर्हि मुक्कण्डूतिविद्यारत्नाय लङ्घेन नारायणेन वा समं लङ्घेऽमुद्विज्यते इति चेन्नह—नारायण इति । सक्षिप्तौकिः = लङ्घेयमात्र, लङ्घ इत्यर्थः । नारायणः = सेवकोऽयं, अतस्तेन समं संप्राप्तो न घटत इति भावः । तर्हि लङ्घमेव नारायणोऽमुद्विज्यते इति चेद्—लङ्घुषिष्यते इति ।

विद्याधरी—राजन् तव सगद कुत्र गतेषु ।

(नेपथ्ये)

सद्यः लङ्घेस्वरः काय ही स्थितः होता है ! भरे !

मेरे दशो बाहुओंमें एक एक कर दसों दिशाओंमें विष्वस्त कर दिया । मेरे और दश बाहु पर्वतोंके शिखरोंके समान मुकल्लो आसन करते हुए परस्परके किए हो गये हैं । लङ्घाजी नारायणीय है और किन्तु समुद्रतटमें सीढ़ के रहे हैं । तब किंकर्तव्यतासे लङ्घेभ्य दिव दिन स्थित ही रहा है ॥ ४५ ॥

विद्याधरो—यचनमात्रमिदानीम् । (यचनमेतं दाणीं)

विद्याधरः—नहि नहि परमं तन्वयमिदानीमपि ।

धनुर्मिक्षिणादिप्रहरणपाणञ्चैवकुपितो

वृक्षास्यः स्वान्मूर्ध्नां रघुपतिशरशोषिवृक्षितान् ।

करैरेकैरेकैर्नभसि भूशमादृत्य युगाप-

त्सिखपन्नयैरभ्यैः सफलमयति क्षोर्विशतिमपि ॥ ४६ ॥

(पुनः सकौतुकम्)

नातावधः = विष्णुः, अञ्जुभिजले = सञ्जुद्धतोये, श्रीरसागमनीर इति सायः निवृत्तिः = स्वपिति । अतः जगताः = पृथगा, किंकराभ्यतया = सुखवृत्तकार्यान्तरकिन्तयेति भग्नः । लङ्घेच्छा = रावणः, धनुर्दिवसं = प्रतिदिनं, क्षिपते = छेदयत्युभयति, न तु सफलजगमयति अतः । शार्दूलमिक्षिणितं वृक्षम् ॥ ४५ ॥

विद्याधरो रावणविक्रमं वर्णयति—धनुरिति । धनुर्मिक्षिणादिप्रहरणपाणञ्चैव कुपितो वृक्षास्यो रघुपतिशरशोषिवृक्षितान् स्वान् मूर्ध्नाः युक्तेः एकैः करैः आश्रय अभ्यैः अभ्यैः शूलं नभसि युगापत् क्षिपन् क्षोर्विशतिम् अपि सफलमयतीत्यन्वयः ।

धनुर्मिक्षिणादिप्रहरणपाणञ्चैवकुपितः = धनुर्मिक्षिणादिः (काशुकसङ्घादिः) यः प्रहरणपाणः (बाधुचसमूहः) तस्य छेदेन (कण्डनेन) कुपितः (क्रुद्धः) । वृक्षास्यः = रावणः, रघुपतिशरशोषिवृक्षितान् = रघुपतेः (रामस्य) या करशेषिः (सशेषक्षिः) तया वृक्षितान् (क्षिप्तान्) । वृक्षान् = आसीमान्, मूर्ध्नाः = शिरांसि, एकैः युक्तेः करैः = एकैकहस्तेः, आश्रय = गृहीत्वा, अभ्यैः अभ्यैः = अपरैः अपरैः हस्तेः, शूलम् = वस्तुधरं, नभसि = आकाशे, युगापत् = एककाले, क्षिपन् = प्रेषयन्, रामोपरीति शेषः । क्षोर्विशतिम् अपि = दोष्णां (बाहुमानम्) विंशतिम् अपि (विंशतिपरिमितसंख्याम् अपि) 'सफलमयति = सफलं करोतीत्यर्थः । रामेन भूयः कृतेषु शिरःसु पुनरपि शिरमसाधैनाङ्गरेषु शरीरेषु कुपितो रावणः एकैकैर्मिक्षितानि स्वशिरसि गृहीत्वा अभ्याभ्यकर्तृस्तान्नेवाञ्जलि विधाय रामोपरि प्रक्षिप्य शुश्रूषिविशतिमपि सफलमयतीति सायः । क्षिपदिणी वृत्तम् ॥ ४६ ॥

विद्याधरी—नमां यद् वचनमात्रं हे ।

विद्याधर—नहीं नहीं, देखो, यह अभी यो—

अतः सङ्घ आदि इतिपारोके छेदनसि कुछ हीकर रावण, रामचन्द्रके बाणोंसे क्षिप्त करने के लिये एक एक हाथोंसे लेकर और और हाथोंसे आकाशमें एक ही बार छेदता हुआ शीशों बाहुओंको सफल करता है ॥ ४६ ॥

(फिर कौतुकके साथ)

दशान्वयस्य वयायया सुविशिष्टैः कृतानि रक्षन्ते-

रक्षन्ति शिरांसि भीतिपुरुषैः साकं दिवौकश्यते ।

वस्मीक्यन्ति तथातया रज्जुपटेरन्तः प्रमोदोर्मयः

कण्ठच्छेदविबोदकौतुकसरल्यग्रीवधकषेतसः ॥ ४७ ॥

विद्याधरी—कथमपि निशाचरेन्द्रकन्दोक्तसुरमुन्दरीणां वरानं
दुर्लभं यदस्य शीर्षणि पुनः पुनरप्युन्मील्यन्ति । (एवं यन्मात्रे निशाचरेन्द्र-
कन्दोक्तसुरमुन्दरीणां रक्षणं दुर्लभं तस्य सीताहं पुनो पुनो नि उन्मील्यन्ति)

विद्याधरः—अतं तापेन, शीघ्रं कलु रामः सह राक्षसेन । न पुन-
रपि कुप्यति । (पुनर्विषय, उक्तं कलु) प्रिये, परम परम ।

इतान्वयेति । सुविशिष्टैः कृतानि यत्न रक्षन्ते : दशान्वयस्य वयायया सुविशिष्टैः कृतानि शिरांसि दिवौक-
श्यते : भीतिपुरुषैः साकं यथा वया उरुच्छन्ति, कण्ठच्छेदविबोदकौतुकसरल्यग्रीवध-
कषेतसो रज्जुपटेः अन्तः प्रमोदोर्मयः तथा तथा वस्मीक्यन्तीत्यन्वयः ।

सुविशिष्टैः = तीक्ष्णबाणैः, कृतानि = कृतानि, यत्न = यत्नस्य, रक्षन्ते =
रक्षन्त्यस्य, दशान्वयस्य वयायया = दशान्वयस्य वयायया, शिरांसि = शिरांसि : दिवौकश्यते = दिवौकसां (देवा-
नाम्) पक्षुः (स्वामिनः) इत्यन्वेति भावः । भीतिपुरुषैः = ममोत्पन्नरोमाक्षैः,
साकं = समं, वया वया = येन येन प्रकारेण, उरुच्छन्ति = उरुच्छन्ते, कण्ठच्छेदवि-
बोदकौतुकसरल्यग्रीवधकषेतसः = कण्ठानां (राक्षसाणां) शीर्षे (कर्तने) को
विबोदः (यतोऽप्यस्य) उन्मील्यन्ति यः कौतुकधरः (कुतूहलधारः) तेन व्यभोभवत्
(बाहुव्यभक्त्य) यतः (चित्तम्) यस्य, सत्य । तापसस्य रज्जुपटेः = रामचन्द्रस्य,
अन्तःप्रमोदोर्मयः = अन्तःप्रमोदोर्मयः, तथा तथा = तेन तेन प्रकारेण, वस्मी-
क्यन्ति = आविर्भवन्ति । राक्षसाणां रामचन्द्रैर्वया वया कृतानि तथा तथा वि-
वस्मान्मुत्पद्यन्ते देवैश्च अन्तःप्रमोदोर्मयः रामचन्द्रादुत्पद्यन्ते सचैव व्यापृतो
भवतीति भावः । अत्र संक्षेपविरक्तः । कर्तुं कर्तव्यं कृतं कृतम् ॥ ४७ ॥

हीनता वाञ्छते कति मने रक्षन्ते वे किं, रक्षन्ते भवते अल्पे रोमान्त्रोके साय वैते
वैते वपन्त होते माये हैं, कण्ठोके लेखने के बचोपजनने कुतूहलसिद्धवते व्यभिक्त बाके
रामचन्द्रकी सीतरी शीर्षके तापे वैते वैते कलु होती जाती हैं ॥ ४७ ॥

विद्याधरी—निष्ठ प्रकट भाव यो कन्दोक्त देवज्ञानार्थका शीर्ष दुर्लभ हो रहा है,
को कि वसकं फिर कति माये पर यो कर्तव्य अल्प होवे या रहे हैं ।

विद्याधर—कताप यत करो : रामचन्द्र रक्षक के साथ कीका कर रहे हैं । कर्तव्य
कमी भी कोष नहीं कर रहे हैं । (फिर देवज्ञान, कौतुक के साथ) प्रिये ! देवों, देवों ।

अन्तः साग्द्वयसन्महेश्वरशिरःशोतांशुलेखोद्भव-

स्वीयूषवृक्षशोकरव्यतिकरप्राग्भाभारमाद्यभिष ।

द्विभानामपि रामचन्द्रविशिष्यैर्भूयः समुद्रश्रुतां

काश्यम्यव निषाचरेन्द्रशिरसां काम्तिं समुज्जृम्भते ॥ ४८ ॥

(पुनः सकौतुकम् । निहतम्) अहो ! अस्य चित्तवृत्तिः ।

अयं यावथावत् पृथु हृदयपीठं रघुपतिः

शिरःश्रेयास्ततो न वशवदनस्य व्यपयति ।

अन्तः साग्द्वयेति । अन्तः साग्द्वयसन्महेश्वरः शिरः शीतांशुलेखोद्भवस्वीयूष-
वृक्षशोकरव्यतिकरप्राग्भाभारमाद्यभिष । इव रामचन्द्रविशिलैः द्विभानाम् अपि भूयः
समुद्रश्रुतां निषाचरेन्द्रशिरसां काऽपि अन्यैश्च काम्तिः समुज्जृम्भते इत्यन्वयः ।

अन्तःसाग्द्वयेत्यादिः = अन्तः (हृदये) राक्षस्येति शेषः । साग्द्वं (निरिहम्)
कथा तथा वसन् (वासं कुर्वन्,) यो महेश्वरः (महादेवः) कस्य शिरसि
(मस्तके) वा शीतांशुलेखा (कन्दकला) तस्या वक्षसम् (उदरम्) वा
स्वीयूषवृक्षः (अक्षतरुः) तस्य ये शोकराः (बिन्दवाः) तेषां व्यतिकरः (सम्भवः)
तस्य प्राग्भासम् (शीतलम्) मज्जति (आगच्छति) इति, तेषाम् इव, राम-
चन्द्रविशिष्यैः = रामकृत्यैः, द्विभानामपि कृतानामपि, भूयः = पुनः, समुद्रश्रुतां =
समुद्रगतं, प्ररोहतामिति भावः । निषाचरेन्द्रशिरसां = निषाचरेन्द्रस्य (राक्षस्य)
शिरसां (मस्तकानाम्), काऽपि अनिर्वचनीया कतपुत्र-मन्यैव = अपरैव, कोक-
विकचणीयेति भावः । काम्तिः = प्रोभा, समुज्जृम्भते = प्रकाशते रामवापैरिद्विभाना
मपि : इव्यस्मिन्नविषयवृक्षकलावृक्षतरुसप्तमर्कस्युचरुत्पन्नमात्राणां राक्षसमस्तक-
थामनिर्वचनीया काम्तिर्लोचनयोश्चरीभवतीति भावः उल्लेखः अङ्कितः । साद्गुण-
श्रीकृतं वृक्षम् ॥ ४८ ॥

निषाचरो राक्षसचित्तवृत्तिं वर्णयति—व्यपयति ।

शिरःश्रेयास्ततो न रघुपतिः दत्तवदनस्य पृथु हृदयपीठं यावथावत् न व्यपयति

राक्षसे हृदयके भीतर निबिडकमते वास कर्त्तेशाले महेश्वरके मस्तकस्थित चन्द्र-
कमले प्रसृत अक्षतरुशोके सम्पर्कते केते उन्नत ही रहे हैं ऐसे रामवापोंसे काटे
जानेपर भी निः कस्यन्न होनेवाले राक्षसमस्तकोकी अनिर्वचनीय कोकनिचक्षण ही कवि
प्रकाशित हो रही हैं ॥ ४८ ॥

(फिर कुदृष्टपूर्वक हँसकर) अहो ! रतकी केती चित्तवृत्ति है !

शिरःश्रेयजनने भासक ये रामचन्द्रजी राक्षसे निषाचर वक्षःस्थले गए उह पीठित

अयं तावतावद्वदति सुस्तुत्यैर्वैर्यमुक्तः

किञ्चित्स्मिन्देवी अन्तःपुराणि निवसति ॥ ४६ ॥

(नेपथ्ये)

अयि प्रिय, राम,

किं कीदृशीति शरस्तोमैर्नयेकेनैव पत्रिणा ।

परिपूरय नः कामं यत्रासा च अगवयम् ॥ ४७ ॥

अयं दसमुक्तः 'एतस्मिन् देवो बभूवतिपुत्री निवसति' (इति) तत्रावत् उच्यते-
सुखं वदति किञ्चेत्यन्वयः ।

शिरस्तेऽङ्गस्य = शिरसां (मस्तकस्य, शिरस्येति शेषः) देवे (बभूवने)
मासकः (भ्रातृः), बभूव = पुरोक्तं, रघुपतिः = रामचन्द्रः, दसदशस्य = दश-
मस्य, पुत्रु = निवासं, इत्यपीठं = वसन्तलं, वाक्तावत् = वक्ता काव्यव्यभि, व
वदति = व वीदति, बभूव = विष्टकर्तृ, दसमुक्तः = दशमुक्तः, एतस्मिन् = इत्य-
पीठे, देवी = राममहिषी, बभूवतिपुत्री = सीता, निवसति = निवासं करोति,
(इति = अनेन कालेन) तत्रावत् = तत्रावत्कालेन, उच्यते = उच्यते इति वच-
नम्, सुखं = सुखं, वदति = वदति । किञ्चेति विज्ञेयं । रामो शरस्तोमैर्नयेकैः
पत्रिणा मातृवाक् शिरस्येव निवसति तावतावद्वदति 'मात्रे इत्यप्युच्यते
मातृवाक् निवसति, अतस्तत्र रामचन्द्रावत्तत्रावत्कालेन सा कष्टं वाञ्छुमवतीति
सत्वा इत्युक्तं मुमुक्षुमवतीति भावः । किञ्चिदपि वृत्तम् ॥ ४७ ॥

किं कीदृशीति । शरस्तोमैः किं कीदृशीति ? ननु कुत्रैव पत्रिणा नः कामं कष्टसा
च कामप्रदं परिपूरयेत्यन्वयः ।

शरस्तोमैः = शरस्तोमैः, किं = किमर्थं, निवसतिपुत्रीति भावः । कीदृशीति =
कीदृशीति । ननु = हे राम, कुत्रैव = कुत्रैव कुत्रैव पत्रिणा = मातृवाक्, शर-
स्तोमैर्नयेकैवेति भावः । नः = नमस्तु, कामं = कामं, कष्टसा = कष्टसा
वदति । वदति च = वदति च, बभूवति = वदति, परिपूरय = परिपूरय

मही करदे री, ननु रामा 'इति (बभूवति) दे देवी सीता निवास करती री' यथा चोपक-
रत एक अतिवृत्त दुर्गको पारम कर रहा है ॥ ४७ ॥

(नेपथ्ये)

आरे राम ।

महीति नवी कीदृशीति कर रही है । यह ही रामो दशमेपुत्री रत्नापी श्रीर वदते
कोकिलको परिपूर्य करो ॥ ४७ ॥

विद्याधरः—नूनममी दिवौकसस्त्वरयन्ति रामचन्द्रम् । तच्छृण्वन्
किमधुना वक्ष्यति रावणः ?

(नैपथ्ये)

रे रे मम भुजाः,

सुकसैकां हरयोत्तराग्रजयिनीं दीपूषमानोः कक्षां

विजपाकावलिमौलिमण्डलमणीन् दृष्ट्वा सखानपि ।

तः काञ्चीं रक्षितां विराम्य बहुशु शोणीतटे आनकी

भाषयती कमनीयसिञ्जितभरैर्मन्त्रिकभाण्डध्वजम् ॥ ५१ ॥

शुक्र । नूनमदीपाऽभिजापूरजाय लोकत्रयेऽपि दृष्टोऽभिदृष्टवे चेकेभ सरेणैव राजकं
निष्पाणं विधेहि सरस्तोमससरणेन काकवैष मा कापीरिति मायः । नन तुल्यतो-
मिताऽलङ्कारः । मनुष्यभूतम् ॥ ५० ॥

विद्याधर इति : वक्ष्यति = कथयिष्यति ।

देवोत्तराग्रजम् रावणोऽभिधत्ते—सुकसैकामिति । हरयोत्तराग्रजयिनीं दीपूषमानो
पक्षां कक्षां सुकसा सखानपि विजपाकावलिमौलिमण्डलमणीन् दृष्ट्वा । रक्षितां
काञ्चीं कमनीयसिञ्जितभरैः मन्त्रिकभाण्डध्वजं भाषयती आनकी शोणितटे विराम्य
बहुविधसम्पदः ।

हरयोत्तराग्रजयिनीं = शिवसिराग्रजवधती दीपूषमानोः = सुखाऽज्ञोः, चन्द्रस्ते-
त्यर्थः । एकाम् = एकसंख्यकां, कक्षां = छेदां, सुकसा = त्यक्त्वा, सखानपि = सकसा-
नपि, विजपाकावलिमौलिमण्डलमणीन् = विजपाकानाम् (इन्द्रादीनाम्) वा आभूतिः
(पङ्क्तिः) तत्त्वा मौलिह् (शिरःस्थ) रक्षिता ये मण्डलमणयः (भूषणसामानि),
साय । दृष्ट्वा = आपृष्ट । तैः = इन्द्रादिभिरोभूषणरतैः, रक्षितां = निर्मितां, काञ्चीं
मेकलां, कमनीयसिञ्जितभरैः, मनोहरकाञ्चीरत्नसम्पदसमूहैः, मन्त्रिकभाण्डध्वजं =
मायराजमनुष्यसमूहं, भाषयती = वार्तां कुर्वती, आनकी = सीता, शोणीतटे = नितम्ब-

विद्याधर—निश्चय हो वे देवता रामचन्द्रको डींगला करनेके लिए कह रहे हैं । वह
कमलको छुनकर रावण नयी क्या करेगा ?

(नैपथ्ये)

मेरे बाहुओं !

महादेवजीके चिरमें अवस्थित एक चन्द्रकलाको छोड़कर विजपाकेकी समस्त मुद्रा-
मणियोंकी मण्डल करी । उनसे रक्षित मेकलाकी मनोहर सिञ्जितमणियोंसे मेरे पराक्रमके
बाणसमूहका गाल करती हुई सीता अपने मित्रगममें बहुत समय तक कारण करे ॥ ५१ ॥

विद्याधर—(विह्वल) लक्ष्मण ! समझोऽसि मद्भुजानेव निमुक्त-
वानसि । अनुता हि भुजमदृढमेव परिवारकरोस्ते । (विलोक्य साकृतम्)
अये ! कथमनेन दशानन्वचनेन किंचित्कृषित इव दृश्यते जानकीकान्तः ।
युगः सहस्रविषादम्) इन्त मोः ॥

विकचकुसुमस्तोमाकीर्णैः परागविभूषितः

ससिमन्त्रिषितारण्येऽन्त्ये सखोद्धमोत्त यः ।

अथमयमसौ रोपाकटे कलं रघुनन्दने

मुवि दक्षमुखा शेते भूषिच्छटापरिभूषणः ॥ ४२ ॥

इत्ये, विराव = बहुकालकर्म, विराव विरागव विरह्यावाविराधर्माः ।
इत्यमरः । वहतु = घातयतु । हे मद्भुजः ! हरसिस्त्वितामोकां चन्द्रकर्म त्यक्त्वा
सर्वान्यसि विरारुसिरोमूच्यरजान्वपहरत । ते रत्नमिमितां कञ्चीं च जानकी
विरागं वाक्यनिवन्धन्ये वदसि भावः । सार्धकर्मिणीदितं वृत्तम् ॥ ५१ ॥

विद्याधर इति । सम्यक् = समस्तः, भुजानेव = स्वबाहुनेव, न स्वम्यान् एति-
वारानिमित्ततः, तेषां पूर्वमेव विहृत्यदिदि यान्तः । सार्धकर्म = सार्धमिष्टमम् ।

राज्यनिधनं रजपति—विकचेति । विकचकुसुमस्तोमाकीर्णैः यवहये ससि-
मन्त्रिषितारण्ये परागविभूषितो यः सखीकम् अक्षेत् । अथमयमसौ दक्षमुखा रघु-
नन्दने कलं रोपाकटे भूषिच्छटापरिभूषणः (सन्) मुवि शेते इत्यमरः । विकच
कुसुमस्तोमाकीर्णैः = विकचानि (विकसितानि) वानि कुसुमानि (पुष्पाणि) तेषां
स्तोमः (समूहः) तेषां मन्त्रीर्णैः (मन्त्रैः) । यवहये = विह्वलीर्णैः, अथमयमिष्टा-
रण्ये = अथमयममन्त्रिषितपर्वते, परागविभूषितः = परागैः (सुमनोरजोभिः)
विभूषितः (समकञ्जुतः) वा = राज्यः, सखीकं = सखिकामम्, अक्षेत् = सुखा ।
अथमयम् = विकचकर्त्री, संज्ञते विह्वलिः । कस्तौ = तयः कर्मविप्रकृतः, दक्षमुखा =

विद्याधर—(रोषित) लक्ष्मण ! इमं समय जानते ॥ ॥ किं इमं अपने बाहुओं
की ही कर्णने निमुक्त कर रहे ॥ । कर्णने यह समय बाहुमन्त्रक ही मन्दारा परिवारकर्ण
रहा हैः (रोषित लक्ष्मणपूर्वक) अरे ! कैसे राजपते यह शकसे सीतापति राम कुल
कुलके समान दिवार्य दे रहे हैं । (फिर एवं और विषादके साथ) अरे ! किंचित् कृषीके
समूहके साथ और विह्वलीर्ण कन्धकर्ममिनिर्मित पञ्चमर परामोक्षे नमस्कृत होकर
भी विषादके साथ सीता यः । वह वही राजप रामकर्मजोके कुल कीक ही कुल होकर
भूषितमुहते इतर कर्मका होकर कर्मीन पर छो रहा है ॥ ५२ ॥

विद्याधरी—सविदानीमेव जनकमन्दिनी रामचन्द्रेण समं सङ्गस्यते ?
(ता दामि जेव जगज्जन्मिणी रामचन्द्रेण समं संवमिस्समि ।)

विद्याधरः—अथ किम् ?

उद्दामहेतिचल्यैः परिदीपितासं

प्रस्य प्रविश्य जनकेन्द्रमुता हुतागाम् ।

प्रत्युद्गता समधिकां द्युतिमयहन्ती

प्रातर्मयूषकलिकेव दिवाकरस्य ॥ ५३ ॥

रावणः, रघुनाम्ने = रामचन्द्रे, जगज्जन्मिणी = जगत्कालमेव, रोपाख्ये = कोपाक्रान्ते सति, भूतिष्काटापरिभूषणः = रत्नसमूहभूषणः सम्, भुवि = मूमी, सेते = स्वपिति ।
विकसितवक्रमुमभूषिते विस्तीर्णे चन्द्रकान्तमणिनिर्मितपर्यङ्के घो रावणः पुरा सचि-
कसमसेत । स एव सामग्र्ये रामबाणमिहृतः सन् मूमी पठितो भूतिभूषणसङ्ग सङ्गा-
इति भावः । हरिणी कृच्छ ॥ ५३ ॥

विद्याधरीति । सङ्गस्यते = संगता भविष्यति, 'समे रामदुषिष्मस्य' इत्या-
जमेपद्यम् ।

विद्याधरो ज्ञानधीं वर्णयति = उद्दामेति । उद्दामहेतिचल्यैः परिदीपितासं हुतासं
प्रविश्य जनकेन्द्रमुता प्रातः दिवाकरस्य मयूषकलिकेव समधिकां द्युतिम् भावहन्ती
प्रत्युद्गता । परचरेण्यर्थः । उद्दामहेतिचल्यैः = उद्दामागाम् (उन्मत्तानाम्) हेरीषीं
(ज्वाकानाम्) चल्यैः (मण्डलैः) परिदीपिताऽऽसं = प्रकाशितदिशं, तावत्
हुतासं = वह्निं, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, जनकेन्द्रमुता = ज्ञानकी, प्रातः = प्रभात-
समये, दिवाकरस्य = सूर्यस्य, मयूषकलिकेव = किरणराजिरिव, समधिकां = प्रभु-
तरां, द्युतिं = कान्तिम्, भावहन्ती = धारयन्ती स्वती, प्रत्युद्गता = निःपद्यता । परच-
विक्रेष्य, तामिति सेवः । सीता उदात्तामण्डलेन प्रकाशितदिशं हुतावानं प्रविश्या-
द्वि स्वकीयपातिव्रत्यप्रतापेनाऽऽप्यता सती धामासिद्धी तरणिकिरणरजिरेव मधुर-
तरां वर्णदीपां च कान्तिं बहन्ती निर्गन्धैवतसहो पत्येति भावः । उपमाऽऽह्वारा ।
कलाम्बुलिका वृत्तम् ॥ ५३ ॥

विद्याधरी—तव इती समं सीता रामचन्द्रयोरे मिलेगी ?

विद्याधर—और क्या ?

रज्यक आत्मनोके मण्डलोंसे दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले जनकमें प्रवेश कर
सीता प्रातःकालके सूर्यकी किरण पङ्क्तिके समान होकर मधुरतर कान्तिकी धारण करती
बिहक गई, देखो ॥ ५३ ॥

विद्याधरी—परस्य परव, अवसमसमरकदर्भितं प्रवेशमवतरति राम-
चन्द्रः । (पेक्ष पेक्ष । इमे अक्षयवसरकक्षितं पदेनं अवतरद् रामचन्द्रो)

विद्याधर—उदेहि ! कर्णमृतं पुलोमजायै निवेदयायः ।

(स्त्री निष्कन्ती)

(उतः प्रकृतसि उतः संस्तुतध्वनौ सुप्रीव-विमोचनी च)

रामा—अये ! कथमुपास्य सव अस्वानम्बरमपि अस्मात्पलचूडाम् ।

कक्षमजः—पश्चिमपयोधिवेत्तां च । नन्विदानीम्—

उद्दामदिग्द्विरदन्तञ्जलकर्कश-
गण्डस्थतोच्चसदसिस्त्रवकाकुटीनि ।

विद्याधरीति । अक्षयवसरकदर्भितम् = अक्षयः (अक्षयः) चः ससरः (संग्रामः)
तेव कदर्भितम् (निकृष्टम्) ।

विद्याधर इति । कर्णमृतं = कर्णमृत्युचोपमं, रामविजयदायकमुद्गन्तमिति भावः ।
पुलोमजायै = अय्यै, विजयदायकाय्यै ।

राम इति । अम्बरमणिः = सुवर्णं, अस्मात्पलचूडाम् = अक्षयपर्वतसिंहरम् ।

कक्षमज इति । पश्चिमपयोधिवेत्तां = पश्चिमपयोधिवेत्ताः (सप्तदश) वेत्ताः
(तीरभूमिम्) ।

सप्तपदागमनं कर्णयति कक्षमज उद्दामेति । उद्दामदिग्द्विरदन्तञ्जलकर्कशपुलगा-
स्थकोष्ठद्विस्त्रवकाकुटीनि मील्यमानास्ति सुखामित्तमाचभास्ति उभास्ति दिक्क-
रेषु दिक्कमित्तमाचभाचकाः ।

उद्दामदिग्द्विरदन्तञ्जलः = उद्दामाः (उद्दामदाः) वे दिग्द्विरदाः (दिग्द्विरदाः)
तेषां चकाः (चकाः) वे कर्कशः (कर्कशमाति) तेषां गण्डस्थतेषु (कपो-
तस्थेतेषु) उच्चस्थतः (उच्चस्थतः) वे चकाः (चकाः) तेषां पः स्त्रवकाः

विद्याधरी—देको देको, वे रामचन्द्रो मनुष्य संग्रामते विद्वत् प्रवेशपर एव रते है ।

विद्याधर—रत्नसिंहासने । रत्नसिंहासने कर्णमृत्युचोपमं चूडाम् चूडित करे ।

(दोहो गाते हैं)

(उद्दाम, सीता, अम्बर, सुप्रीव और विमोचनी प्रवेश करते हैं)

राम—नरे । किं प्रकार यमराज् सर्व यमराज्यो पोती पर पहुँच ही गये ।

कक्षमज—और पश्चिम सप्तदश तीरभूमि पर भी (पहुँच गये) । एत समय—

कक्षमजगाते दिक्ककोटे चका कर्कशवेत्ते कपोतस्थेतेषु चकाचकाते अक्षयवे

मीलनमस्ति सुगनाभिस्तमानमस्ति

विकन्दरेषु चित्तसन्तितर्मा तर्मांसि ॥ ५४ ॥

रामः—अवे ! कथमुल्लङ्घितमेव निशाचरचक्रानुकारिणा तिमिरनि-
करेण ।

विभीषणः—नन्वितोऽपि समुन्मीलितमेव रामनाराचानुकारिणा
तुद्दिनभरकिरणप्रकरेण ।

सुग्रीवः—एवमेवत् । अमीहि—

(गुच्छः, समूह इति भावः) तस्येवाऽऽकृतिः (आकारः) येषां, तानि । मीलन-
मस्ति = मीलत् (दृढनमनाप्नुवन्) मभा (आकाशम्) वैश्वानि । सुगनाभि-
स्तमानमस्ति = सुगनाभि (कस्तूरी) तथा समाना (तुल्य) भाः (कान्तिः)
येषां तानि । 'सुगनाभिर्मुगमद्ः कस्तूरी चेत्यमरः । पुराणतानि तर्मांसि = भण्ड-
काराः, विकन्दरेषु = विद्यागुहासु, चित्तसन्तितर्मां = अतिसयेन प्रादुर्भवन्ति, तम-
भवात् 'किमेतद्व्यवसायादम्बतन्मयमर्थै' इत्याश्च मन्वयः । अमरसङ्घातार्थे व्याख्या-
कास्तं तिमिरभूत्वं चित्तगुहासु प्रादुर्भवतीति भावः । उपमाश्लक्ष्णम् । सप्तमस्तिका
सुप्तम् ॥ ५४ ॥

राम इति । निशाचरचक्रानुकारिणा = राक्षससमूहसङ्घेन, कृष्णवर्णेनेति भावः ।
निशाचरचक्रमनुकरोति तन्मीकरणेन ।

विभीषण इति । रामनाराचानुकारिणा = राक्षससङ्घेनचित्तविकल्पात् । तुद्दिनभर-
किरणप्रकरेण = चण्डमयूकसमूहेन । समुन्मीलितमेव = प्रादुर्भूतमेव । राक्षससमू-
हस्यं तिमिरसमूहं निवारयितुं रामनाराचरसङ्घेन चण्डमयूकसमूहेन प्रादुर्भूत-
मिति भावः ।

समूहके तयाम आकार धारै, आकाशको आभ्यादित करीबासि और कस्तूरीके समान
कान्तिसे युक्त भण्डकार दिखाऊ गुहाभीमें अतिशय ही प्रादुर्भूत हो रहे हैं ॥ ५४ ॥

राम—अरे । चित्त प्रकार राक्षससमूहका अनुकरण करनेवाला भण्डकारसमूह कैसा
ही गया ।

विभीषण—एकर ही राक्षसे नाराचका अनुकरण करनेवाला चण्डमयूक
कैसा ही गया ।

सुग्रीव—वह ठीक है । ये—

शीराऽध्वैर्लङ्घरोषु केनधवत्ताम्ब्रोपलेषु सध-

त्याधः शोकरिणो विकसिकुमुद्रकोवे रजःपिङ्गराः ।

उन्मीलन्ति चकोरचञ्चुगहने क्षिप्रप्ररुद्धाश्च-

सकुर्वन्तः प्रियविप्रयुक्तमणीगात्रे सुधाशोः कन्यः ॥ ४५ ॥

विभीषणः—एवमेतत् । इदानीं हि—

शंकरार्घतनुवदपार्वतीकुङ्कुमात्कुचकोरकाकृतिः ।

चन्द्रोदयं वर्णयति—शीराऽध्वैरिति । शीराऽध्वैः लङ्घरीषु केनधवकाः चन्द्रोप-
लेषु सधत्याधः शोकरिणः विकसिकुमुद्रकोवे रजःपिङ्गराः चकोरचञ्चुगहने क्षि-
प्रप्ररुद्धाः प्रियविप्रयुक्तमणीगात्रे चमकुर्वन्तः सुधाशोः कन्यः उन्मीलन्तीत्यन्वयः ।

शीराऽध्वैः=शीरसमुद्ररथ, लङ्घरीषु=तरङ्गेषु, केनधवकाः=विण्शीरशुक्लाः,
'विण्शीरोऽप्यिकका केन' इत्यमरः । चन्द्रोपलेषु=चन्द्रकान्तमणिषु, सधत्याधः
शोकरिणः=सधस्तः (गङ्गस्तः) पात्रः-शोकराः (चञ्चुङ्गाः) येषां ते, 'सत
हनिदमौ' इतीतिप्रत्ययः । विकसिकुमुद्रकोवे=विकसिनां (प्रकुञ्चानां) कुमुधानां
(कैवाल्यां) कोवे (अग्न्यन्तरे) रजःपिङ्गराः=परागशीराः, चकोरचञ्चुगहने=
चकोरिणां (चन्द्रिकापायिनां पक्षिविशेषाणाम्) चञ्चुगहने (ग्रीडिष्वने), क्षि-
प्रप्ररुद्धाः=प्राक् सङ्कोचे क्षिप्वाः (लुप्ताः) एवाद् प्रसारणे प्ररुद्धाः (उद्धताः),
'एवंकालेकसर्वजरसुराणमवकेचकाः समाशविध्यमेने'ति समासः । प्रियविप्रयुक्त-
मणीगात्रे=प्रियेण (पक्षमेव) विप्रयुक्ता (विरहिता) या रमणी (नारी) तस्या
गात्रे (स्तनी), 'जायामस्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' इति जासावेकवच-
नम् । चमकुर्वन्तः=चमकारं कुर्वन्तः, अतिप्रयकोमला अन्धेवे तुष्टिनकरकराः
मियवियुक्तायां कृते कपङ्गारं क्लेशाप्रतिघ्नमुत्पादयन्तीति विष्मयरसं विदधत इति
भावः । सुधाशोः=चन्द्रमसा, कन्याकिरणाः, उन्मीलन्ति=प्रादुर्भवन्ति । नायेवरा
पदार्थस्तत्पदार्थरेषु बहुवचनस्य प्रतीयन्ते इति भावः । शार्ङ्गलपिक्रीडितं वृत्तमध्वैः
चङ्कराऽर्घतन्विति । चङ्कराऽर्घतनुवदपार्वतीकुङ्कुमात्कुचकोरकाकृतिः शङ्करी

शीरसमुद्रकी तरङ्गौ पर केनोंके समान सफेद, चन्द्रकान्तमणिओं पर अतः प्रकट करने
वाली, निक्षिप्त कुमुदोंके भीतर परागके समान गौर, चकोरोंके चञ्चुरूप वनमें एव
सङ्कोचमें क्षिप्र और पीछे प्रसारणमें वज्रव और विमले विद्युत्की दुरे नारीके स्तनीरमें चम-
कार करनेवाली चन्द्रकिरणें प्रकट हो रही हैं ॥ ५५ ॥

विभीषण—यह ठीक है । भनी—

चङ्करके भर्तृहारीमें नायक करनेवाली पार्वतीके केसरसे सिद्ध लम्बकोरके समान

सूच्यते कमलिनीभिश्चमत्पद्मकोषकरलीलया शशि ॥२५॥

लक्षणा—(सकीदृक्) एवमेतत् ! अहो !

ध्यातौ धे दितिकण्ठकण्ठमहसि प्राप्ते प्रतीचीमुखं

प्राचीमञ्चति किञ्च दुग्धसद्वरीमुखे विधोर्धामनि ।

एतत्कोकचकोरशोकरमसम्मानप्रसन्नोद्धसद्—

कमलिनीभिः चमत्पद्मकोषकरलीलया सूच्यते इत्यन्वयः । सङ्कसार्धतनुचक्षुष्यावली-
कुङ्कुमाककुचकीरकाकृतिः = कङ्कुरस्थ (शिबस्थ) अर्धतनौ (अर्धमरीचे) वक्षः
(कृताधया) या पार्श्वी (उमा) तस्याः कुङ्कुमाङ्कः (कङ्कुरीरकालिका) यः
कुचकोरकः (पद्मधरकुचसकः) तस्यैव काकृतिः (अकारः) यस्य सः, तादृशः
शशि = चन्द्रा, कमलिनीभिः = पद्मिनीभिः, चमत्पद्मकोषकरलीलया = उन्नमन्
(उन्नतो भवत्) यः पद्मकोषः (कमलमुकुलः) तस्मिन्वा करलीला (किरण-
विकासः) तथा । सूच्यते = द्योत्यते । चन्द्रोदये कमलिन्यो विनीलमिति ताव सङ्कर-
यामाङ्कस्यपार्श्वतीकुचकुङ्कुमकारं चन्द्रमसं सूचयतीति भावः । अत्रोपमाशङ्क्यते ।
रथोदतावृत्तम् ॥ ५६ ॥

ध्यातौ धे इति । दितिकण्ठकण्ठमहसि ध्यातौ धे प्रतीचीमुखं प्राप्ते, किञ्च
दुग्धसद्वरीमुखे विधोः धामनि प्राचीम् अञ्चति, एतत् त्रैलोक्यं कोकचकोरशोकर-
मसम्मानप्रसन्नोद्धसद्वपातोर्मिकदम्बजुम्बितम् इव न।भासत इत्यन्वयः ।

दितिकण्ठकण्ठमहसि = दितिकण्ठस्थ (शिबस्थ) कण्ठः (गण्डः) इव महः
(काण्ठः) यस्य, तस्मिन् । इरकण्ठसदृशे नीलवर्ण इति भावः । तादृशो ध्यातौ धे =
आभकारसमूहे, 'अन्धकारोऽद्विषां ध्यातुं तमिच्छे तिमिरं तमः ।' इत्यमरः ।
प्रतीचीमुखं = पश्चिमदिक्मुखं प्राप्ते = नासादित्ये, किञ्च = यद्यपि न, दुग्धसद्वरीमुखे =
शिरस्त्रज्जुम्भरे, गौरवर्ण इति भावः । तादृशो विधोः = चन्द्रमसः, धामनि = पद्मको-
षाची = पूर्वदिशाम्, अञ्चति = गच्छति सति, प्राच्यां चन्द्रोदये लसीति भावः,
कमलपद्माभिः 'यस्य च भावेन भासतवृत्तम्' इति सप्तमी । एतत् = पुरोवर्ति, त्रैलो-

काण्ठिसे शुक्ल चन्द्रमा कमलिनिर्दोहे उन्नत कमलमुकुलमे किरणविकासते सूचित किये जा-
रहे हैं ॥ ५६ ॥

लक्षणा—(कुङ्कुरके साथ) वह डोक है । वही !

नीलकण्ठके कण्ठके लगान काण्ठिसे शुक्ल लम्बकारसमूहके पश्चिम दिशामें नयनागने
प्राप्त होने पर और शिरस्त्रजके समान सुन्दर चन्द्रमकाङ्कके पूर्वदिशामें प्राप्त होने पर
वह डोकनय चन्द्रमाको और चकोरीके डोक और वृक्षे किन्न और प्रसन्न दृष्टिपातीके

इक्ष्वातुर्निर्गन्धश्चुम्बितमिव त्रैलोक्यभ्रमासते ॥ ५७ ॥

रामः—वत्स ! एवमेवत् । इहानी हि—

शीतांशुस्कटिकास्तथास्तपद्रागुल्लसत्कौमुदी-

वल्लोन्नतमपल्लवाञ्चितमिव प्राप्य क्षणं ताञ्जताम् ।

चञ्चलमस्तनकोरसञ्चुचनान्निद्राप्रकाशस्तुत

हीरस्यन्दनिरन्तरधुतमिव श्वेतं वियद्भासते ॥ ५८ ॥

कर्म = सुखप्रतिपदं, कोकचकोरकोरमस्तनमस्तनकोरसद्वयपातोर्निर्गन्धश्चुम्बित-
मम् इव = कोकाः (चक्रकाः) चकोराः (चम्पिकापायिनः पक्षिणोः) तेषां
ममेण कोकभलाभा (विषाददशांश्चाप्य) म्फाप्रसन्नौ (निद्राप्रसन्नौ) यौ
इक्ष्वातौ (इक्ष्वातौ) तयोर्निर्गन्धत्वेन (तद्रङ्गसमूहेन) चुम्बितम् इव (सम्ब-
न्धम् इव), आभासते = प्रकाशते । परिश्रमद्विषि सूर्यस्तमिते पूर्वस्यां च चन्द्रोदये
जाते पश्चात्कर्म चक्रकास्तथा विषादेन चकोरस्य हर्षेण च कोकप्रमदनि संसर्गं घोरतः
इति भाषा । जयोपमायायास्तनोऽप्येकानां म्फाञ्चिभावेन सङ्करः । तावुं कर्मिणीति
वृत्तम् ॥ ५७ ॥

शीतांशुति । शीतांशुस्कटिकास्तथास्तपद्रागुल्लसत्कौमुदीवल्लोन्नतमपल्लवाञ्चि-
तम् इव चर्ष ताञ्जतां प्राप्य चञ्चलमस्तनकोरसञ्चुचनान्निद्राप्रकाशस्तुतहीर-
स्यन्दनिरन्तरधुतम् इव श्वेतं वियद्भासते इत्यन्वयाः ।

शीतांशुस्कटिकास्तथास्तपद्रागुल्लसत्कौमुदीवल्लोन्नतमपल्लवाञ्चि-
(शितोपकाशः) तस्य पल्लवः (मण्डपः) तस्मिन् द्रुम् (क्षीमेन) चरुस्तन्ती
(शोभमाना) या कौमुदी (चम्पिका) तस्य वल्ली (कथा) तस्या मूतनाभि
(तयोऽपानि) धामि (पञ्चबाहि) तैरञ्जितम् इव (शोभितम् इव), कर्म = कञ्चि-
त्काकं ताञ्जतां = रक्षकानां, प्राप्य = आश्रय, चञ्चलमस्तपद्रागुल्लसत्कौमुदी = चञ्चलम् (भ्रमम्)
यो मया (मधुपुङ्गवः) चकोरः (चम्पिकापायि पक्षी), तस्य चञ्चुचननया (शो-
नोद्योगनया) निद्रा (अविज्ञता) यौष्मकाश्च (लताप्रमादः) तस्मात् वृत्तः

तद्रङ्गसमूहे सम्बन्धके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ ५७ ॥

राम—वत्स ! यह ठीक है । इस समय—

चन्द्रस्य स्थटिकास्तथास्तपद्रागुल्लसत्कौमुदीवल्लोन्नतमपल्लवाञ्चि-
तम् इव चर्ष ताञ्जतां प्राप्य चञ्चलमस्तनकोरसञ्चुचनान्निद्राप्रकाशस्तुतहीर-
स्यन्दनिरन्तरधुतम् इव श्वेतं वियद्भासते इत्यन्वयाः ।

तद्रङ्गसमूहे सम्बन्धके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ ५८ ॥

(पुनर्विद्योक्तम्) (सकौतुकम्) वत्स लक्ष्मण,

परयोदेति विद्योगिनां दिनमणिः शृङ्गारदीक्षामणिः

प्रौढाऽनङ्गभुजङ्गमस्तकमणिश्चण्डीशसूक्ष्ममणिः ।

तारामौक्तिकहारनायकमणिः कम्बर्षसीमन्तिनी-

काञ्चीमध्यमनिश्चकोरपरिष्विन्तामणिश्चन्द्रमाः ॥ ३६ ॥

(चकिता) वाः जीरत्यम्बुः (रसप्रसवः) तेन भिरग्यारम्भ (जगत्सर्वं यथा तथा) व्याप्यतश्च इव (व्याप्तम् इव), रवेते = तुल्यकर्म, विद्यत् = भाकाशं, भासते योतते । सापङ्कारु माकोलमण्डलं प्राक् ताक्षेवर्णं पद्माच्च रवेततामुपगतमिति भावः । अथ रूपकोशेचयोः संसृष्टिः । तार्दुदधिच्छीकितं वृक्षम् ॥ ५८ ॥

परयोदेतीति । विद्योगिनां दिनमणिः शृङ्गारदीक्षामणिः प्रौढाऽनङ्गभुजङ्गमस्तकमणिः चण्डीशसूक्ष्ममणिः तारामौक्तिकहारनायकमणिः कम्बर्षसीमन्तिनी काञ्चीमध्यममणिः चकोरपरिष्विन्तामणिः चन्द्रमाः उदेति । परयोदयमर्थः ।

विद्योगिनां = काम्नाविद्युक्तानां, दिनमणिः = सूर्यः, सूर्यसमक्षापकारित्वादिति भावः । सिद्धो मण्यवक इति वक्ताचणिकोऽयं प्रयोयः । शृङ्गारदीक्षामणिः = शृङ्गारस्थ (भाविरसस्य) दीक्षायां (नियमे) मणिः (रत्नम्) नदीपकत्वादिति भावः । प्रौढाऽनङ्गभुजङ्गमस्तकमणिः = प्रौढः (प्रवृत्तः) योऽनङ्गः (कामदेवः) एव मुनेश्च (सर्वः) तस्य मस्तकमणिः (शिरोरत्नम्) । चण्डीशसूक्ष्ममणिः = चण्डीशः (साङ्गरः) तस्य सूक्ष्ममणिः (शेरः), तारामौक्तिकहारनायकमणिः = ताराः (नक्षत्राणि) एव मौक्तिकहारः (मुक्तामाला) तत्र नायकमणिः (मेघनामकं प्रधानरत्नम्), अत्र हारपदेनैव मुक्तामालाकृपाव्यञ्जितमेऽपि पुनर्मौक्तिकपदमन्यतानाऽभिहितत्वं चोत्पद्यतीति दर्पणकाराऽमुच्यतः पञ्चाशः । कम्बर्षसीमन्तिनीकाञ्चीमध्यममणिः = कम्बर्षसीमन्तिन्याः (मदनवापाः, रवेरिति भावः) काञ्च्याः (मेघनामाय) मध्यममणिः (प्रधानरत्नम्) । चकोरपरिष्विन्तामणिः = चकोराणां (चन्द्रिकाया-
पिनां पक्षिविशेषाणाञ्च) परिष्वि (सभामां, समूहे इति भावः । 'रमणी'ति पाठान्तरे रमणीनां = वक्त्रभावां, चकोरीनामिति भावः) चिन्तामणिः (चिन्ति-

(पितृ वेषकर कौतूहलके साध) वत्स लक्ष्मण ।

विद्योगिनांके किं सूर्यं शुक्लं, शृङ्गारको दीक्षां मणिसमां, प्रवृत्त कामदेवकम् सर्वं के मस्तकमणि, शृङ्गारके नृशामणि, नक्षत्रवर्णकं मुक्तामालाके मेघनामकं प्रधान रत्न, कामपत्नीको मेघनामे प्रधानरत्न और चकोरीको समामे चिन्तामणितुल्य चन्द्रमा अदित हो रवे है, देखो ॥ ५९ ॥

अक्षमणः—एवमेतत् । अयमसौ

स्वीरं कैरवफोरान् चित्स्त्रयन्पुर्ना भनः सेवय-

सम्भोजानि निमोक्षयन् सृष्ट्यां भानं समुन्मीलयन् ।

ज्योत्स्ना कन्दसयन् विष्टो धधसयन्नुद्ग्रेसयन् धारिणीम्-

कोकानाकुक्षयंस्तमः कषण्यग्निगुः समुज्जग्मते ॥ ६० ॥

ताऽर्थात्पुनरुक्तम् । एतादृशं पुनरावृत्तिविधिः कथ्यमाणः = कथ्यमाणः, तदेति = उक्तः
 कथ्यति । परम = निश्चयेन, तमिति शेषः । अथ रूपकमन्तरः । सादृश्यविधि-
 विधौ वक्तुम् ॥ ५९ ॥

स्वैरसिति । कैरवकोरकान् स्वैरं विवृण्वन् युना भवः कोवृण्वन् अम्भोजानि चित्ति-
कान् युगादसां मानं ससुम्मीलयन् ओम्भनां कम्बलयन् दिशो षवकथन् वारिषीन्
उद्देलयन् कोकान् वाकुलयन् तमः कवलयन् इत्युः ससुम्भजृम्भत इत्यन्वयः । कैरव-
कोरकान् = कुमुदकुम्भलान्, स्वैरं = पयोधे, विवृण्वन् = विकसयन्, युना =
सल्लगीनां सल्लगाणां च, युवतयश्च युवानरचेति युवानस्तेषां, 'युमान्निवे' ध्येकस्तेषः ।
भवः = विरहं, कोवृण्वन् = पीडयन्, कामोद्दीपनादिति भावः । अम्भोजानि = कम-
लानि, विनीलयन् = मुद्रयन्, युगादसां = हरिणाक्षीणां स्रुन्दरोणां, मानं = संमानम्
ससुम्मीलयन् = विकासयन्, प्रसारयन्नित्यर्थः । अम्भोदधे कामोद्दीपनायुवानः कोव-
विनामाधं हरिणैकगणानां सम्मानं कुर्वन्तीति भावः । अत्र 'ससुम्मीलयन्' इति स्वल्प-
'नि' चिह्नम् 'चित्ति' पूर्वव्याख्यायाम् चित्तस्य शोपसर्गाभात्यर्थविरोधात् । एवं च ज्योत्स्ना =
अग्निर्वा, कम्बलयन् = अङ्कुरयन्, उत्पादयन्निति भावः । दिशः = अतस्तान् षवक-
थन् = धरुकाः ॥ ३ ॥, 'तत्करोति तदावष्ट' इति निमित्ताद्वाटः सत्प्रत्ययः । वारि-
षीन् = ससुम्भान्, उद्देलयन् = तीरातिक्रामकान् विवृण्वन्, अम्भोदधे ससुम्भजृ-
म्भतिर्भवतीति लोकप्रसिद्धिः । येलम् (वीरभूमिम्) उक्तान्ताः, उद्देलाः, 'अथावयः
कान्तायर्थे द्वितीये' ति' समासः । उद्देलान् कुर्वन् उद्देलयन्नित्यत्र पूर्वसूत्रेण निर-
स्तङ्गम् । कोकान् = वक्त्रकान्, वक्त्रवाकीभाषकांरचेति भावः । कोकयत्र कोकाश्च
कोकस्तान्, 'युमान्निवे' ध्येक स्तेषः । 'कोकयत्रको रथावृण्वन्वाम्भजा' ।

कथमन—यह ही है।—

कुछदोषोंके कुब्रमकोंको यथेष्टरूपसे विकसित करते हुए, तस्वी और तस्वीके मनको पोषित करते हुए, कर्मकोंको निमीकित करते हुए, सुन्दरियोंके सम्मानको बढ़ाते हुए, सिद्धियोंको ध्वज्य कर देते हुए, समुद्रोंको परोक्षित करते हुए, शक्तियोंको अतृप्त करते हुए और जन्यकारको हराते हुए अन्तमा प्राप्नुते रहे है ॥ ३० ॥

विभीषणः—सखे सुग्रीव ! परय ।

मयूखनकरमुठत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थसो-

पकुलचरलतारकाकपटकीर्णमुक्तागणः ।

पुरम्बरहरिद्रीकुहरगर्भसुसोत्थित-

सुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते ॥ ५६ ॥

सुग्रीवः—सखे विभीषण, परय ।

हरम्बरः । भाकुलधनुः = भाकुलान्धनुः, चन्द्रोदयकाले कोकाः स्वभार्या विधुव्य कोकाकुला मयम्तीति लोकप्रसिद्धिः । तमाः = सन्धकारं, कनकान् = मांसं कुर्वन्, निवारयन्निति भावः । इन्दुः = चन्द्रः, सङ्कुम्भमये = प्रादुर्भवति । विदलताविष्णवे- कर्मिणाद्वेककारकरोम्योः सन्धादीपकमयङ्कारः । शार्ङ्गलविष्कीर्णं वृक्षम् ॥ ३० ॥

मयूखेति । मयूखनका मुठत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थसोपकुलचरलतारकाकपटकीर्ण- मुक्तागणः पुरम्बरहरिद्रीकुहरगर्भसुसोत्थितः सुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते इत्यन्वयः ।

मयू खनकरेत्पादि = मयूखाः (किरणाः) एव नकराः (नकाः) तदुत्प-
(स्मिन्) तिमिरम् (अन्धकारम्) एव कुम्भी (इस्ती) तस्य वाकुम्भमयलं
(मस्तकविष्कः) तस्मात् उल्लङ्घन् (उन्नम्यन्) तरलभा (चञ्चलात्मा) तार-
काणां (सज्जानाम्) कपथेन (कुलेन) कीर्णः (मण्डितः) मुक्तागणः (मौक्तिक-
पटलाः) येन सः । पुनः पुरम्बरहरिद्रीकुहरगर्भसुसोत्थितः = पुरम्बरस्य (इन्द्रस्य)
या हरिश्च (विष्णा, प्राचीति भावः) क्षेत्रे द्री (युद्धे) तस्याः कुहरगर्भे (समी-
पाऽऽम्बन्तरभागे) सुसोत्थितः (प्राक् मुक्तः = निष्ठागः, परत्वात् उत्थितः = कृतो-
त्पातः) । पूर्वकालसमाप्तः । पृतावधः सुषारकरकेसरी = सुषारकरः (हिमश्रुः,
चन्द्र इति भावः) एव केसरी (सिंहः), गगनकाननं = गगनम् (आकाशम्)
एव काननं (वनम्) गाहते = मण्डितः । चन्द्र एव सिंहः मयूखैरेव यज्ञैः तिमिर-
स्यैव हस्तिनो मस्तिके विदार्य ततस्तारकाच्छलेन मुक्तागणं मस्तकं प्राचीदित एव
वर्षा अम्बन्तर भागे सुसोत्थितः सन् आकाशमेव वनं मण्डिततीति भावः । अत्र
केतवाऽप्युत्तुतिसाङ्गकपयोवृक्षिभावेनसङ्करः । सुधीकुप्यम् ॥ ६१ ॥

विभीषण—मित्र सुग्रीव ! देखो—

किरणरूप नाखुनोंसे सिन्न होते हुए धनकारकन झापीके यस्तकरिण्डते ताराओंके
बराबरेसे मोतिधोंको मिश्रीर्णकर पूर्वदिशारूप मुक्ताके समीप अम्बन्तर भागमें छोकर उडा
कुथा चन्द्ररूप सिंह आकाशरूप वनमें मण्डित कर रहा है ॥ ५६ प्रः ।

सुग्रीव—मित्र विभीषण ! देखो ।

यः श्रीकण्ठतमाक्षपप्रति दिशः प्राच्याः, स्मरन्मापते।

पाण्डुच्छप्रति, दन्तपप्रति विपक्षप्रतीकुरङ्गीच्छः ।

केलिखेतसहस्रपप्रति रतेः, किञ्च क्षपायोधितः

कीदारावतसीधुपाप्रति शायी सोऽयं जगन्नेत्रति ॥ ६२ ॥

रामः—(निर्बन्ध)

सितकिरणकपोलामासिमाशोकयन्त्री

तिमिरविरहतापप्याकुलं व्योमसखमीम् ।

य इति । यः प्राच्या दिशः श्रीकण्ठतमाक्षपप्रति, स्मरन्मापतेः पाण्डुच्छप्रति, विपक्षप्रतीकुरङ्गीच्छो दन्तपप्रति, रतेः केलिखेतसहस्रपप्रति, किञ्च क्षपायोधितः कीदारावतसीधुपाप्रति, सोऽयं शायी जगन्नेत्रतोऽयन्त्रः ।

यः = यः, प्राच्याः = पूर्वस्याः, दिशः = आशायाः, नापिकाक्षपाया इति भावः । श्रीकण्ठतमाक्षपप्रति = श्रीकण्ठस्य (मध्यत्रय) तमाक्षपप्रति (लिङ्गकक्षप्रति), तमाक्षपप्रति लिङ्गकक्षप्रति विशेषकम् । द्वितीये च पुरीये च न क्षियाम् इत्यमरः । स्मरन्मापतेः = स्मरः (कामदेवः) एव स्मापतिः (राजा), तस्य । पाण्डुच्छप्रति = खेतसहस्रपप्रति । विपक्षप्रतीकुरङ्गीच्छः = विपक्ष (आकाशस्य) कक्षीः (शोभा) एव कुरङ्गीच्छ (मृगीनपदा, नापिका) तस्याः, दन्तपप्रति = कर्माङ्गप्रतिमिवाचरति । रतेः = कामवहमायाः, केलिखेतसहस्रपप्रति = केयवर्ध (कीवार्धम्) यस्य खेतसहस्रप (सुखकमलम्) तद्वाचरति । किञ्च = अपरं च, क्षपायोधितः = क्षपा (रात्रिः) एव पोक्षि (स्त्री) तस्याः । कीदारावतसीधुपाप्रति = कीदारा (केही) यद्वावत (रजद्विर्मितम्) सीधुपात्रं (घुरापात्रमाजगम्) तद्वाचरति, कामोदीपकवादिति भावः । सः = तादृशः, अयं = संप्रति प्राच्यामुदितः, शायी = चण्डः, जगन्नेत्रति = जगतः (लोकस्य) नेत्रति (नेत्रवदाचरति), प्रकाशकत्वादिति भावः । रूपकोपमयोः छन्दः । सामूहिकविकीर्तितं वृत्तम् ॥ ६२ ॥

सितकिरणेति । तिमिरविरहतापप्याकुलं सितकिरणकपोलं व्योमसखमीम्

श्री पूर्वेदिशाके चन्द्रनसिकण्डके समान, क्षपाविरूप रात्रिके सफेद चन्द्रके समान, आकाशकी शोभायुक्त सुन्दरीके कर्माङ्गप्रति समान, रात्रिके कीदारे किम् घुराक कमलके समान और रात्रिके शोभायुक्त रजद्विर्मित घुरापात्रके समान नाचरण करते हैं, वेते ने चन्द्रमा कीदारे नेमके समान हो रहे हैं ॥ ६२ ॥

रामः—(वैखर)

वन्द्यकारते विनोम्ने तन्नापते नविष्य भाकुल, और कन्दल प्रोचते मुख भाकाय

रत्नमिरसस्ताराशीकरैः सिक्तमस्याः

परिमलयति गात्रं चन्द्रिकाचन्द्रेण ॥ ६३ ॥

(पुनर्विचरय, स्वगतम्)

इन्दुरिन्दुरिति किं दुराज्ञया, विन्दुरेव पयसो विलोक्यते ।

आक्षिप् आलोकयन्ती रजनिः अमकताराशीकरैः सिक्तम् अस्याः गात्रं चन्द्रिका-
चन्द्रेण परिमलयतीत्यन्वयः ।

विमिरविरहतापम्याकुलं = विमिरात् (अन्धकारात्) यो विरहः (विषोऽसौ)
तेन यस्तायाः (सन्तापः) तेन व्याकुलात् (भवितव्याकुलम्) । सितकिरणकपो-
कम् = सितकिरणः (शुभांशुः, चन्द्र इति भावः) एव कपोकाः (गण्डः) यस्या-
स्ताम् । अत्र कपोलस्याङ्गत्वेऽपि बहुवचसात् 'न कोकादिबहुवच' इति स्वीयभावात् ।
अतः 'सितकिरणकपोली'मिति शठान्तरमस्मात् । सादृशीं व्योमलक्षणीयम् = आकाश-
लक्षणीयम्, आक्षि = लक्ष्मीम्, आलोकयन्ती = पर्यवन्ती, रजनिः = रात्रिः, अमक-
ताराशीकरैः = अमकताराः (निर्मकताराकाः) एव शीकराः (अश्लुक्काः), ताः ।
सिक्तम् = लक्षितम् । अस्याः = व्योमलक्षण्याः सकथाः, गात्रं = शरीरं, चन्द्रिकाचन्द-
्रेण = चन्द्रिका (व्योम्ना) एव यच्चन्द्रेण (श्रीचन्द्ररसः), तेन । परिमलयति =
परिमलयन्तुं करोतीति भावः । पतिविरहसम्पत्तां सर्वां यथा तस्याः सखी तापाप-
योदाय जलसेकेन मलयजद्वयेन च तद्वत् लिम्पति तथैव रात्रिरपि विमलसर्वां व्योम-
लक्षणीं ताराङ्गुलकैः सिक्त्वा चन्द्रिकाचन्द्रेण योजयतीति भावः । अत्र रूपक-
मन्त्रारः । माक्षिणीवृत्तम् ॥ ६३ ॥

इन्दुरिति । इन्दुः इन्दुः इति दुराज्ञया किम् ? एव पयसो विन्दुः विलोक्यते ।
यत्तु पुरीक्षितः इत्थं रयमकौमल्यकपोकम् आसनं विजयत इत्यन्वयः ।

इन्दुरिन्दुरिति = चन्द्रश्चन्द्र इति, दुराज्ञया = असत्यवृत्त्या किंकिं यपोभवत् ।
युक्तः = दुरो दूरवर्तमानः, पयसः = जलस्य, विन्दुः = वृषतः, विलोक्यते = दृश्यते ।
योऽयं गद्यमण्डकाऽवस्थितः प्रकाशपुञ्जश्चन्द्रस्येव समाम्पते आर्ज्यं चन्द्रा प्रयुत
वक्रविन्दुरेवाऽयसाङ्गादकत्वादिवर्णनामयोगादिति भावः । तर्हि कचम् इति

श्रीमार्कण्डेयस्योक्तं वेदादीं दुर्गं रात्रिं निर्मलताराकम् अमकणोसे सिक्तं एव (आकाशलक्षणीयं)
शरीरकौ व्योमलक्षणात् चन्द्ररसते सुगन्धिषु कर रघो है ॥ ■ ■

(फिर विचार कर यव ही मत)

'चन्द्रं चन्द्र' इति प्रथमं असत्यवृत्त्यासे क्या होता है ? यह ही पानीकी बूँद ही
वेदी या रघो है । यह सुन्दरी (लीला) का श्वाभ और नीमक कपोलवाचा सुल ही

नमिदं विजयते मृगीद्वयः, इमामकोमलकपोलमानसम् ॥ ६४ ॥

(दुःखः सीता प्रत्यवधार्य)

तन्निव ! स्वहृदयस्य विभ्रमकथं कावच्यवार्तानिधे-

दिन्दुः सुन्दरि ! दुग्धसिन्धुसद्वीरिन्दुः कथं विन्दतु ?

उत्कटलोकादिकोचने ! कृणमयं शीताश्रुरसम्बता-

मुग्धीकान्तवनीलबीरजवनीलेलम्बरसङ्गमियम् ॥ ६५ ॥

प्रतिपादयति—वर्णयति । मनु = वतः, मृगीद्वयः = हरिणीभयभावाः, शीताया इति भावः । इदं = पुरतो द्रष्टव्यमानं, इमामकोमलकपोलं = इमामः (कृष्णः, अलकसंघेदेति भावः) कोमलः (मृदुः) कपोलः (मन्दः) वसिमल्लत् । तादृशम् आचरणं = मुक्तं, विजयते = सर्वोत्कर्षेण पर्यते । अङ्गाङ्कन्यादिभ्रमं योगित्वास्तीतामुद्यमेव चन्द्र, आकाशमन्त्रकल्पः प्रकाशप्रभस्तु एवोविन्दुरेवेति भावः । अत्र प्रतीपमङ्गुरस्तङ्ग-
कथं यथा साहित्यदर्पणे—‘प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयस्यप्रकरणम् । विप्लवस्याभि-
धानं वा मर्त्यपमिति कम्पते ॥’ इति । रमोद्भासकम् ॥ ६४ ॥

पूर्वोक्तमेवास्व प्रकाशभरेण समर्पयते—तन्मीति । हे तन्निव ! हे सुन्दरि ! दुग्ध-
सिन्धुसद्वीरिन्दुः इन्दुः कावच्यवार्तानिधेः स्वहृदयस्य विभ्रमकथं कथं विन्दतु ? हे
उत्कटलोकादिकोचने ! अयं शीताश्रुः यन्मन्त्रमुग्धीकान्तवनीलबीरजवनीलेलम्बरसङ्ग-
मियम् अलम्बरतासित्यन्वयः ।

हे तन्निव = हे हस्तोदरि !, हे सुन्दरि = हे कावच्यवर्ति सीते !, दुग्धसिन्धुसद्वीरि-
न्दुः = दुग्धसिन्धुः (बीरसमुद्रः) तस्य सद्वीर (वरजः) तस्या विन्दतु (पृथक्ता,
सुज्ञाञ्ज इति भावः), तादृश इन्दुः = चन्द्रः, कावच्यवार्तानिधेः = सौन्दर्यसिन्धोः,
लज्जवन्तस्य = लज्जुल्लस्य, विभ्रमकथं = विकासलेशमपि, कथं = केन प्रकारेण,
विन्दतु = समता, ‘विन्दुः कामे’ इति धातोर्लोट् । बीरसागरतरङ्गस्य सुज्ञाञ्जक-
रचन्द्रः सौन्दर्यसागरस्य लज्जुल्लस्य विलासलेशमपि कथञ्चनं प्राप्तुं समर्थः स्यादिति
भावः । हे उत्कटलोकादिकोचने = उत्तरी कवल्लोकौ (महादरङ्गौ) इव विकोचने

(चन्द्ररूपे) सर्वोत्कर्षे नद रक्षा ई ॥ ६५ ॥

(फिर मेरे सीताको मुनाकर)

हे हस्तोदरि । हे सुन्दरि । बीरसमुद्रको तरङ्गने विन्दु रूप इन्दु सीतारूपके सङ्कर रूप
इन्दुने मुझके विकासके केसकी भी कैसे प्राप्त करे ? महादरङ्गोंके समान विज्ञाञ्ज मेझोंसे
लज्जन्त हे लीके । नह चन्द्र कुछ समयतक विकसित नभे गीककनकोंके । कण्ठमे सेकते
हूर रत्नदंशभी बीरमन्त्र आकाशमन्त्र करे ॥ ६५ ॥

सीता—(जला नाटयति) (विस्फेक्य हर्षेण) महो, कथमयमुन्मीलित
पद्म ! (महो, हृदिमो उन्मीलितो जेम्ब !)

मुकुलीकृतारविन्दो भानवतीमानवारमसुरोगेन्द्रः ।

त्रिभुवनमयमानन्दो राजनीभुवनचन्दनचन्दः ॥ ६६ ॥

[सुतनीकिदारविन्दो मानवमानवारमन्दो ।

सिद्धमयमयमारविन्दो राजनीभुवनचन्दनचन्दो जन्म ॥]

(जेम्बे, विस्फेके इति शब्दः) वरसाः सा तस्यमुखा । जयं=पुरो दृश्यमाना,
धीतः=चन्द्रः, जयं=कल्पितमयं मानवः, 'कल्पितमयोरत्यन्तसंयोगे' इति
द्वितीया । उन्मीलितमयनीलनीलमयोरत्यन्तसंयोगे=उन्मीलित (विकसित)
पद्मानि (नूतनाणि) नीलानि (कल्पितानि) वारि वीरवानि (कमलानि) तेषां
या वरी (भव्यं वरपद्म, उपवनमिति भावः । जयवरावपदविक्रमायां 'विप्रीता-
विभ्यश्चेति ङीप् ।) तेषां सेतुः (लोचनं) यो मरुतः (रावहंसः) तस्य भिन्नम्
(घोरमात्रं), आकम्बतम् = आकम्बतम्, मान्द्योत्थिति शब्दः । हे सुन्दरि ! स्वच्छ-
वृत्तिभिः नूतननीलकम्बतवरोधमे नयसि लोचनम् । रावहंसकोमां कमलानि
भावः । जयवरावपदविक्रमोः संघट्टः । चन्द्रकविभीषितं वृत्तम् ॥ ६५ ॥

सीतेति । जयं = चन्द्रः, उन्मीलितः = विकसितः, उचित इति भावः ।

मुकुलीकृतारविन्द इति । मुकुलीकृतारविन्दो मानवतीमानवारमसुरोगेन्द्रः
त्रिभुवनमयमानन्दो राजनीभुवनचन्दः चन्द्र इत्यन्वयः । मुकुलीकृतारविन्दः=मुकुली-
कृतम् (निर्मोहितं, स्फोटकेति भावः) अरविन्दं (कमलम्) येष तः । मानवती-
मानवारमसुरोगेन्द्रः=मानवताः (प्रणवकोपताकिन्वाः कामिन्वाः) यो मानवः (जयि-
मानः) स एव वारणः (राजः) तस्य सुरोगेन्द्रः (सिंहः) चन्द्रोदये सति मदनोदी-
पनेन मानवता मानो विकसित इति शब्दः त्रिभुवनमयमानन्दः=त्रिभुवनम्
(लोकत्रयम्) नयमानम् (वेदानाम्) मानवः (आकम्बकारकः, रावहन्ता-
कृत्वा) । राजनीभुवनचन्दः=राजनी (रात्रिकया वा वारिकया) तस्या मुखे (वक्ष-
से) चन्द्रः (मलयलक्षणे), रात्रिकया वा वारिकयानिरकम्बवाणीम् इति भावः । रावह-
कम्बः=हन्तुः उन्मीलित इति पूर्वैव पदद्वयेव सम्बन्धः । वार्ता वृत्तम् ॥ ६६ ॥

सीता—(कथमात्रं नमिन्नं करोतीति ।) (रेवधर हर्षेण) कैते ये वरित ही हो पद्मे ।

कमलको मुकुलित करवेवले भविष्यतिनी कीले नमिवाचन्य हायीको इत्यनेन सिंह
ये समान, त्रिभुवनको नेत्रोको मानवद्वारा, रात्रिकय वारिकके मुखमें चन्द्रको सीत
चन्द्र वरित ही हो कवे ॥ ६६ ॥

रामा—सखे सुग्रीव, परम परम ।

हृन्वोरस्य त्रियामायुषतिकुचतटीचम्बनस्यासकस्य,
श्वोमश्रीचामरस्य त्रिपुरहरजटाश्वत्थरीकोरकस्य ।

कन्दर्पोणिपातस्फटिकमणिगृहस्यैतदाश्वत्था-
नासामुक्ताफलस्य स्थगयति जगतीं कोऽपि भासां विलासः ॥
सुग्रीव—अये रघुनाथ ! पुनरुक्तमिदमाचष्टे चन्द्रमसः किरणविलासः ।

हृन्वोरिति । त्रियामायुषतिकुचतटीचम्बनस्यासकस्य श्वोमश्रीचामरस्य त्रिपुर-
हरजटाश्वत्थरीकोरकस्य कन्दर्पोणिपातस्फटिकमणिगृहस्य मूलपातश्वत्था-
नासामुक्ताफलस्य अस्य हृन्वोः कोऽपि भासां विलासो जगतीं स्वयमस्तीत्यन्वयः ।

त्रियामेत्यादि = त्रियामा (राशिः) एव युषति (लक्ष्मी) तस्याः कुचतटी
(स्तनप्रदेशः) तस्यां चम्बनस्यासकस्य (मलयजविधेमस्य), श्वोमश्रीचाम-
रस्य = श्वोमश्रीयः (आकाशशेखायाः) चामरस्य (शकीर्णकस्य), त्रिपुरहरजटा-
श्वत्थरीकोरकस्य = त्रिपुरहरस्य (सङ्गरस्य) या जटा (शृङ्गा) तेषां श्वत्थी (कटा)
तस्याः कोरकस्य (मुकुटस्य) । कन्दर्पोणिपातस्फटिकमणिगृहस्य = कन्दर्पो
(कामदेवः) एव कोणिपातः (राजा) तस्य स्फटिकमणिगृहस्य (सितोपलम्ब-
कस्य), एतदाश्वत्थाशानासामुक्ताफलस्य = एषा (पुरोहरचमात्रा) ॥ आश्वत्था-
नाऽऽता (हृन्वविधा, माचीति भावः) तस्या भासायाः (वासिकायाः) मुक्ताफ-
लस्य (म्रौतिककणस्य मूलस्य), अस्य = पुरो हरचामरस्य, हृन्वोः = चन्द्रमसः,
कोऽपि = अनिर्वचनीयः, संसर्गः = कावलीर्था, विलासः = विलसन्, जगतीं = सुवर्णं,
स्थगयति = आच्छादयति, आम्बोसीति भावः । एषोऽपलम्बकचित्स्य अङ्गुष्ठ-
महासो भुवममच्छले आम्बोसीति भावः । अत्र रूपकमहाहारः । आम्बोः हृन्वम् ॥

सुग्रीव इति । पुनरुक्तम् = पौनःपुन्यवचनमुक्तम् । आचष्टे = कथयति । श्वत्थी-
कोरकश्वत्थे जातिरिति चन्द्रमसाः किरणविलासस्य अवलीकरणं व्यर्थमायमिति भावः ।

राम—निम सुग्रीव । देखे, देखो ।

राशिरूप युषति स्तनप्रदेशम् चम्बनकोरकम्, आकाशश्रीनाथे चामरस्य, सङ्गरको-
रकस्य कटां कोरकस्य, कामरूप राजाभे स्फटिकमणिगृहितं यवनकस्य और पूर्वविलासो
मार्तिमन्त्रे मुक्ताफलस्य इति चन्द्रमस्य अनिर्वचनीय काविविलास कोरको आम्बोविल-
स इति ॥ ६७ ॥

सुग्रीव—रघुरते । चन्द्रमसाः किरणविलासं पुनरुक्तं कथनेने पुनरुक्तिः ।

रासः—कवमिव ।

मुप्रोधः—नन्वत एव ।

कर्पूरादपि कैरवादपि दलकुन्ददपि स्वर्णदी-

कक्षोलादपि केतकादपि चत्तकान्तादगम्यादपि ।

दुरोन्मुक्तकलहशंकरशिरः क्षीतांशुजम्बादपि

श्वेतामिस्तथ कीर्तिभिर्घण्टिका सप्तार्जवा मेदिनी ॥६८॥

कर्पूरादपीति । कर्पूरादपि कैरवादपि दलकुन्ददपि स्वर्णदीकक्षोलादपि केतका-
दपि चत्तकान्तादगम्यादपि दुरोन्मुक्तकलहशंकरशिरः क्षीतांशुजम्बादपि श्वेतामिः
एव कीर्तिभिः सप्तार्जवा मेदिनी चमकितेत्यन्वयः ।

कर्पूरादपि = धनसारादपि, 'धनसाररत्नदलं चः सिताक्षौ हिमबाहुकाः' इत्य-
मरा । श्वेतामिस्तथकीर्तिभिरिति सम्बन्धः । एवं परत्रार्थः । कैरवादपि = कुमुदा-
दपि, दलकुन्दादपि = दल (विदधत्) यत् कुन्दं (माध्वपुष्पम्), तस्मादपि,
स्वर्णदीकक्षोलादपि = स्वर्णदी (जाकाकमला), तस्याः कक्षोलदपि (महातरङ्ग-
दपि), 'महत्सुहोलाकक्षोलौ' इत्यमरः । केतकादपि = केतकीपुष्पादपि, चत्तकान्ता-
दगम्यादपि = चत्तकी (भ्रमणी) वा कम्तारह् (इक्ष्वाहति) तस्याः भन्ता-
दपि (भान्तभाषादपि), दुरोन्मुक्तकलहशंकरशिरःक्षीतांशुजम्बादपि = दुराह
(विमृष्टाह) उन्मुक्तः (परित्यक्तः) कम्बुः (कम्बुनयः) येन सः, शंकरशिरसि
(शिवसस्तके) यः क्षीतांशुः (चन्द्रः), तत्तम्बादपि (तन्त्राणादपि, शिवशिरोऽ-
परिमतायं चन्द्रादपीति भावः), श्वेतामिः = अधिकतरशुष्कामिः, सप्त = अक्षौ
रामचन्द्रस्य, कीर्तिभिः = चमोभिः, कुर्वाणमहकिङ्गाशुभ्रद्वयविद्याभिर्लोकेश्वरभिः
कवाविभिरिति भावः । सप्तार्जवा = सप्तसमुद्रपुष्पा, मेदिनी = प्रविनी धमकित्ता =
कुवलीकृता, चत्तकचक्षोभिरिव चमकितान्ता मेदिन्याः कक्षेण स्वकिरमैर्घण्टीकार्ण-
विधयेकमसिध भवचंपावमिति भावः । अत्रोपमेयस्य रामचन्द्रस्य उल्लेखः कर्पूरा-
दिभ्य आधिक्यस्य प्रतीत्यर्थेतिरेकमलङ्कारः । आहूतविधीति वृत्तम् ॥ ६८ ॥

रासः—कैरी ।

मुप्रोधः—शरीरे—

कर्पूरः कुसुम, विकसित मलयपुष्प, कम्पजम्बाक्षी म्हातरङ्ग, केतकीपुष्प, चत्त-
कान्ताक्षा कटाक्ष नीर दुरते कम्बु क्षीदनेयके विनमस्तके अर्चकद एव सर्वोपे भी
अधिक तपेय नापके पयोधे ही सप्त समुद्रांते वृक्ष इतिनी सपेय बनाई यई रे ॥ ६८ ॥

रामः—अतः पुच्छप्रायजस्त्रितेन ।

विभीषणः—देव ! पुच्छप्रायमेव जल्पितं सुधीवेण । यदुक्तं मेविभीषणलितेति । ननु त्रिलोकीवस्तमेव धवलितमिति यच्छब्दम् । सम्प्रति हि—

समुन्नतधनस्तनस्तवकपुम्बिधुम्भीक-
कण्ठमधुरवीणया विपुषलाकशामधुवा ।

स्वर्गीयमुपगोयते हरिकिरीटकोटिस्तुर-
गुषारकरकम्बुकीकिरणपूरगौरं यथा ।। ६३ ।।

राम इति । रामः स्वयसौवर्गवमादिपमित्रताकीमर्तं धनम्—अकमिति । विभीषणो वामाताडकद्वारेण रामवच आदिपति—समुन्नतेति । समुन्नतधनस्तनस्तवकपुम्बिधुम्भीककण्ठमधुरवीणया विपुषलाकशामधुवा हरिकिरीटकोटिस्तुरगुषारकरकम्बुकीकिरणपूरगौरं यदीयं वक्ष्यन्तीति हरयन्नेव ।

समुन्नतधनेवादि = समुन्नतः (समृद्धः) यो वनस्तनस्तवकः (विविक्तकुच-
शुक्लः) तं सुवतीति (सुवतीति) इति समुन्नतधनस्तनस्तवकपुम्बिधुम्भीक तादृशं
धुम्भीक (वीणाधनवचः) धरयाः सा, तादृशी कण्ठी (वाद्यधनमात्रा) मधुरा
(मधुरधरोपेतः) वीणा (वक्त्रक्री) धरयाः सा, तथा । तादृशं विपुषलाकशाम-
धुवा = विपुषला (वेषाणाम्) कोके (सुवने, स्वर्ग इति भावः) वामे (सुन्दरे)
शुवी (नयनोपमिनेमहारी) धरयाः सा, सुन्दरीति भावः । तथा । देवकण्ठमिति
सावयेव । हरिकिरीटकोटिस्तुरगुषारकरकम्बुकीकिरणपूरगौरं = हरिकिरीटस्य (त्रिव-
सुकुलस्य) वा कीटिः (भद्रभागाः) तत्र स्तुरम् (प्रकाशमानः) वस्तुषारकरः
(विमान्मयः, चण्ड इत्यर्थः) तस्य वा कम्बुकी (लङ्कुरः) तस्या वा किण्वपूरः
(मधुसस्तम्भः) तत्तमं गौरं (शुक्लवर्णम्), तादृशं यदीयं = यदीयं, यथाः =
कीर्तिः, उपगोयते = गामेन चर्यते । यस्य ते चन्द्रकिरणचर्चं यथाः सुरककनामपि
उपस्तवकोपमे स्वयसौवर्गमण्डले वीणा यथाः विचार्य गायति, तेव मेदिन्येव भव-

रामः—पुच्छप्राय वचन कहनेकी बातवचनता नहीं है ।

विभीषणः—महाराज ! सुधीवानीने पुच्छप्राय वचन ही कहा है, जो कि 'सुधीवी
सफेद वनार्थे गई है' ऐसा कहा । आपकी पहने सीखों कीकीकी सफेद वनार्थे कहा
कहना यही है । इस समय—समुन्नत गादस्तवपुच्छकी स्वर्ग हरयेवाके सुधीवकी सुद्ध
वीणाकी नयनेवाली देवकीकी सुन्दरी विपुषलाके वनवापने स्थित वनवापने किण्व-
सुन्दरे तादृश सुद्ध वापने वचन गान करती है ॥ ६३ ॥

रामः—अयि ! लक्ष्मण ! भवानपि किञ्चिन्धानाथमतमेवानुगतः
(पुनर्विकल्प, सर्वं सुधीवं प्रति)

संरम्भोद्दिग्धमर्जसमयवशामुखोक्ताद्वोर्बन्धहेता-

कैलासः सप्तकोकीत्रयमुदितमनोज्ञमवादित्राहः ।

सोलाशीगण्डपालीलयणिमज्जतापेक्षरातः पेरिपिण्डः ।

पश्य श्योमाशकाक्षं विहाति विरहिणां दृष्टराहः । श्यामाहः ॥३०॥

किमेति सुमीयकमयं तुभ्यमायमेव, श्यमाहता विवोकीतकस्य भवकितानादिति
भाषा । श्योममाऽहः ॥ ३० ॥ ॥ ३१ ॥

राम इति । किञ्चिन्धानाथमतोऽसुमीयाऽभिसर्तं, मयतोऽर्क्यनपश्यमिति भावः ।

संरम्भोद्दिक्तेति । संरम्भोद्दिग्धमर्जसमयवशामुखोक्ताद्वोर्बन्धहेताकैलासः सप्त-
कोकीत्रयमुदितमनोज्ञमवादित्राहो कोकाशीगण्डपालीलयणिमज्जतापेक्षरातः सेन-
पिण्डो विरहिणां दृष्टराहः श्यामाहः श्योमाऽशकाक्षं विहाति । परमेस्वम्भयः ।

संरम्भोद्दिक्तेत्यादिः = संरम्भे (आरम्भे) उद्दिक्ता (स्पष्टा) यो मर्जसमयः
(रात्रिकाळः) एव दृष्टमुक्तः (रात्र्याः), तस्योक्ताहः (मन्त्राः) यै होर्बन्धाः
(बाहुबन्धाः) सेनां हेतायाः (लीलायाः) कैलासः (कैलासपर्वतः) । रात्रिसमय-
कपरावगाहबुद्धौद्वयवैकासमर्थतोपममन्त्र इति भावः । सप्तकोकीत्रयमुदित-
मनोज्ञमवादित्राहः = सप्तकोक्याः) भुवनसप्तकस्य, नृशदिकपरमेति भाषा)
अवेन (विजयेन) मुषितः (हृष्टः) यो मनोज्ञः (मनसिजा, कामदेव इत्यर्थः)
सत्यं वादित्राहः (भाषकः) कामोद्दीपकवाक्यामदेवविशेषसूक्तवाच्यः
अपमन्त्र इति भावः । कोकाशीगण्डपालीलयणिमज्जतापेक्षः = कोकाशीनां (चञ्चल-
यानां, सुन्दरीनाम्) वा गण्डपाली (कपोलपक्षिणाः) तस्या यो कवलिना (काह-
न्यं, लोभार्थमित्यर्थः) स एव प्रकृतिः (समुद्रः) तस्मात् उद्गताः = कल्पः, कै-
लिपिण्डः = द्वितीरविष्ठाः एवं च विरहिणां = विदोहिनां, दृष्टराहः = दृष्टारहः, ली-
लाशकाक्षं कुर्वकिति भावः । दृष्टरातः श्यामाहः = चन्द्रा, श्योमाऽशकाक्षम् = लालक-

राम—कहलानाथ । आपनैनी किञ्चिन्धानाथ (सुधीवं) का ही मर्त के किया ।

(फिर देखकर सर्वपूर्ण सुधीवसे)

आरम्भमें स्पष्ट रात्रिकाळरूप रात्र्याके प्रचण्ड बाहुबन्धोंकी लीलाके देवतपर्वत,
सप्त कोकीत्री विषयसे प्रसन्न कामदेवके वाचराह, सुन्दरियोंके करीब प्रदेशके लोभार्थ
समुद्रसे उत्पन्न सेनपिण्डके समान और विदोहिनोंकी दृष्टि करवैशाके चन्द्रमर आकाश-
प्रदेशमें प्रवेश कर रहे हैं । देखो ॥ ३० ॥

॥ (निर्वर्ण्य । स्वगतम्)

अयं मेधादन्तरेजानि रजनीचल्लभ इति

अमः कोऽयं प्रज्ञापरिचयपराधीनमनसाम् ।

सुधानाम्नाधारः च सल्लु इतिविम्बाधरसुधा-

रसासेकस्मिन्धादजानि नयनात्पुण्यधुपः ॥ ७१ ॥

कथमयम्—आर्ये जानकि ! परम परम ।

अयेकं, विवसि = प्रविवसि । परम = विशेषकथ, तमिति शेषः । अयं कथमयकहादा ।
अन्यथा वृत्तम् ॥ ७० ॥

अयं मेधादिति । अयं रजनीचल्लभः अये मेधात् अजानि प्रज्ञापरिचयपराधीन-
मनसां नयं वा अमः । सुधानाम्नाधारः स एतिविम्बाधरसुधासंज्ञकस्मिन्धात्
पुण्यधुपो नयनात् अजानि कथित्यर्थः ।

अयं = पुरोदरचमाणा, रजनीचल्लभः = मित्राविति, अयं इति भावः । अजानि =
अज्ञानमयः, मेधान् = नयनात्, अजानि = ज्ञापकः, 'अभी प्राहुर्भावे' इति चात्तो-
ल्लुति चो 'दीपजनमुधपूरितामिष्याविम्बोऽन्यतरस्याम्' इति चिन्, तस्य 'विम्बो
कृत्' इति लुप् । प्रज्ञापरिचयपराधीनमनसां = प्रज्ञायाः (बुद्धेः) या परिचयः
(संज्ञायाः) तमिन् पराधीन (परतन्त्रम्) मनः (चित्तम्) वैश्वं, तेषाम् ।
अयम् = एतादृशः, का = कोऽयम्, अमः = अमिति, मिष्यामसिरिति भावः । न्योम-
नसाध्यात्मस्थितोऽयं अन्तोऽन्तेन मनसमुत्थं न्योतिरिति मिष्यामसिरेवेति भावः । एत-
न्वैवाज्यसुधादिति—सुधानामिति । सुधानाम् = अमृतानाम्, नाधारः = नाधायः,
सा = अयम्, इतिविम्बाधरसुधासंज्ञकस्मिन्धात् = एतेः (कामप्रियायाः) विम्बम्
(विम्बप्रकम्) इव नयनः (ओष्ठ) तस्य सुधा (अमृतम्) तस्या इति (मधु-
मिता), तेन च आसेकः (आसेचनम्), तेन स्निग्धात् (मधुना), पुण्यधुपः =
कामदेवस्य, 'वा संज्ञादाम्' इत्यनकोऽसावपके कथम् । नयनात् = मेधात्, अजानि =
अज्ञातः । इतिविम्बाधरसुध्यातास्मान्नयनादेव अन्तोऽयं संज्ञातः, ओष्ठेदस्य अय-
मेव विम्बं कामोदीपकत्वमिति भावः । अत्राऽपहृतिरकहादा । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ७१ ॥

(देखकर मन ही मन)

६ अत्रमा अजानि नयनसे कल्लभ दुप हैं । यह जानके परिचयमें पराधीन मनवाकोंका
कैसा अम ॥ । विध्व ही अज्ञातानार के रविदेसीके विम्बककने लहस नयनके रससे
स्निग्ध कामदेवके ओष्ठे कल्प दुप हैं ॥ ७१ ॥

कथमयम्—जाने जायदी ! देखिय, देखिय ।

आनन्दं कुमुदादीनामिन्दुः कन्वलयन्मयम् ।

हृदयस्यम्बराभोगं हनुमानिव सागरम् ॥ ७२ ॥

सीता—अये सुलक्षण सरमण, स पुनरिवानी क रहुकलकुटुम्ब-
सन्तापराभनचन्दनः पयननम्यनः । (अये सुलक्षण कलक्षण । सो कण
राणी कहिं रहुकलकुटुम्बसन्तापसमणचन्दनो पयननम्यको)

सरमणः—आर्ये ! स एव रामचन्द्रेण बन्धुमानन्दयितुमर्थां प्रहितः ।

सीता—एवस्माभिः किमिति विलम्बयते । (■ कथेहिं किति
विलम्बीचहि ।)

(रामो विभीषणमुच्यमानो करो)

विभीषणः—(निर्गत्य, अविरय च) इदं तत्पुण्यकाभिधानं विमानरत्न-
माकलयाम् ।

आनन्दमिति । अथय हनुः कुमुदादीनाय आनन्दं कन्वलयन् हनुमान् सागर-
मिव सम्बराभोगं हृदयसीपम्बवः ।

अर्थ = पुरोदरपमाना, हनुः = अथय, कुमुदादीना = कैरवचकोरमकुतीनाम्,
आनन्दं = धर्म, कन्वलयन् = जलमन्, हनुमान् = आत्मनेया, सागरमिव = समुद्र-
मिव, सम्बराऽऽभोगम् = आकाशमण्डलं, हृदयसि = अतिशामति । एतेन कथाया
आधोव्यासमाधौ हनुमत्तो रामचन्द्रकलक्षणं सूच्यते । उपमाऽऽख्यायः । मनु-
ष्यभूतम् ॥ ७२ ॥

सीतेति । सुलक्षण = सोभनानि (ह्यभसूचकानि) कलजानि (चिह्नानि)
अथ, सत्सन्धुको । पयननम्यनः = हनुमान् ।

कलक्षण इति । कर्पु = वाग्धक, भरतादिमिषयोः । प्रहितः = प्रेषितः ।

ये वाग्धमा, कुमुदचकोर मादिपिके वाग्धको कलज करै इय समुदधी हनुमान्के-
समां आकाशमण्डको कलित कर रहे हैं ॥ ७२ ॥

सीता—राम कलक्षणको लक्ष्मणको । रहुकलकुटुम्बके सन्तापको धन करैके
चन्दनके समान पयननम्यन हनुमान्को इस समय कह्ये हैं ।

कलक्षण—आर्ये । विधाने कथे बन्धु (भरतादि) को नाचवित करैके फिर
कलीज्यामं भेजा है ।

सीता—तब हमहीन कितकिप विकम्ब (हीरो) कर रही हैं ।

(राम विभीषणका मुख देखते हैं ।)

विभीषण—(बाहर निकलकर और फिर प्रवेशकर) इस पुण्य कामके मोड़ विमान-
पर जातेहय कीजिय ।

(सर्वे शिमानोद्दणं नष्टयन्ति)

रामः—(सन्नैक्यम्) अये ! त्विषं विमानरत्नं यत्किञ्च त्रिभुवनैक-
वीरः कुबेरानुजः कुबैराजहार ।

सचमथः—(सागर्यम्) कथमयं किष्किन्धासाहिष्मतीपतिभ्यः सस-
मागधिभक्तसमीकोऽपि त्रिभुवनैकवीर इति व्यपदिश्यते ।

रामः—(दिव्यम्) एवमेतत् ।

साधकद्वैरमुञ्चयन्निपीडनेन

निश्चायतामुपगतैर्वृक्षाकण्ठकण्ठैः ।

राम इति । त्रिभुवनैकवीरः = कोकनपञ्चमयूरः । कुबैराजमुखाभ्यासम् इत्यर्थः ।
सचमथ इति । किष्किन्धासाहिष्मतीपतिभ्यः = किष्किन्धापतिः (वासी),
साहिष्मतीपतिः (कर्त्तवीर्यः), भावशार्धं बहुवचनम् , लेखः । ससमागधिनस्त-
कपतिकः = समसमनेन (तुक्वासेन) विमर्श (कृतविभारता) कथमीः (सम्पत्तिः)
वस्तु सः । वातिकर्त्तवीर्याभ्यः वीर्याऽभिपूतोऽपि रावणः कथङ्कारं त्रिभुवनैकवीर
इत्युच्यते इति भावः ।

साधयति । साधकद्वैरमुञ्चयन्निपीडनेन निश्चायताम् उपगतेः इत्युक्तकण्ठैः
चतुस्रमुपवेकासु वासीर्तिथोत्थमम् अकारि । स कवीरः । किं नचता विषय इत्यन्वयः ।
साधकद्वैरमुञ्चयन्निपीडनेन = साधरी (तथानिधी) कठोरी (कर्त्तवी) वी भुवनी
(वाहू) साम्यां यो यन्त्रः (सङ्कोचनम्) लेन यत्किपीडनं (भवधनम्) लेन ।
विमर्शता = समसमनेन, तुक्तामिति भावः । उपगतैः = वासी, इत्युक्तकण्ठैः =
वस्तुकण्ठस्य (रावणस्य) कण्ठैः (गच्छैः), चतुःस्रमुपवेकासु = चतुर्णां (चतु-
स्रकथनानाम्) समुदायां (सागरगणाम्) वेकासु (तीर्यमुद्रिषु), 'तद्विज्ञाभ्यै-

(तत्र विमानपर चतुर्नेका अभिजयं वरते हैं ।)

राम—(कुबैरकपूर्वक) भरे । यह वह विमानरत्न है जिसे त्रिभुवनके एक वीर
रामने कुबेरसे दित किया था ।

कचमथ—(असहिष्णुतापूर्वक) किष्किन्धा और साहिष्मतीके रक्षानियों—(वासी और
कर्त्तवीर्य) द्वारा मायमे सम्पत्तिका दिवाय होने पर भी इसे क्यों त्रिभुवनका एक वीर
कह रहे हैं ?

राम—(हंसका) वह खेब है ।

वेले कर्कश साधुओंसे चतुर्भुवनपूर्वक विपीडनसे सम्पत्तीन हीनेवाले रावणके कर्त्तवी

यत्कीर्तिघोषमकारि वतुः समुद्र-

वेकास्तु किं स वचसां विषयः कधीन्द्रः ॥ ७३ ॥

अपि न,

कोपप्रदीप्तमिजलोचनदीपचङ्घि-

तिर्मिम्नस्तान्द्रतिमिरे स घृष्टान्नोऽपि ।

कावाकुटीरकुहरे वसति स्म यस्य

सोऽप्येव हैहयपतिविषयो न चात्मानम् ॥ ७४ ॥

किन्तु परिभाषय वरत !

वचनसमाहारी वैकुण्ठरक्षसस्तस्य । वत्कीर्तिघोषो = यस्य (वाकिनः) कीर्तिः (कीर्त्यशक्तः) लोचनम् (क्वापनम्), अकारि = कुलं, कर्मवाच्ययोगः । सा = कोकमिश्रता, कधीन्द्रः = कानरेन्द्रः, वाकीति भावः । किं वचसां = वचनानां, विषयः = गोचरः । वाकिनां कुलानां सङ्घोचनेन न्यमोपादनेन वावचानिचिकलेः राजनकष्टैः सागरचतुश्चलीधूमिषु यस्य वाकिनो वचो विवचयितम् । तादृशं महाचक्रं वाकिनं को कलंभितुं समर्थः, न कोपीति भावः । अत्र निराश्रयतामुपगतेः कीर्तिघोषमकारीत्यनेन विरोधादऽभावाऽऽङ्कुरः । वसन्तलिककावृत्तम् ॥ ७३ ॥

कोपेति । कोपप्रदीप्तमिजलोचनदीपचङ्घिमिर्मिम्नस्तान्द्रतिमिरे यस्य कावाकुटीर-कुहरे स वचान्नोऽपि वसति स्म । सोऽपि एव हैहयपतिः चात्मा विषयो नेत्यभ्यस्य ।

कोपप्रदीप्तेत्यादिः = कोपेन (कोपेन) प्रदीप्तानि (प्रज्वलितमिजलोचनानि) स्वमेवेत्युच्यते । (मदीयाः) तेषां सो बहिः (अग्निः) येन मिर्मिकं (विवचयितम्) सङ्गृह्य (मित्रवत्) तिमिरं (तस्य) परिमस्तम्, तस्मिन् । यस्य = हैहयपतेः, कावाकुटीरकुहरे = वाचनाम्बुकुटीरकुहरे, सः = कोकमिश्रता, घृष्टान्नोऽपि, वसति स्म = अवसत्, सोऽपि = तादृशोऽपि, वृषः = अस्मद्वृत्तिस्थः, हैहयपतिः = कातकीर्तिः, वाचो = वाणीनां, विषयो न = गोचरो न, राजनविनेता । कातकीर्तोऽपि कोकोपारसोर्वच कर्णवित्तमहावय इति भावः । अतिशयोक्तिऽङ्कुरः । वसन्तलिककावृत्तम् ॥ ७४ ॥

किञ्चित् । परिभाषय = विचारय ।

भारो सङ्करोऽऽतारभूमिधोमे विसका कीर्तिको वापचक्रं धा, नह महाबल वाकी भवः वचनम् विषय ही सङ्करो है ॥ ७६ ॥

और भी—औरसे प्रज्वलित स्वनेत्रकन प्रदीप्तोकी नयनके कारण 'तद' नाम्कारसे रचित विमले कण्ठमकुटीरके भीतर वस राजनमे भी वास किया था । जैसे कीर्तकीर्ण भी कर्णके विषय नहीं है ॥ ७४ ॥

परन्तु हे वरत ! विचार करो—

यस्य द्वाकारवाककृत्तशिरसः कण्ठास्रवाकस्थलीं
 सूत्रावम्भमसं निपीड्य निविष्टं सिञ्चन् सुधानिर्हरेः ।

एषा मेमे शशिसाण्डमण्डन इति कथयति कृतार्थी हरः
 पञ्चानं द्वाकस्थः स च कथद्वाटं गिरां गतवृत्ते ॥ ७५ ॥

(निर्वर्ण) कथे ! किमुक्यतेऽस्य सल्लु त्रिकूटगिरिशिखरकण्ठीरवस्य
 द्वाकस्थस्य लोकोत्तराणि चरितानि ।

यस्य द्वागिति । द्वाक कथवाककृत्तशिरसो यस्य कण्ठास्रवाकस्थलीं सूत्रावम्भ-
 मसं निविष्टं निपीड्य सुधानिर्हरेः सिञ्चन् हरः एषा शशिसाण्डमण्डन इति कथयति
 कृतार्थी मेमे । स द्वाकस्थः गिरां पञ्चानं कथद्वाटं गतवृत्ते इत्यन्वयः ।

द्वाक् = लघ्वी, अर्वाककृत्तशिरसः = अर्वाकाकेन (कर्त्रेण) कृते (कृत्वा)
 शिराः (पुरां) यस्य, लघ्वः । लघ्वः = वाक्यस्य, कण्ठास्रवाकस्थलीं = कण्ठः (गण्ठः)
 स्य भातयाकम् (आभायः) तस्य रसकीं (स्वात्मनः), सूत्रावम्भमसं = स्वस्त-
 क्तवम्भम्, निविष्टं = राखं, निपीड्य = निपीडितं कृत्वा, तज्जकितैः सुधानिर्हरेः =
 अद्भुतसमर्हैः, सिञ्चन् = कथन्, हरः = राजारः, एषा = स्वकीया, शशिसाण्ड-
 मण्डनः = शशिसाण्डम् (कर्षणम्) एव मण्डनं (भूषणम्) यस्य सः, पञ्चलीकार
 इति भावः । इति = एतादृशी, कथयति = प्रसिद्धिं, कृतार्थी = समकामिति भावः ।
 मेमे = हृदये सः = राजा, स्वशिरसि हनेन विधायसाधक इति भावः । द्वाकस्थ-
 रसः = वाक्यस्य, गिरां = वाणीयां, पञ्चानं = मार्गः, कथद्वाटं = केन प्रकारेण, गतवृत्ते =
 प्रविवक्षितः । स्वस्तकृत्तशिरसः गतलोपतोपकः शिवात् स्वस्तकृत्तकृत्तसुधाभाषाया
 मातृजीवयो वाक्यस्यो वाक्यः जीवन्मरकारे वाक्यमगोचर इति भावः । अत्र कथ-
 नमकृत्तम् । 'शशिसाण्डमण्डन' इत्यत्र निवर्णं नाम कथनम् । कार्मुकविषीविष्टं
 सुतम् ॥ ७५ ॥

निर्वर्ण्येति । त्रिकूटगिरिशिखरकण्ठीरवस्य = त्रिकूटगिरेः (त्रिकूटपर्वतस्य),
 कण्ठास्रमीपस्थत्येति शेषः, पञ्चलीकारं (यजन्म्) तस्य कण्ठीरवस्य (सिद्धस्य) ।

श्रीम लक्ष्मणस्य शिरः काव्ये वरके त्रिकूट कण्ठरूपं जगदाचर्ये स्थानं परं नयने शिरः
 स्थितं वरके दृक्स्थले निपीडितं अद्भुतनिर्हरेः शेषेण करते रूपं सद्गुरवे 'पञ्चलीकार'
 इति अपनी प्रसिद्धिः सकलं मानं विधाया । यैरा राजन्यं मोक्षेनं वर्ण्य विधाया
 सक्ता है ॥ ७५ ॥

(वैश्वर) त्रिकूटपर्वतं श्रीजीवे सिद्धं एव राजन्ये श्रीलोचनपरिचया यैरे वर्ण्य
 विधाया ।

यद्योऽपि विमि चन्द्रशेखरगिरी भद्राह्वारोऽस्म-

न्नागाधीशफणावलीमणिरचां पूरे समुन्मीलति ।

जातास्तुल्यमकालवालतपनाताम्राश्रितयो दिशो

देवस्यापि तथा तुषारकिरणोत्सस्य तिस्रः दृशः ॥७५॥

कथमयः—आर्यः,

कोकोशमि = कोकात् (भुवनात्) अतराणि (उत्कृष्टाणि) ।

यद्योऽपि विमि । चन्द्रशेखरगिरी यद्योऽपि विमि इति भाराह्वारोऽस्मन्नागा-
धीशफणावलीमणिरचां पूरे समुन्मीलति अतस्तो दिशो देवस्य तुषारकिरणोत्सस्य
तिस्रो दृशो दृशः तुल्यम् अकालवालतपनाताम्रा आसा इत्यन्वयः । चन्द्रशेखरगिरी
सिचपर्वते, कैलास इति भावः ।

यद्योऽपि विमि = यस्य (राकणस्य) कोभाविमि (कस्तूरकर्मणि) इति,
भाराह्वारोऽस्मन्नागाधीशफणावलीमणिरचां = भारस्य (कैलासपर्वतभरण्य)
अकालेन (अघसाहमेन) उत्तमन्ती (उत्तिष्ठन्ती) या नागाधीशस्य (सेवस्य,
भुजस्यकधारकस्येति शेषः) तनाऽऽवली (एकदपट्टिः) तस्यां ये मणयः (रत्नाणि)
तेषां दृशः (वाप्तीयान्), पूरे = समूहे, समुन्मीलति = धीभ्यमाने सति, 'यस्य च
भावेन भावकणम्' इति सहाधी । अतस्ते = यतुःसंख्या, दिसः = अत्रात्र, माभ्या-
दय इति भावः । देवस्य = द्योतनशीकस्य, तुषारकिरणोत्सस्य = तुषारकिरण-
(हिमाब्जः, चन्द्र इत्यर्थः) उत्सस्य (शिरोभूषणम्) यस्य, तस्य, शङ्करस्येत्यर्थः ।
तिस्रः = त्रिसंख्याका दृशः = त्रैकाणि, तुल्यं = समकालमेव, अकालवालतपनाता-
म्राः = अकाले (अकाले) ये वाकतपना (नदीवित्तृष्याः) त इव वा (सम-
भूतात्) तासाः (एकवर्गाः), जाताः = सम्पन्नाः । राकणेन कैलासपर्वते एते कैलास-
पर्वतभूभारराहित्येनोन्नतरीपकभाषदिधतमनिकाशी निलतायां विचचतुष्टयं कोपा-
कान्तरम् शङ्करस्य नेत्रत्रितयं च युगपदेव बाह्यार्धरक्तवर्णं संवातमिति भावः । अत्रा-
वतिक्थोकिरच्छाः । आर्धरक्तवर्णविलं इत्ययम् ॥ ७५ ॥

जिसके शीर्षमें विचपर्वत कैलासके रहने पर भार कतरनेसे कठने वाली देवनागकी
फणाओंकी पट्टिमें स्थित रत्नोंके कान्तिस्तुल्यके धीभमान होने पर चारों दिशाएँ भीर
मगमार चन्द्रशेखरके दोनों नेत्र भी लीकते तनानभावसे अतमपने धरित वाकतुर्धके
समान भाररक्त वर्ण हो गये ॥ ७५ ॥

कथमयः—आर्यः ।

यद्यपि मयसि मासतेऽधुना मूर्तिमानिव मनोरथो रथा ।
 नास्ति नो यद्यपिरोहणीकया दूरमागतवतामपि भयः ॥ ७७ ॥
 रामः—यवमेतत् । तथाहि—

उत्पन्नस्य नीरधिमतोत्पन्नस्य च दम्बकाणि
 नद्यो च मेकककस्मिन्दसुते म्यतीत्य ।
 माताः शिकण्डिघटकाण्डितशाक्तिकण्ड-
 मेते बर्ध शिकरिणं मनु शिककुटम् ॥ ७८ ॥

कथमनो विमानयोगं प्रतीयते—एव म इति । अतुना एव रथो मे मयसि मूर्ति-
 मान् मनोरथ इव मासते । यद्यपिरोहणीकया दूरम् आगतवतामपि वा असौ ना-
 स्तीत्यन्वयः ।

अधुना = समग्रति, एवा = अथ, इधः = एतन्मूल, वाचमित्यर्थः । पुनश्चाऽभिधानं
 विमानमिति यावा । मे = मम, मयसि = चित्ते, मूर्तिमान् = करीरमान्, मनोरथ
 इव = जमिनाय इव, मासते = प्रतिमाति । यद्यपिरोहणीकया = यद्यपिरोहणीक्या-
 शोक, दूरं = निम्नकुवप्रदेशम्, आगतवतामपि = आगतवतामपि, ता = आत्माके,
 भयः = परिभयः, नास्ति = न विद्यते । अत्रोत्प्रेकाऽकटारः । रथोक्ता धुनात् प्रक-
 रामो कथमनोक्तिः क्षमार्थवत् वक्तव्येति । मनु नीरधिन्य उरुहृत्तव दम्बकाणि च

कतीत्य मेकककस्मिन्दसुते मदी च म्यतीत्य एते बर्ध शिकण्डिततकण्डितशाक्तिकण्ड-
 निमकुटं शिकरिणं माता इत्यन्वयः ।

मनु = हे कथमन, नीरधि = समुद्राय, उरुहृत्तव = जतिष्ठम्, दम्बकाणि च =
 दम्बकाऽभिधानानि अत्रयाणि च, कतीत्य = जतिष्ठम् मेकककस्मिन्दसुते च =
 बर्धवाचमुने च, पैदा तु नर्मदा सोमोज्जवा मेकककण्डिका । इति 'कस्मिन्नी सूर्य-
 यन्तया यमुना जतनस्वसा ।' इति वाजस्य । म्यतीत्य = कतीर्ष, एते = इते, बर्ध =
 शमादयः, शिकण्डिततकण्डितशाक्तिकण्ड = शिकण्डिता (मयूराणां) कतीः
 (समुद्रैः) कण्डितः (दक्षितः) शाक्तिकण्डः (वृक्षसमूहः) यतिस्त, तामस, शिक-
 कुटं = शिककुटाक्षं, शिकरिणं = पक्षी, माताः = आवायः । पुनश्चाऽभिधानं विमान-

एव सम्यक् नर रथ (विमान) मेरे मनमे करीरपारो मनोरथके समानं मतीत्य ही
 रथा है । चित्त पर आरोहणके विकसते दूर जाने पर भी हमजोगोंकी परितम नहीं ही
 रहा है ॥ ७७ ॥

राम—यह ठीक है । मेरे कि—

हे कथमन ! समुद्र, दम्बकाण्ड, नर्मदा नीर वस्तुतकी मी मतिष्ठमन पर हमजोग
 सेजो मयूरीसे दक्षित जहाँसे कुछ चित्तसम्यक्वाये पास हो गये हैं ॥ ७८ ॥

सीता—(शिरम् शिरोरुच्य) अहं कश्चिन्मन्दिरिनि, सत्यप्रसादासि,
यत्पुनरपि निजकुटुम्बस्य दृक्दर्शनासि । (अहं कश्चिन्मन्दिरिनि ! सत्य-
प्रसासि नं पुनोपि निजकुटुम्बस्य दिग्दर्शनासि ।)

रामा—अवि ! तदिदं निर्मुक्तविरोधकपदं मग्नको भारद्वाजस्या-
ग्रमपहम् ।

कचमन्त्रः—पश्येदत् । अत्र हि—

न्याकुम्भमात्मवदनस्य हरेः करेण

कर्णमिह केसरस्रग्धाः कचमन्त्राः चिह्निते ।

अथैव केसरिकिञ्चोरकपीतमुक्तं

दुरधं मृगेन्द्रचमितास्तनत्रं पिबन्ति ॥ ७१ ॥

मातङ्ग वधं सङ्गृह्यतीत्यर्थं दम्भकात्मन्येकमिह कचमन्त्रिकम् कर्मावाप्तौ नोक्तव्यं
कचमेव चित्रकूटपर्वतं माता इति भावः । कचैको मातृ गुणः । मन्त्रातिशयकृतत्वं च
राम इति । निर्मुक्तविरोधकपदं = निर्मुक्त (परित्यक्त) विरोधः (विद्वेषः)
केसो, स्रग्धाः दशाङ्गुली (विजयमन्त्रः) वर्णितकृतम् । अहिंसाप्रतिज्ञायां कर्मवत्
परस्परविरोधमपि परित्यक्तमन्येकमर्थं अन्वयात् कचमन्त्रिकमित्यर्थं चित्रकूटम्—अहिंसा-
प्रतिज्ञायां कर्मवत्केसो केसरः च' इति ।

कचमन्त्रा दशाङ्गुली निर्मुक्तविरोधकं कर्णमिति—न्याकुम्भमावेति । न्याकुम्भ-
मात्मवदनस्य हरेः केसरस्रग्धाः कचे कचमन्त्राः कर्णमिह किल । अन्वये च । केसरिकिञ्चो-
रकपीतमुक्तं मृगेन्द्रचमितास्तनत्रं दुरधं पिबन्तीत्यन्वयः ।

न्याकुम्भमात्मवदनस्य = न्याकुम्भमात्मं निर्मुक्तं भवत् कचं (कचमन्त्रं) कचस्य सा,
सत्य । हरेः = सिद्धस्य, 'सिद्धोऽमुल्लेखः पञ्चास्यो हर्षश्च । केसरी इतिः ।' इत्यमरा ।
केसरस्रग्धाः = एकमङ्गुलीयः, कचे = केचिन्, कचमन्त्राः = करिषावकाः, करेणकुटुम्भा-
द्वयेन, कर्णमिह—कर्णमिह । तथाऽपि निर्मुक्तविरोधकमेव सिद्धा भङ्गव्याप्तीति भावः ।
मिलेति मिथ्ये । अन्वये च = कचरे च, कचमन्त्रा इति शेषः । केसरिकिञ्चोरकपीतमुक्तं =

सीता—(विरहो नमरो दैवदर) वरा ! काकिमि । तस्य अनुग्रहवाकी हो बी
कि मुमने किर बी मपने कुटुम्बको दर्शन दिया है ।

राम—सीते ! परस्परनं विरोधं क्षीयन्नेति विजयमन्त्रोऽसि शुचं वत् नर भारद्वाज
चमिका नामवत्त्वान् है ।

कचमन्त्र—वह जीव ॥ नहीं—

अनुग्रहं केचि वान्ति सिद्धो नमन्तोऽपि कुल कचमन्त्र वनये सुखी क्षीय रहे हैं । इहो
मन्त्रावत् सिद्धो वन्तेति सीतर बीते न्ने सिद्धो सत्यमन्त्र रूपो बी रहे हैं ॥ ७१ ॥

अपि च—

श्रीहस्ताभ्यामवकाक्षितस्तदनद्यौवज्जागरस्य सनं
 शार्ङ्गस्य नकाङ्कुरेण कुरुते कङ्कभिर्नोदं युगः ।
 चक्षुष्यग्रशिक्षाङ्गिदुग्धघटनाभिर्मोकभिर्मोक्षितः
 किं चाऽयं पिबति प्रसुप्तनकुलभ्यासादिति पञ्चाः ॥ ८० ॥

केसरिणी (सिंहानाम्) कियोरकैः (बाकैः) ग्राह्यं कीटम् (आश्वाहितम्) पञ्चाग्र
 कुलं (लक्षम्), सिंहाणादुपवीताभ्यतिष्ठमिति भावः । शूरोन्मदमितास्तनवे ॥
 शूरोन्मदमिता (सिंही) तस्याः स्तनवे (कुचवातम्), कुर्म्य ॥ पयः, पिबन्ति ॥
 चयन्ति । एतेन कपेर्दितामसिद्वया द्विकम्पन्यामपि सतिष्णुताविकायो शोत्यते ।
 वसन्तविककाधुतम् ॥ ८१ ॥

श्रीहस्ताभ्यामवकाक्षितः । युगः श्रीहस्ताभ्यामवकाक्षितस्तदनद्यौवज्जागरस्य शार्ङ्गस्य
 नकाङ्कुरेण कुरुते कङ्कभिर्नोदं युगः । किं च चक्षुष्यग्रशिक्षाङ्गिदुग्धघटनाभिर्मोक-
 भिर्मोक्षितः अयं पञ्चाः प्रसुप्तनकुलभ्यासादिति पिबतीत्यर्थः ।

युगः ॥ युगः । श्रीहस्ताभ्यामवकाक्षितस्तदनद्यौवज्जागरस्य शार्ङ्गस्य (केसरिणी) शार्ङ्ग-
 कानाम् (मुनिवाक्यानाम्) अङ्गिताननाती । (बहुविध रत्नप्रहारेः), उजागरस्य ॥
 उजागरा जागरा (जागरा) यस्य, तस्य, जागरितस्येत्यर्थः । 'जागरा जागरा युयोः'
 इत्यमरः । तादृशस्य शार्ङ्गस्य ॥ अत्राप्य, नकाङ्कुरेण ॥ नकारादप्रभागेण, कर्ण ॥
 कक्षितकर्ण, 'कक्षाऽप्यङ्कोरस्यन्तर्गते' इति द्वितीया । कङ्कभिर्नोदं ॥ कर्णविचारणं,
 कुलते ॥ विचरे । इतिनो मुनिवदुचरनप्रहारेणांगिरितस्य अत्राप्य नकाङ्कुरे संजात-
 कङ्कभिर्नोदं एकावाऽन्यथं निविध्य कङ्कनिधरणं विद्वधातीति भावः । किं च ॥ अपरं च,
 चक्षुष्यग्रशिक्षाङ्गिदुग्धघटनाभिर्मोकभिर्मोक्षितः ॥ चक्षुः (चक्षुः) चक्षुः । (चक्षुःकरी
 मेचका मेच, से, तादृका ये निधविद्वधः (मधूरा)) तेषां तुपवधनया (मुक्तसंयो-
 गमया, चक्षुसंयोगेनेति भावः) निर्मोकम् (कङ्कुरात्) निर्मोक्षितः (सुधचक्षुः),
 कवम् ॥ पयः, पञ्चा ॥ सर्पा, प्रसुप्तनकुलभ्यासादिति ॥ प्रसुप्तः (निद्राणः) यो
 नकुल (बाधुः), तस्य रवासादिति (निःश्वसवातम्), पिबति ॥ चयति । मधूर-
 चक्षुसंयोगात् कङ्कुराङ्गिर्भूतोऽयं सर्पे निद्राणस्य नकुलस्य निर्मोकमया निःश्वस-

श्रीर श्री—

श्रीर श्रीते इदं इति वाम्भौके चक्षुष्यग्रश्रीते जागरित अत्राप्य नकाङ्कुरेण कुरुते कङ्कभिर्नोदं युगः
 तद युगं गीत्यादि । इति प्रकार चक्षु मेचकाये मधूराये चक्षुसंयोगेनेति कङ्कुराये
 इत्यमरः यद् सर्वं सोप इव श्रीतेने रवासादुक्ता पान कर रवा है ॥ ८० ॥

रामः—अये ! कथमर्थं सम्प्राप्त एव चक्रवाकरमणीसंरम्भमयः प्रसात-
समयः । तयाहि—

एते केतकपूक्षिभूसरदयः शीतघुतेरङ्कयः

प्राताः संश्रति पश्चिमस्य जलवेस्तोरं अराजर्जराः ।

अप्येते विकसत्सरोकद्वयनोदन्पातसंभाषिताः

प्राचीरागमुदीरयन्ति तरवेस्ताकथ्यमाजः कथाः ॥ ८२ ॥

कालं विचरति, कथं प्रमादातिष्ठयेव हिंसाजन्यमात्रं वैलक्षण्यस्य सूचकमेतत्तयोक्त-
मिति भावः । तार्किकविधीष्टं वृत्तम् ॥ ८० ॥

राम इति । चक्रवाकरमणीसंरम्भमयः = चक्रवाकरमणीयां (कोकचपुलाय)
संरम्भमयः (कलाहपपुरः), चक्रवाकीयां प्रमातश्चाकल्प्य पतिसमागमाभ्यन्तरत्वा-
दिति भावः ।

एत इति । केतकपूक्षिभूसरदय एते शीतघुतेरङ्कयः सम्पति कथाचर्चराः (सन्तः)
पश्चिमस्य जलवेस्तोरं प्राताः । विकसत्सरोकद्वयनोदन्पातसंभाषिता एते ताकथ्यमाज-
कथनैः कथाः प्राचीरागमुदीरयन्तीत्यन्वयः ।

केतकपूक्षिभूसरदयः = केतकपूक्षिसिन्धु (केतकपुष्पजालं रूपं) भूरा (ईलक-
पत्रं) क् (कान्तिः) चेत्तां से । एते = इमे, शीतघुतेरङ्कयः = हिमालयोः, कदम्ब-
हृत्पत्राः । जलवेस्तोरं = किरणाः, सम्पति = अत्रुमा अराजर्जराः = वारुणाः (दार्ढ्यमेव
पश्चिमतसमवायतिपातेनेति भावः) कर्जराः (शीघ्राः) सन्तः, पश्चिमदिग्भवत्पदं,
जलवे = समुद्रस्य, तौरं = तटं, प्राताः = आकाशिकाः, कदम्बका अस्तात्रकोभ्रुका
इति भावः । विकसत्सरोकद्वयनोदन्पातसंभाषिताः = विकसन्ति (प्रफुल्लन्ति)
यानि सरोव्यानि (कमलाणि) तेषां वा वनी (संज्ञिताः) यस्या दन्पातेन (पक्षि-
ग्रहणेन, कदाचैनेति भावः) संभाषिताः (संभाषिताः), एते = इमे, ताकथ्यमाजः
मणीयाः, तरनैः = पूर्वस्य, कथाः = किरणाः, प्राचीरस्य = प्राच्याः (पूर्वदिक्) रतां
शीतिलम्, अत्रुमायं च) वदोत्पन्ति = वदुर्भवन्ति । अराजीर्जकवेराः कविजगती

राम—वर ! चक्रवाकीयोके कलाहपूर्वं वर प्रातः समक क्रिये प्रकार भा हो गया ।
येते कि—

केतकपुष्पके परागके समान भूतर कान्तिसे युक्त वे चन्द्रावले मयूक, इस समय
जरासे चर्च होकर पश्चिम समुद्रके तटकी प्रात हो पये हैं । प्रफुल्ल कमलिनीके पुष्पिपातसे
संभाषित मणीय वे सूर्यके मयूक, पूर्वदिक्के राव (जेहिले और अत्रुमाय) की प्रवर्धित
कर रहे हैं ॥ ८१ ॥

कथमपि—(सकोटिकम्)

सद्यः संघटमानकोकमिश्रमुज्ज्वलाजेन पीनस्तन-

द्वन्द्वप्यखितयौधनीज्ज्वलत्तयो निर्माय दिङ्मन्यकाः ।

दुर्वैवाकरमाक्षिकामिध भगित्याकृत्य भृङ्गावलीं

कक्षीमम्भुजिनीजनस्य तनुते देवसिन्धवामीभारः ॥ ८५ ॥

नका पक्षिणी स्थितिमासाद्यति तदीय तद्वन्माः कदाचचीकितः कोपि युवा यथा
तस्या भगुरासी कथये तादसो न्यवहारोऽन चन्द्रस्य प्रदीपीगमनेन सूर्यस्यापि प्राची-
मायनेन प्रदर्शयते । अत एवाऽन्य समासोक्तिरकटुताः । सार्धकविनीदितं वृत्तम् ॥ ८५ ॥

सद्य इति । देवः सिन्धुः ईश्वरः सद्यः संघटमानकोकमिश्रमुज्ज्वलाजेन पीनस्तन-
द्वन्द्वप्यखितयौधनीज्ज्वलत्तयो दिङ्मन्यका निर्माय दुर्वैवाकरमाक्षिकाम् इव भृङ्गा-
वलीं कथिति आकृत्य भगुजिनीजनस्य कक्षीं तनुते इत्यन्वयः ।

देवः = ज्योत्स्नहीनः सिन्धुः = कान्चीनाय , ईश्वरः = स्वामी, सूर्य इत्यर्थः ।
सद्यः = सपदि, संघटमानकोकमिश्रमुज्ज्वलाजेन = संघटमानं (संघुज्ज्वलम्) यत्
कोकमिश्रं (यज्ज्वाकटुम्, यज्ज्वाचीयज्ज्वाकटुगकित्यर्थः), तस्य व्याजेन
(कषेद) । पीनस्तनद्वन्द्वप्यखितयौधनीज्ज्वलत्तयो = पीनस्तनयोः (शृङ्गयोः-
वरयोः) द्वन्द्वेन (पुष्पेन) न्यखितं (प्रकाशितम्) यचीवनम् (ताकन्यम्)
तेनोत्पन्नं (विसर्ग) यत् (कान्तिः) वासाः, तास्ताकसीः । दिङ्मन्यकाः = दिवा
(जाहा) यत् कन्यकाः (कुमारीः), निर्माय = विधाय । दुर्वैवाकरमाक्षिकाम्
इव = दुर्वैवाय (दुर्भाग्यस्य) भकरमाक्षिकाम् इव (यज्ज्वाकटुम् इव), भृङ्गावलीं =
भ्रमरपक्षिः, कथिति = कथिति, आकृत्य = अपसार्य, भगुजिनीजनस्य = कमकिनी-
जनस्य, कक्षीं = कोमं, तनुते = विस्तारयति । सूर्यो रात्री विज्जमानं कोकमिश्रं
मिधः स्कोद्वेत संघोत्तम तद्व्याजेन पीनपयोधरयुता दिङ्कुमारीविंशाय इत्यन्वयः
मुदितकमलिनीमिटीनां सुभायसूचिकारधरमाकाभिध भ्रमरावलीमपसार्य विधास-
नेन कमकिनीसोभा विस्तारयतीति भावः । अत्र कैतवाऽप्युतेकमेवापि मिथोऽन-
येववा सिन्धोः संघटितः । सार्धकविनीदितं वृत्तम् ॥ ८५ ॥

कथमपि—(कुटुम्भकम्)

प्रकाशकीक सूर्यं तद्वन् ही विकमेताके यज्ज्वाकमिश्रमुके यज्ज्वाते स्तुक् पचीवरमुज्ज्वले
प्रकाशित ताकन्यसे यज्ज्वाक कान्तिसे सन्धव दिवाकप कुमारीका निर्माण कर दुर्भासको
कुलीनाके समाने भ्रमरपक्षिणी कटपट इधकर कमकिनीजनस्य कोमाका विस्तार कर
८६ ई-८ ८५ ॥

सुमीचः—विभीषण, परम मर्य ।

उन्मीकन्ति निघानिघानावरकभूमिर्वासनामान्निकाः

सायं साकसमुत्तपङ्कजवनमोहोभवैतादिकाः ।

कुलत्पङ्कजकोद्यमर्धकुलत्पङ्कजभूतभुजावहो-

साह्यारम्भयोपवेशमुरचस्तीमपुतेरैकवः ॥ ८३ ॥

विभीषणः—यवमेतत् । तथाहि—

उन्मीकन्तीति । निघानिघानावरकभूमिर्वासनामान्निकाः सायं साकसमुत्तपङ्कज-
वनमोहोभवैतादिकाः कुलत्पङ्कजकोद्यमर्धकुलत्पङ्कजभूतभुजावहो-
साह्यारम्भयोपवेशमुरचस्तीमपुतेरैकवः ।

निघानिघानावरकभूमिर्वासनामान्निकाः = निघा (रात्रि) एव वा निघावरकभू-
(रात्रि) तस्या निर्वसनावाय (अपसारणे) मान्निकाः (सन्नाशकोशकाः),
तीमपुतेरैकव इत्यत्र सन्नाशः । एवं कदाचि । सन्नाशकोशका इति यथा रात्रिर्वा-
सुतीकुर्वन्ति तथैव पूर्वकिरणा अपि रात्रिन्वसारवन्तीति भावः । सायं = सन्नाश-
समये । साकसमुत्तपङ्कजवनमोहोभवैतादिकाः = साकसम् (आकलनपूर्व) यथा
तथा सुतं (निद्रावन् , सुप्तिवन्तिति भावः) वत् पङ्कजवनं (कमलसमूहः) तस्य
मोहोभे (जागरणे, निवासन इति प्रकृते) वैतादिकाः (शोचकाः), यथा वैता-
दिकाः सुतं कवे प्रबोधयन्ति तथैव पूर्वकिरणा अपि निमीलितं कमलकुलं
विह्वलवन्तीति भावः । कुलत्पङ्कजकोद्येतादिः = कुलकन्ति (विकसन्ति) यानि
पङ्कजाणि (कमलाणि) तेषां कोद्यकथाः (अभ्यन्तरभवाः) एव कुलानि
(गङ्गाणि) तस्य मोदभूता (निर्गता) वा मृगतकरी (जमापट्टि) तस्या
साह्यारः (गुणितलम्बा) एव मनवः (मोहता) तस्योपवेशे (तिष्ठने) गुरवः
(शिथलाः) तादृकाः । तीमपुतेः = उन्मीकन्तो, पूर्वत्येवार्थः । अंशवः = किन्वा,
उन्मीकन्ति = प्रादुर्भवन्ति । राजन्तां निमीलितानि कमलाणि वहा विकसन्ति तदा
सम्पन्नतरभागाद्ये समरा गुणन्ति तदुपवेशतः पूर्वकिरणा इति भावः । वन कमल-
मङ्गलारः । सार्धकथितवितं वृत्तम् ॥ ८३ ॥

सुमीच—विभीषण । वैसी वैसी ।

रात्रिकुल रात्रिको अन्तराले रात्रिक, कालावधौ वाक्त्रय पूर्ण होकर तीस हूय
कमलवनकी कमलमे वैतादिक और विकसित होवे वने कमलके सम्पन्नतर
भागाद्ये निघने हुई अन्तरालके गुणित सम्पन्न मोहकारके उपवेशके गुण पूर्वपङ्क
मङ्गल ही रहे हैं ॥ ८३ ॥

विभीषण—यह हीच है । कैरे कि—

आयान्त्या विषसन्धियः पदतल्लस्यार्तांशुभावाद् इव व्योमा-
 श्लोकतरोः नवीनकल्किगुण्यः समुज्जृम्भते ।
 आतन्व्यनवतंसनिभममसाधाकुरङ्गीदृशा-
 सुन्मीलचरणप्रभाकरकरस्तोमः समुज्जासते ॥ ८४ ॥

रामः—प्रिये,

पतत्तर्क्य संकथाकसुहृदामाभ्यासनादधिनाः

प्रीतिव्याप्तपयोधिमप्रजगतीदृशाचक्षुम्योत्सवाः ।

आयान्त्या इति । आयान्त्या विषसन्धियः पदतल्लस्यार्तांशुभावाद् इव व्योमा-
 श्लोकतरोः नवीनकल्किगुण्यः समुज्जृम्भते । अर्था उन्मीलचरणप्रभाकरस्तोमः आका-
 शकुरङ्गीदृशाम् अक्षरसन्धिमम् आतन्वन् समुज्जासते इत्यन्वयः । आयास्या =
 आयाज्यन्त्याः, विषसन्धियाः = विषकल्पाः, पदतल्लस्यार्तांशुभावाद् इव = पदतलेन
 (चण्डलेन) स्पर्शः (आमर्शम्) तस्यांशुभावाद् (मनावात् इव),
 सुन्मीलीयावापसमसोऽहं किंसतीति किंसमयमसुखम्येवमुक्तिः । व्योमाऽश्लोकतरोः
 व्योम (आकाशम्) एव नवोक्तकः (नवोक्तवृत्ता) तस्य । नवीनकल्किगुण्यः =
 प्रत्यप्रमेरुकरकः, तस्यैव सूर्य इति भावः । समुज्जृम्भते = प्राबुर्भवति । वि-
 काकीकभावा नाविकायाः चण्डस्पर्शावाकासरूपस्याऽश्लोकवृत्तस्य भूतयकोरस्त-
 ककृपा सूर्यं आविर्भवतीति भावः । अर्था व्योमाऽश्लोकतरोर्नवीनकल्किगुण्यरूप-
 सूर्यकिरणम् । उन्मीलचरणप्रभाकरस्तोमः = उन्मीलम् (प्रकाशमानम्) तस्याः
 (नवीनः, नवोदित इति भावः), यः प्रभाकरः (सूर्यः) तस्य करस्तोमः (किरण-
 समूहः), आकाशकुरङ्गीदृशाम् = आकाशः (विश्वः) एव या कुरङ्गीदृशः (सुरभीयवा,
 मिश्रान्ता इत्यर्थः), तासाम् । अतंसनिभम् = वर्णभूषणविलासम्, आतन्वन् =
 अभ्यास्यन्, विगङ्गानां कर्णाकृष्टारूपं सन्निति भावः । समुज्जासते = प्रकाशते ।
 अश्लोकोवापकयोर्नियोजनपेक्षया स्थितेः संक्षेपः । तादृलविस्तीर्णितं वृत्तम् ॥ ८४ ॥
 पतत्तर्क्येति । चकवाकसुहृदाम् आयासनादधिनाः प्रीतिव्याप्तपयोधिममन्त्र-

नावेवासी विषकल्पोके नावी नरकस्पर्शके प्रभावसे आकाशकृपा नवोक्तवृत्तता नवीन
 कोरक गुण्य (सूर्य) प्राबुर्भूत ही रहा है । यह प्रकाशमान नवीन सूर्यच
 किरणसमूह,
 विश्वकम सुन्दरियोंके वर्णभूषणके विजासको सन्पादित करता हुआ उज्ज्वलित ही रहा है ॥
 रामः—प्रिये ।

पदवाकियोंको आयासना (विलासा) देने वाले, निविड नाभकारक समूहमें होने
 देने कीकरी अवलम्बकर वातर देनेवाले, विश्वरूप सुन्दरियोंके चरणोंमें मिलते मिलते

दीर्घाक्षोर्विकससि दिक्भुगदधा काश्मीरपद्मोदक-

व्यात्युत्थीयतुराः सरोवद्वयमभीकैलिकाराः कथं । ॥ ८५ ॥

(अथर्वार्थ) पश्य पश्य,

छिद्यिष्यति सरागो याचद्वर्को नक्षिभ्याः

कमलामुखनीचीप्रतिष्ठा करेण ।

सीवृषाऽवकम्भोत्सवाः दिक्पृगाद्यां कारमीरपद्मोवकम्भप्रतुलीचतुराः सरोवद्वय-
भीवेष्टिकराः वीणाऽम्भोः करा दिक्प्रति । पल्लवर्कमेत्यम्भवाः ।

चक्रवाकसुरक्षा = चक्रवाकानां (लोकाणां परिणामः) सुरक्षा (सुलोचनानां, राक्षसी प्रतिविरहितानां चक्रवाकीयानिर्णयः), आश्वत्थामाश्रितः = पशितसंयोगात्तः प्रशासकारिणः, प्रौढज्वातपयोभिन्नाप्रजातिविधाऽवच्छम्बोत्तथाः = प्रौढज्वातः (निम्बः, वायव्यकारः) एव पयोधिः (समुद्रः) तस्मिन्मग्नः (निमग्नः) या अगती (लोकाः) तस्यै वृत्तः (विक्षीर्णः) भवकर्मः (जालकः) एव उभयथा (वृत्तः) वैरते । विष्णुसुरक्षा = विष्णुः (जालः) एव सुरक्षा (हरिणाक्षः) दिगम्ब इति भावः । तांसां, कारभीरपक्षोदकम्प्यासुखीयतुराः = कारभीरं (कुक्कुभम्) तस्य पक्षोदकेन (पूर्णमिहितवकेन) व्यापुषी (जलम्बीरा), तस्यां चतुरा (प्रवीणाः) 'कारभीरं कुक्कुभेऽपि स्यादकुक्कुभकरमूलयोः ।' इति मेदिनी । सहोद्वयनभीकेन्द्रिकाराः = सहोद्वयनस्य (कमकवनस्य) या स्त्रीः (शोभा) तया केन्द्रि (स्त्रीकात्) कुर्वन्ति (विदधति) इति तादृशाः । दीक्षाऽक्षोः वृष्णाऽक्षोः, सूर्यस्वेत्यर्थः । कुरा=किरणा, विकसन्ति = प्रकाशन्ते पतत् = वृत्तं, तर्क्य = विचार्य । हे सोमे ! आभातिकाः सूर्यकिरणा राक्षसी प्रतिविमुक्तानां चक्रवाकवधूनामाख्यासमविधायकाः = लोकाऽव-कारविचारका सन्ति । रक्तवर्णैस्तैर्दिगम्बः कुक्कुभमिमग्रजेन स्त्रीयां कुर्वन्तीति प्रतीयते । एवं च ते कमकवनमिथा केन्द्रि कुर्वन्तीति साधः । अथ प्रतीयमानोलोका-कपकपोर्मियोऽन्येष्वपि स्थितेः संशयिः । आदौ लघिष्विनिर्दिष्टं कर्म ॥ ८५ ॥

सिचिकपसति । सरागः धर्को धाव् करेण नलिभ्याः कमकमुकुलीधीशमि-
म्रां किचिकपति (दाव्) मकस्यथा प्रचिकसदकिमत्ता गुलितैः कामिनी कामि-

बच्चों के अक्षरों में बहुत बोर कमखनभी कीमती साथ श्रद्धा करते वाले सुखे मनुष्य प्रकाशित हो रहे हैं। हम इस नरकका निपाट करो॥ ८५॥

(केवल सही सवालों के अंक दें) देखें, देखें ।

सक (अथवा कसुरक) सूर्य (अथवा कोई नामक) कय तय किरणत (अथवा हासले) कमलचिहनी (अथवा किसी नामिकाही) कमलकलकल दकमन्त्रिणी विधित कइत है

प्रविकसद्वलिमात्रा गुञ्जितैर्मन्त्रमुद्यान्वा

जनयति मुदमुच्येः कामिनां कामिनीष ॥ ८६ ॥

सीता—(विहस्य, विस्फेप्य च) कथमयमुन्मीलित एव । (एवं ह्यो
उन्मीलितं ज्ञेयम्)

पूर्वगिरिपद्मरागः प्रकटीकृतमयनशीतलस्यभाषः ।

नामिष उच्यैः सुखं जनयतीत्यन्वयः । सरागः रक्तवर्णः, पद्मान्तरे साऽनुरागाः, नर्कः
सूर्यः, कस्मिन्नायकः, पावत्, करेन=किरमेन, पद्मान्तरे हस्तेन, नकिन्त्या=कस्मलिभ्यां
कस्यापिआसिकायाः । कमलमुकुटनीवीप्रम्विमुद्रां = कमलमुकुटमेव (पद्मकुटमकम्
एव) नीवीप्रम्विः (स्त्रीकटीवस्त्रस्थः), स एव मुद्रा (स्वरूपम्), ताम् । सिधि-
कथसि=कथयति, विकासयति, पद्मान्तरे मोक्षयतीति भावः । तादृशेय मन्त्रमुद्यान्वा=
मनोहरम्विः, प्रविकसद्वलिमात्रा = प्रविकसन्तो विकासं भजन्ती वकिमात्रा
(भ्रमरपङ्क्तिः) यस्याः सा तादृशी, नलिनीति भावः । गुञ्जितैः = सङ्कटैः, कामिनी =
रमणी, कामिनामिव = कामुकानामिव उच्यैः = सातिशयः, मुदं = हर्षः, जनयति =
उत्पादयति । यथा साऽनुरागो नायके यदा करेण नापिकाया मलमग्रस्थि च मोक्ष-
यति तथा सा मधुराकायेन यथा तं कामन्दयति तथैव भूयोऽपि रक्तवर्णः सख स्वकि-
रमेव कस्मिन्नायकः कमलमुकुटकपनीवीप्रम्विमुद्रां विकासयति तथा सा भ्रमरमधुर-
सर्जैस्ते प्रमोदयतीति भावः । अशोपमाकपकसमाखोकीनामङ्गाङ्गिसावेन सङ्करः ।
माकिनी वृत्तम् ॥ ८६ ॥

पूर्वगिरिपद्मराग इति । पूर्वगिरिपद्मरागः प्रकटीकृतमयनशीतलस्यभाषः कुम्भ-
सङ्कटाङ्गुरागो पङ्क्तिनीजमवकलमो देवा (उन्मीलितः) इत्यन्वयः ।

पूर्वगिरिपद्मरागः = पूर्वगिरेः (उद्गमपर्वतस्य) पद्मरागः (भोजनरसम्), पद्म-
रागमणिमुद्रं इति भावः । 'भोजनरत्नं कोदितकः पद्मरागः' इत्यमरः । प्रकटीकृतमय-
नशीतलस्यभाषः = प्रकटीकृतः (प्रकाशितः) मयमयोः (नेत्रयोः) शीतकः (शीता)
स्यभाषः (सीतम्) येन सा । मयम्योदितसूर्यस्य दाहाज्वलकस्यादियमुक्तिः ।

एव एव सर्वोद्गमनिष्ठे सुख एव विस्तारको प्राप्त करमे कामी भ्रमरपङ्क्तिने सुख कस्मिनी
सङ्कटोते कामुच्छेकी कामिनीकी तरह अतिशय प्रसन्न करती है ॥ ८६ ॥

सीता—(हँसकर और देवकर) कैसे मैं कहित ही हो गये । ज्वलपर्वतके पद्मरागरस,
नेत्रोंके कोदक समान प्रकाश करदेवाके और केसरके आँगोंमें विस्फेप करदेवाके कस्मिनी

कुङ्कुमकृताञ्जराणो नलिनीजमच्छलमो देवः ॥ ८७ ॥

(पुष्पनिरिपम्भरायो पञ्चद्वीपिदण्डगणशीघ्रलसद्वाहो ।

कुङ्कुमकिम्भराणो नलिनीजमदङ्गाहो देवो ॥)

रामः—(अक्षराम्) अये जानकि ! पश्य ।

तरलतरतरङ्गमङ्गदेवहृदयहृदयविह्वलसविह्वलसहस्रमाला ।

अमरपुरतरङ्गिणीयमम्बा सुरनरमङ्गलकारिणी न दूरे ॥ ८८ ॥

(सत्पुं सतीता सदेव पठति संस्कृतं प्राकृतं च)

रामः—(सहर्षम्) कत्स लक्ष्मण ! इयमवूरे रघुकुलमङ्गलाङ्कुरमरोह-

कुङ्कुमकृताञ्जराणां = कुङ्कुमेन (कर्मबीरेण) कृताः (विहिताः) अञ्जराणाः (सरीर-
रक्षणम्) देवः सः प्रत्यप्रोक्षितसूर्यस्य रक्तवर्णत्वादेवेति । त्राहसो नलिनीजम-
बल्लभः = कमकिनीजममियः, देवः = खोतमसीलः, सूर्य इति भावः । अम्बीकितः =
जाविर्भूतः । आर्यां वृत्तम् ॥ ८७ ॥

श्रीरासो गङ्गाधुदिष्व कथयति = तरलतरेति । तरलतरतरङ्गमङ्गदेवहृदयहृदयविह्वल-
सविह्वलसहस्रमाला सुरनरमङ्गलकारिणी अम्बा ह्यस्य अमरपुरतरङ्गिणी दूरे नेत्यम्भवा ।

तरलतरेत्यादिः = तरलतराः (चञ्चलतराः) ये तरङ्गाः (जर्भदः) सेतं वा
अङ्गदेवा (चञ्चलकीका), तस्यां बहुलः (मधुरः) यो विह्वलः (विह्वलम्)
सस्मिन् विह्वला (अतिपायचञ्चला) हंससाका (चक्राङ्गपङ्क्तिः) यस्यां सा । पुनः
सुरनरमङ्गलकारिणी = देवतामवकल्याणविधायिनी, कृतं यच्च अम्बा = माता, मातेन
विलकारिणीति भावः । इयम् = यथा, अमरपुरतरङ्गिणी = देवमगरीमदी, गङ्गेति
भावः । दूरे = विप्रकृष्टदेशे, न = न वर्तते । तरलतरतरङ्गयती हंससाकिनीयं भगती-
रथी निकटं यच्च वदतीति भावः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ८८ ॥

राम इति । रघुकुलमङ्गलाङ्कुरमरोहकेदारधरणीतरङ्गिणी = रघुकुलमङ्गलम्भ
(रघुवंशकल्याणम्) योज्ज्वला (तवाविर्भावः) तस्य मरोहे (अरपत्तौ) वा

अन्तःसूर्यदेव (अरित हो हो गये) ॥ ८७ ॥

राम—(मुनाकर) मैविधि ! देखो ।

अतिथय चञ्चल टाङ्गोच्छी चञ्चलकीकामे प्रचुरविभासने रघुव ही चञ्चल इतोंकी
पङ्क्तिसे धुल देवता और मनुष्योंकी कल्याणविधायिनी माता ये देवमयी बच्चा दूर नहीं
(निकटमें ही है ।) ॥ ८८ ॥

(सीता रामकथित वसी यचको तथा लक्ष्मणित माकृतपञ्चकी यी सर्वपूर्वक प्यती है ।)

राम—(सर्वपूर्वक) वत्स कल्याण ! रघुवंशके कल्याणाङ्कुरकी कलपिने क्षेत्रभूमिती

केदारधरणीतरङ्गिणी सरयूः, एवं च सरयूतरङ्गशीकरशीतलीकृतपरिसरः ।
नगरीसीमन्तमणिरयोध्या ।

लक्ष्मणः—(सदर्भः) अयमसौ भरतानुयातस्त्वदभिवेककृतमतिर्भाग-
ममकन्यतीपतिः ।

द्वितीयकुलभाषिकस्य सकलाभाषिकासकम् ।

आविर्भवन्तं भास्वन्तं भवन्तं संमतीकृते ॥ ८६ ॥

केदारधरणी (चेन्नमिः), तस्मात्तरङ्गिणी (नदी, कक्षस्थेनोपयुज्यते भावः) ।
सरयूतरङ्गशीकरशीतलीकृतपरिसरः = सरयूः (सरयूतटः) तरङ्गशीकरः
(कम्पितकण्ठः) शीतलीकृतः (शीतलीकृतः) परिसरः (पर्यन्तः) यस्यां सा ।
नगरीसीमन्तमणिः = नगरीनदी (पुरीणम्) सीमन्ते (केषावेते) मणिः (रत्नम्),
सर्वनगरीमेवेति भावः ।

लक्ष्मण इति । भरतानुयाता = भरताऽनुयतः । भवन्तीति = वसतिः ।
द्वितीयकुलभाषिकमिति । द्वितीयकुलभाषिकस्य सकलाऽऽभाषिकासकम् आविर्-
भवन्तं भास्वन्तं भवन्तं संमतीकृत इत्यन्वयः ।

द्वितीयकुलभाषिकस्य = द्वितीयकुलस्थ (द्वितीयपुरुषस्य) भाषिकस्य (शोण-
रत्नम्), द्वितीयकुले सर्वमेवमिति भावः । सकलाऽऽभाषिकासकं = सकलानाम्
(सर्वासां) भाषायां (विद्यायां) विकासकं (प्रकाशकम्), रासपके यतसा,
सूर्यपके किरणैरिति भावः । यद्वा सकलानाम् (सर्वेषामभिव्याम्) भाषायां
(अभिव्यक्त्याम्) विकासकं (प्रकाशकम्), समस्तार्थिकामप्रकमिति भावः ।
आविर्भवन्तं = प्रादुर्भवन्तं, भास्वन्तं = प्रकाशमानं, रासपके, सूर्ये वेति पञ्चान्तरम् ।
भावः सन्त्यस्येति सास्वन्तम्, 'तद्वत्सास्वस्मिन्निति मनुष्य' इति मनुष्य 'उत्ती-
मन्तम्' इति भावप्रत्ययान्तः । सदर्भं भवन्तं = स्वर्गं, संमतीकृते = प्रतीकृतं करोति
समायमादर्शमिति शेषः । अत्र शब्दोऽच्छङ्कारः । अनुष्टुप्छन्दः ॥ ८६ ॥

नदी वह सरयू और सरयूके तरङ्गकण्ठोंसे शीतल पर्वत सुमिति कुल एवम् पुरियोंके
केन्द्रैश्वर्यमें मणिके समान वह नदीय्या भी दिव्य है ।

लक्ष्मण—(सर्वपूर्वक) सरयूके अनुपम और भावके रत्नोऽभिव्यक्त्यै सुखि रत्नैवाके
के समान् भवन्तीति वसिष्ठजी हैं । ये—

द्वितीयवंशके भाषिक, समस्त विद्याओंको प्रकाशित करेवाले, प्रादुर्भूत होनेवाले
सूर्यके समान भाषाकी प्रतीक कर रहे हैं ॥ ८६ ॥

तेन पुष्पकाक्षतरामः ।

रामः—वत्स ! प्रसीधस्वेहैव तावत्सुखमसफलमयदलालोकमासवह-
खाशामरुद्धं भगवन्तं चण्डसरीचिं नमस्यामः । (अञ्जलिं दद्यात्)

प्राचीकुङ्कुमसिलकं पूर्वाञ्चलशेखरैकमागिष्यम् ।

त्रिभुवनगृहेकदीपं चन्द्रे लोकैकलोचनं देयम् ॥ १० ॥

(नेपथ्ये)

अथ रामभद्र !

राम इति । सुखमसफलमयदलालोकं = सुखभा (सुमान्) सफलमयदलालोकं (संपूर्णदलालोकं) जालोकः (वरान्तरम्) वक्ष्य, तम् । लाक्ष्मणदलाऽऽज्ञामयदलम् = जालोकदलम् (इन्द्रदलम्) आज्ञायाः (विज्ञा, माय्या इत्यर्थः) मण्डनं (भूषणम्), पूर्वादिज्ञाया भूषणसदृशमिति भावः । चण्डसरीचिं = सूर्यम् । यय विमानत एव भगवन्तं भाष्यन्ते वेमस्यामाः, अतः सप्तमि कृतमवतारमेनेति भावः ।

रामः सूर्यमभिवाद्यते—प्राचीकुङ्कुमसिलकमिति । प्राचीकुङ्कुमसिलकं पूर्वाञ्चलशेखरैकमागिष्यं त्रिभुवनगृहेकदीपं लोकैकलोचनं देवं वक्ष्य इत्यन्वयः ।

प्राचीकुङ्कुमसिलकं = प्राच्याः (पूर्वादिज्ञः) कुङ्कुमसिलकं = कामसिलसिलकं, कामसिलसिलकसदृशमिति भावः । पूर्वाञ्चलशेखरैकमागिष्यं = पूर्वाञ्चलस्य (तद्व्य-
पर्वतस्य) शेखरस्य (शिरोभूषणस्य, शिरोभूषणस्याचीमस्य शिखरस्येति भावः)
एकं (प्रधानम्) मागिष्यम् (शोभनरत्नसदृशमिष्यार्थः) । त्रिभुवनगृहेकदीपं =
त्रिभुवनम् (लोकवर्षी, स्वर्गमन्वर्षाकास्मिन्नेति भावः) एव गृहं (मकम्) तस्य
एकम् (अनुपमम्) दीपं (मदीपम्), तद्वत् लोकैकलोचनं = लोकस्य (सुखस्य)
एकम् (अद्वितीयम्) लोचनं (नेत्रम्), सति सूर्ये एव लोचनस्य स्वर्गमन्दोम्यता,
अतो लोकस्यानुपमानं लोचनरूपमिति भावः । एतादृशं वेदेभ्यगवन्तं, सूर्यं, कन्देव
जनिवाद्ये । अथ रूपकमलङ्कारः । गीतिर्वृत्तम् ॥ १० ॥

इतः कारण इमकोण पुष्पकाविमानसे गहरें ।

राम—वत्स ! गहरो । यहाँ ही संपूर्णमण्डलका सुखम दलैववाले, इन्द्रदिशा (प्राची)
के भूषण भगवान् सूर्यको इमकोण प्रणाम करते हैं । (अञ्जलिं दायकर)

पूर्वादिज्ञाके शेखरके सिलक, लक्ष्मणदलके शिखरके अद्वितीय मागिष्य, त्रिभुवनक-
गृहेके अनुपमान प्रदीप और लोकैके असाधारण नेत्र भगवान् सूर्यको जनिवाद्यक
करता हैं ॥ १० ॥

(नेपथ्ये)

रामभद्र ।

रामः—अहो अद्भुतम् !

विकासयन्ती नितरां पद्याभीष्ट मनांसि नः ।

प्रमेय मारतो कापि भानुविम्बद्विभ्रमसे ॥ ६१ ॥

(नेपथ्ये)

यथाः पूर्वं दूरं तनु सुतनुनेत्रोत्पलवनी-

तमस्तन्द्रा-चण्डालप । तप । सहस्राणि शरवाम् ।

विकासयन्तीति । पद्याभीष्ट नो मनांसि नितरां विकासयन्ती कापि भारती
प्रमा इव भानुविम्बात् विकृम्भत इत्यन्वयः ।

पद्याभीष्ट = कम्पलाभीष्ट, नः = वस्माकं, मनांसि = चिन्तारि, नितरां = सुतरां,
विकासयन्ती = आह्लादयन्ती, कापि = अनिर्वचनीया, भारती = वाणी, प्रमा =
सूर्यप्रतिरिक्ता, भानुविम्बात् = सूर्यमण्डलात्, विकृम्भते = प्रादुर्भवति । सूर्यमण्ड-
लप्रतिरिक्ता कीर्तिर्वया कम्पयति विकासयति संप्रति प्रमेयेवं धाव्यमि को मनांसि
विकासयन्तीति भावः । तपमाञ्जहारः । अद्भुतम् ॥ ९१ ॥

यथाः एवमिति । हे सुतनुनेत्रोत्पलवनीतमस्तन्द्राचण्डालप । यथाः पूर्वं दूरं तनु,
शरवो सहस्राणि तप । इत्थं त्रिभगती च सुषमदृगुणकथनपीयूषपदलभितोत्सङ्गाः
बन्धसुरनरमुज्ज्वल भावतामित्यन्वयः । रकोकोऽर्थं यत्पूर्वाञ्जहारस्येव ध्याक्यात्-
पूर्वोऽपि भगवाचपाठभेदस्य ध्याक्यात् इत्यवसे ।

हे सुतनुनेत्रोत्पलवनीतमस्तन्द्राचण्डालप = सुतनुना (सुन्दरीनाम्) नेत्राणि
(वपनाणि) एव उत्पलानि (नीलकमलानि) तेषां वनी (संहतिः) तस्याः
तमस्तन्द्रा (निमीलितवपम्) यत्र हे चण्डालप (हे सूर्य !), मयापनोदयेन
सुन्दरीनपनविकासहेतोः सूर्यसमप्रभ हे रामममेति भावः । यथाः पूर्वं = कीर्तिसमूर्तं,
दूरं = विमङ्गलदेसपर्यन्तं, तनु = विस्तारय । एवं च शरवो = वर्षाणां, 'हावमोऽप्ये
मस्तन्द्राः' इत्यमरः । सहस्राणि = दश लक्षानि, अपरिमितकालपर्यन्तमिति भावः ।

राम—अहो ! आश्चर्यं हे ।

रामको समस्त रामो यन्को अतिशय विकासित करनेवाली अनिर्वचनीय वाणी
प्रमासी तरह सूर्यमण्डलसे प्रादुर्भूत हो रही है ॥ ९१ ॥

(नेपथ्ये)

सुन्दरियोंके नेत्रकमलोंके विकाससे हे सूर्यरूप राममह ! कीर्तिसमूर्तसे दूर तक
पीछापीछा होर हमारे पदों तक कम्पकल्पवाले वनी । यह कीर्तनकी सुन्दरी सुन

इयं खास्तां सुष्मद्वगुणकथनपीयूषपटल—

त्रितोस्तज्ज्ञा मन्दसुसुरगरभुजङ्गा त्रिजगती ॥ ६२ ॥

रामः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

(कुनैपथ्ये)

अन्यथा ते किमारात्महे ।

सुग्रीवः—कये सात दिनकर ! परिपूर्णमनोरथ एव रामचन्द्रः ।

अनेन हि—

प्राप्ता निर्भरमुन्नतिर्निजगुहैराका पिशुः पाक्षिताः

सुग्रीवश्च विभीषणश्च परमां राज्यधियं प्रापितौ ।

तप = कल्पककपो मय । इयम् = युवा, त्रिजगती च = लोकप्रसी च, स्वर्गमर्त्यपाता-
कास्तिका शैत्यार्थः । सुष्मद्वगुणकथनपीयूषपटलमितोस्तज्ज्ञा चतुर्षोऽङ्ग पतस्त्वस्थाने
'सुष्मद्वरधमितलङ्घेभरविदःमितोस्तज्ज्ञे'ति पदाम्तरम् । सुष्माङ्ग (भवताम्) ये
गुणाः (लोकोत्तरसीर्षया विज्यलोकानुरागमन्तयः) तेषां कथनानि (प्रतिपाद-
नानि) ज्ञान पीयूषानि (अमृतानि, अमृतोपमानानि भावः) तेषां पटल (समूहः)
सेव आश्रितः (संश्रितः) उत्तमः (मध्यभागाः) यस्याः सा तादृसी जल दृक्
मन्दसुसुरगरभुजङ्गा = मन्दस्तः (मध्यस्तः) सुरगरभुजङ्गाः (वेपमनुष्यसर्पः स्वर्ग-
मर्त्यपाताललोकवासिन इति भावः) यस्यां सा, तादृसी जालताम् = तिष्ठतु । अत्र-
कपकमलद्वारा । इयमुमासथ । निजगिणी वृत्तम् ॥ ५२ ॥

अन्यथैति । खास्तासे = इच्छामाः । 'आकाः साधु इच्छाधाम' इति वाचोर्लट् ।

सुग्रीवो रामचन्द्रस्य परिपूर्णमनोरथतां ज्ञापयति—माहेति : (अथैन) पिशुः
बाह्या पाक्षिता, त्रिजगतीः निर्भरम् उन्नतिः प्राप्ता, सुग्रीवो विभीषणश्च परमां राज्य-
धियं प्रापितौ । सुरपिशुः वसकम्भरः संग्रामे वसन्त्येषतां नीतः । इयंविगच्छाभ्यो-
क्तसङ्कोचनो वन्द्युगजश्च दृष्ट इत्यन्वयः ।

कनकवच वन्द्युगजसे पुत्र और सचुकिता अशुभन करनेवाले देवी, मनुष्यों और सपोंसे
सम्बन्ध हो ॥ ५२ ॥

राम—मैं अनुगृहीत हूँ ।

(फिर नेपथ्यमें)

आपके लिए और क्या इच्छा करें ?

सुग्रीव—विजयी । दिनकर ! रामचन्द्रजी पूर्णोन्नतिप्राप्त हो हैं । सबोंने विजयी
बाह्यश्च पावन किया, अपने अंगोंसे वसिष्ठव सम्भूतव दावा, सुग्रीव और विभीषणजी

सकृन्मते वद्यकम्पराः सुररिपुर्नीतो भद्राशेषतां

इहो बन्धुगणस्य हर्षविगतदुःखाभ्योदयस्तत्कोधनः ॥ ६३ ॥

तवाऽपीदमस्तु ।

आवासाद् बध्नाम्बुजे तनुभृतां सारस्वतं जृम्भतां

देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटेऽज्ञेता मतिः कोकटुः ।

(अनेव = रामचन्द्रेण), पितुः = जयकस्य, दशरथस्येत्यर्थः, जाह्नवः = भागीरथः, सकिता = प्रतिता, निभगुणे = कोकोत्तरसीमां हिमकोबगुणे, विभर्त = साऽधिकार्यं यथा तया, उकतिः = जम्बुद्वीपः, माता = आसाविता । सुपीका = आत्मसत्ता कपीदराः, विभीषणः = भरतासीं राक्षसेरवराज, परमाद् = प्रकृता, रात्रिभित्ति = रात्रिकर्मा, प्रापितो = गमितो । सुररिपुः = दैत्यराजः, दशकम्पराः = रावणः, संशमे = पुत्रे, यसाशेषता = कीर्तिमात्राऽवशिष्टता, मोतः = याविता, यथायाविता इति भावः । एवमेव हर्षविगताभ्योदयस्तत्कोधनः = हर्षेण (आनन्देन) विगता (प्रसन्नता) पद्मपद्म (अम्बु), तेन उकसती (दीप्तमाने) लोचने (नेत्रे) परम सः, तादृको बन्धुगणस्य = कुटुम्बसमूहस्य, भरतादिरिति भावः । इहो = जयकोकितः । पूर्णकवेन कृताऽर्थावाप्तमवाप्त्यपत्तिमासारथं, न किमपि माया । अत्र 'यसाशेषतां नीत' इत्यत्र पर्यायपरिवर्तनेन पादभ्याऽभावात्सीकुमार्यं भावः पुनः, सोदाहरणं तद्वचनं यथा चन्द्राकोके—'सीकुमार्यमवाप्त्ये पर्यायपरिवर्तनात् । स कम्पाशेषतां पातः समाहितव्य मयसकम्प ३' इति । मार्कण्डेयिकीकृतं वृत्तम् ॥ १३ ॥

आवासादिति । आ वासात् तनुभृतां बध्नाम्बुजे सारस्वतं जृम्भताम् । देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटे च अज्ञेता मतिः कोकटुः । दार्येणा सह मुकवैससरता । लक्ष्मी रोषर फलाऽहोरे देवीव सतां सपसु सततं दीप्तादित्यन्वयः ।

आवासाद् = तिपोऽशस्व, सिद्धपर्यन्तं वा, यद्वा आ वासादित्यत्र भावयथानो-
निर्देशः । सत्प्रायस्याव कारयेति भावः । तनुभृतां = शरीरिणां, मनुष्याणामि-
त्यर्थः । बध्नाम्बुजे = मुञ्जकमले, सारस्वतं = साङ्गं, सरस्वत्या इवमिति 'तस्येदम्'
इत्यत्र । जृम्भतां = वर्धताम् । देवे = द्योतनसीके, कौस्तुभधाम्नि = कौस्तुभधाम-
निधारे, विष्णुविमर्शः । चन्द्रमुकुटे च = चन्द्रकोकरे च, कन्दरे चेति भावः ।

महाराज नमो, देवभक्तु रावणकी पुत्रमै काठिण्यं यत्ता वाका नीर इवाऽक्षुण्णं नेचोते
मुक सरत मादि बन्धुमोता साधारकाद भी कर विना ॥ १३ ॥

हे मां पद हो—

राक्षसे केकर तब कोशेके मुककमले पाकका संवर्धन हो । भगवान् विष्णु नीर
कन्दरे अनेकदि कोना करती रहे । सरस्वतीके तब सीके का बरित्याग कर लक्ष्मी

वाग्देव्या सह मुक्तवैशखरसा देवीय वीर्याविच

येवस्येव फणाश्लेषु सततं खद्यमी सतां सद्यः ॥ ६४ ॥

रामः—सवागच्छत, पुष्पकादवतीर्य गुहं बन्धुजनं पीरान्मानन्दयामः ।

(इति सर्वे पुष्पकादवतरन्ति)

जायन्तामभिरामरामचरितक्रीडाभिरामाः सतां—

मुष्मीकनयनमल्लिकाभिरचितकम्भामरण्या गिरः ।

अहीता = हृतेरहितः, भेदवजिता, एकानिमित्तेति भावः । मतिः = बुद्धिः, वैकुण्ठ = मीढतु । हरिहरपक्षपा मतिर्द्वयपक्षे विकसन्निति भावः । वाग्देव्या = सरस्वत्या, फण्ड = समं, मुक्तवैशखरसा = मुक्ता (शङ्खः) देवसे (दोहे, कण्ठवैशोऽदी) रसा (नशुरासः) यमा सा । तादृशी सती, द्वयम् = एव, मुक्षिरया, कचमी = कमला, लेशस्य = अमन्यस्य वागशाब्जस्य, फणाश्लेषु = रत्नमाम्बुषु, विषमामेति शेषः । ऐषी ॥ = चोत्तपशीका दृष्टिषी ह्य, सतां = सज्जनानां, सद्यः = अद्यमेव, सततं = मित्यं, दोषान् = होममाना भूषान् । साक्षादीनां सर्वेषामपि कानां साक्षाद्व्यमले भवतु ॥ वीर्यायाः वीर्याव हरिहरयोर्भेदभावना परितोषोपासनादरादपणा भवन्तु । कचमीय मरस्वत्या समं विद्वेषे कर्जयिता सेवफणाश्लेषु भ्रष्टणीय सज्जनमभवन्तु मित्यं भासमाना भूषादिति मरतवाच्यत्वेनैका द्युभाषणा अमोदजाऽङ्कुराः । सार्धैकविंशतिं वृत्तम् ॥ १४ ॥

जायन्तामिति । मुष्मीकनयनमल्लिकाभिरचितकम्भामरण्याः सतां गिरः अभिरामरामचरितक्रीडाभिरामा जायन्ताम् । पैतलविषो वा कण्डे विषैरघाति रोमाक्षकीकाञ्चिताः (सज्जः) काञ्चिताभ्युक्ताविकासमहिमारकेषां पुनं मन्वत इत्यन्वयः ।

मुष्मीकनयनमल्लिकाभिरचितकम्भामरण्याः = मुष्मीकनयनः (विष्कम्भः) वा नयनमल्लिकाः (सज्जः, नक्षत्रादिकाभ्युष्पाणि, हिन्वीभाषामां मेवादीतिभाषा विष्पातावि) तामिर्विरचितानि (निर्मितानि) यानि कम्भामानि (पुष्पमाका) तावीच रम्या (मनोहरा) । सतां = सज्जनानां, गिरः = वायव्यः, अभिरामरामचरितक्रीडाभिरामा = अभिरामा (अरुणमरुतिता, अमन्येति भावः) रामचरिते (रामचन्द्रचरिते) वा लीका (विलासा), तया अभिरामाः (मनोरमा), वाच-

सज्जनानां मयनानां, यंसे दृष्टिषा सेवनाम्बु फणाश्लेषु रहती ॥ वती सरह गिरन्दर शोभित वीकर एते ॥ १४ ॥

राम—एव आभी, पुष्पकसे जगरकर, एतवी, रन्धुवन और नागदेवीकी मानसिक करें ।

(एवं पुष्पकसे उतरते हैं)

निर्गमित नयनकिङ्का कुशोसे एविड मात्रा पीन्डे सम्राव सज्जनोच्छे दृष्टिषा रामचरितदे

याः कण्ठेऽपि निवेश्य पेशकविद्यो रोमाञ्चलीलाञ्चिताः

कान्ताबाहुल्यताविद्यासमहिमाश्लेषास्तुणं मन्वते ॥ ३३ ॥

(इति निष्पन्नता सर्वे)

इति श्रीपीयूषधर्माऽपरनामक-श्रीजयदेवकविविरचिते प्रसन्न-
राधवे नाम नाट्यरत्ने सप्तमोऽङ्कः ।

—॥०००॥

मन्ता = भवन्तु । पेशकविद्या = पट्टबुद्धयो ज्ञाना, 'पेशी इवे च पेशक' इत्यमरः ।
याः = सतां विरा, कण्ठे = गले, निवेश्याऽपि = निधायाऽपि, अर्थमनुसन्ध्यायाऽपि,
निमेषाऽमात्रेणाऽपीति भावः । रोमाञ्चलीलाञ्चिताः = हर्षपुलकिताः सन्तः इति
मात्र, कान्ताबाहुल्यताविद्यासमहिमाश्लेषाम् = कान्तायाः (प्रियायाः) यो बाहु-
ल्यताविद्याः (अञ्जवल्लीविरलस्यम्) तस्य वे महिसारलेषा (राकाकिङ्कमाणि),
ताम् । तुणं = एकस्मात्तुपेक्षणीयानिति भावः । मन्वते = विचारयन्ति । सज्जन
अतिरसजीवाः स्वगितो रामकथाकर्णन उपबुञ्जन्तु । निगुणबुद्धयो ज्ञाना यथानुस-
न्ध्यावमन्तरेणाऽपि रामकथाप्रतिपादनात्मिका गितोऽभ्यस्य हर्षमकर्णेन पुलकिताः
सन्तः प्रियतममावालिङ्गमसपि न बहु मन्वत इति भावः । इतीदं भरतवाक्यत्वे-
नोपन्यस्तं द्वितीयं पद्यम् ।

नचोपमाञ्जहारः । कण्ठे निवेश्यापीत्यत्र किमुताऽर्थास्तुल्यत्वात्तेनेति नैस्तुल्य-
त्वाद्येवाऽर्थात्पञ्चकारश्चेति द्वयोरञ्जहारयोर्मिथोऽपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । चादौ-
कविजीविनं वृत्तम् ॥ २५ ॥

सम्प्रसन्नमनिसम्प्रसन्नं कुतः काकमत्त मम दूषणं भवेत् ।

तद्विहाय गुणभाक्दत्तकां मर्षयन्तु विबुधा वृषालयाः ॥ १ ॥

इति श्रीलेखतयसर्मप्रणीतायां चन्द्रकन्दमनिक्यायां प्रसन्नराधव-
मन्वत्यायां सप्तमोऽङ्कः ।

रामोदराऽहिम्सरसीरुसक्तिमार्जं दाराणसीपुररतिं पद्मपाशसुखम् ।

लेखसावितपदं द्विचरत्नबाळं गङ्गाधरं गुरुवरं च तमामि नित्यम् ॥

—॥०००॥

अथान्य विद्यासि मनोरम हो । निगुण बुद्धिसे सुम्पन्न मम मित्त वाग्विबोद्धे कण्ठमे रञ्जित
भी इक्षी रोमाञ्चल्य होसे दुःख निवासे राव काकिङ्गनीको नी कम्पूराय विचार करये हैं ॥
(सप्त वाते हैं ।)
इति सप्तम अङ्कः ।

—॥०००॥

टिप्पणी (नोट्स)

प्रथम पाद

पृ. १—मल्लभराधकम् = मल्लभो रामभो वर्त्मनस्तत् प्रसन्नराधकं नाम वाक्यम् । सनुद्भनपूर्वक स्वीकारादिते प्रसन्न होनेवाले रामचन्द्रजीका चरित्र मिले वाक्यमें वर्णित है उसका नाम 'मल्लभराधक वाक्य' है ।

पृ. २—आत्मभक्तितानि—'आत्मभक्तम्' इत्यादि तीन श्लोक मङ्गलान्तर्गतके छिपे श्रुत नाम्नीके रूपमें किये गये हैं । हममें देवता, माइय और राजा आदिकी स्तुति की गई है । इनमें बारह या आठ पद हैं । चढ़ापर पढ़े श्लोकवाच्य वा विमलवन्द्य पदका ग्रहण किया जाता है । प्रस्तुत ग्रन्थमें तीन श्लोकोंमें बारह पाद होनेसे यह ह्रासकापदा नाम्नी हुई है ।

पृ. २१—मल्लभम् । इस श्लोकमें किये अपनी निष्कामपटुतापर प्रवर्धक किया है । इसमें वाच्यकारको लेकर कः कः कर्त्तव्यको छोड़कर सत्तम सत्तम भक्तका संस्कृत करते आनेपर 'मल्लभराधक' नाम प्रकाशित होता है ।

पृ. २२-२४—दो श्लोकोंके द्वारा कविका गोचरैश्वर्य, उनके पिताका नाम महादेव और माताका नाम सुमित्रा या इस वाक्यका पता चलता है । भक्तएव चन्द्रशेखरकार रीयूचर्य अपदेव और मल्लभराधककार एक ही व्यक्ति हैं ऐसा प्रतीत होता है । गीतगोविन्दकार कवदेवकी माताका नाम रामा या राजादेवी और पिताका नाम मोहदेव या और वे उक्त मङ्गल थे । वे मङ्गलेशास्त्रीपर छपागलेनके समासद् थे । उनका समय विष्णुका ह्रासक सतक यावा गया है । मल्लभराधककार विष्णुकी तेरहवीं सताब्दीके अन्त में और चौदहवीं सताब्दीके आरम्भमें हुए हैं ऐसा प्रतीत होता है ।

मल्लभराधककार और तत्त्वचिन्तामणिके मङ्गलेशास्त्रीका नाम एक ही कवदेव हैं यह मत प्रमत्त है । आत्मभक्तकार 'पञ्चपर' चरित्रवाले कवदेव विष्णुकी सोलहवीं सताब्दीमें थे । विशेष बाल संस्कृतके 'उदाहार' में देखिए ।

मल्लभराधककार कवदेव जैविक विद्वानोंके मतसे मलिक थे । कोई कवदेव हैं वे निदर्भके तुम्हिलपुरमें रहनेवाले वाकिनाथ ब्राह्मण थे ।

पृ. २१—कलाभोरमितुरनिधः यह श्लोक संस्कृत साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध है । इसमें महाकविने कवित्वमें कविजीका आरोप कर चूकनेके तीरपर चूकते २६ प्र० रा०

मधीन कविवीर्य ठहरे किंवा है। 'चैत' कहनेसे 'चैतयज्ञासिका' और 'विष्णुमाङ्ग-
करित' के कर्ता विष्णु कविक। बोध होता है। ये विष्णुकरि बारहवीं शताब्दीमें
कादमीर देशमें उत्पन्न हुए थे। 'मधुर' कहनेसे सूर्यशतककर्ता मधुर कविक। बोध
होता है। ये बाणभट्टके साथे (जिसी के मतमें समुद्र) थे। ये विष्णुकरि आठवीं
शताब्दीमें विद्यमान थे।

'भक्त' कवि स्वप्रवासकव्य आदि १३ नाटकोंके कर्ता थे इनका समय विष्णुसूर्य
पञ्चमस्तव्य माना जाता है।

'कविदास' 'ममिहानमाराकुलक, मेमवृत्त और रघुवंस' आदि नाटक और
काव्यादि ग्रन्थोंके कर्ता, संस्कृतभाषाके सर्वश्रेष्ठ कवि थे। ये सकारासि भूपाल-
नृवामणि विष्णुमहिल्यके नवरत्नोंमें अन्यतम उल्लेख्य एक थे, अतः इनका ही इनकार
साजसे पूर्ण ही स्थितिकाम भाषा जा सकता है।

'रत्न' पहले वैकथीमकरित महाकाव्यके कर्ता भीरुर्षका बोध होता है। ये
विष्णुकरि तेरहवीं शताब्दीमें हुए थे।

'बाण' पहले 'हर्षकरित' और 'साहजरी' के रचयिता महाकवि बाणभट्टका
निर्देश होता है। ये मधुर कविके समसामयिक थे।

८. ११—दासभाषना = दशभस्व घोडाऽपत्य पुमाश् दासभ्यः । दशभस्वपिके
गोधाभस्व अर्थात् 'गोदाभिन्पो बन्' इस सूत्रसे बन् अन्त्य होनेसे 'दासभ्य' पद्
कमता है। गमांवि गणमें दशम कम्पका पाठ है। 'दशभस्व पुमाऽपत्य पुमाश्' ऐसा
विश्व क्व दासभ्यसे पुमाऽपत्य अर्थात् 'ममिहोम' इस सूत्रसे पद् अन्त्य होकर
'दासभाषना' पद सिद्ध होता है। अन्तः 'जीवति तु वरत्ने पुवा' इस सूत्रसे अशुसार
दशभस्वपिकी जीवितभाषनामें उनके पीछेके अन्त्य 'दासभाषना' कहे जाते हैं।
ये दासभाषना कविके ज्ञान थे।

८. १२—महाविद्यापान्मन्महाप्रतिपादिका विद्या महाविद्या' इस विग्रहसे मन्मन्-
पदकोपी समास होनेपर 'महाविद्या' पदकी सिद्धि होती है, अर्थात् शुद्ध चैतन्यरूप
महाका प्रतिपादन करनेवाली विद्या 'महाविद्या' कही जाती है। इसे नेदान्त
भी कहते हैं।

८. १३—पुनारुन्वापः ॥ 'पुन' (पुन) नामका एक कवि होता है। यह
काहने करता है। संयोगवा उस काव्यमें नचरवा आकार देखा जाता है। संयोगवा
सिद्धि कार्यके होनेपर उसमें इस न्याय (कहावत) का प्रयोग किया जाता है।

८. १४—'जनेऽल्लोवा' यद्यपि 'जने' से केवाविस्तरोकरालोकनेन अल्लो'
इस प्रकार अन्वय करनेपर 'जने' केतोसे गिरे हुए जिनोशुच्यकी देखनेसे दुष्टदारा
साध्यःसिद्धि बढ़ी होवा है और 'जने' कहनेसे विस्तरोकरालोकनेन से सम्यो

वाति' इस प्रकार पदच्छेदपूर्वक अन्वय करने पर 'जरे कट्हापते ! गिरे हुए तिमो-
भूषणको देखतेसे तुम्हारा समय जा रहा है' इस प्रकार अर्थ निकलता है। इसी
वर्धकी संभावना कर अपने पदछाने जानेकी संभावनासे पदको शवण सिद्धिदा
जाता है। यहाँपर कविने चमत्कार दिखाया है।

२. ७५—तारतम्यम् । दोनोंके बीचमें एकका उत्कर्ष विलक्षणके लिए 'द्विचयत-
विरम्योपपदे तरवीमस्तुमौ' इस वाग्विनिर्मुक्तसे तरप् और ईयस्तुम् प्रत्यय होता है,
और बहुतांके बीचमें एकका उत्कर्ष विलक्षणके लिए 'जतिशायने तमविचली' इस
श्रुतिसे तमप् और इत्त् प्रत्यय होता है; तो यहाँपर 'तरम तमम् तरतमौ,
तवीर्भावा तारतम्यम्' अर्थात् तर और तमका इन्हें समास करके भाव अर्थमें
'शुण्ढवत्तमाद्यणविभ्यः कर्त्ताणि च' इस श्रुतिसे न्यञ् प्रत्यय करनेपर 'तारतम्य'
पर बनता है। इसका अर्थ हुआ न्यूनाधिक भाव।

३. ७५—जमकराशय निवेदयाम् । निवेद्युन क्रियाके योगमें जमकराश जम्हको
सम्यग्दान संज्ञा होकर बहुधाकी प्राप्ति थी, पर 'कर्त्ताहीनामपि सम्पन्नकसाजनिवृत्तायां
पश्येव' इस नियमसे यही हो गई।

द्वितीय अङ्क

४. ८८—कौटिलः = 'कुलिकस्व गोत्राऽपत्यं पुमान्' इस विग्रहसे 'काव्यरन्ध्र-
कुलिकुलम्भम्' इस श्रुतिसे जन् प्रत्यय होकर 'कौटिल' पद बना है। कुलिक
शब्दमें उत्पन्न होनेके कारण विधत्तिज श्रुतिको 'कौटिल' कहते हैं।

५. ९५—विधायिनः = 'विधत्स्य मिभश्' ऐसा विग्रह कर यही तत्पुरुष समास
करनेपर 'मिमे चर्षी' इस श्रुतिसे चर्षी होकर श्रुतिके अर्थमें विधायिन पद निम्नज
हुआ है। श्रुति निक अर्थमें विधायिन होता है।

६. ९७—वाङ्मयवत्पश्यन् = 'वाङ्मयवत्पश्य गोत्राऽपत्यं पुमान्' ऐसा विग्रह कर वाङ्मय-
शब्द से 'गर्गादिभ्यो वञ्' इस श्रुतिसे वञ् प्रत्यय होकर वाङ्मयवत् पद बनता है।
वाङ्मयवत् श्रुतिके संज्ञा में उत्पन्न श्रुतिको 'वाङ्मयवत्' कहते हैं। ये उपनिषत्प्रसिद्ध
वाङ्मयवत् श्रुति ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रके आधार हैं; इन्होंने वर्मसाक्षमें
'वाङ्मयवत्पश्यति' नामक प्रत्यय भी प्रणयन किया है, जिसमें विज्ञानेश्वरकी
श्रुतिसिद्ध 'मिताचरा' नामकी टीका मिलती है।

७. २९५—आपयति = 'आ चोके' इस धातुसे निच् होकर कच्चे मधम प्रत्ययके
मक मचनका यह रूप है। उपसर्गरहित 'आ' धातुका 'अस्मात्पुनरा' च' इससे
वैधायिक मिल होकर यहाँपर 'मिता इत्य' इससे इत्य हुआ है। एक पक्षमें
'आपयति' ऐसा रूप भी होता है।

तृतीय अङ्क

६. २४२—अध्वानि = कुराविके 'मह पूजायाम्' इस धातुसे कट्टे वचन पुलके कर्मवचनका प्रयोग है। अदन्त धातु होनेसे अधोपना स्वानिबन्धन होकर उपधाङ्गि नहीं हुई है।

६. २५४—राजर्षि = अचरति वेदं आनाति परवतीति वा आदि। इस प्रकार 'अचि गतौ' धातुसे औणादिक इत् प्रत्यय होकर अचि पद बनता है। वेदमन्त्रप्रश्नको 'अचि' कहनेकी प्राचीन परिपाटी है। यहाँ पर 'राजा चाञ्चौ अचि राजर्षि' जन्म राजा होकर वेदमन्त्रके ऋद्ध ये इसदिष्ट उन्हें राजर्षि पदसे सम्बोधन किया गया है। सात प्रश्नके अचि होते हैं, जैसे कि—

- | | |
|--------------------------|-------------------------|
| १ महर्षि—म्यास आदि। | ५ अतर्षि—सुभूत आदि। |
| २ परमर्षि—मेल आदि। | ६ राजर्षि—आहुषर्षि आदि। |
| ३ देवर्षि—कण्व आदि। | ७ काण्वर्षि—जैमिनि आदि। |
| ४ ब्रह्मर्षि—वसिष्ठ आदि। | |

६. २५४—प्रतीहारी = द्वारपालिका की। 'प्रतिक्षिप्यतेऽन्वा' इस विग्रहसे 'भक्तंति च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्रसे भन् प्रत्यय, 'उपसर्गस्य कन्वमनुष्ये बहुलम्' इससे दीर्घ और गीशादिगणमें पठित होनेसे 'पिप्रितदिम्यम्' इस सूत्रसे कीप् होकर 'प्रतीहारी' सम्ब बनता है।

चतुर्थ अङ्क

६. २५४—ताम्रवचनः = ताम्रस्य गोत्राण्यस्य पुमान् ताम्रवः, पुत्राण्यस्य पुमाश्च ताम्रवचनः। 'हसन्वाचन' के समाच एतन्व टाप्कसे कम् प्रत्यय होकर 'ताम्रवचन' सम्ब बना है।

मृगुगार्ग्य = 'मृगोरसवानि पुमांसो मृगवः' मृगुसम्बन्धसे 'अप्यम्बकृष्णिङ्कर्म्यम्' इस सूत्रसे गोत्राण्यस्ये चो धण् प्रत्यय हुआ या, बहुवचनिकामे वसका 'अजिमृगुगार्ग्यस्यसिद्धगोतसाऽत्रिरोम्यम्' इस सूत्रसे लुक् होता है।

मृगुगु गार्ग्यस्तत्समुद्गी। मृगुगार्ग्यमें उपच अक्षरोंमें सूर्य के समान है केवलम् यह इसका अर्थ हुआ।

६. २५५—मुञ्ज = यहाँ महाकर्मिने झीलिकी 'मुञ्ज' सम्ब किया है। यद्यपि अमरसिद्धने 'मुञ्जवाह प्रवेष्टो वो' इसमें पुंलिङ्गी लुक्सम्ब ही लिखा है, और 'मुञ्जमुञ्जौ पाण्डुपातपोः' इस सूत्रमें भी पुंलिङ्ग मुञ्जसम्बका ही निपातन किया गया है। परन्तु सिद्धोंने पुंलिङ्ग और झीलिक दोनोंमें इसका प्रयोग किया है, इसदिष्ट 'मुञ्ज पातनाऽप्यम्बकारवो' इस धातुसे 'मुञ्जतीति' ऐसा विग्रह कर

‘इयुगवशाप्रीतिः कः’ इस सूत्रसे क प्रत्यय होकर टप् प्रत्ययद्वारा ‘मुक्ता’ रूप की सिद्धि होती है। तबपुन मेदिनीकोशमें भी ‘अथो मुक्ता। इयोर्भाहौ कते।’ ऐसा लिखा गया है।

५. २०१—स्वस्तिवाचनिकः = ‘स्वस्तिवाचनमस्ति एषां ते’ ऐसा विग्रह कर ‘अत इतिष्ठौ’ इस सूत्रसे टप् प्रत्यय होकर स्वस्तिवाचनिक कम्ब बनता है। जो स्वस्तिवाचन करते हैं उन्हें ‘स्वस्तिवाचनिक’ कहते हैं।

५. २०२—मारीचदमनः = मारीचस्य दमनः मारीचको दमन करनेवाला। यहाँ पर मिश्रस्य ‘इसु उपसमने’ इस बातसे जन्मादि होनेसे ‘नन्दिप्रहिपचादिभ्यो ह्युपसम्यचः’ इस सूत्रसे ह्युपसम्य होकर ‘दमन’ कम्ब बना है। ह्यन्त दमन सम्बन्धे मतोंसे ‘कर्तृकर्मणोः इति’ इस सूत्रसे कर्मसे चट्टी होकर चट्टीतलुपथ समाप्त हुआ है।

५. २११—यगवन्मन्त्रः = यगवन्मन्त्रकी निवृत्ति इस प्रकारसे की गई है—

‘उत्सृज्य च स्थितिं चैव लोकात्मनस्तस्मिन् गतिम्।

येति मिथामविद्यां च स यावन्तो भगवास्तिष्ठति॥’

अर्थात् लोकोंकी उत्पत्ति, स्थिति, वृत्ति, वृत्ति, निष्ठा और अविविधको को जानना है उसे ‘भगवत्’ कहना चाहिए।

अथवा ‘भग’ कम्बके अर्थ हैं—समस्त, ऐश्वर्य, तीर्थ, वज्र, मी, ज्ञान और वैराग्य। भगवति समिद्ध ब्रह्मिन् स ययवान्, जिसमें ये कः रहते हैं उसे ‘भगवान्’ कहते हैं। वहाँ भग सम्बन्धसे मनुष्य प्रत्यय हुआ है।

पञ्चम अङ्क

५. २५०—कैकेय्याः। कैकेय्याऽपत्यं को कैकेयी। कैकेय देशके राजाकी पुत्री कोकेयी। यहाँ पर ‘अपत्यसम्प्राप्त्यतिवादम्’ इससे अन् प्रत्यय होकर ‘कैकेय-मित्रयुगलप्राप्तां पादेतिवः’ इस सूत्रसे इप् आदेश होकर ‘कैकेय्याम्’ इत्यादि सूत्रसे कीप् होकर ‘कैकेयी’ कम्ब निष्पन्न होता है।

५. २७८—त्रिस्तुरेः = त्रीणि तस्मिन् वा त्रिस्तुराणि तेः। यहाँ पर त्रि और चतुर् कम्बका ‘संख्ययाऽप्यवासचानुराधिकसंख्याः संख्येये’ इस सूत्रसे बहुव्रीहि समाप्त और ‘बहुव्रीहौ संख्येये इजबहुवचनम्’ इससे समासाऽन्त उप प्रत्यय होकर ‘त्रिस्तुर’ कम्बकी सिद्धि होती है। त्रिस्तुरेऽन्तःश्लोभिः = त्रीणि चार सिन्धुसे ही, ‘अपको दृतीया’ इस सूत्रसे कम्बके अन्तगत संयोगसे द्वितीया विभक्ति हुई है।

५. २८२—सौमित्रिणः। सुमित्रिणा अपत्यं पुमान् सौमित्रिणोऽप्य। सुमित्रिणोऽपत्यको सौमित्रि कहते हैं। यहाँपर ‘श्रीभ्यो ङक्’ इस सूत्रसे ङक् प्रत्ययकी प्राप्ति थी, पर उसे नष्ट कर ‘बाह्यादिभ्यम्’ इस सूत्रसे इप् प्रत्यय डरे गया है।

६. २८९—कञ्जोकिनीकान्तः = कञ्जोका सन्ति वासां ताः कञ्जोकिन्यः । मिसमें कञ्जोल (महातरङ्ग) रहते हैं उसे कञ्जोकिनी (नदी) कहते हैं । 'कञ्जोकिनीनां कान्तः' कहनेसे नविषोंके पति समुद्र सम्बन्धे आते हैं । 'अत इतिदत्तौ' इस सूत्रसे इमिश्रण और 'कम्पेभ्यो ङीप्' इससे ङीप् होकर कञ्जोकिनी सम्बन्ध बनता है ।

६. २९२—राक्षसपतिः = रक्षसि पत्यु राक्षसा, स्त्रीपक्षिणि 'रक्षस्' सम्बन्धसे 'भ्राश्रिभ्यश्च' इस सूत्रसे स्वार्थ (प्रकृत्यर्थ) में अण् माध्य होकर राक्षस सम्बन्ध बनता है । 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो द्विवचनान्यतिवर्त्तन्तेऽपि' इस परिभाषासे यह पुष्टिही हुआ है । राक्षसानां पतिः, भूमिपत्यु राक्षस्ये है ।

६. २९२—अटायुता = अटायु सम्बन्ध उकारान्त और शान्त दोनों प्रकारका है ।

६. ३००—इन्वत्स्युफा = भ्राश्रि इन्वत्स्य स इन्वत्स्यम् । उभय अवयवाके, तात्पर्य बापुपुत्र सुमीक्षसन्धिमै है । हनुसम्बन्धसे अण् माध्य होकर 'भ्राश्रिनां च' इस सूत्रसे ङीप् होकर इन्वत्स्यद्वयी सिद्धि होती है । इन्वत्स्य संयुक्तः ।

वेदीयस्त्री = अतिशयेन निष्कटवर्तिनी । बहुल निष्कट (मज्जीक) पर रहनेवाली । अतिशय सम्बन्धसे ईयस्य प्रत्यय होकर 'अतिशययोर्वेद्यायौ' इस सूत्रसे नेच् अव्यय होकर स्त्रीत्वनिष्कर्षमें 'वेदीयसी' सम्बन्धी सिद्धि होती है ।

पष्ठ अङ्क

६. ३०६—असिमानम् = अस्मिन् अयः अस्मिन् तम् । दुर्बलताको अस्मिन् कहते हैं । 'दुष्पादिभ्यश्च ह्रस्विण्य' इस सूत्रसे ह्रस्विकप्रत्यय होकर 'अ अतो ह्रस्वादेशोः' इस सूत्रसे ङाके स्थानमें र आवेश होकर 'असिमान्' सम्बन्धी सिद्धि हुई है ।

६. ३१०—रक्षगर्भा = रक्षानि गर्भे पत्युः सा ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहि समास करनेपर 'रक्षगर्भा' पद बनता है । 'रक्षगर्भा' पृथिवीको कहते हैं । 'संज्ञा विशेषणे बहुव्रीहि' इस सूत्रसे आपत्ति कहीं कहीं पर व्यधिकरण बहुव्रीहि भी होता है, जो यहाँपर व्यधिकरण बहुव्रीहि समास हुआ है ।

६. ३२१—आर्षपुत्रः = रामको उद्देश्य कर सीताका आर्षपुत्र कहना 'पत्नी चार्षपति संवाधा आर्षपुत्रेति यौक्ते' इत्यादि भरताकार्यकी उत्पत्ति अनुसार है । 'आर्षस्य पुत्रः' यहाँपर आर्षपत्यसे बहुत अभिप्रेत है ।

६. ३२९—'मन्योर्वरीयसि विजुशति रात्र्यन्तेऽपि' यह श्लोक निम्नलिखित श्लोकसे कुछ मिलता मिलता है—

'सुप्सहस्रो वज्रममङ्गुल्यधि । शिरो मदीयं यदि पति, बह्व ।

स्त्रानि भूमं जनकसन्ध्यायै दक्षामनेनाऽपि वृक्षाननाति ॥'

६. ३२८—विधानोदयौ = रक्षानोदयम् । विदग्धस्य भावः कर्म वा वेदव्यं वा वेदाधी, विदग्ध सम्बन्धसे 'शुल्लवचनवाङ्मनादिभ्यः कर्मणि च' इस सूत्रसे व्यय

मध्यम होकर 'हृस्वसहितस्व' ह्रस्वसे वकारका शेष कर 'विश्रैरादिम्याज' ह्रस्वसे कीम् मध्यम होकर 'वैदग्ध्य' पद बनता है। संविधास्य वैदग्ध्य।

६. १४१—विधेर्वैपुरी = विपुलस्व भागे वैपुर्व वा वैपुरी, वैदग्ध्य कश्चि सदा ह्रस्वी स्वरपति जाननी चाहिये : विधेर्वैपुरी।

७. १४२—वधरत्नरत्नसंज्ञकम् = 'मायिक' नामके रत्नका टुकड़ा।

८. १४३—मन्मसागिन्याः = मन्मसागोत्रया जस्योति मन्मसागिनी, सत्याः। मन्मसागिन्या सम कृते = मन्मसागिन्याकी मेरे किम्। यहाँपर मन्मसागिनी मायो मन्मसागः, इस प्रकार कर्मवत्तम समास कर फिर इति प्रत्यय करनेपर दो कृतिप्रां करनी पड़ती हैं, यह गौरव होता है, जतयुक्त शब्द गया है—'न कर्मधारयान्मन्मसागिन्या बहुव्रीहिसंज्ञकमतिपत्तिकरः।' यहाँपर बहुव्रीहि समाससे उक्त धर्मका बोध हो तो कर्मधारय करने मन्मसागि प्रत्यय नहीं करना चाहिये। परन्तु यहाँ जपने मन्मसागिका मित्यबोध दिक्कानेके किन् गौरवका प्रह्व करवैतें भी बोध नहीं समझना चाहिये।

९. १४२—मेकनादेन = मेकमेव भागे वत्, तेव। मेकके समान वत् करनेके कारण 'मेकनाद' सम्प्रदान्प्रकारा वाचक हुआ है, यह योगात् सम्प्रदान् है।

१०. १४५—द्विमुक्तम् = द्विमुक्त सुग्रीवके मन्त्रका नाम था। ये मन्त्ररत्नके रत्नके।

सप्तमः अङ्कः

१. १५०—पुनस्तपिभः = पुनस्तपस्य भिन्नाः। पुनस्तप रावणके पितामह के और उनके पुत्र 'विश्वाम' रावणके पिता थे।

२. १५४—प्रवृत्तः = प्रवृत्तको रामानन्दको रावणका सेवापति कहा है।

३. १५८—नाकपतेः = नाकको 'क' कहते हैं, उसका विरोधी शुभ 'अक' कहा जाता है। 'य विशते अके परिमन्' ऐसा विग्रह कर नन् बहुव्रीहि समास होकर नाकपती सिद्ध होती है। स्कान्को नाक कहते हैं। यहाँपर 'न कोपो वन्' इस सूत्रसे वकारका कोप प्राप्त था पर 'वन्मात्रप्राप्तयेदावास्तवात्प्रमुक्तिमुक्तमपुनःकमपन्मनाकेषु प्रकृत्या' इस सूत्रसे वकारका प्रकृतिभाव हो गया है। नाकपतेः।

४. १६०—मेवं वारीः = एवं वा वारीः = ऐसा मत पड़े। यहाँपर भाट्टका योग होनेसे 'माकि मुक्' इस सूत्रसे सर्वकमराज्यवादी मुक् हुआ है। 'न माकपोते' ह्रस्वसे अद् बाधन नहीं हुआ।

५. १६४—विश्वकृतः = 'चौरोको चेवं ते' ऐसा विग्रहकर बहुव्रीहि समझसे 'विश्वकृत' शब्द बनता है, परन्तु विश्वकृत होनेसे 'विश्वकृत' दोषा या 'दोषकृत-

दीर्घि यघोपमिहम्' इस सूत्रसे औकारका विपातन कर इस शब्दकी साधुता होती है। मुग्धबोधकारके मतानुसार 'विघ'शब्द अकारान्त श्री भाषा गया है। अतः उसके मतमें 'दिव्य ओको येषां ते' ऐसा विग्रह बनता है, इसमें विपातन-इत्यां साधुता सिद्ध करनेकी कोशिश नहीं पड़ती है।

५. ४२५—किष्किन्ध्यासप्तमम् = किसिपि (वाग्देसैभ्यश्च) कप्ते देसा विग्रह कर 'अस्योऽनुपसर्गे कः' इससे कप्प्रत्यय, 'अजाघट्टष्टाप्' इससे टाप्, और पारस्करराजमें पाठ होनेके कारण विपातनसे किष् शब्दका द्विवच, अकारका छेप, लुट् और पत्व होकर किष्किन्ध्यासप्तमकी साधुता होती है।

५. ४२६—अद्वैता = द्वैतभाववहिता। हरि और हरमें अभेदबुद्धि रहे यह तात्पर्य है। इस विकल्पमें किसीने कहा है—

‘तमधोरेका प्रकृतिः, प्रत्ययभेदाच्च भिन्नवज्जातिः।

कथयति कविभूतो हरिहरभेदं दिना साक्ष्यम् ॥’

हरि और हर दोनों शब्दोंमें प्रकृति वृत्त धातु एक ही है, परन्तु हरिमें इ प्रत्यय और हरमें अच् प्रत्ययके भेदसे ये दो, भिन्नके समान प्रतीत होते हैं, वास्तवमें ये दोनों एक ही हैं। कोई भूत ही साक्ष्यविरुद्ध प्रकारसे इन दोनोंमें भेदकी कल्पना करता है। रूपोर्भावो द्विधा। द्विधा पृथ द्वैतं, भेदभाव इत्यर्थः। भविष्यमानं द्वैतं यत्त्वा सा अद्वैता, इस प्रकारसे यह पद सतिका विशेषण हो जाता है।

अन्तर्ग 'अवाञ्छाद्' और 'आवन्ताम्' ये दोनों श्लोक समूहके लिए 'प्रसन्नित' के रूपमें लिखे गये हैं।

नाटकनायकाविलक्षणम्

तत्र नाटककवणं यथा साहित्यदर्पणे—

नाटकं कथावस्तुतं स्वात्मप्रसन्नित्तममिषितम् ।
विकासद्वर्गद्विगुणवस्तुतं नानाविधुतिभिः ॥
सुकृदुःकसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दृष्टपरास्तथाऽङ्कः परिकीर्तितः ॥
अकथातन्त्रसो राजर्षिर्षीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिग्गोऽय दिग्गोदिग्गो वा गुणवाचायको मता ॥
एक एव ज्योत्स्नी शङ्करो योऽय एव वा ।
अङ्गमन्यो रसाः सर्वे कर्म निवेदनेऽनुत्तम ॥
केशवः पञ्च वा मुक्ताः कर्मण्यपृतपूजकः ।
गोपुष्पाऽयसमाऽयं तु कर्मणं तस्य कीर्तितम् ॥ इत्यादि ।

असङ्गराजस्य नायकः यीरोधमन्त्रो दिग्गोऽदिग्गो (दिग्गोऽन्वयमपि नराऽभि-
मानी) यीरोदात्तस्तद्वचनं यथा—

'अविकलधनः कर्मायाचतिमम्भीरो महासत्त्वः ।
स्वेषाक्षिगृह्णानो यीरोदात्तो दृढजतः कथितः ॥' इति ।
नायिका—सीतादेवी स्वीया मुग्धा च । तद्वचनं यथा—
'विनयार्जवाविषुका गृहकर्मकरा पतिव्रता स्वीया ॥' इति ।
'प्रथमाऽकृतीर्णवीरवमज्जनविकारा रतौ शम्भ ।
कथिता मृत्युं माये समधिककल्पयती मुग्धा ॥' इति ।

पुत्रो वाऽऽकल्पयतिमातौ—

'आकल्पनं नायकादिस्तथाऽकल्प्य रसोदनात् ॥'

इति तद्वचनम् । पञ्चमटीकादृष्टादिद्वर्गनादीन्पुत्रीपतिभावाः—

'उद्दीपनविभावास्तो रस्तुष्टोपचरित ये ॥'

इति तद्वचनम् । विकासमोहादबोऽनुभवाः—

'उत्पुष्टं करणैः स्वैः स्वैर्द्विर्गणं प्रकल्पयन् ।

लोके यः कर्मरूपः सोऽनुभावः कल्पनादयोः ॥'

इति तद्वचनम् । विनयदायो जयिचारिणः । रतिश्च स्वायी भावः । कल्पविप्र-

कल्पनायः शङ्करोऽयि । तद्वचनं यथा—

'यूनेरेकतरस्मिन् यतवति कोकमन्तरं पुष्कलम् ।

विनयामते यदैकस्तदा ज्योत्स्नकल्पिकल्पनायः ॥' इति ।

धीराभूतरीत्यायोऽक्षरसः । रीतिश्च प्रायेण पाञ्चाशिकी । जम्परान्तरा वैद-
भ्याद्विद्योऽपि संकल्पन्ते । रीतिरुपज्ञानि यथा कदाचिदोके—

‘जातुर्पेमाससमं च यथेदैरहमादिभिः ।
समासः स्यात्पदैर्न स्वात्तभासः सर्वथाऽपि च ॥
पाञ्चाशिकी च काशीया गौडीया च यथारसम् ।
यदर्थी च यथासंख्यं यतको रीतयः स्युताः ॥’ इति ।

मुल्लूख प्रायेण प्रसादस्तद्वर्णनं यथा—

‘मस्मादुक्तः शिखरा सर्वः स्पष्टमर्थोऽन्यभासते ।
सकिञ्चलेषु सुतस्य स प्रसाद इति स्युता ॥’ इति ।
प्रतिपाद्यको शाक्या, पौलस्त्यः कुम्भीय इति ।

सुभाषित-पद्य-संग्रहः

आकारेणैव चतुरस्रसंज्ञितं परेक्षितम् ।

शरीर्ये केतकीपुष्पमामोदनेन चतुष्टयः ॥ १-७ ॥

गुणप्रामाण्यभिसंवादि नामाऽपि हि अङ्गान्वयम् ।

भया सुवर्णश्रीकण्ठरत्नाकरमुधावहाः ॥ १-८ ॥

चन्द्रे च रामचन्द्रे च तारीणी च द्वात्रिंशे ।

वीक्ष्यस्वकमुद्वृत्तान्तौ कस्य नाऽऽमोवृत्ते सभः ॥ १-१० ॥

सुकृतिचदनामुदारदुला, इतिमयमा सुवृत्ति परस्व दृष्ट्वा ।

तद्वसि परमर्जकस्य गण्ठा, यद् अन्तरः सुखभाजनं जना एवात् ॥ १-१७ ॥

अपि सुदृष्टपमान्तो नाभिकालीः स्वकीयैः

परभणितिषु लोचं याम्नि सन्तः सिध्यन्तः ।

मिज्जजमकदम्बस्वम्पूर्णाऽऽकवाकः

कञ्जससिम्परेकं नेहते किं इत्याहः ॥ १-१९ ॥

मिथ्यन्ते यदि नाम मन्दमतिभिर्वक्ताः कवीनां मिदं

सूयन्ते न च नीरसैर्मृगारसां वक्ता कदाचिद्वदाः ।

तद्वैदग्ध्यवतां सप्तमपि सभः किं नेहते वक्त्रां

वक्ते किं न ह्यः मिथिदितिकरे यत्नं कदापि नृवीम् ॥ १-२० ॥

म नमस्विता म न राखलकपीस्तथा यथेयं कविता कवीनाम् ।
 कोकोत्तरे पुंसि निवेश्यमाना, पुत्रीय हर्षं हृदये करोति ॥ १-२३ ॥
 बार्ता न कौतुकवती, विमका च विद्या
 कोकोत्तरः परिमलम् कुरङ्गनाभे ।
 लैक्यं विन्दुरिव वारिणि दुर्निवार-
 सेतस्य मसरति स्वयमेव मूमी ॥ २-२ ॥
 मृगस्य केकिविकितस्मरचारवहे-
 रातम्बती रुचिमती च सुभाकरस्य ।
 रामोद्गुरा स्फुटमुद्ब्रुविततारकधीः
 सन्म्याडविरसित काडवि पतिवरेड ॥ २-३१ ॥
 कृत्वा प्रवृत्तकामकाभकिता भिक्षोषी-
 मन्मोनिषेर्विनाति गर्भसप्तविद्यामीम् ।
 जन्तःप्रवृत्तहरीनाभिलरोजबोध-
 कीदृहलीय भगवानरविन्दुदम्भुः ॥ २-३२ ॥
 वावचीरविधेः प्रभातसमयः प्रोदुधय कोकजयी-
 माणिक्यं रविचिम्बमन्वरचगिम्बीमीपयै न्यस्यति ।
 वावकर्मिवाऽस्य मूल्यलुभितं पद्माक्षरेण स्वयं
 कवभीर्लक्षविक्रामपद्मकरम्बस्तः पुरः क्वाप्यते ॥ ३-४ ॥
 हारा कष्टं विस्तु यदि वा लीजनधारः कुठारः
 कीर्णा नेत्राज्यविषस्तु नः कज्जलं वा जलं वा ।
 संययामो भुञ्जमिह सुकं प्रेतभर्तुर्मुक्तं वा
 धजा तद्वा भवतु ॥ वयं मास्त्रमेव मदीशः ॥ ४-२३ ॥
 न श्रोतुं नाऽन्यमुच्चातुं नेचितुं नाऽन्युपेक्षितम् ।
 सुखमा स्वजने प्राप्तं विप्रपार्तं समीहते ॥ ५-२ ॥
 मोक्षितवति रजमिकरे, वन्दुतया न कल्ल कौरवाभ्येव ।
 भ्वाचरित किन्तु सहसा, सुवनाज्यपि तमसि भजन्ति ॥ ५-५ ॥
 प्रोधो कुरन्तपर्यन्ताः सत्यदोऽपि दुरात्मनाम् ।
 भवन्ति हि सुखोदका विपदोऽपि मङ्गात्मनाम् ॥ ५-४५ ॥
 चदुर्कमृतिमिच्छन्तिः सज्जिः कल्ल न दयते ।
 चतुर्थाचन्द्रसेखेव परकीमाख्यद्विका ॥ ७-१ ॥
 भावान्तकान्तिरक्षिमेयैयुर्कैरहिमलिनः ।
 धूलराडि कका चान्नी किं न वप्ताति कोपयन् ॥ ७-६ ॥

श्लोकानुक्रमिका

अ	अङ्कः	श्लोकः	अङ्कः	श्लोकः
		अथ मेघाद्०	७	७३
आहूतसुखेना	२	अथमुदयसि	९	७
आह्वयिह	२	अथि०	७	११
अक्षय्यचरित्रं	३	अथे कथमसोमोऽपि	३	३९
अग्नेसरो	७	अथे रुद्धेस०	१	३८
अङ्गं सिद्धयति	७	अवनिमयनिपादाः	१	११
अङ्गैरङ्गीकृताः	३	असुरेसुर०	१	५१
अत्र ते सति	२	असुरसुर०	२	९
अथाकिरम्यीत्	५	असि मे	१	२५
अथाहुतस्ताः कथमर०	५			
अक्षैवाय	७	आः पापिपू०	५	७१
अधिचरणमयू	५	आकर्णान्तम्०	१	२९
अपल	६	आकर्णितस्तव	७	४४
अप्राकृत्य	१	आकर्णय	१	२
अमृतः सान्द्र०	३	आकारेणैव	१	४
अभ्योऽपि	१	आचाम्यकवतिः	७	९
अपकृत्ये	२	आङ्गीपाद्	१	१२
अपि तपति	५	आत्मवत्	३	७२
अपि सुखमुपयान्ता	१	आपूरणाय	३	३५
अप्यामिरसु	२	आवाकाद्०	७	९४
अप्सुवर्णैः	५	आसीलकव०	६	१९
अमलमृणाल०	२	आभेदमात्राय	३	३३
अमी	१	आद्याम्यः द्विकलजिवा	७	८४
अमृतमलयेः	१			
अमृतमयः	२	इतो माणस	५	३९
अम्याः	५	इवमेव	५	३
अथ वाक्०	७	इन्दुनिन्दुरिति	७	२४

अक्षरः	श्लोकः	अक्षरः	श्लोकः		
इन्द्रोरेत्य	७	७३	पूतैः भीकण्ड०	३	२३
इषस्य	७	१६	पुत्र मे भनसि	७	७०
इह मधुपवत्पलाश	२	३	पुत्रामपस्य	७	१३
इह दुग्धमुत्से	५	१०	कम्पुर्षभरवेष्ट्या०	६	२५
ई			कवली	१	३०
ईशानकपुराभवाप०	१	३०	कनकहरिण०	५	४०
ईशानक०	४	३८	कनीयस्याः	७	३२
उ			कनकवन्धु०	४	३६
उत्तराक्ष	२	२२	करकिलरुचलीका०	३	३४
उत्कर्षभूतिम्	७	१	करपङ्केस्य०	४	३१
उदितोऽर्जुन०	५	४	करावातात्	२	३०
उद्गम्य चण्डि०	१	७८	कलणतरङ्गचरित्रिणि	२	६
उद्गमविण०	७	५४	कर्मे निधाय च	१	१६
उद्गमहेतुवलयैः	७	५३	कर्पूरद्वि	७	६८
उज्ज्वलभाप०	४	३३	कङ्काल०	२	३५
उष्मीकम्पित	७	८३	कङ्कालिनि	३	३
उष्मीकम्प	६	५	कस्मैचिद्देहि	३	३८
उष्मीकितेन	१	५२	कस्याक्याय	३	४२
उज्ज्वल	७	७८	कान्तमिण्डु०	२	१०
ए			कान्तोनाथ	५	२८
एकः स्वर्ण०	४	१७	कांसः	२	२७
एकः कथम्	१	४२	कामारिकाभुङ्क०	१	३५
एकमात्र०	६	१५	काळी केसरि०	७	४१
एतत्कोक०	२	३४	किं दीप्तिशुभरीक्षमा	३	२३
एतच्छुद्धिर्गिरादम्	३	३०	किं श्रीकसि	७	५०
एतच्छर्कम्	७	८५	किं नाम	४	३६
एतच्छर्कम्	१	२	किं मृतः	७	३३
एतयोः	३	२०	किरीटमभिरुदेऽपि	४	२७
एतयोः	३	१९	कौर्मिम्	१	६
एतान्यस्य	७	३७	कुट सकलम्	६	३५
एते केतक०	७	८१	कुर्वन्	४	२
एते वि	५	३९	कुत्तः	५	३१

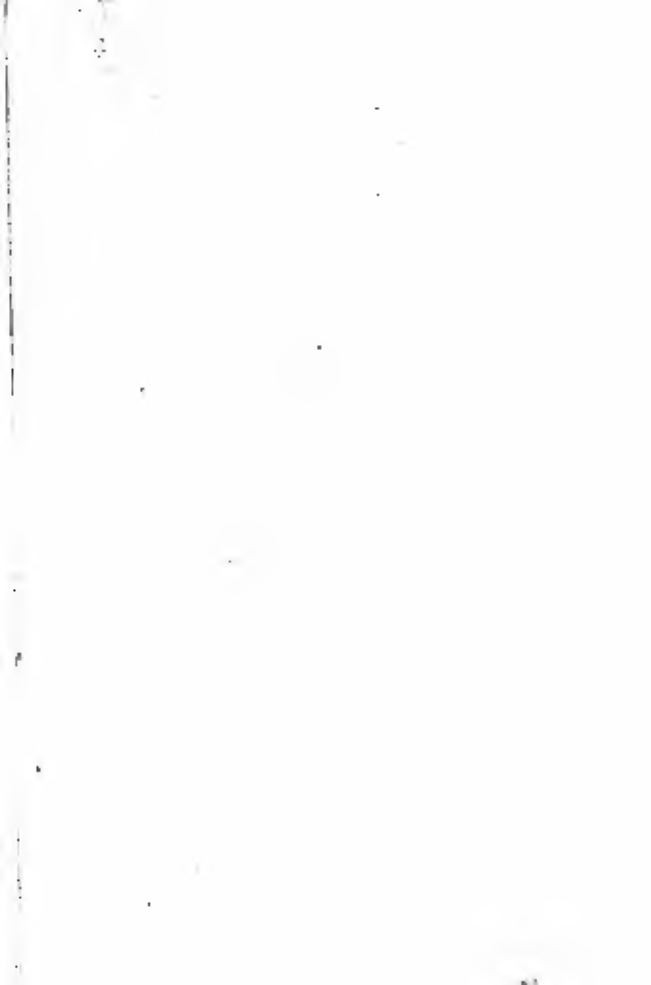
अङ्कः	श्लोकः		अङ्कः	श्लोकः
१	३४	अ	३	२९
२	३५	वसिष्ठः	४	३०
३	३६	ॐ नमः	५	३१
४	३७	अनन्तवत्सः	६	३२
५	३८	वागीश्वरः न हि	७	३३
६	३९	आध्यात्मः	८	३४
७	४०	अपराधः	९	३५
८	४१	अपराधः	१०	३६
९	४२	अपराधः	११	३७
१०	४३	अपराधः	१२	३८
११	४४	अपराधः	१३	३९
१२	४५	अपराधः	१४	४०
१३	४६	अपराधः	१५	४१
१४	४७	अपराधः	१६	४२
१५	४८	अपराधः	१७	४३
१६	४९	अपराधः	१८	४४
१७	५०	अपराधः	१९	४५
१८	५१	अपराधः	२०	४६
१९	५२	अपराधः	२१	४७
२०	५३	अपराधः	२२	४८
२१	५४	अपराधः	२३	४९
२२	५५	अपराधः	२४	५०
२३	५६	अपराधः	२५	५१
२४	५७	अपराधः	२६	५२
२५	५८	अपराधः	२७	५३
२६	५९	अपराधः	२८	५४
२७	६०	अपराधः	२९	५५
२८	६१	अपराधः	३०	५६
२९	६२	अपराधः	३१	५७
३०	६३	अपराधः	३२	५८
३१	६४	अपराधः	३३	५९
३२	६५	अपराधः	३४	६०
३३	६६	अपराधः	३५	६१
३४	६७	अपराधः	३६	६२
३५	६८	अपराधः	३७	६३
३६	६९	अपराधः	३८	६४
३७	७०	अपराधः	३९	६५
३८	७१	अपराधः	४०	६६
३९	७२	अपराधः	४१	६७
४०	७३	अपराधः	४२	६८
४१	७४	अपराधः	४३	६९
४२	७५	अपराधः	४४	७०
४३	७६	अपराधः	४५	७१
४४	७७	अपराधः	४६	७२
४५	७८	अपराधः	४७	७३
४६	७९	अपराधः	४८	७४
४७	८०	अपराधः	४९	७५
४८	८१	अपराधः	५०	७६
४९	८२	अपराधः	५१	७७
५०	८३	अपराधः	५२	७८
५१	८४	अपराधः	५३	७९
५२	८५	अपराधः	५४	८०
५३	८६	अपराधः	५५	८१
५४	८७	अपराधः	५६	८२
५५	८८	अपराधः	५७	८३
५६	८९	अपराधः	५८	८४
५७	९०	अपराधः	५९	८५
५८	९१	अपराधः	६०	८६
५९	९२	अपराधः	६१	८७
६०	९३	अपराधः	६२	८८
६१	९४	अपराधः	६३	८९
६२	९५	अपराधः	६४	९०
६३	९६	अपराधः	६५	९१
६४	९७	अपराधः	६६	९२
६५	९८	अपराधः	६७	९३
६६	९९	अपराधः	६८	९४
६७	१००	अपराधः	६९	९५

अङ्कः	श्लोकः	अङ्कः	श्लोकः
५	३८	६	२४
१	५१	१	२०
४	४४	१	४१
३	१५	२	१२
३	३९	३	१०
५	४	३	१८
५	९	४	२७
५	८	५	९
५	८	५	५८
४	११	५	५
६	५१	२	९
६	३७	५	२१
४	२३	३	६
७	८२	४	३
७	१३	६	१४
७	४३	५	५१
६	१०	१	३१
१	५०	७	५२
७	४६	६	५१
७	५७	३	५
५	३४	१	४९
५	४७	३	३७
५	३	५	१४
१	२८	७	८७
१	२६	६	४२
५	१७	७	३९
१	३	१	४
५	१२	४	३५
७	४३	६	२२
३	८	७	२०
३	१८	२	३३

	शब्दः	श्लोकः		शब्दः	श्लोकः
मासा०	७	२३	मकल०	२	४
माभ्य	३	३३	महौचधीनामाभारम्	७	३३
मायो दुरात्मपर्यन्ताः	५	४५	मातृहाराः	५	३८
मोक्षितवति	५	५	मा ताम्य	६	३७
			मा भव	७	३७
मन्मथमन्मथुराः	२	८	मा भव	७	३८
मनुकामस्त०	३	४५	मा भव	७	३९
मनुकामिते	५	३	मारीच०	३	३९
मनुकपत्र०	६	४५	मारीच०	३	३७
मार्गस्थ	३	५५	मा साभयम्	४	४२
माजीमामेक०	६	४९	मा होदि	७	३७
माक्य	५	१५	मुकरीविचारविन्दी	७	३७
मीलं यत्न	१	३३	मुग्धैकान्	७	५३
			मुग्धस्य	६	३७
भास्वर्ग्या०	१	९	मीर्षा	४	३५
भिन्नुभिन्नाम्	३	४५			
भिक्षुभिक्ष०	७	५५	११ कर्त्ताहुत०	४	३७
भित्तम्	५	४३	११ काञ्चनदिका०	३	८
भ्रातृकम्	७	३५	११ भीषण०	७	३९
भ्रातृही०	५	३७	११ कामति	४	३९
भी भ्रातृ	४	२५	११ कर्त्तृशुद्धता	३	२५
			११ धातुम्	३	२५
मन्थन०	२	३७	११ श्रावणवर्ति	७	२७
मन्थनम्०	१	२३	११ यज्ञोऽपिनि	७	७३
मणिमय०	४	१	११ यज्ञं यज्ञः	३	२५
मत्वा चापम्	२	१७	११ यज्ञः पूर्य	४	३८
मत्वाकिन्नी०	३	४३	११ यज्ञः पूर्य	७	२२
मन्मोहरी०	३	५८	११ यज्ञं कयाता	३	३५
मन्मोहरी०	६	३८	११ यज्ञं मयम्भक०	७	३
मन्मथः	२	१५	११ यज्ञं मयम्भक०	७	७५
मया शृङ्गम्	३	२३	११ यज्ञः श्वयम्भ	१	५३
मयि	१	३७	११ यज्ञाजो०	३	३२
मयूक०	७	३१	११ यज्ञोऽपिनि	३	२७

श्लोकः	अङ्कः	श्लोकः	अङ्कः	श्लोकः
शंकरार्चतनुकवपर्वी	५३	सेवापालसमस्तकेचर	१	१०
सकाकीकृत्य	५४	सौम्यं मन्त्राधि	२	१४
सिधिलपति	५५	सीमिने ननु सेवताम्	३	१
सीताहस्तिकाकवपर्वी	५६	सगविसितस्तचकरी	४	१२
स्वात्मजुवीनामिचमन्तराळे	५७	स्निग्धाशोकदुम	५	१२
सीकवकापुंकविरस्त	५८	स्वच्छीमं पापम्	६	१२
		स्वा स्वा विषं जितवताम्	७	२०
		स्वैरम्	८	६०
स				
सौम्योदितमस्तम्	५९	हृदयकवचिद्वि	९	४८
सकलजननिकोकमोक्ष	६०	हस्तावकमहापाप	१०	११
सकलपुण्यकरोकण्ड	६१	हा जानकि स्वमपुगाति	११	२९
सका सवदमागकोक	६२	हा कस्त विहातु यदि	१२	२३
सकलवदनस्तमस्तवक	६३	हा राम हा राम हा	१३	४५
सकलवदनस्तमस्तवक	६४	हा कस्त सवमग	१४	३०
सकलवदनस्तमस्तवक	६५	द्विसकविजकरमित	१५	३३
सकलवदनस्तमस्तवक	६६	दिनाहृदयकवपर्वी	१६	४३
सकलवदनस्तमस्तवक	६७	हे वाकहेमकवि	१७	१४
सकलवदनस्तमस्तवक	६८	हे राम	१८	२९
सकलवदनस्तमस्तवक	६९	हेकारकवितरामकवम	१९	२०
सकलवदनस्तमस्तवक	७०	हेकोमकितवमवृष्ट	२०	३०
सकलवदनस्तमस्तवक	७१	हेकोमकितवमवृष्ट	२१	३८





CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY,
NEW DELHI
Borrower's Record.

Catalogue No. 3a9N/Jay/Cha.- 4466.

Author— Jayadeva.

Title— Prasannareghava.

Borrower No.	Date of Issue	Date of Return
Dr. Bhagwanlal Sinha	14-9-59	
S. D. Trivedi	13-10-82	15-10-83

P. T. O.

